हिन्दी सन्त-साहित्य पर
बौद्धधर्म का प्रभाव

[आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच. डी. उपाधि
के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध]

लेखिका

डॉ. विद्यावती 'मालविका'

एम. ए., पी-एच. डी., साहित्यरत्न

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय

वाराणसी १

वस्तुकथा

प्रस्तुत प्रबन्ध का उद्देश्य मध्ययुगीन हिन्दी सन्त-साहित्य पर बौद्धधर्म के प्रभाव का अध्ययन करना है। इस प्रकार के अध्ययन की अत्यन्त आवश्यकता रही है। मुझे इस विषय पर अध्ययन करने की सर्वप्रथम प्रेरणा ठाकुर रणमतसिंह, डिग्री कालेज, रीवा के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष श्री महावीरप्रसाद अग्रवाल से प्राप्त हुई थी। उन्ही के परामर्श के अनुसार मैने रूपरेखा बनाकर जैन डिग्री कालेज, बड़ौत के हिन्दी तथा संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष एवं प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० भरतसिंह उपाध्याय के पास भेजा। उन्होने प्रसन्नतापूर्वक मेरा निर्देशक बनना स्वीकार कर लिया और रूपरेखा के सम्बन्ध मे अनेक महत्वपूर्ण सुझाव के साथ अध्ययन की दिशा का भी निर्देश किया, किन्तु कुछ ही दिनों के उपरान्त उनकी नियुक्ति दिल्ली के हिन्दू कालेज मे हो गयी। उसी बीच आगरा विश्वविद्यालय से सूचना मिली कि मुझे किसी अन्य निर्देशक की देख-रेख मे अपना कार्य करना होगा। मेरे सामने यह विकट परिस्थिति उत्पन्न हो गयी। मेरा विषय ऐसा था कि जिसका निर्देशक कोई बौद्ध-विद्वान् ही हो सकता था। पहले तो मैं विषय की गम्भीरता को देखते हुए हतोत्साह हो गयी, किन्तु अपने परमपूज्य पिता ठाकुर श्री श्यामचरण सिंहजी के आदेशानुसार इस सम्बन्ध मे अपनी कठिनाइयों को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त बौद्धधर्म के प्रकाण्ड विद्वान् पूज्य भिक्षु धर्मरक्षितजी के सामने रखा। उन्होने मुझ पर दया करके निर्देशक बनना स्वीकार कर लिया और आगरा विश्वविद्यालय से उनके निर्देशन मे शोध-कार्य करने की स्वीकृति भी मिल गयी, जिसके लिए युवराजदत्त डिग्री कालेज (ओयल) के भूतपूर्व प्रिंसिपल ठाकुर श्री जयदेव सिंहजी की महती अनुकम्पा सहायक हुई। इन चारो विद्वानो की दया का ही परिणाम है कि मैं इस प्रबन्ध को प्रस्तुत करने मे समर्थ हो सकी हूँ। मैं सदा इनका कृतज्ञ रहूँगी। पूज्य भिक्षु धर्मरक्षितजी के प्रति मै किन शब्दों मे कृतज्ञता प्रगट करूँ, वे मेरे परम पूज्य है और मेरे लिए तो उनका आशीर्वाद ही सदा कल्याणकर है। उन्होने अपने अनेक महान् कार्यों को छोडकर भी मेरे लिए समय निकाला और सदा मेरे अध्ययन मे निर्देशन किया। मैं उनकी विद्वत्ता एवं ज्ञान से पूर्ण लाभान्वित हुई हूँ।

सन्त-साहित्य पर विद्वानो ने बहुत लिखा है, किन्तु सन्तों पर बौद्धधर्म का प्रभाव भी पड़ा है, इस ओर ध्यान नही दिया गया है। यही कारण है कि सन्त मत के अनेक तथ्यों से हिन्दी के विद्वान् प्राय अनभिज्ञ है। इस अध्ययन मे मैने उन तथ्यो का उद्घाटन किया है जो सर्वथा मौलिक है एव हिन्दी सन्त-साहित्य प

नवीन प्रकाश डालने वाले है। मेरे इस अध्ययन के पूर्ण रूप से समाप्त होने के उपरान्त डॉ० सरला त्रिगुणायत, एम० ए०, पी-एच० डी० की थीसिस अक्तूबर, १९६३ मे प्रकाशित हुई, जिसका विषय "हिन्दी के मध्ययुगीन साहित्य पर बौद्धधर्म का प्रभाव" है। उसे देखकर मुझे अत्यधिक प्रसन्नता हुई कि एक विदुषी का इस ओर ध्यान आकर्षित हुआ और उन्होंने कठिन श्रम करके एक महत्वपूर्ण शोध-ग्रन्थ प्रस्तुत किया। इसके लिए वे बधाई की पात्रा है। किन्तु साथ ही उनके ग्रन्थ को आद्योपान्त पढ जाने पर ऐसा लगा कि उन्होंने अपने ग्रन्थ मे कोई विशेष मौलिक बात न कहकर पूर्व के विद्वानो द्वारा गृहीत विचार-सरणी का ही अनुसरण किया है। साथ ही कुछ ऐसी भी बाते उन्होंने कह डाली है, जो चिन्त्य है। उनमे मे कुछ इस प्रकार है—

१. बौद्धधर्म का मूलोच्छेदन आचार्य शकर ने किया, (पृष्ठ ४४, ४७)।
२. भगवान् बुद्ध का जन्म कोशल जनपद की राजधानी कपिलवस्तु मे शाक्यवंश मे हुआ था, (पृष्ठ ५१)।
३. भारत मे आठ संगीतियाँ हुई थी, (पृष्ठ ५७)।

ये सारी बातें असंगत है। यद्यपि इनके सम्बन्ध मे मेरे प्रबन्ध मे यथास्थान वर्णन आया हुआ है, किन्तु मै यहाँ भी कुछ कह देना उचित समझती हूँ।

शकराचार्य द्वारा बौद्धधर्म के मूलोच्छेदन की बात सर्वथा ही काल्पनिक है, जो "शारीरिक भाष्य" पर आधारित है। महापण्डित राहुल साकृत्यायन ने बुद्धचर्या की भूमिका (पृष्ठ ११-१३) मे इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला है और बतलाया है कि शकराचार्य के बहुत पीछे तक भारत मे बौद्धधर्म का प्रसार होता रहा तथा वह यहाँ से तिब्बत आदि मे भी गया। राहुलजी ने यह भी लिखा है—"सारे भारत से बौद्धो का निकलना तो अलग, खुद केरल मे भी वह बहुत पीछे लुप्त हुआ।" (पृष्ठ १३)।

कोसल जनपद की राजधानी श्रावस्ती थी, न कि कपिलवस्तु। कपिलवस्तु तो शाक्य जनपद की राजधानी थी और भगवान् बुद्ध का जन्म वहाँ भी न होकर लुम्बिनी मे हुआ था।

बौद्ध-संगीतियाँ भी भारत मे केवल चार ही हुई थीं[1]।

इस प्रकार जान पडता है कि डॉ० सरला त्रिगुणायत ने बौद्धधर्म और दर्शन को जटिल समझ कर (वही, पृष्ठ ६) ही उसे पूर्ण रूप से समझने का प्रयत्न नही किया है। जहाँ तक हिन्दी साहित्य पर बौद्धधर्म के प्रभाव की बात है,

---

१ देखिये, भिक्षु धर्मरक्षित द्वारा लिखित बौद्धधर्म-दर्शन तथा साहित्य पृष्ठ १७३ १७८

उसका भी अध्ययन उन्होंने क्रमिक एवं वैज्ञानिक ढंग से नहीं प्रस्तुत किया है। सन्त-साहित्य पर पड़े बौद्धधर्म के प्रभाव को उन्होंने स्पष्ट करने की अपेक्षा और भी उलझा दिया है।

अब मैं अपने प्रबन्ध की मौलिकता एवं उपादेयता के सम्बन्ध में प्रकाश डालते हुए उसका संक्षिप्त परिचय करा देना चाहती हूँ।

प्रस्तुत प्रबन्ध छः अध्यायों में विभक्त है। हिन्दी सन्त-साहित्य पर पड़े बौद्धधर्म के प्रभाव की पूर्णरूपेण जानकारी के लिए बौद्धधर्म के विकास का ज्ञान आवश्यक है, अतः पहले अध्याय में भारत में बौद्धधर्म के विकास पर प्रकाश डाला गया है। इसके अन्तर्गत बुद्धपूर्व भारतीय समाज, धर्म और दार्शनिक स्थिति पर प्रकाश डालते हुए बुद्ध-जीवनी, उपदेश, सिद्धान्त तथा स्थविरवाद और महायान के निकाय-उपनिकायों का विवेचन किया गया है। भगवान् बुद्ध और बौद्धधर्म के सम्बन्ध में यद्यपि आजतक बहुत लिखा जा चुका है, किन्तु अनेक बातों में विद्वानों में मतभेद अथवा असंगत धारणायें रही हैं। मैंने उन पर मौलिक रूप से प्रकाश डाला है।

आचार्य धर्मानन्द कौशाम्बी का यह कथन समीचीन नहीं है कि लुम्बिनी में शुद्धोदन महाराज की जमींदारी थी और वहाँ जाकर कभी-कभी वे रहा करते थे। उनके वहीं रहते समय सिद्धार्थ कुमार का जन्म हुआ था[१]। सभी साक्ष्यों से प्रमाणित है कि महामाया अपने मातृगृह जा रही थी। मार्ग में लुम्बिनी नामक उद्यान में सिद्धार्थ कुमार का जन्म हुआ था। कौशाम्बीजी का यह कथन भी इतिहास-विरुद्ध है कि सिद्धार्थ कुमार ने स्वजनों के कलह को देखकर गृह-त्याग किया था और उन्होंने चार निमित्तों को नहीं देखा था[२]।

इसी प्रकार डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल का यह कथन अग्राह्य है कि भिक्षुसंघ भारतीय गणतन्त्रों की देन था[३]। श्री मोहनलाल महतो "वियोगी" का यह मत भी समीचीन नहीं है कि भिक्षुसंघ के कारण समाज की रीढ़ टूट गई[४]।

दीपवंश का यह वर्णन भी असंगत है कि द्वितीय संगीति वैशाली की कूटागारशाला में हुई थी[५]।

ऐसे ही महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने महासांघिक निकाय के कुछ उपनिकायों का सम्बन्ध सम्मितिय निकाय से बतलाया है[६], जो असंगत है।

---

१. भगवान् बुद्ध, पृष्ठ ९१। २. वही, पृष्ठ १०६-१११।
३. हिन्दू राजतन्त्र, भाग १, पृष्ठ ६८।
४. जातककालीन भारतीय संस्कृति, पृष्ठ १५९।
५. दीपवंस ५, ६८
६. पुरातत्व पृष्ठ १२७-१३०

इन सभी तथ्यों पर मैंने अपने प्रबन्ध में प्रकाश डाला है और सप्रमाण ऐतिहासिक सत्य का उद्घाटन किया है।

दूसरे अध्याय में सन्तमत के स्रोत पर विचार किया गया है और बतलाया गया है कि किस प्रकार बौद्धधर्म की भित्ति पर सिद्ध और नाथ सम्प्रदाय से सन्तमत का उदय हुआ था। इस अध्याय के अन्तर्गत महायान के विकास के साथ वज्रयान, सहजयान, सिद्ध और नाथ सम्प्रदाय पर प्रकाश डालते हुए बतलाया गया है कि निर्गुणवादी सन्तों की विचारधारा पूर्णरूप से बौद्धधर्म से प्रभावित थी और यह विचारधारा सिद्धों से होकर नाथों तक पहुँची थी तथा सन्तों ने नाथों से उसको ग्रहण किया था। अर्थात् जो बौद्धधर्म की निर्गुण (शून्य) विचारधारा सिद्धों और नाथों से होकर प्रवाहित हुई थी, उसी से सन्तमत का उदय हुआ था।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का यह कथन समीचीन नहीं है कि पालि त्रिपिटक में जो तन्त्र-मन्त्र के बीज पाये जाते हैं, वे पीछे के हैं[1]।

डॉ० धर्मवीर भारती का यह मत भी ठीक नहीं है कि वज्रयान और सहजयान में बहुत अन्तर नहीं है[2]।

मैंने इन बातों पर भली प्रकार प्रकाश डाला है और अपने मौलिक तथ्य प्रस्तुत किये हैं।

तीसरे अध्याय में पूर्वकालीन सन्तों का बौद्धधर्म से सम्बन्ध दिखलाया गया है और संक्षेप में उनका परिचय देते हुए उनकी वाणियों में समाविष्ट बौद्धधर्म के तत्वों का विवेचन किया गया है। इन पूर्वकालीन सन्तों में कुछ निर्गुण उपासक थे और कुछ सगुण, किन्तु इनकी मूलभावना, साधना, आचार-व्यवहार आदि पर बौद्धधर्म की पूरी छाप पड़ी थी। मैं कह सकती हूँ कि वे वैष्णव, शैव, शाक्त आदि के अनुयायी होते हुए भी अप्रत्यक्ष रूप से बौद्ध भी थे। उनकी वाणी में, उनके चिन्तन में और उनके आचरण में अपने रूपान्तरित स्वरूप में बौद्ध-धर्म विद्यमान था।

चौथे अध्याय में प्रमुख सन्त कबीर तथा उनके समसामयिक सन्तों पर बौद्धधर्म के प्रभाव का विवेचन किया गया है। कबीर के जीवन, धर्म, साधना आदि के सम्बन्ध में विद्वानों ने अनेक प्रकार से प्रकाश डाला है किन्तु किसी ने भी विस्तारपूर्वक बौद्ध-प्रभाव का अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया है। मैंने सिद्ध किया है कि कबीर का जन्म काशी में ही हुआ था और वे अपने माँ-बाप की सन्तान थे। उनके पूर्वज कोलिय जाति-परम्परा के थे, इसीलिए उन्होंने अपने को "कोरी", "कोली" आदि नामों से अभिहित किया है। साथ ही कबीर का निर्गुणवाद, विचार-स्वातंत्र्य तथा समता, उलटवासियाँ, सतनाम, गुरुभक्ति, सहजसमाधि, हठयोग, अवधूत, सुरति-निरति आदि बौद्धधर्म से पूर्ण रूप से प्रभावित हैं।

१ पुरातत्व पृष्ठ १३६ २ सिद्ध साहित्य पृष्ठ १४९

कबीर न बौद्धधर्म का अध्ययन नहीं किया था और न तो किसी बौद्ध विद्वान् से उनका सत्संग ही हुआ था, किन्तु बौद्ध-विचारों से प्रभावित सन्तों की परम्परा तथा जनसमाज में व्याप्त बुद्ध-शिक्षा का प्रभाव उन पर पड़ा था। मैंने इस अध्याय में एक नवीन प्रस्थापना प्रस्तुत की है, जिससे हिन्दी-जगत् प्रायः अपरिचित रहा है। मैंने स्पष्ट कर दिया है कि कबीर ने बौद्धधर्म के शील, निर्वाण, समाधि, ज्ञान, स्मृति, अशुभ, अनित्य, दुःख, कर्मफल के विश्वास, पाप-पुण्य, प्राणायाम, अनासक्तियोग, क्षणभंगुरता आदि का अपने शब्दों में वर्णन किया है और "सत्तनाम" वाले बुद्ध को ही निराकार "सत्तनाम" माना है। इसी प्रकार पीपा, रैदास, धन्ना, मीराबाई आदि सन्तों पर भी बौद्धधर्म का प्रभाव पड़ा था।

अनहद, सत्तनाम, हठयोग, अवधूत, सुरति-निरति आदि शब्दों की व्याख्या मैंने नये ढंग से की है। यह मेरे शोध-प्रबन्ध की मौलिक विशेषता है।

पाँचवे अध्याय में सिख गुरुओं पर पड़े बौद्ध-प्रभाव का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। यह अध्याय अपनी दिशा में सर्वथा ही मौलिक अनुसन्धान है। अबतक किसी भी विद्वान् ने इस ओर इंगित नहीं किया था। मैंने सिख गुरुओं के जीवन-वृत्तान्त के साथ ही उन पर बौद्ध-प्रभाव का सप्रमाण विवेचन किया है।

छठे अध्याय में सन्तों के सम्प्रदायों में बुद्धवाणी और बौद्ध-साधना का अध्ययन किया गया है तथा यह स्पष्ट किया गया है कि इन सन्त-सम्प्रदायों में उनके पूर्ववर्ती सन्तों की विचारधारा प्रवाहमान थी, अतः इन सन्त-सम्प्रदायों में बुद्धवाणी और बौद्ध-साधना का समन्वय भी उसी प्रकार हुआ है जैसा कि इनके पूर्ववर्ती सन्तों की वाणियों में मिलता है।

इस अध्याय में वर्णित कुछ सन्त सम्प्रदायों के सिद्धान्तों की जानकारी के लिए मुझे पाण्डुलिपियों तक का अध्ययन करना पड़ा और फर्रुखाबाद, पन्ना आदि नगरों तक की यात्राएँ करनी पड़ीं।

साध सम्प्रदाय के सम्बन्ध में डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल का यह कथन समीचीन नहीं है कि साध-दर्शन पर इस्लाम का प्रभाव पड़ा है[1]। इसी प्रकार श्री परशुराम चतुर्वेदी की "सत्तनाम" की व्याख्या भी ग्राह्य नहीं है[2]। मैंने अपने प्रबन्ध में इन तथ्यों पर अनुसन्धानात्मक प्रकाश डाला है।

मुझे अपने शोध-कार्य के निमित्त अनेक पुस्तकालयों से सहायता लेनी पड़ी। प्रणामी धर्म के ग्रन्थों के अध्ययन-कार्य में अखिल भारतीय प्रणामी धर्म सेवा समाज, पद्मावती पुरी (पन्ना) के मन्त्री महोदय से बड़ी सहायता प्राप्त हुई। उन्होंने अपने सम्प्रदाय के मुद्रित-अमुद्रित सभी ग्रन्थों को मुझे पढ़ने को

---

१ हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ४४०।

२ उत्तरी भारत की पृष्ठ ५३८

अनमति दा जबकि उह केवल प्रणामी लोगो क लिए ही प॰न का अनुमति ह। इस उपकार के लिए मैं उनका आभार मानती हूँ। मूलगन्ध कुटी विहार पुस्त-कालय, सारनाथ के पुस्तकालयाध्यक्ष तथा महाबोधि सभा, सारनाथ के मन्त्री पूज्य भदन्त संघरत्न नायक स्थविर की भी मैं कृतज्ञ हूँ जिन्होने कि मेरे अध्ययन-कार्य मे यथासम्भव सहायता प्रदान की है।

मैं पाँच वर्षो के सतत परिश्रम से इस शोध-प्रबन्ध को प्रस्तुत करने मे समर्थ हो सकी हूँ। इस कार्य मे गुरुजनो का आशीर्वाद सदा सहायक रहा है। मै उन्हे अपनी विनम्र प्रणति निवेदन करती हूँ।

मुझे आशा है कि इस शोध-प्रबन्ध से हिन्दी-सन्तो के सम्बन्ध मे अनेक प्रचलित भ्रान्तियाँ दूर होगी और मेरी यह कृति हिन्दी-साहित्य के लिए एक नयी देन सिद्ध होगी।

—विद्यावती 'मालविका'

विषय-सूची

विषय

य विषय

पहला अध्याय

बौद्धधर्म का भारत में विकास

(पाँचवी शताब्दी ईस्वी पूर्व से तेरहवी शताब्दी ईस्वी तक)
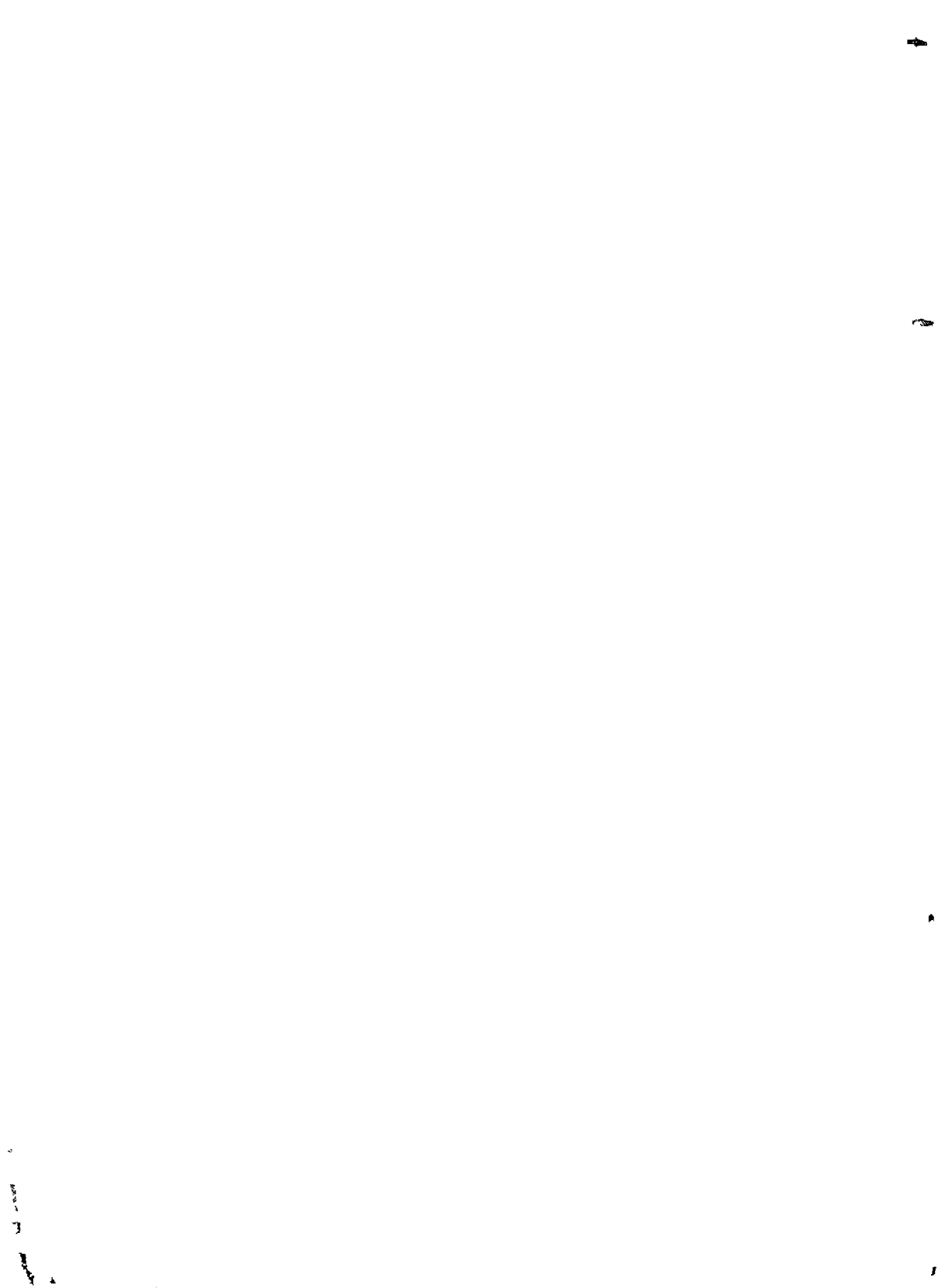
[अ] स्थविरवाद बौद्धधर्म
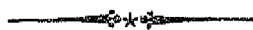
प्राग्बौद्धकालीन भारतीय समाज, धर्म और दर्शन

भगवान् बुद्ध के आविर्भाव के पूर्व भारतीय समाज की सुव्यवस्थित परम्परा एवं दृढ बन्धन शिथिल हो गये थे। वैदिक काल की आश्रम-व्यवस्था धीरे-धीरे स्वतंत्र हो गयी थी और उसमे परिवर्तन आ गया था। धार्मिक अनुष्ठानो ने रूढियों का स्थान ले लिया था। यज्ञ का आयोजन हिंसात्मक हो गया था। यद्यपि वैदिक काल मे यज्ञ हिंसा-रहित होते थे। सुत्तनिपात के ब्राह्मणधम्मियसुत्त मे उसी प्राचीन व्यवस्था की ओर इंगित करते हुए कहा गया है—"पुराने ब्राह्मणों की चर्या के अनुसार चलने वाले ब्राह्मण इस समय नही दिखायी देते[1]। यज्ञ के उपस्थित होने पर वे गौवो का वध नही करते थे[2]। पहले केवल तीन रोग थे—इच्छा, भूख और बुढापा। पशु-बध से अट्ठानबे हो गये है[3]।" तथागत वैदिक मुनियों के इसलिये प्रशंसक थे कि वे अहिंसक, सयमी एवं धार्मिक थे[4]। किन्तु उनके कर्म-काण्ड की विधि से जनता का मन ऊब-सा गया था और वह अब आध्यात्मिक चिन्तन की ओर अग्रसर हो रही थी। वैदिक देवताओं की अपेक्षा ईश्वर, आत्मा, मुक्ति आदि की चर्चायें हुआ करती थी। उस समय उत्तर भारतीय समाज मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—ये चारो वर्ण थे, किन्तु इनकी जातियाँ नही थी। कही-कहीं और कभी-कभी ही व्यवसाय के अनुसार नीच-ऊँच की भावना दृष्टिगत होती थी, किन्तु जाति-पाँति या छूआछूत की भावना जैसी कि बाद मे उत्पन्न हुई, उस समय नही थी। वर्ण भी कर्मप्रधान ही थे, किन्तु उनमे धीरे-धीरे जन्मजात श्रेष्ठता एवं हीनता की भावना घर करती जा रही थी, जिसका कि पीछे तथागत को विरोध

---

१ सुत्तनिपात, भिक्षु धर्मरत्न द्वारा हिन्दी मे अनूदित, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ५७।

२. वही, गाथा संख्या १२।

३ वही गाथा संख्या २८ २९।

४ इसयो पुब्बका आसु तपस्सिनो—वही गाथा १ पृष्ठ ५८

करना पड़ा था और कहना पड़ा था कि "व्यक्ति कर्म से ही नीच-ऊँच होता है, जन्म से नहीं[१]।" बौद्ध साहित्य में ऐसे स्थल मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि वर्ण-व्यवस्था यद्यपि व्यवसाय तक ही सीमित थी और विभिन्न वर्णों के स्त्री-पुरुष का वैवाहिक सम्बन्ध हो सकता था, किन्तु दोनों से उत्पन्न सन्तान उच्च वर्ण की ही मानी जाती थी[२]।

समाज कई श्रेणियों में विभक्त था, जिनमें राजन्य, प्रभुवर्ग, वणिक्, कृषक, पूजक आदि प्रमुख थे, राजन्य और प्रभुवर्ग शासन-व्यवस्था सम्हालता था। उस समय राजतंत्र एवं गणतंत्र प्रणालियों में उत्तर भारत का राजनैतिक विभाजन था। मगध, कोशल, अंग, वज्जी, मल्ल, काशी, शूरसेन, वत्स, अवन्ति आदि शासन की इकाइयाँ थीं जो सोलह महाजनपदों[३] में शासित थीं। इनमें मगध, वज्जी, काशी, कोशल, अवन्ति आदि शक्तिशाली एवं सुदृढ़ राजनयिक आधारशिला पर स्थित थे। शेष सामयिक लाभ उठाकर अपनी स्थिति बनाये रखे थे। इन सभी जनपदों का पारस्परिक व्यापार-सम्बन्ध था। एक राज्य के व्यापारी दूसरे राज्य में निर्भय एवं निष्कंटक विचरण कर सकते थे। वणिक् मार्गों से होकर अंग-मगध के व्यापारी उत्तरापथ के नगरों तक जा सकते थे और गन्धार तथा मद्र देश के वणिक् मध्य मण्डल[४] एवं अपरान्त और प्रत्यान्त प्रदेशों में अपने देश की बहुमूल्य वस्तुओं के विक्रय हेतु विचरण कर सकते थे। यही नहीं, ताम्रलिप्ति[५] से नौका द्वारा स्वर्णभूमि[६] तथा पूर्वी द्वीपसमूहों तक भारतीय वणिक् जाते थे। ऐसे ही सुप्पारक पट्टन से बेबिलोन, अलेक्जेण्ड्रिया आदि पश्चिम के देशों तक अपने माल-वाहक पोतों के द्वारा पहुँचते थे। पश्चिमी कान्तारों एवं स्थल मार्गों से होकर तत्कालीन भारतीय सार्थवाह अफगानिस्तान, अरब, ईरान आदि होते हुए यूरोप के नगरों तक पहुँचते थे। सिंहलद्वीप पर भारतीय उपनिवेश की स्थापना लाट[७] प्रदेश से नौका द्वारा गये हुए एक भारतीय राजकुमार ने ही की थी, जिसका विस्तृत वर्णन महावंश[८] में आया हुआ है। इसका चित्रांकन अजन्ता के गुहाचित्रों में भी किया गया है।

कृषक वर्ग खेती करता था और उसी में अपना गौरव समझता था। क्षत्रिय, ब्राह्मण—सभी लोग हल चलाते थे। हल चलाना हीन कार्य नहीं समझा जाता था। नरेश भी विशेष अवसरों पर हल चलाते थे। पालि साहित्य में महाराज शुद्धोदन[९] के हल चलाने का वर्णन

---

१ सुत्तनिपात, वसलसुत्त, गाथा २१, पृ० २६।

२ दीघनिकाय, अम्बट्ठसुत्त १, ३।

३ सोलह जनपद ये थे—काशी, कोशल, अंग, मगध, वज्जी, मल्ल, चेदि, वत्स, कुरु, पंचाल मत्स्य, शूरसेन, अश्वक, अवन्ति, गन्धार और कम्बोज। —संयुत्तनिकाय भूमिका, पृष्ठ १।

४ वर्तमान विहार तथा उत्तर प्रदेश।

५. वर्तमान तामलुक, जिला मेदिनापुर (पश्चिमी बंगाल)।

६ बर्मा।

७. वर्तमान गुजरात।

८ महावंश, हिन्दी अनुवाद, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग द्वारा प्रकाशित तथा भदन्त आनन्द कौसल्यायन द्वारा अनूदित, पृष्ठ ४४–४९।

९. बुद्धचर्या- श्री राहुल सांकृत्यायन कृत पृष्ठ ५ ६।

मिलता है । ऐसे ही वैदिक-काल में भी हल चलाने के उल्लेख पाए जाते हैं । बुद्ध-काल में तो कृषि भारद्वाज नामक ब्राह्मण ने तथागत को परामर्श देते हुए कहा था— "श्रमण, मैं जोतता-बोता हूँ, जोताई-बुआई करके खाता हूँ। तुम भी जोतो-बोओ और जोताई-बुआई करके खाओ[1] ।" उस समय भगवान् बुद्ध ने भी अपने को कृषक बतलाने में संकोच नहीं किया था। उन्होंने कहा था—"ब्राह्मण, मैं भी जोताई-बुआई करता हूँ और जोताई-बुआई करके खाता हूँ।" कृषि भारद्वाज ने पूछा—"आप अपने को कृषक तो बतला रहे हैं, किन्तु आपकी कृषि नहीं दिखाई देती है।" तथागत ने कहा—"श्रद्धा मेरा बीज है। तप वृष्टि है। प्रज्ञा मेरी जुआठ और हरीश है, लज्जा हरीस का दण्ड है। मन जोत है। स्मृति फाल और छेकुनी है[2] ।"

कृषक वर्ग के अतिरिक्त चिड़ीमार, जुलाहे, डालिया बनानेवाले, बढ़ई, नाई, कुम्हार, लोहार आदि पेशा करने वाले थे। ऐसे ही चण्डाल, पुक्कुस आदि भी निम्न श्रेणी के व्यवसायी लोग थे। दास प्रथा का प्राधान्य था। कुछ पश्चिमी इलाकों में आर्य दास और दास आर्य हो सकते थे। दास प्रायः घरेलू नौकर होते थे, जिनके साथ अच्छा व्यवहार किया जाता था। सब लोग खान-पान एक साथ कर सकते थे। केवल कुछ परिस्थितियों में ही भिन्न व्यवसायियों के साथ खान-पान निद्य माना जाता था। ऐसे वर्णन मिलते हैं कि लोग अपने जातिगत अथवा परम्परागत व्यवसाय को छोड़कर इच्छानुसार दूसरे व्यवसाय को कर सकते।

महिलायें गृह-कार्य में दक्ष होती थीं और गृहस्वामिनी मानी जाती थीं। सूत कातना और कपड़ा बुनना उनका एक प्रमुख कार्य था। महिला वर्ग की दशा वास्तव में चिन्तनीय थी। उन्हें स्वतन्त्रता नहीं थी और न तो वे धार्मिक अनुष्ठानों में पुरुष के समान सम्मिलित हो सकती थीं। वे अपवित्र एवं अशुद्ध मानी जाती थीं, किन्तु अब धीरे-धीरे महिला वर्ग में नवचेतना उत्पन्न होने लगी थी और उसी के फलस्वरूप बुद्धकाल में भिक्षुणियों तथा साध्वियों के संघों का प्रादुर्भाव हुआ। महिलाओं में शिक्षा का प्रायः अभाव-सा था। उनके पठन-पाठन की समुचित व्यवस्था न थी। समाज में गणिकाओं का भी स्थान था जो संगीत-नृत्य में निपुण होती थीं। कुछ राज्यों में परम सुन्दरी तरुणी को "जनपदकल्याणी" के पद से विभूषित किया जाता था। जो एक प्रकार से राजनर्तकी होती थी। उच्चकुलीन साध्वी एवं पतिव्रता ललनाओं का समाज में विशिष्ट स्थान था और इनमें से कुछ विदुषी एवं वीर-वधुएं भी थीं।

समाज में देवी-देवताओं की पूजा प्रचलित थी। उन्हें प्रसन्न रखने के लिए नाना प्रकार की बलि दी जाती थी। वृक्षदेवता, वनदेवी, चैत्य, पर्वत, कूप, यक्ष, गन्धर्व, नाग आदि की पूजा होती थी[3] । यक्ष बड़े प्रतापी एवं अलौकिक शक्तियों के धनी माने जाते थे। मथुरा, राजगृह, आलवी आदि नगरों में ऐसे यक्षों के अनेक केन्द्र थे। आजकल के डीह और बरम

---

१. सुत्तनिपात, पृष्ठ १५।

२ सुत्तनिपात पृष्ठ १५

३ धम्मपद गाथा १८८ १८९

की पूजा उसी पूर्व यक्ष-पूजा की स्मृति लिए विद्यमान है[१]। वैदिक काल में यक्ष-प्रश्न को "ब्रह्मोद्य"[२] कहा जाता था। वैदिक साहित्य में "ब्रह्म" शब्द ही यक्ष का सूचक था। उसी का अपभ्रंश "बरम" है[३]। जैन और बौद्ध साहित्य में इन यक्ष-यक्षणियों का विस्तृत वर्णन मिलता है। वैशाली में चैत्यों की पूजा बहुत प्रचलित थी। वहाँ सात चैत्य थे[४]। कुसीनारा, राजगृह आदि स्थानों में भी चैत्य थे, जिनकी पूजा परम्परा से होती चली आ रही थी और उन्हें शक्तिशाली यक्षों से अधिगृहीत माना जाता था।

तन्त्र-मन्त्र का भी प्रचलन था, किन्तु तंत्र-मंत्र तथा यक्ष-पूजा को उत्कृष्ट नहीं माना जाता था। ऐसी अनेक जीविकाएँ थीं जिन्हें हीन समझा जाता था। जैसे अंग-विद्या, अग्नि-हवन, दर्वी-हवन, तुष-होम, तण्डुल-होम, तैल-होम, घृत-होम, मुख से घृत लेकर कुल्ले से होम आदि[५]।

ज्योतिष में लोगों का विश्वास था, किन्तु कुछ लोग ऐसे थे, जो ज्योतिष को अन्ध-विश्वास भी मानते थे[६]।

इस काल में शिल्पियों की अवस्था अच्छी थी। उद्योग-धन्धे सुचारु रूप से चलते थे। समाज की आर्थिक स्थिति भी अच्छी थी। वस्त्र-उद्योग पर्याप्त उन्नति पर था। कुटीर-धन्धों में लगे हुए लोग भी सुखी एवं प्रसन्न थे। व्यवसायिक केन्द्र अथवा नगर वणिक्-पथों और जलमार्गों के किनारे अवस्थित थे। वाराणसी, साकेत, श्रावस्ती, मथुरा, कौशाम्बी, वैशाली, राजगृह, चम्पा, तक्षशिला, कान्यकुब्ज, कुसीनारा आदि ऐसे ही नगर थे। सबको अपने व्यवसाय की स्वतन्त्रता थी। समाज में आर्थिक स्थिति के अनुसार भी एक मापदण्ड था, जिसके अनुसार क्षत्रिय-महाशाल, ब्राह्मण-महाशाल, श्रेष्ठि, महाश्रेष्ठि, अनुश्रेष्ठि और उत्तरश्रेष्ठि पदों से धनवान् लोग विभूषित थे। राजा इनका बड़ा सम्मान करते थे और अनेक कार्यों में इनसे परामर्श लिया करते थे[७]।

शिक्षा की व्यवस्था गुरुकुलों में होती थी। जहाँ आचार्य को दक्षिणा देकर अथवा सेवा करके छात्र शिक्षा ग्रहण करते थे। निर्धन और धनी सभी प्रकार के छात्र समान रूप से एक साथ शिक्षा ग्रहण करते थे। उस समय वाराणसी, तक्षशिला, राजगृह आदि प्रधान शिक्षाकेन्द्र थे। जहाँ अस्त्र-शस्त्र, आयुर्वेद आदि के साथ सभी प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था

---

१ उत्तर प्रदेश में बौद्धधर्म का विकास, पृष्ठ १६।
२ यजुर्वेद २२, ९ तथा ४५।
३ उत्तर प्रदेश में बौद्धधर्म का विकास, पृष्ठ १६।
४ महापरिनिब्बान सुत्त, दीघनिकाय, श्री राहुल सांकृत्यायन द्वारा अनूदित, पृष्ठ १३४।
५ ब्रह्मजाल सुत्त, दीघनिकाय, पृष्ठ ४।
६ जातक ४९। हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ ३३६।
नक्खत्तं पतिमानेन्तं अत्थो बालं उपच्चगा।
अत्थो नक्खत्त किं करिस्सन्ति तारका
७ बुद्धिस्ट इण्डिया पृष्ठ ५७

थी इन गुरुकुलो के शिक्षक आचार्य उपाध्याय तथा दिशाप्रामोक्ष्य आचार्य (दिसापामोक्ख आचरिय) होते थे[1]

जनता सार्वजनिक कार्य करने मे अग्रसर रहती थी और अपना उसमे सौभाग्य मानती थी। बाग लगाना, उपवन का निर्माण, पुल बँधवाना, प्याऊ बैठाना, कूप खोदवाना और पथिकों के विश्राम के लिये धर्मशाला बनवाना बहुत ही उत्तम सार्वजनिक कार्य माने जाते थे[2]। मार्ग को साफ करना, गाँवो की सफाई करना तथा सबके उपयोग के योग्य स्थलो को शुद्ध रखना महत्वपूर्ण सार्वजनिक कार्य माने जाते थे[3]।

भगवान् बुद्ध के आविर्भाव के पूर्व उत्तर भारत की धार्मिक एवं दार्शनिक स्थिति जटिल हो गयी थी। नाना प्रकार के मतवाद फैले हुए थे। कर्मकाण्ड एवं अन्धविश्वास मे पड़ी हुई जनता धार्मिक एवं दार्शनिक ऊहापोह मे ही उलझी हुई थी। एक ओर उपनिषद् आदि के दार्शनिक ज्ञान की चर्चा होती थी तो दूसरी ओर यज्ञ, होम, बलि, मेध आदि कर्मकाण्ड का बोलबाला था। निरीह-पशुओ की बलि यज्ञो मे पुण्य की अभिलाषा से लोग करते थे, जिनमे भेड, बकरे, गाय, भैंस और साँड़ के अतिरिक्त अश्व, गज और नर-बलि तक का प्रचलन था। दर्शन की स्वाभाविक जटिलताओ से जन-जीवन बोझिल था। उस समय सम्पूर्ण भारत में छ प्रमुख धर्माचार्य अपने-अपने धर्म तथा दर्शन के प्रचार मे संलग्न थे। जिनके नाम है—(१) पूरण कस्सप (पूर्ण काश्यप), (२) मक्खलि गोसाल (मस्करी गोशाल), (३) अजित केस कम्बलि (अजित केश कम्बलि), (४) पकुधकच्चायन (प्रक्रुधकात्यायन), (५) निगण्ठ नाथपुत्त (निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र), (६) संजय बेलट्ठिपुत्त (संजय वेलष्ठि पुत्र)[4]। इन्हे तीर्थङ्कर भी कहा जाता था। इनमे पूर्णकाश्यप अक्रियावादी थे। उनका मत था कि संसार मे पाप-पुण्य का कोई फल नही होता। चाहे कोई कितना ही पाप करे या पुण्य, उसके कारण उसे बुरे-भले विपाक नहीं मिलेगे[5]। मक्खलि गोसाल दैववादी थे। उनका कथन था कि प्राणियो के कष्ट भोगने का कोई कारण नही है। संसार के जीव बिना किसी हेतु के दु ख भोगते है। वे अपने वश मे नहीं हैं। वे भाग्य के फेर मे पडकर छः जातियो, चौसठ लाख छियासठ योनियो मे सुख-दु:ख का अनुभव करते है। जैसे सूत की गोली फेंकने पर उछलती हुई गिरती है वैसे ही प्राणी आवागमन मे पडकर ही दु.ख का अन्त कर सकेंगे[6]। अजित केश कम्बलि उच्छेदवादी थे। उनका सिद्धान्त था कि आत्मा, परमात्मा, लोक, परलोक, माता-पिता, पुण्य-पाप कुछ नही है। मनुष्य चार महाभूतो से मिलकर बना है। जब वह मरता है तो पृथ्वी महापृथ्वी मे लीन हो जाती है। ऐसे ही जल, तेज (अग्नि) तथा वायु क्रमश जल,

---

१. जातक १८।

२ संयुत्तनिकाय, प्रथम भाग, भिक्षु धर्मरक्षित द्वारा हिन्दी मे अनूदित, वनरोपसुत्त १, ५, ७, पृष्ठ ३३।

३ धम्मपदट्ठकथा, मघमाणवक की कथा।

४ दीघनिकाय १ २ पृष्ठ १९ २२।

५ वही पृ० १९

६ वही पृ० २०

तेज और वायु ने । इन्द्रियाँ आकाश में लीन हो जाती हैं । मरने के पश्चात् कोई नही रहता, जो कि पुनः जन्म ले[1] । प्रक्रुधकात्यायन अकृततावादी थे । उनका कहना था कि—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, सुख, दुःख और जीव—ये सात अजर-अमर है । जो कोई तेज हथियार से सिर भी काटे तो भी कोई किसी की हिंसा नही करता, क्योकि इन सातो कायो (समूहों) से अलग, विवर मे हथियार गिरता है, यहाँ न कोई मारनेवाला है और न कोई मरवानेवाला है, न सुननेवाला है. न जाननेवाला हैं । ये सातो काय अनिर्मित, अवध्य एवं अचल हैं[2] । निगण्ठ नाथपुत्त को ही भगवान् महावीर कहते हैं । वे जैनधर्म के प्रवर्त्तक थे । ये चातुर्याम सवर का उपदेश देते थे । इनका कथन था कि—(१) निर्ग्रन्थ जल के व्यवहार का वारण (संयम) करता है, जिससे कि जल मे रहनेवाले जीव न मरे, (२) निर्ग्रन्थ सभी पापो का वारण करता है, (३) सभी पापो के वारण करने से वह पापरहित हो जाता है, (४ निर्ग्रन्थ सभी पापो का वारण करने मे लगा रहता है[3] । संजय वेलट्ठिपुत्त अनिश्चिततावादी थे । उनका कथन था कि यदि कोई पूछे—क्या परलोक है ? और यदि मै समझूँ कि परलोक है तो बतलाऊँ कि परलोक है । मै ऐसा भी नहीं कहता, मै वैसा भी नही कहता, मै दूसरी तरह से भी नही कहता, मै यह भी नही कहता कि 'यह नही है ।' मै यह भी नही कहता कि 'यह नहीं, नही है[4] ।' ऐसे ही लोक, परलोक, देव, मनुष्य और जीव के विषय मे उनके अनिश्चित मत थे ।

बौद्ध-ग्रन्थो के अनुसार उस समय ६२ मतवाद प्रचलित थे । इन मतवादो का संक्षिप्त वर्णन दीघनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त में आया हुआ है[5] । जिसमे जीव के प्रारम्भ को लेकर १८ और अन्त को लेकर ४४ दार्शनिक मतो का परिचय दिया गया है । कही-कही तिरसठ मतो का भी उल्लेख मिलता है[6] । जैन-ग्रन्थों मे इनकी संख्या ३६३ दी हुई है[7] । भगवान् बुद्ध की उत्पत्ति से पूर्व इन्ही दार्शनिक धारणाओ के प्रचारक आजीवक, मुण्डक, नेटण्डिक, परिब्राजक, जटिलक, श्रावक, निगंठ, अचेलक आदि थे ।

वेद, उपनिषद् एवं ब्राह्मण-ग्रन्थो के प्रवक्ता आचार्य भी थे और उनका जन-मानस पर विशेषकर ब्राह्मण-वर्ग पर प्रभाव था । वे ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, छन्दावा, ब्रह्मचर्य आदि ब्राह्मण-ग्रन्थों का प्रवचन करते थे[8] । वेद-मन्त्रो के रचयिता अट्टक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि, अंगिरा, भारद्वाज, वशिष्ठ, काश्यप और भृगु[9] द्वारा गीत, प्रोक्त, समीहित मन्त्र-पदो का गुरु-कुलो मे पठन-पाठन होता था और शिक्षित ब्राह्मणवर्ग उससे प्रभावित था ।

१ वही, पृष्ठ २१ ।
२. वही, पृष्ठ २१ ।
३. वही, पृष्ठ २१ ।
४. वही, पृष्ठ २२ ।
५ दीघनिकाय १, १, पृष्ठ ५-११ ।
६. भगवान् बुद्ध आचार्य धर्मानन्द कोसम्बीकृत, हिन्दी मे श्रीपाद जोशी द्वारा अनूदित, पृष्ठ ६७ । "यानि च तीनि यानि च सट्ठि" ।
७ उत्तर प्रदेश मे बौद्धधर्म का विकास, पृष्ठ १८ ।
८ दीघनिकाय तेविज्ज सुत्त १ १३ पृष्ठ ८७
९ वही पृष्ठ ८७

बुद्ध का आविर्भाव

बुद्ध-जीवनी

जन्म

भगवान् बुद्ध की जन्म-तिथि के सम्बन्ध मे अनेक मत है। किन्तु महावंश और दीपवंश की गणना के अनुसार बुद्ध-जन्म ६२३ ईस्वी पूर्व माना जाता है[1] और सम्प्रति अधिकाश विद्वान्[2] एवं सभी बौद्ध देश इसी तिथि को ग्रहण करते है[3]।

पालि तथा संस्कृत बौद्ध-साहित्यो मे भगवान् बुद्ध के जो जीवन-चरित्र उपलब्ध हैं, उनमें अधिक विषमता नही है। अपने श्रद्धा-भाजन शास्ता के प्रति व्यक्त सम्मानसूचक एवं चमत्कारिक कुछ बातो को छोड़ कर प्राय सभी मे समानता है। वास्तव मे सबका स्रोत एक ही है।

बौद्ध-मान्यता के अनुसार जो व्यक्ति बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए दृढ संकल्प कर दस पारमिताओ[4] को पूर्ण करता है, वह भविष्य मे बुद्ध होता है। पारमिताओ को पूर्ण करने के समय उसे 'बोधिसत्व' कहा जाता है। जातकट्ठकथा मे गौतम बुद्ध की ५५० पूर्व जन्म-सम्बन्धी कथाऍ आयी हुई है, जिनमे उनके द्वारा पारमिताओ के पूर्ण करने का वर्णन है।

गौतम बुद्ध जब बोधिसत्व थे और तुषित स्वर्ग मे शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे थे, तब तत्कालीन भारतीय समाज के दु.ख-दारिद्रय एवं अस्थिरता को देखकर उसके त्राण के लिए देवताओ ने स्वर्ग मे जाकर उनसे प्रार्थना की—

> कालोयं ते महावीर उप्पज्ज मातुकुच्छियं।
> सदेवकं तारयन्तो बुज्झस्सु अमतं पदं ॥

[अर्थ—हे महावीर, अब आपका समय हो गया है, माँ के पेट मे जन्म ग्रहण करे (और) देवताओ के सहित (सारे संसार को भव-सागर से) पार करते हुए अमृत-पद (निर्वाण) का ज्ञान प्राप्त करे[5]]।

बोधिसत्व ने देवताओ की प्रार्थना पर अनुकम्पापूर्वक ध्यान दिया और समय, द्वीप, देश, कुल, माता तथा आयु का विचार कर देवताओं को अपने मर्त्यलोक मे उत्पन्न होने की स्वकृति दे दी। उन्होने विचार करते हुए देखा कि सौ वर्ष से कम आयु का समय बुद्धो की

---

१ भगवान् बुद्ध : आचार्य धर्मानन्द कौशाम्बी कृत, पृष्ठ ८९।

२ दी अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया श्री वी० ए० स्मिथ द्वारा लिखित, ऑक्सफोर्ड १९२४, पृष्ठ ४९-५०।

३ इसी आधार पर सन् १९५६ मे संसार भर के बौद्धो ने २५००वी बुद्ध-महापरिनिर्वाण जयन्ती मनाई थी।

४. दस पारमिताएँ ये हैं—दान, शील, नैष्क्रम्य, प्रज्ञा, वीर्य, क्षान्ति, सत्य, अधिष्ठान, मैत्री और उपेक्षा। जातक, हिन्दी, भदन्त आनन्द कौसल्यायन द्वारा अनूदित, प्रथम भाग, पृष्ठ २७-३३।

५ धम्मपदट्ठकथा १ ८ भिक्षु धर्मरक्षित द्वारा हिन्दी में अनूदित

उत्पत्ति के लिए अनुकूल नहीं होता और न तो इससे अधिक लम्बी आयु का समय ही। जब लम्बी आयु होती है तो प्राणियो के जन्म, जरा और मृत्यु का भान नहीं होता। अत वे अनित्य, दुःख तथा अनात्म सम्बन्धी बुद्धोपदेश को नहीं समझ पाते। ऐसे ही कम आयुवाले प्राणियो मे राग-द्वेष बहुत होते है। उनपर बुद्धोपदेश का प्रभाव पानी पर खीची लकीर के समान शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। अत: बोधिसत्व ने निश्चय किया कि सौ वर्ष की आयुवाला समय ही बुद्धों के उत्पन्न होने का समय है।

द्वीप का विचार करते हुए उन्होने देखा कि सभी बुद्ध जम्बूद्वीप मे ही जन्म लेते है और वह भी उसके मध्यदेश मे ही[१]। विनयपिटक मे मध्यदेश की सीमा इस प्रकार वर्णित है—"मध्यदेश की पूर्व दिशा मे कजंगल[२] नामक कस्बा है, उसके बाद बड़े शाल के वन है और फिर आगे सीमान्त (प्रत्यन्त) देश। पूर्व-दक्षिण मे सललवती[३] नामक नदी है, उसके आगे सीमान्त देश। दक्षिण दिशा मे सेतकण्णिक[४] नामक कस्बा है, उसके बाद सीमान्त देश। पश्चिम दिशा मे थूण[५] नामक ब्राह्मणगाँव है, उसके बाद सीमान्त देश। उत्तर दिशा मे उशीरध्वज[६] नामक पर्वत है, उसके बाद सीमान्त देश[७]।" इसी प्रदेश मे बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध, प्रधान अग्रश्रावक, महाश्रावक, अस्सी महाश्रावक, चक्रवर्ती राजा तथा दूसरे महाप्रतापी क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य पैदा होते है और वही यह कपिलवस्तु[८] नामक नगर है। मुझे वही जन्म लेना है।

कुल का विचार करते हुए उन्होने देखा कि आजकल क्षत्रिय-कुल लोकमान्य है, इसीलिए उसी कुल में जन्म लूँगा। शुद्धोदन नामक राजा मेरा पिता होगा। माता का विचार करते हुए उन्होंने देखा कि बुद्धों की माता चंचल और शराबी नहीं होती, वह दीर्घकाल से पारमिताएँ पूर्ण करनेवाली और जन्म से ही अखण्ड पंचशील का पालन करने वाली होती है और यह महामाया नामक देवी ऐसी ही है। यह मेरी माता होगी। किन्तु उसकी आयु का विचार करते हुए उन्होंने देखा कि दस महीने सात दिन की ही उसकी आयु है[९]।

उस समय कपिलवस्तु नगर मे आषाढ का उत्सव मनाया जा रहा था। पूर्णिमा के सात दिन पूर्व से ही महामाया देवी ने भी मद्यपान-विरत, मालागन्ध से सुशोभित हो उत्सव मनाना आरम्भ कर दिया था। उन्होंने सातवे दिन प्रातः ही उठ सुगन्धित जल से स्नान कर चार लाख का महादान दिया और सब अलकारो से विभूषित हो, सुन्दर भोजन ग्रहण कर

---

१. जातक, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ६३—६४।
२ वर्तमान कंकजोल, जिला संथाल परगना, बिहार।
३ वर्तमान सिलई नदी (हजारीबाग और मेदनीपुर जिला)।
४ हजारीबाग जिले मे कोई स्थान। ५. थानेश्वर, जिला करनाल।
६ हिमालय का कोई पर्वत-भाग।
७ विनयपिटक, महावग्ग ५, ३, २ तथा जातक पृष्ठ ६४ और बुद्धचर्या पृष्ठ १।
८ तिलौरा कोट तौलिहवा बाजार से दो मील उत्तर (नपाल राज्य
९ जातक निदानकथा

उपोसथ (व्रत) के नियमो का ग्रहण किया फिर सु-अलंकृत म प्रविष्ट हो सुन्दर शय्या पर लेटे, निद्रित-अवस्था मे स्वप्न देखा—

"उसे चार महाराज (दिक्पाल) शय्या-सहित उठाकर हिमवन्त प्रदेश में ले जाकर साठ योजन के मनोशिला के ऊपर सातयोजन छाया वाले महान् शाल वृक्ष के नीचे रखकर खड़े हो गए। तब उनकी देवियों ने आकर महामाया देवी को अनोतत्तदह[1] मे लेजाकर मनुष्य-मल दूर करने के लिए स्नान कराया, दिव्य वस्त्र पहनाया, गन्धों से लेप किया, दिव्य फूलो से सजाया : वहीं पास में रजत पर्वत के भीतर सुवर्ण विमान मे पूर्व की ओर सिर करके दिव्य शयन बिछवाकर उन्होंने उसे लिटाया। बोधिसत्व श्वेत, सुन्दर हाथी बन सुवर्ण पर्वत पर विचर कर रजत पर्वत पर चढ़े और उत्तर दिशा से आकर उक्त स्थान पर पहुँचे। उनकी रूपहली माला जैसी सूँड मे श्वेत पद्म था। उन्होंने नाद कर स्वर्ण विमान मे प्रवेश कर तीन बार माता की शय्या की प्रदक्षिणा की, फिर दाहिनी बगल को चीर कुक्षि मे प्रविष्ट हुए जान पड़े। इस प्रकार बोधिसत्व ने आषाढ़ पूर्णिमा के दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्र मे गर्भ मे प्रवेश किया।"

दूसरे दिन जागने पर देवी ने इस स्वप्न को राजा से कहा। राजा ने चौसठ प्रधान ब्राह्मणो को बुलवाया, और उनका अधिक सत्कार कर स्वप्न की बात कही। ब्राह्मणो ने कहा, "महाराज, चिन्ता न करे, रानी को पुत्र उत्पन्न होगा। यदि वह घर मे रहा तो चक्रवर्ती राजा होगा और यदि घर से निकलकर प्रव्रजित होगा, तो महाज्ञानी बुद्ध होगा।"

बोधिसत्व के गर्भ मे आने के समय अनेक प्रकार की चमत्कारिक घटनायें घटित हुईं, जिनका विस्तृत वर्णन निदान-कथा मे आया हुआ है[2]। उस समय सब दिशाये शान्त हो गयी, मृदुल शीतल पवन चलने लगा। असमय मे वर्षा होने लगी, जल और स्थल मे उत्पन्न होनेवाले सब प्रकार के पुष्प खिल उठे। चारो ओर से पुष्पों की वर्षा हुई। आकाश मे स्वर्गीय वाद्य बजने लगे।[3]

मज्झिमनिकाय के अच्छरियधम्म सुत्त[4] के अनुसार जिस समय बोधिसत्व तुषित लोक से च्युत हो माता के गर्भ मे प्रविष्ट हुए, उस समय सारे संसार के तेज को मात करने वाला अप्रमाण प्रकाश लोक मे प्रकट हुआ। सदा तमसावृत रहनेवाले स्थान भी उस प्रकाश से प्रकाशित हो उठे। पृथ्वी काँप उठी। बोधिसत्व के माता के गर्भ मे रहते समय चार देवपुत्रो ने उनकी रक्षा की, जिससे कि कोई मनुष्य या अमनुष्य हानि न पहुंचा सके। उस समय बोधिसत्व की माता स्वभावतः सदाचारिणी थी। उनका चित्त भोग की इच्छा से किसी पुरुष मे नही लगा। उन्हे कोई रोग नहीं हुआ। वह सुखी एवं स्वस्थ रही[5]।

यह भी कहा गया है कि बोधिसत्व जिस कुक्षि में वास करते है वह चैत्य के गर्भ के समान फिर दूसरे प्राणी के रहने या उपभोग करने के योग्य नही रहती इसीलिए उनकी माता

जन्म के एक सप्ताह के बाद ही मरकर तुषित लोक मे जन्म ग्रहण करती है। जिस प्रकार दूसरी स्त्रियाँ दस मास से कम या अधिक मे भी बैठी या लेटी भी प्रसव करती है, ऐसा बोधिसत्व की माता नही करती। वह दस मास बोधिसत्व को कुक्षि मे धारण कर खडी ही प्रसव करती है। यह बोधिसत्व की माता की धर्मता (विशेषता) है[१]।

आचार्य धर्मानन्द कौशाम्बी ने लिखा ने लिखा है कि बोधिसत्व का जन्म कपिलवस्तु से चौदह-पन्द्रह मील दूर लुम्बिनी नामक ग्राम मे हुआ था और लुम्बिनी मे शुद्धोदन महाराज की जमीदारी थी जहाँ कभी-कभी वे जाकर रहा करते थे[२]। किन्तु प्राचीन बौद्ध-परम्परा और ग्रन्थो मे प्राप्त वर्णनो के आधार पर जातक निदान मे वर्णित वृत्तान्त ही सत्य प्रतीत होता है। लुम्बिनी राज-उद्यान था और वही बोधिसत्व का जन्म हुआ था, किन्तु वहाँ कोई निवास स्थान नही था। महामाया देवी को गर्भ धारण किए दस मास जब पूरे हो गए तब उनकी इच्छा अपने मातृ-गृह (मायके) जाने को हुयी। उन्होने महाराज शुद्धोदन से कहा। राजा ने कपिलवस्तु से देवदह जाने की सारी व्यवस्था कर उन्हें भेज दिया। कपिलवस्तु और देवदह के बीच मे दोनो ही नगर वालो का लुम्बिनी वन नामक एक मंगल शालवन था। वहाँ पहुँचने पर लुम्बिनी वन के प्राकृतिक सौन्दर्य को देखकर देवी के मन मे शालवन मे विचरण करने की इच्छा हुई। वह शालवन मे प्रविष्ट हुई और एक सुन्दर शाल के नीचे जा उसकी डाल पकड़ना चाही। शाल की शाखा स्वत झुक कर देवी के हाथ के पास आ गयी। उसने उसे पकड लिया। उस समय उसे प्रसव-वेदना आरम्भ हुई। लोग कनात घेर स्वयं अलग हो गए। शाल की शाखा पकडे खडे ही खडे प्रसव हुआ था। उस समय चार महाब्रह्मा वहाँ आए और स्वर्ण-जाल मे बोधिसत्व को लेकर माता के सम्मुख किया और कहा, "देवि, सन्तुष्ट हो तुम्हे महाप्रतापी पुत्र उत्पन्न हुआ है।" तदुपरान्त चारों महाराजाओं ने और फिर मनुष्यों ने बोधिसत्व को ग्रहण किया। मनुष्यों के हाथ से छूटकर उन्होने पृथ्वी पर खड़े हो पूर्व दिशा की ओर देखा। उन्होने सभी दिशाओं का अवलोकन कर उत्तर की ओर सात पग गमन किया और यह महान् वाणी बोलते हुए कहा—"मैं लोक मे अग्र हूँ। मै लोक मे श्रेष्ठ हूँ। मै लोक मे ज्येष्ठ हूँ। यह मेरा अन्तिम जन्म है। अब फिर जन्म नहीं होगा[३]।" जातक में कहा गया है कि जिस समय बोधिसत्व लुम्बिनी मे उत्पन्न हुए उसी समय में राहुलमाता, छन्न आमात्य, कालउदायी आमात्य, आजानीय हस्तिराज, अश्वराज कन्थक, महाबोधि वृक्ष और खजानो से भरे चार घड़े भी उत्पन्न हुए[४]।

बड़े समारोह के साथ दोनो नगरो के निवासी बोधिसत्व को लेकर कपिवस्तु लौटे। जब देवताओ को यह ज्ञात हुआ कि बोधिसत्व का आविर्भाव मर्त्यलोक मे हो गया है, तब वे

---

१. जातक, भाग १, पृष्ठ ६८ तथा बुद्धचर्या पृष्ठ २।

२ भगवान् बुद्ध, पृष्ठ ९१।

३ अग्गो हमस्मि लोकस्स, सेट्ठो हमस्मि लोकस्स, जेट्ठो हमस्मि लोकस्स, अयं अन्तिमा जाति, नत्थि दानि पुनब्भवोति—मज्झिम निकाय ३ ३ ३ हिन्दी अनुवाद पृष्ठ ५११

४ जातक प्रथम भाग पृष्ठ ७०

प्रसन्नचित्त हो वस्त्रों को उछाल-उछाल क्रीडा करने लगे। महाराज शुद्धोदन के कुलमान्य गुरु कालदेवल[1] नामक तपस्वी मनोविनोद के लिए उस समय त्रयस्त्रिंश देवलोक में गए हुए थे। वे ध्यान और समाधि-प्राप्त तपस्वी थे। उन्होंने देवताओं के प्रसन्न होने का कारण पूछा। देवताओं ने उत्तर दिया—"मित्र, शुद्धोदन राजा को पुत्र उत्पन्न हुआ है। वह बोधिवृक्ष के नीचे बैठ बुद्ध हो धर्मचक्र प्रवर्तन करेगा। हम उसकी अनन्त बुद्ध-लीला को देखेंगे और उसके धर्म को सुनेंगे। इसी कारण से हम लोग प्रसन्नचित्त हैं।" उनकी बात सुनकर तपस्वी कालदेवल कपिलवस्तु आये और महाराज शुद्धोदन के राज-भवन में प्रवेश कर बिछे आसन पर बैठ गये। राजा के प्रणाम कर कुशल-मंगल पूछने पर उन्होंने कहा कि "महाराज, आपको पुत्र उत्पन्न हुआ है, उसे मैं देखना चाहता हूँ। राजा ने कुमार को मँगाया और तपस्वी की वन्दना कराना चाही, बोधिसत्व के चरण उठकर कालदेवल की जटा में जा लगे। तपस्वी ने आसन से उठकर बोधिसत्व को प्रणाम किया और उनके शरीर के लक्षणों को देखते हुए यह निश्चय कर लिया कि यह अवश्य बुद्ध होगा। यह अद्भुत पुरुष है और फिर मुस्करा उठा, किन्तु उसने यह भी विचार करते हुए जान लिया कि मैं इसे बुद्ध होने पर नहीं देख सकूँगा। मैं पहले ही मर गया रहूँगा। यह मेरा दुर्भाग्य है—सोचते हुए रो उठा। महाराज शुद्धोदन ने देखा कि हमारे कुलगुरु अभी हँसे और अभी रोने लग गए, तो उन्होंने पूछा—क्या भन्ते, मेरे पुत्र पर कोई संकट तो नहीं पडेगा ?" "नहीं महाराज !"

"तो आप किसलिए रो रहे हैं ?" "इस प्रकार के पुरुष को बुद्ध हुए नहीं देख सकूँगा। मेरा बड़ा दुर्भाग्य है। यही सोच अपने लिए रो रहा हूँ।"

पाँचवे दिन बोधिसत्व को नहलाकर समारोहपूर्वक नामकरण किया गया। उनका नाम सिद्धार्थ कुमार किया गया। उसी दिन राम, ध्वज, लक्ष्मण, मंत्री, कौण्डिन्य, भोज, सुयाम और सुदत्त इन आठ महाज्योतिषियो से बोधिसत्व का भविष्य पूछा गया। उनमें से सात ने भविष्य बतलाते हुए कहा—सिद्धार्थ कुमार ऐसे लक्षणों से युक्त है कि यदि वह गृहस्थ रहा तो चक्रवर्ती राजा होगा और यदि प्रव्रजित होगा तो बुद्ध।" उनमें सबसे कम आयु वाले कौण्डिन्य ने कहा—"इसके घर में रहने की सम्भावना नहीं है। यह अवश्य बुद्ध होगा।" तब राजा ने उनसे पूछा—"क्या देख कर मेरा पुत्र प्रव्रजित होगा ?"

"चार पूर्व लक्षण।"

"कौन-कौन से चार लक्षण है ?"

"वृद्ध, रोगी, मृत और प्रव्रजित।"

राजा ने आज्ञा दी—"अब से इस प्रकार के किसी लक्षण को मेरे पुत्र के पास मत आने दो। मै नहीं चाहता कि मेरा पुत्र बुद्ध बने। मैं तो उसे चक्रवर्ती सम्राट् देखना चाहता हूँ।"

अभी राजकुमार सिद्धार्थ के उत्पन्न होने का उत्सव मनाया ही जा रहा था कि सातवें दिन महामाया देवी ने इस आनन्दित एवं उल्लसित कपिलवस्तु के समाज को असह्य शोकागार

१ बुद्धचरित में असित मुनि नाम आया हुआ है—बुद्धचरित १ ८० पृष्ठ १६

में डालकर इस क्षणभंगुर संसार को त्याग दिया। वह तुषित स्वर्ग में एक रूपवती देवी के रूप में उत्पन्न हुयी।

महाराज शुद्धोदन ने राजकुमार सिद्धार्थ के पालन-पोषण का भार अपनी दूसरी रानी महाप्रजापती गौतमी को सौंप दिया, जो महामाया की छोटी बहन थी, कुछ उत्तम रूपवाली धाइयाँ भी नियुक्त की गयीं। बोधिसत्व अनन्त परिवार, महती शोभा और श्री के साथ बढ़ने लगे।

शिक्षा

जब बोधिसत्व कुछ बड़े हुए तो विधिपूर्वक विद्यारम्भ-संस्कार किया गया और उन्हें पाठशाला भेजा गया। उनके शिक्षक गुरु विश्वामित्र थे। उनके पास बोधिसत्व ने सभी शास्त्रों की शिक्षाएँ प्राप्त की। ललितविस्तर नामक ग्रन्थ में उन सभी विद्याओं का विस्तृत वर्णन है जिन्हें कि बोधिसत्व ने अपने गुरु के पास प्राप्त की थी। उन्होंने बचपन में ही ध्यान लगाने का भी अभ्यास किया था और ध्यान-भावना में उनका विशेष मन लगता था। एक दिन कपिलवस्तु में खेत बोने का उत्सव मनाया जा रहा था। सारा नगर देवताओं के विमान की भाँति अलंकृत था। सभी लोग नये वस्त्र पहने मालागंध से युक्त हो उत्सव मना रहे थे। उस दिन महाराज शुद्धोदन के खेतों में एक हजार हल चल रहे थे। राजा का हल रत्न-सुवर्ण जटित था। बैलों की सींगें और कोड़े भी स्वर्ण-खचित थे। राजा बड़े दल-बल के साथ पुत्र को भी साथ ले वहाँ पहुँचे। खेतों के पास ही एक विशाल सघन छाया वाला जामुन का वृक्ष था। राजा ने उस वृक्ष के नीचे कुमार के लिए एक सुन्दर बिछौना बिछवा राजकुमार को उस पर बैठा सुरक्षा की व्यवस्था कर दी और स्वयं आमात्यों के साथ हल जोतने के स्थान पर गये। वहाँ उन्होंने सुनहले हल को पकड़ा, आमात्यों ने भी एक-एक हल को और शेष जोतने वालों ने भी। हल चलने लगे। खेत जोते जाने लगे। वहाँ भीड़ इकट्ठी थी। लोग तमाशा देखने आये थे। बोधिसत्व के पास बैठी धाइयाँ भी तमाशा देखने के लिए वहाँ आ गयी। बोधिसत्व इधर-उधर किसी को न देख आसन-मार आश्वास-प्रश्वास को रोक प्रथम ध्यान में स्थित हो गये। धाइयों ने खाने-पीने में कुछ देर कर दी। सभी वृक्षों की छाया घूम गयी, किन्तु उस जामुन वृक्ष की छाया गोल ही खड़ी रही। जब धाइयाँ आयी तो उन्होंने बोधिसत्व को बिछौने पर आसन-मारे बैठे देखा। उस चमत्कार को देख, उन्होंने जाकर राजा से कहा कि—देव! कुमार इस तरह बैठे हैं। सभी वृक्षों की छाया लम्बी हो गयी है, किन्तु जामुन की छाया गोलाकार ही खड़ी है। राजा ने भी वेग से आ उस चमत्कार को देखा और उन्हें हाथ जोड़कर नमस्कार किया।

विवाह

मान ली और राजपुरोहित को गुणवती कन्या की खोज करने के लिए भेजा। पुरोहित ने बोधिसत्व के अनुकूल दण्डपाणि की कन्या को पाया, किन्तु राजा ने उचित समझा कि राजकुमार को ही कन्या-वरण करने का सुअवसर दिया जाए। उन्होंने विवाह-योग्य सभी कन्याओं को राज-प्रासाद में आकर उपहार ग्रहण करने के लिए निमंत्रित किया। सातवें दिन कन्यायें राज-प्रासाद में आयीं। बोधिसत्व के सौन्दर्य और तेज से वे उनके सामने देर तक खड़ी न रह सकीं। किन्तु दण्डपाणि की पुत्री यशोधरा[1] जब उनके पास पहुँची तब एक दूसरे ने एक दूसरे को बड़े प्रेम से देखा। राजकुमार ने उसे उपहार के साथ अपनी बहुमूल्य अंगूठी भी अर्पित कर दी। लोगों को यह देखकर ज्ञात हो गया कि राजकुमार ने यशोधरा को वरण कर लिया।

इसके पश्चात् महाराज शुद्धोदन ने दण्डपाणि के पास अपने पुत्र के विवाह का प्रस्ताव भेजा, किन्तु दण्डपाणि ने अपनी पुत्री का विवाह सिद्धार्थ से करने में असमंजस प्रगट किया। उसे संशय था कि राज-प्रासाद में नर्तकियों के साथ दिन व्यतीत करने वाला राजकुमार विविध कलाओं में निपुण होगा। जब यह समाचार सिद्धार्थ को मिला, तब उन्होंने सूचित किया कि मैं कला, शिल्प, रणकौशल अथवा बाहुबल के प्रदर्शन में हर प्रकार प्रतियोगिता में सम्मिलित होने के लिए प्रस्तुत हूँ। शीघ्र ही प्रतियोगिता का आयोजन किया गया और उसमें सभी शाक्य युवकों को सम्मिलित होने के लिए निमंत्रित किया गया। ललितविस्तर के अनुसार इस प्रतियोगिता में निम्नलिखित आयोजन किये गये थे—

(१) एक हाथी का शव उठाकर दूर फेंकना।
(२) लिपियों के ज्ञान को प्रदर्शित करना, जिसके निर्णायक विश्वामित्र चुने गये।
(३) गणित के प्रश्नों को शीघ्र और शुद्ध हल करना, जिसके निर्णायक गणना-विशारद अर्जुन थे।
(४) अश्वारोहण।
(५) बाण चलाना, जिसके लिये राजकुमार ने अपने पूर्वज सिंहहनु का भारी धनुष लिया।
(६) मल्लयुद्ध।
(७) संगीत, नृत्य आदि ललित कला।
(८) काव्य एवं ग्रन्थ-रचना।
(९) ज्योतिष तथा विविध शास्त्रों का ज्ञान।
(१०) वेद आदि ब्राह्मण साहित्य तथा तर्क शास्त्र, अर्थशास्त्र, दर्शन एवं राजनीति का ज्ञान।

इसके साथ यह घोषणा कर दी गयी कि जो इन प्रतियोगिताओं में विजयी होगा, उसी के साथ यशोधरा का विवाह होगा यशोधरा भी वहाँ के

साथ उपस्थित थी और प्रदर्शन देख रही थी। राजकुमार सिद्धार्थ विजयी घोषित हुए। यशोधरा ने उन्हें जयमाला पहिनायी तथा दण्डपाणि ने बड़े हर्षपूर्वक अपनी पुत्री का विवाह सिद्धार्थ कुमार से कर दिया। दोनों का वैवाहिक जीवन उक्त प्रासादों में सुखपूर्वक व्यतीत होने लगा।

जातक निदान[1] में सिद्धार्थ कुमार के शिल्पप्रदर्शन का वर्णन विवाहोपरान्त किया गया है और बतलाया गया है कि सिद्धार्थ कुमार के महासम्पत्ति का उपयोग करते हुए देख जाति-बिरादरी में चर्चा छिड़ी कि राजकुमार शिल्प-कला को न सीख भोगों में ही लिप्त हो रहा है। युद्ध आने पर क्या करेगा? बोधिसत्त्व ने यह बात जब सुनी तब शिल्प-प्रदर्शन का आयोजन कराया और उस समय अक्षणवेध, बालवेध जाननेवाले धनुर्धारियों से भी बढ़कर बारह प्रकार की कलाओं का प्रदर्शन किया। इन कलाओं का विस्तृत वर्णन सरभंग[2] जातक में आया हुआ है।

महाभिनिष्क्रमण

राजकुमार सिद्धार्थ को सांसारिक भोग-विलास में ही लगा देख देवताओं को चिन्ता हुई, उन्होंने जिस कार्य की सिद्धि के लिए तुषित-भवन में जाकर बोधिसत्व से प्रार्थना की थी, उनके मन में निराशा-सी होने लगी। उन्होंने परस्पर मन्त्रणा की और निश्चय किया कि सिद्धार्थ को अपने कर्त्तव्य का स्मरण दिलाया जाय। इस कार्य के लिए उन्होंने योजना बना ली।

एक दिन सिद्धार्थ कुमार ने अपने सारथी से कहा कि मैं राजोद्यान चलना चाहता हूँ। रथ तैयार करो। सारथी ने सुन्दर रथ को अलंकृत कर उसमें चार सिन्धु देशीय घोड़ों को जोत बोधिसत्व को सूचना दी। बोधिसत्व रथ पर चढ़ उद्यान की ओर चल पड़े, देवताओं ने अपने निश्चित कार्यक्रम के अनुसार पूर्व-निमित्त दिखलाने का अवसर पाया। उन्होंने एक देवपुत्र को बुढ़ापे से पीड़ित, टूटे दाँत, पके केश, टेढ़े झुके हुए शरीर, हाथ में लकड़ी लिये, काँपते हुए दिखलाया। उसे सारथी और बोधिसत्व ही देखते थे। बोधिसत्व ने सारथी से पूछा, "सौम्य, यह कौन पुरुष है? इसके केश भी दूसरों के जैसे नहीं है। शरीर भी दूसरों के जैसा नहीं है?"

"देव, यह बूढ़ा कहा जाता है।"
"सौम्य, बूढ़ा क्या होता है?"
"देव, इसे अब बहुत दिन जीना नहीं है।"
"तो क्या मैं भी बूढ़ा होऊँगा, क्या यह अनिवार्य है?"
"आप, हम सभी लोगों के लिए बुढ़ापा अनिवार्य है।"
"तो बस, उद्यान जाना रहने दो। यहीं से लौट चलो।"

सारथी ने राजकुमार की आज्ञा पा रथ प्रासाद की ओर लौटा दिया। राजकुमार प्रासाद में पहुँच कर दुःखी होकर चिन्ता करने लगा—"इस जन्म लेने को धिक्कार है। जहाँ कि जन्म लेनेवाले को बुढ़ापा सताती है।"

---

१. जातक, प्रथम भाग, पृष्ठ ७६।
२ सरभंग जातक १७ २ जातक ५२२) हिन्दी अनुवाद पचम खण्ड पृष्ठ २०९ २३१।

इतना शीघ्र उद्यान से लौटने का कारण राजा ने सारथी से पूछा। सारथी से उक्त घटना को सुनकर राजा चिन्तित हो उठा। ज्योतिषियों की बात याद हो आयी। उसने कहा, मेरा नाश मत करो। पुत्र के लिये शीघ्र ही नृत्य तैयार करो। भोग भोगते हुए उसे विरक्ति नही आयेगी। राजा ने पहरा और भी बढ़ा कर राजकुमार की देख-रेख के लिए सबको सतर्क कर दिया।

फिर एक दिन बोधिसत्व ने उसी प्रकार उद्यान जाते हुए देवताओं द्वारा रचित रोगी व्यक्ति को देख सारथी से पूछा—"यह कौन पुरुष है? इसकी आँखे भी दूसरों की जैसी नही है। ऐसे ही स्वर भी?"

"देव, यह रोगी है।"

"रोगी क्या होता है?"

"यह रोग से पीड़ित है। अब सम्भवत: इस रोग से न उठ सकेगा।"

"क्या मै भी रोगी होऊँगा?"

"आप, हम, सभी लोग रोगी होंगे, रोगी होना अनिवार्य है।"

उस दिन भी दु:खित-हृदय हो राजकुमार लौट आये।

फिर एक दिन उसी प्रकार उद्यान जाते हुए बोधिसत्व ने देवताओं द्वारा निर्मित मृत पुरुष को देखा और यह भी देखा कि बहुत से लोग एकत्र होकर नाना प्रकार के अच्छे-अच्छे कपड़ों से अर्थी (शीविका) बना रहे हैं। राजकुमार ने सारथी से पूछा—"ये लोग क्या कर रहे है?"

"देव, एक व्यक्ति मर गया है।"

"तो जहाँ पर मृतक है वहाँ रथ को ले चलो।"

सारथी रथ को वहाँ ले गया जहाँ कि मृतक था। राजकुमार ने उस मृतक को देखा। देखकर सारथी से पूछा—"यह मरना क्या है?"

"यह मर गया है। अब इसके माता-पिता या दूसरे सम्बन्धी लोग इसको नहीं देख सकेंगे और यह भी उन्हे नही देख सकेगा।"

"तो क्या मै भी मर जाऊँगा? क्या मुझे भी लोग नहीं देख सकेंगे और मैं भी उन्हे नही देख सकूँगा?"

"आप, हम, सभी लोग मर जाएँगे। मृत्यु अनिवार्य है।"

राजकुमार यह सुनते ही बहुत दु:खित हुआ और लौट आया। वह सोचने लगा कि यह जीवन बुढापा, रोग और मृत्यु का घर है। कैसे इससे मुक्त हुआ जा सकता है? इसी चिन्तन मे उसके दिन-रात व्यतीत होने लगे।

फिर एक दिन उद्यान जाते हुए बोधिसत्व ने देवताओं द्वारा निर्मित एक मुण्डित काषाय वस्त्रधारी प्रव्रजित (संन्यासी) को देख सारथी से पूछा—"यह कौन पुरुष है? इसका सिर भी मुड़ा है। वस्त्र भी दूसरो के समान नही है?"

"देव, यह प्रव्रजित है।"

प्रव्रजित क्या है?"

"देव, यह अच्छे धर्माचरण के लिए, शान्ति पाने के लिए, अच्छे कर्म करने के लिए, पुण्य संचय करने के लिए और प्राणियों पर अनुकम्पा करने के लिए प्रव्रजित हुआ है।"

"तो जहाँ वह प्रव्रजित है, वहाँ रथ ले चलो।"

प्रव्रजित के पास जाकर राजकुमार ने उससे यह कहा—"हे, आप कौन है ?"

"राजकुमार, मै प्रव्रजित हूँ और अच्छे धर्माचरण के लिए प्रव्रजित हुआ हूँ।"

प्रव्रजित की बात सुनकर राजकुमार का मन प्रव्रज्या मे लग गया। उसने उस दिन भर उद्यान मे ही विनोद कर पुष्करणी मे स्नान किया। वह सूर्यास्त के समय एक प्रस्तर-खण्ड पर बैठा। उस समय उसके परिचारको ने उसे सुन्दर ढँग से सजाया। यह उसका अन्तिम श्रृंगार था। जब वह सभी अलंकारो से विभूषित हो राजप्रासाद लौटने के लिए रथ पर आरूढ़ हुआ, तब उसी समय दूतों ने आकर समाचार दिया कि यशोधरा देवी ने पुत्र-रत्न को जन्म दिया है। इस समाचार को सुनकर राजकुमार को प्रसन्नता नही हुई, प्रत्युत उसे भय हो आया कि यह सांसारिक बन्धन से मुक्ति के मार्ग में कहीं बाधक न हो। उसके मुख से निकल पडा—"राहुलो जातो", अर्थात् विघ्न उत्पन्न हुआ। राजा ने जब दूतो से राजकुमार के मुख से निकली वाणी को सुना, तो नवजात शिशु का नाम "राहुल" ही रखा।

राजकुमार का रथ नगर मे प्रविष्ट हुआ। उस समय प्रासाद के ऊपर बैठी कृशा-गौतमी नामक क्षत्रिय कन्या ने बोधिसत्व की रूप-शोभा को देखकर बहुत ही प्रसन्नता तथा हर्ष से यह कहा—

"निब्बुता नून सा माता निब्बुतो नून सो पिता।
निब्बुता नून सा नारी यस्सायं ईदिसो पति॥"

[परम शान्त है वह माता, परम शान्त है वह पिता और परम शान्त है वह नारी, जिसका इस प्रकार का पति हो।]

बोधिसत्व ने यह सुना तो सोचा कि इसने मुझे प्रिय वचन सुनाया है। मैं शान्ति को ढूँढ रहा हूँ और इसने उसी का सन्देश दिया है। आज ही मुझे गृह त्याग कर शान्ति की खोज मे निकल जाना चाहिए। उन्होने गुरु-दक्षिणा स्वरूप अपने गले से एक लाख का मोती का हार उतार कर कृशा गौतमी के यहाँ भेज दिया। हार को पा कृशा गौतमी ने यह समझा कि राजकुमार उस पर रीझ गए है।

राजकुमार प्रासाद में जा सुन्दर शैय्या पर लेट रहे। सुन्दर अलंकारो से विभूषित, नृत्य और संगीत मे दक्ष नर्तकियों ने कुमार को प्रसन्न करने के लिए नृत्य, गीत और वाद्य को प्रारम्भ किया। बोधिसत्व का मन विरक्त होने के कारण नृत्य आदि मे नहीं लगा और वे थोड़ी ही देर मे सो गये। नर्तकियो ने जब देखा कि बोधिसत्व सो गए है, तब वे भी अपने बाजों को साथ लिए ही सो गयी। उनके सो जाने पर बोधिसत्व की नींद खुली। उस समय सुगन्धित तेल-पूर्ण प्रदीप जल रहे थे। बोधिसत्व ने उन नर्तकियो को देखा। उनमें से किन्ही के मुख से कफ और लार बहने से उनका शरीर भींग गया था। कोई दाँत कटकटा रही थी। कोई खाँस रही थी। कोई बर्रा रही थी। किन्ही के मुख खुले हुए थे। किन्ही के वस्त्र हटे हुए थे उनके इन विकारो को देखकर बोधिसत्व के मन में और भी विरक्ति उत्पन्न हो

आयी। उन्हें वह अपना प्रासाद-कक्ष सड़ती हुई लाशों से भरे कच्चे श्मशान की भाँति जान पड़ा। सारा संसार जलते हुए घर की तरह दिखाई पड़ा। उनके मुख से निकल पड़ा—"हा कष्ट, हा शोक", उस समय उनका चित्त प्रव्रज्या के लिए अत्यन्त आतुर हो गया। आज ही मुझे महाभिनिष्क्रमण (गृह-त्याग) करना चाहिए।" ऐसा निश्चय कर वे पलँग से उतरे और द्वार के पास जाकर पूछा—"कौन है ?" द्वार के पास सोए हुए छन्दक (छन्न) ने कहा—

"आर्यपुत्र, मै छन्दक हूँ।"

"आज मै महाभिनिष्क्रमण करना चाहता हूँ। मेरे लिए एक घोडा तैयार करो।"

"अच्छा देव !"

छन्दक ने घोड़सार मे जाकर अश्वराज कन्थक को तैयार किया। इधर बोधिसत्व अपने नवजात पुत्र को देखने की इच्छा से यशोधरा के कक्ष मे गए। उस समय घर के भीतर प्रदीप जल रहा था। यशोधरा बेला, चमेली आदि से सजी शय्या पर पुत्र के मस्तक पर हाथ रखे सो रही थी। बोधिसत्व ने पुत्र को अपनी गोद मे उठाना चाहा, किन्तु कही यशोधरा जाग न जाय, इस भय से चुपचाप खडे होकर देखा और वहाँ से लौट आये।

बोधिसत्व कन्थक के पास गए और उस पर सवार हो, सारथी छन्दक के साथ नगर से बाहर निकल पड़े। आषाढ पूर्णिमा की रात्रि थी। चारों ओर कड़ा पहरा लगा हुआ था। नगर का सिहद्वार भी बन्द था, किन्तु देवताओ ने अपने प्रताप से नगर के द्वार को खोल दिया और ऐसी माया फैलायी कि सभी रक्षक प्रगाढ निद्रा में सो गये। बोधिसत्व जब नगर से निकल कर आगे बढे, तब मार ने आकर कहा—"मार्ष, मत निकले। आज से सातवें दिन आपके लिए चक्ररत्न प्रकट होगा, आप चक्रवर्ती राजा होंगे।"

"तुम कौन हो ?"

"मै वशवर्ती मार हूँ।"

"मार, मै भी जानता हूँ कि मेरे लिए चक्ररत्न प्रकट होगा, किन्तु मै चक्रवर्ती राजा नही होना चाहता हूँ। मै तो ज्ञान प्राप्त कर बुद्ध बनना चाहता हूँ।"

"आज से जब कभी तुम्हारे मन में सासारिक वितर्क उत्पन्न होंगे, तब मै तुमसे पूछूँगा।" तब से मार छाया की भाँति बोधिसत्व के पीछे लगकर सात वर्षो तक पीछा करता रहा।

बोधिसत्व आगे बढ चले, वे रात्रिभर चलते रहे। प्रायः तीन राज्यों[1] को पार कर तीस योजन की दूरी पर 'अनोमा' नामक नदी के तट पहुँचे। उन्होंने सोच लिया कि अब यही प्रव्रजित हो जाना चाहिए। घोड़े को उन्होंने ऐड़ी से संकेत किया। आठ ऋषभ[2] चौड़ी नदी को कन्थक एक छलाग में ही पार कर लिया। उस पार जाकर राजकुमार ने अपने रत्नाभरणो को छन्दक को दे दिया और उसे कन्थक को लेकर कपिलवस्तु लौट जाने को कहा। उन्होंने अपने केश खड्ग से काटकर ऊपर फेक दिये, जिसे त्रयस्त्रिंश के देवताओ ने ग्रहण कर लिया। बोधिसत्व ने विचार किया कि मुझे प्रव्रजित होने के लिये श्रमण के उपयुक्त

---

१ शाक्य कोलिय और

२ एक सौ चालिस हाथ का ऋषभ होता है

वस्त्रादि चाहिए, उस समय घटिकार महाब्रह्मा ने उनके चित्त को जान आठ परिष्कारो[1] को लाकर अर्पित किया। बोधिसत्व ने उन परिष्कारो को ग्रहण कर प्रव्रज्या ग्रहण की। उस समय बोधिसत्व की आयु २९ वर्ष थी।

उधर छन्दक बोधिसत्व को प्रणाम कर कपिलवस्तु की ओर चल दिया। कन्थक को बोधिसत्व की आँखो से ओझल होते ही महान् दु ख हुआ। उसने सोचा कि अब मुझे फिर अपने स्वामी का दर्शन नही होगा। उसका कलेजा फट गया और त्रयस्त्रिंश भवन मे कन्थक नामक देवपुत्र होकर उत्पन्न हुआ। कन्थक की मृत्यु के पश्चात् छन्दक अकेला ही रोता-कलपता कपिलवस्तु गया।

दूसरे दिन प्रात काल कपिलवस्तु में राज-प्रासाद की स्त्रियों ने राजकुमार को न देख राजा के पास इसकी सूचना भेजी। राजा घबडाये, दौडे हुए आये और पूछ-ताछ के पश्चात् ज्ञात हुआ कि राजकुमार प्रासाद छोड़कर चले गये है। सारा राज-परिवार दु:खी एवं बहुत सन्तप्त हो गया। उधर छन्दक ने भी राजकुमार के वस्त्राभूपणों के साथ आकर उनके प्रव्रजित होने का समाचार सुनाया। इस समाचार से सारा नगर शोक-सागर मे डूब गया। यशोधरा, महाराज शुद्धोदन और महाप्रजापती गौतमी की अन्तर्वेदना एवं मनोदशा का कहना ही क्या था!

आचार्य धर्मानन्द कौशाम्बी ने लिखा है कि सिद्धार्थ कुमार ने चार पूर्वनिमित्तों को देखकर गृहत्याग नही किया था, प्रत्युत उन्हें अपने आप्तो (स्वजनों) द्वारा एक-दूसरे से लडने के लिए शस्त्रधारण करना भयावह लगा, घर अड़चनो और कूडे-कचरे का स्थान जान पडा और ऐसा लगा कि उन्हे जन्म, जरा, मरण, व्याधि और शोक से मुक्ति पाने का प्रयत्न करना चाहिए[2]। किन्तु जातक, सुमंगलविलासिनी, पपंचसूदनी आदि ग्रन्थो मे उक्त चारो निमित्तों का ही वर्णन किया गया है और यह भी कहा गया है कि सभी बोधिसत्व इन्हीं चार निमित्तो को देखकर महाभिनिष्क्रमण करते है। जैसे कहा है—

> जिण्णञ्च दिस्वा दुखितञ्च व्याधितं, मतञ्च दिस्वा गतमायुसंखयं।
> कासायवत्थं पब्बजितञ्च दिस्वा, तस्मा अहं पब्बजितोम्हि राज॥[3]

[हे राजन्, बूढे और रोग से पीड़ित, आयु-समाप्त होकर मरे तथा काषाय वस्त्रधारी प्रव्रजित को देखकर मैं प्रव्रजित हुआ हूँ।]

---

१. तिचीवरञ्च पत्तञ्च वासी सूची च बन्धनं।
परिस्सावनेन अट्ठेते युत्तयोगस्स भिक्खुनो॥
[योग मे युक्त भिक्षु के लिए तीन चीवर, पात्र, छुरा, सूई, कायबन्धन और पानी छानने का वस्त्र—ये आठ परिष्कार हैं।]

२ भगवान् बुद्ध पृष्ठ १०६ १११।

३ पपञ्चसूदनी २ ४ ३ सु   २ १ जातक आदि म भी।

दीघनिकाय[1] से भी इसी बात की पुष्टि होती है। अत. कौशाम्बी जी का कथन ग्राह्य नहीं है।

साधना

बोधिसत्व ने प्रव्रजित हो अनोमा नदी के किनारे अवस्थित अनूपिया नामक कस्बे के आमो के बाग में एक सप्ताह तक सुखपूर्वक व्यतीत किया। फिर वहाँ से तीस योजन मार्ग पैदल चलकर वे राजगृह पहुँचे। वहाँ उन्होने भिक्षा के लिए नगर मे प्रवेश किया। सारा नगर उनके रूप को देखकर आश्चर्य-चकित हो गया। मानो इन्द्र श्रमण-वेश मे नगर मे आ गया हो। यह समाचार राजा बिम्बिसार के पास भी पहुँचा। राजा ने प्रासाद के ऊपर खडे हो बोधिसत्व को देखा और इनके सम्बन्ध मे विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिए अपने गुप्तचरो को आज्ञा दी। गुप्तचर पीछे लग गये। बोधिसत्व ने भिक्षान्न ग्रहण कर नगर से निकल पाण्डव पर्वत की छाया मे बैठकर भोजन करना प्रारम्भ किया। उस समय उनके आँत मुख से निकलने के समान जान पड़ने लगे, क्योंकि उन्होने ऐसा भोजन कभी आँख से देखा भी न था। उन्होंने अपने मन को समझाया और अपने उद्देश्य का स्मरण किया तथा शान्त होकर भोजन किया। राजा ने इन सब बातो को गुप्तचरो से सुनकर स्वयं बोधिसत्व के पास आ अपने सभी ऐश्वर्य अर्पित करने के लिए कहा और यह भी निवेदन किया कि आप संन्यास त्याग कर राज-ऐश्वर्य का अनुभव करे। किन्तु बोधिसत्व ने किसी भी प्रकार जब बिम्बिसार की प्रार्थना स्वीकार नही की, तब उसने यह अन्तिम निवेदन किया—"अच्छा, जब आप बुद्ध हो, तो पहले मेरे राज्य मे आने की कृपा करे।"

बोधिसत्व राजा को वचन दे आलार कालाम के आश्रम मे गये। वहाँ उससे ध्यान-समाधि की बाते सीखी और आकिचन्यायतन को प्राप्त कर लिया, किन्तु इतने से उन्हे सन्तोष नही हुआ। वे उद्रक रामपुत्र के पास गये और वहाँ उससे नैवसज्ञानासज्ञा का अभ्यास किया। फिर भी इस ध्यान-समापत्ति के लाभ से उन्हे पूर्ण शान्ति की प्राप्ति नही हुई। वे राजगृह को त्यागकर मगध देश मे विचरण करते, जहाँ उरुवेला नामक स्थान था, वहाँ पहुँचे। कोण्डिन्य, भद्दिय, वप्प, महानाम और अस्सजी नामक पाँच परिव्राजक भी, जो उनके साथी हो गए थे, वे भी विचरण करते वही पहुँचे। बोधिसत्व ने वहाँ एक रमणीक सुन्दर भूमि-भाग मे एक नदी को बहते देखा, जिसका घाट रमणीय एवं श्वेत था। चारों ओर विचरण करने के लिए ग्राम थे। उन्होने यह देखकर सोचा—मेरी साधना के लिए यह स्थान बहुत उपयोगी है[2]। और दुष्कर तपश्चर्या प्रारम्भ कर दी। पाँचों परिव्राजक (पंचवर्गीय) "अब बुद्ध होंगे, अब बुद्ध होंगे" इस आशा से छ. वर्षो तक बोधिसत्व की सेवा मे लगे रहे। उस समय बोधिसत्व अक्षत तिल-तण्डुल से कालक्षेप करने लगे। पीछे आहार ग्रहण करना भी छोड़ दिये। देवता रोम के छिद्रो से उनके शरीर मे ओज डालते थे। वे निराहार के कारण बहुत दुबले

---

१ दीघनिकाय २ १ हिन्दी अनुवाद पृष्ठ १०९।

२ मज्झिम निकाय १ ३ ६ हिन्दी अनुवाद पृष्ठ १०५

हो गये। उनका स्वर्ण वर्ण शरीर काला हो गया। उनके शरीर मे विद्यमान बत्तीस महा-पुरुष लक्षण छिप गये। एक बार श्वासरहित ध्यान करते समय बहुत ही क्लेश से पीडित एव बेहोश हो टहलने के चबूतरे पर गिर पडे। तदुपरान्त उन्होने सोचा कि यह बुद्धत्व प्राप्त करने का मार्ग नही है। उन्हे अपने बचपन में जामुन वृक्ष के नीचे ध्यान लगाने की बात याद आई। उन्होने सोचा शायद वही ज्ञान का मार्ग हो, किन्तु अत्यन्त कृश पतली काया से वह ध्यान-सुख मिलना सुकर नही था[1]। अत. उन्होने पुन आस-पास के ग्रामो मे भिक्षाटन करके भोजन ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया। अब उनका शरीर पूर्ववत् स्वर्ण वर्ण हो गया। तब पंचवर्गीय भिक्षुओ ने सोचा कि छ वर्षो तक दुष्कर तपस्या करने पर भी यह बुद्ध नही हो सके। अब ग्रामो मे भिक्षा माँगकर भोजन कर रहे है, तो क्या बुद्ध होगे? ये तो लालची है। तप के मार्ग से भ्रष्ट है। वे बोधिसत्व का साथ छोड़ वहाँ से अठारह योजन दूर ऋषि-पतन[2] को चले गये।

सुजाता की खीर

उस समय उरुवेला प्रदेश मे सेनानी नामक एक ग्राम था। जहाँ सेनानी नाम का ही एक सम्पन्न गृहस्थ रहता था। उसकी सुजाता नामक एक पुत्री थी। सुजाता जब तरुणी हुई, तब उसने एक बरगद के वृक्ष पर देवता मानकर यह प्रार्थना की थी, "यदि मैं अच्छे घर मे विवाहित होकर पहले गर्भ से ही पुत्र प्राप्त करूँगी, तो बहुत बडी पूजा करूँगी।" उसकी वह प्रार्थना पूर्ण हुई। उसका विवाह वाराणसी नगरी में नगर-श्रेष्ठि के पुत्र से हुआ और पहले गर्भ से यश कुलपुत्र नामक सुन्दर पुत्र प्राप्त हुआ। वह जब अपनी ससुराल से सेनानी ग्राम लौटी, तब बोधिसत्व की दुष्कर तपश्चर्या के छ वर्ष व्यतीत हो चुके थे। सुजाता ने बरगद वृक्ष की पूजा के निमित्त आयोजन किया। वैशाख पूर्णिमा के प्रात ही उसने शुद्ध गाय के दूध से खीर पकाना आरम्भ किया और अपनी पूर्णा नामक दासी को भेजकर देवस्थान को साफ करने के लिए कहा। वह जल्दी-जल्दी वृक्ष के नीचे गयी। उधर बोधिसत्व भी प्रातः काल शौच आदि से निवृत हो भिक्षा-काल की प्रतीक्षा करते हुए उसी वृक्ष के नीचे आकर बैठे। जब पूर्णा ने उन्हे देखा तो समझा कि वृक्ष-देवता स्वयं अपने हाथ से पूजा ग्रहण करने के लिए बैठे है। उसने शीघ्र लौटकर यह बात सुजाता से कही। सुजाता यह सुनते ही प्रसन्न हो उठी। वह खीर को थाल मे रख दूसरे सोने के थाल से ढँक कपड़े से बाँध कर सब अलंकारो से अलंकृत हो थाल को अपने सिर पर रख वृक्ष की ओर चल पड़ी। वह बोधिसत्व को वृक्ष के नीचे देख बहुत सन्तुष्ट हुई और उन्हे वृक्ष का देवता समझ पहले देखने के स्थान से ही सम्मान-पूर्वक झुककर जा, सिर से थाल को उतारा और जल सहित बोधिसत्व के पास जा खडी हुई। घटिकार महाब्रह्मा द्वारा प्रदत्त मिट्टी का भिक्षा-पात्र इतने समय तक सदा बोधिसत्व के पास रहा, किन्तु इस समय वह अदृश्य हो गया। बोधिसत्व ने भिक्षा-पात्र को न देख दाहिने हाथ को फैलाकर जल ग्रहण किया। सुजाता ने पात्र सहित खीर को उन्हे अर्पण किया। बोधिसत्व

---

१ मज्झिम निकाय २ ४ ५ हिन्दी अनुवाद पृष्ठ ३४५

२ वर्तमान जिला वाराणसी उत्तर प्रदेश

ने सुजाता की ओर देखा। उसने "आर्य, मैंने आपको यह प्रदान किया है। इसे ग्रहण कर यथारुचि पधारिये।" कह वन्दना की और फिर "जैसे मेरा मनोरथ पूर्ण हुआ, वैसे ही आपका भी पूर्ण हो।" कहकर एक लाख मुद्रा के मूल्य के उस स्वर्णथाल को पुराने पत्तल की भाँति छोडकर चल दिया।

बोधिसत्व उस स्थान से उठकर थाल सहित निरंजरा नदी के किनारे गये। थाल को किनारे रख नदी में स्नान किया और फिर उनचास ग्रास करके उस खीर को खाया। फिर उसके पश्चात् सात सप्ताह तक उन्होंने कोई अन्न ग्रहण नहीं किया। खीर खा लेने के पश्चात् सोने के थाल को नदी में फेंक दिया।

मार-विजय

बोधिसत्व नदी के किनारे सुपुष्पित शालवन में दिन बिताते सायंकाल बोधिवृक्ष के पास गये। उस समय श्रोत्रिय नामक एक घास काटने वाला व्यक्ति सामने से आ रहा था। उसने उन्हें आठ मुट्ठी तृण दिया। उन्होंने तृण ले बोधिवृक्ष के नीचे जा तृणों के अग्रभाग को पकड़ कर हिलाया, जिससे आसन बन गया। बोधिसत्व ने बोधि-वृक्ष को पीठ की ओर करके पूर्व-मुख बैठ अपराजित आसन लगा यह संकल्प किया—"चाहे मेरा चमडा, नसें, हड्डी ही क्यों न शेष रह जायँ, चाहे शरीर, मांस, रक्त क्यों न सूख जायँ, किन्तु तो भी सम्यक् सम्बोधि को प्राप्त किये बिना इस आसन को नहीं छोड़ूँगा।"

उस समय देवपुत्र मार ने सोचा कि बोधिसत्व मेरे अधिकार से बाहर निकल जाना चाहते हैं। इन्हें नहीं निकलने देना चाहिए। वह शीघ्र अपनी सेना के पास गया और मार-घोषणा करवा अपनी सेना लेकर निकल पडा। मार सेना के बोधिवृक्ष के पास पहुँचने पर उनमें से एक भी बोधिसत्व के सामने खड़ा न रह सका। सभी सामने आते ही भाग निकले। बोधिसत्व अकेले ही बैठे रहे। मार ने अपने अनुचरों से कहा कि हम लोग सिद्धार्थ से सामने से युद्ध नहीं कर सकते, अतः पीछे से करें। जब बोधिसत्व ने मार की सेना को देखा तो उन्होंने यह सोचा—"ये इतने लोग मेरे अकेले के लिए बड़ा प्रयत्न कर रहे हैं। इस स्थान पर मेरी माता, पिता, भाई या दूसरा कोई सम्बन्धी नहीं है। ये मेरी दस पारमितायें ही मेरे चिरकाल से पाले हुए परिजन के समान हैं, इसलिए इन पारमिताओं को ही ढाल बनाकर इस पारमिता-शस्त्र को ही चलाकर मुझे इस सेना-समूह का विध्वंस करना होगा और वे दस पारमिताओं का स्मरण करते हुए बैठे रहे।

जातक निदान[1] में कहा गया है कि मार गिरिमेखला नामक हाथी पर चढ़कर सहस्र-बाहु से नाना प्रकार के आयुधों को ग्रहण किया था। मार सेना के सभी लोग विभिन्न प्रकार के हथियार लिए थे। सब नाना प्रकार के रंग तथा मुखवाले बने थे। उनके भय से एक भी देवता न ठहर सका। अब मारदेव पुत्र ने बोधिसत्व को भगाने के लिए आँधी उत्पन्न की। उसी समय पूर्व और पश्चिम से झंझावात उठकर चारों ओर से पर्वत-शिखरों को उखा-

१ जातक प्रथम भाग पृष्ठ ९३

उता वृक्षों को नष्ट करता नगरों को चूर्ण विचूर्ण करता आगे बढ़ा किन्तु बोधिसत्व के पुण्यप्रताप से उसकी प्रचण्डता उनके चीवर के कोन को भी न हिला सकी तब जल में डुबाने की इच्छा से उसने भयंकर महावर्षा आरम्भ की। उसके दिव्य बल से इतनी तेज वर्षा हुई कि उससे पृथ्वी में छेद पड़ गये, किन्तु बोधिसत्व के चीवर का कोना भी नहीं भीगा। तब उसने पत्थरों की वर्षा की। वे पत्थर बोधिसत्व के पास पहुँच कर दिव्य पुष्पों के गुच्छे बन गये। तदुपरान्त आयुध-वर्षा की। वे भी बोधिसत्व के पास पहुँच कर पुष्प बन गये।

इस प्रकार मार ने वायु, वर्षा, पाषाण, हथियार, धधकती राख, बालू, कीचड़ और अन्धकार की वर्षा की, किन्तु इतने से भी जब बोधिसत्व को न भगा सका तो अपनी सेना से कहा—"क्या देखते हो, इस कुमार को पकड़ो, मारो, भगाओ।" और स्वयं गिरिमेखला हाथी पर बैठ अपने चक्र को ले बोधिसत्व के पास जाकर बोला—"सिद्धार्थ, इस आसन से उठ। यह आसन तेरे लिए नहीं, मेरे लिए है।" बोधिसत्व ने कहा—मार, तूने पारमिताएँ पूर्ण नहीं की और न तो लोक हितार्थ कार्य ही किये, यह आसन तेरे लिए नहीं, मेरे ही लिए है।

मार अपने क्रोध के वेग को न रोक सका। उसने बोधिसत्व पर चक्र चलाया, किन्तु वह चक्र बोधिसत्व के ऊपर फूलों का चँदवा बन गया। तब मार की सेना ने बोधिसत्व को भगाने के लिए बड़ी-बड़ी पत्थर की शिलायें फेंकी। वे भी पुष्प-मालायें बनकर पृथ्वी पर बिखर गयीं। तब मार ने कहा—"पारमिताओं को पूर्ण करने वाले, बोधिसत्वों के बुद्धत्व-प्राप्ति के दिन जो आसन प्राप्त होता है, वह मेरे लिए ही है।"

"मार, तेरे दान देने का कौन साक्षी है?"

मार ने अपनी सेना की ओर हाथ फैलाकर कहा—"ये इतने लोग साक्षी हैं।" उस समय "मैं साक्षी हूँ, मैं साक्षी हूँ" सभी बोल उठे। तब मार ने बोधिसत्व से पूछा, "सिद्धार्थ, तूने दान दिया है, इसका कौन साक्षी है?"

"तेरे दान देने के साक्षी तो जीवित प्राणी हैं, किन्तु इस स्थान पर मेरे दान देने का कोई जीवित साक्षी नहीं है। मेरी साक्षिणी तो यह अचेतन महापृथ्वी भी है।"

बोधिसत्व ने यह कह कर अपने दाहिने हाथ को पृथ्वी से स्पर्श किया। "मैं साक्षिणी हूँ" पृथ्वी से महानाद हुआ। इस शब्द के होते ही मार के गिरिमेखला हाथी ने दोनों घुटने टेक दिये। मार-सेना भाग निकली।

पहले मार सेना के आने के समय ही देवता इधर-उधर भाग गये थे। वे अब बोधिसत्व के पास आ जुटे और उन्होंने बोधिसत्व पर पुष्प-वर्षा करते हुए घोषणा की—"जयो हि बुद्धस्स सिरीमतो अयं, मारस्स च पापिमतो पराजयो।" (श्रीमान् बुद्ध की यह महान् विजय है और पापी मार की पराजय)।

इस प्रकार सूर्यास्त होने से पूर्व ही बोधिसत्व ने मार की सेना को परास्त किया। उस समय बोधिसत्व के चीवर के ऊपर जो बोधिवृक्ष के अंकुर गिर रहे थे, ऐसा जान पड़ रहा था कि मानो उनकी पूजा के लिए लाल मूँगों की वर्षा हो रही हो।

बुद्धत्व-प्राप्ति

तदुपरान्त बोधिसत्व ने स्थिर चित्त हो समाधि प्राप्ति के लिए चित्त लगाया वे कामो और अकुशल धर्मों से अलग होकर वितर्क-विचार सहित विवेक से उत्पन्न प्रीति और सुख वाले प्रथम ध्यान को प्राप्त होकर विहरने लगे। इस ध्यान से उठकर स्मृति और संप्रजन्य से युक्त हो वितर्क-विचारो के शान्त हो जाने से भीतरी प्रसाद, चित्त की एकाग्रता से युक्त, वितर्क और विचार से रहित समाधि से उत्पन्न प्रीति-सुख वाले द्वितीय ध्यान को उन्होने प्राप्त कर लिया। फिर वे द्वितीय ध्यान से भी उठकर प्रीति और विराग से उपेक्षक हो स्मृति और सम्प्रजन्य से युक्त हो, शरीर से सुख का अनुभव करते हुए तृतीय ध्यान को प्राप्त हो गये। उस ध्यान से भी उठे। सुख और दुःख के प्रहाण से, सौमनस्य और दौर्मनस्य के पूर्व ही अस्त हो जाने से सुख-दुःख से रहित, उपेक्षा से उत्पन्न स्मृति की पारिशुद्धि चतुर्थ ध्यान को प्राप्त कर लिये[1]।

इस प्रकार चतुर्थ ध्यान को प्राप्त कर स्थिर चित्त हो उन्होंने पूर्व-जन्मो के ज्ञान के लिए चित्त को लगाया और उन्हे रात्रि के प्रथम याम मे पूर्वेनिवासानुस्मृति ज्ञान (पूर्व-जन्मो को जानने का ज्ञान) प्राप्त हुआ। और वे अपने अनेक पूर्व-जन्मो की बातो को जानने लगे। उन्हे प्रथम विद्या प्राप्त हुई। फिर उन्होंने प्राणियो के जन्म-मरण के ज्ञान के लिए चित्त को झुकाया। तब वे दिव्य-चक्षु से कर्मानुसार सुगति-दुर्गति प्राप्त प्राणियो को देखने लगे। इस दिव्य-चक्षु का ज्ञान उन्हे रात्रि के बिचले याम में हुआ। उन्हे यह द्वितीय विद्या प्राप्त हुई। अब बोधिसत्व ने चित्त-मलो (आश्रवो) के क्षय के लिए ज्ञान को लगाया। तब उन्होने यथार्थ रूप से जान लिया कि यह दुःख है, यह दुःख-समुदय है, यह दुःख-निरोध है और यह दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपदा है। इस प्रकार जानते ही उनका चित्त कामाश्रव, भवाश्रव और अविद्याश्रव से मुक्त हो गया। मुक्त हो जाने पर उन्हे ऐसा ज्ञान हुआ कि मैं मुक्त हो गया हूँ। जन्म समाप्त हो गया है। ब्रह्मचर्य पूरा हो गया है। जो करना था वह मैंने कर लिया है। अब यहाँ के लिए कुछ करना शेष नही है। रात्रि के पिछले याम में बोधिसत्व को यह तीसरी विद्या प्राप्त हुई[2]। वे त्रैविद्य हो गये। उन्हे प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान हो आया। उन्होंने देख लिया कि अविद्या के प्रत्यय से संस्कार होते है। संस्कार के प्रत्यय से विज्ञान, विज्ञान के प्रत्यय से नाम और रूप, नाम और रूप के प्रत्यय से छः आयतन, छः आयतन के प्रत्यय से स्पर्श, स्पर्श के प्रत्यय से वेदना, वेदना के प्रत्यय से तृष्णा, तृष्णा के प्रत्यय से उपादान, उपादान के प्रत्यय से भव, भव के प्रत्यय से जाति (जन्म), जाति के प्रत्यय से बूढ़ा होना, मरना, शोक करना, रोना-पीटना, दुःख उठाना, बेचैनी और परेशानी होती है। इस प्रकार सारा दुःख-समुदाय उठ खड़ा होता है[3]।

प्रतीत्यसमुत्पाद का सीधे और उल्टे जब बोधिसत्व मनन करने लगे तो पृथ्वी काँप उठी और उन्हे अरुणोदय के समय बुद्धत्व का साक्षात्कार हो गया। अब वे भगवान् बुद्ध हो गये। बुद्धत्व को प्राप्त करते ही उनके मुख से ये गाथाये निकल पड़ीं :—

---

१. विशुद्धिमार्ग भाग १, पृष्ठ १२९–१४९। हिन्दी मे भिक्षु धर्मरक्षित द्वारा अनूदित और मज्झिमनिकाय २,४,५ हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ३४९–३५०।

२ — — २ ४ ५ पृष्ठ ३५०

३ उदान भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा हिन्दी में अनूदित पृष्ठ १ २।

सन्धाविस्स अनिब्बिस
गहकारक गवेसन्तो दुक्खाजाति पुनप्पुन ॥
गहकारक दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसि।
सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूट विसंखित।
विसंखारगतं चित्तं तण्हानं खयमज्झगा ॥

[बिना रुके अनेक जन्मो तक ससार मे दौडता रहा (इस काया रूपी) गृह को बनाने वाले (तृष्णा) को खोजते हुए पुन' पुन दु ख (मय) जन्म मे पडता रहा। हे गृहकारक, (तृष्णे) मैने तुझे देख लिया, अब फिर तू घर नहीं बना सकेगा। तेरी सभी कडियाँ भग्न हो गयी, गृह का शिखर गिर गया। चित्त संस्कार-रहित हो गया। अर्हत्व (तृष्णा-क्षय) प्राप्त हो गया[1]]।

धर्मोपदेश के लिए ब्रह्मा द्वारा याचना

भगवान् बुद्ध एक सप्ताह तक अपने प्राप्त विमुक्ति-सुख का आनन्द लेते उसी आसन पर बैठे रहे। दूसरे सप्ताह मे वहाँ से उठकर आसन से पूर्व ओर खडे हो अपने ज्ञान-प्राप्ति के आसन को एकटक से एक सप्ताह तक देखते रहे। फिर तीसरे सप्ताह मे खडे होने के स्थान और उस वज्रासन के बीच एक हाथ चौडे स्थान मे चंक्रमण करते हुए बिताया। चौथे सप्ताह मे रत्नघर मे अभिधर्म का मनन करते हुए व्यतीत किया। पाँचवे सप्ताह मे बोधिवृक्ष से चलकर अजपाल नामक बरगद वृक्ष के पास गये और वहाँ भी धर्म का विचार करते हुए विमुक्ति-सुख का आनन्द लेते बैठे रहे। उस समय तक देवपुत्र मार भगवान् के दोषो को देखता हुआ पीछा करता रहा। किन्तु अब उसने देखा कि वे मेरे अधिकार से बाहर हो गये है तो बहुत चिन्तित हो भूमि पर रेखा खींचते उदास हो बैठ रहा। उस समय मार की तृष्णा, अरति और रगा नामक पुत्रियाँ उसके पास आयी। उन्होने अपने पिता के चिन्तित होने का कारण पूछा। मार ने सारा वृत्तान्त उन्हे कह सुनाया। तब लडकियों ने कहा, "तात, आप चिन्ता न करे। हम स्त्रियाँ है। उसे अभी रागादि के पाश मे बाँधकर ले आयेगी।" मार के मना करने पर भी वे श्रृंगार, हाव-भाव एवं सम्पूर्ण नारी-सुलभ युक्तियो द्वारा भगवान् को मोहित करने के लिए उनके पास गयी। उन्होने विविध मोहक चेष्टाओ एव मधुर वचनो से उन्हे मोहित करने का प्रयत्न किया, किन्तु भगवान् बुद्ध पर उनका कोई प्रभाव नही पडा। वे अपनी हार मानकर अपने पिता के पास लौट गयी[2]।

तथागत उस सप्ताह को वही व्यतीत कर 'मुचलिन्द' नामक वृक्ष के नीचे गये। उस समय पूरे सप्ताह की बदली रही। भगवान् को ठढक से बचाने के लिए नागराज मुचलिन्द ने उनके ऊपर अपने फन को फैलाकर और सात गेडुरी से उनके शरीर को लपेट रखा। भगवान् एक सप्ताह तक उसी दशा मे विमुक्ति-सुख का आनन्द लेते रहे। सातवे सप्ताह मे वे राजायतन वृक्ष के पास गये और उन्होने सातवाँ सप्ताह वही बैठकर बिताया। इन सात

---

१ धम्मपद, गाथा सख्या १५३, १५४, भिक्षु धर्मरक्षित द्वारा हिन्दी में अनूदित, पृष्ठ ५४।
२ संयुत्त निकाय ४ ३ ५। भिक्षु धर्मरक्षित द्वारा हिन्दी मे अनूदित पृष्ठ १०५ १०७।

सप्ताहों में भगवान् ने न मुख धोया, न शरीर-शुद्धि की और न भोजन ही किया। उन्होंने विमुक्ति-सुख का आनन्द लेते हुए इन दिनों को व्यतीत कर दिया। उनचासवें दिन उन्होंने मुख-हाथ धोया और शरीर-क्रिया की।

उस समय तपस्सु और भल्लिक नामक दो व्यापारी पाँच सौ बैलगाड़ियों के साथ उत्कल[1] देश से व्यापार करने के लिए मध्यदेश जा रहे थे। उन्होंने भगवान् बुद्ध को देखकर उन्हें प्रणाम किया और भोजन के लिए मट्ठा और लड्डू देते हुए प्रार्थना की—"भन्ते, भगवान्, कृपाकर इस आहार को ग्रहण करें।" तब भगवान् ने सोचा कि मैं इन वस्तुओं को किस में ग्रहण करूँ। हाथ में लेना उचित नहीं है। जिस दिन भगवान् ने सुजाता की खीर को ग्रहण किया था, उसी दिन उनका पात्र अदृश्य हो गया था और तब से उनके पास पात्र नहीं था। उनके इस विचार को जानते ही चारों महाराजा चारों दिशाओं से पत्थर के भिक्षा-पात्र लाए। भगवान् ने उनमें से एक पात्र को ग्रहण किया और उसी में मट्ठा और लड्डू लेकर भोजन किया। भोजन करने के पश्चात् भगवान् ने दानानुमोदन किया। उन दोनों ने भगवान् से कहा—"भन्ते, हम दोनों भगवान् तथा धर्म की शरण जाते हैं। आज से भगवान् हम दोनों को अञ्जलिबद्ध शरणागत उपासक समझें।" संसार में वे ही दोनों दो वचनों से प्रथम उपासक हुए। उन व्यापारियों ने भगवान् से पूजा के निमित्त कोई वस्तु माँगी, तब तथागत ने अपने सिर पर दाहिने हाथ को फेरकर उन्हें कुछ केश दिए। उन व्यापारियों ने उन केशों को भीतर रखकर अपने नगर में एक सुन्दर चैत्य का निर्माण कराया। उस सप्ताह के बीतने पर भगवान् राजायतन से अजपाल बरगद के नीचे गये और वहाँ एकान्त में ध्याना-वस्थित हो विहार करने लगे। तब उनके चित्त में यह वितर्क पैदा हुआ—"मैंने गम्भीर, बहुत ही कठिनाई से जानने योग्य, केवल तर्क से अप्राप्य उत्तम धर्म को पा लिया है। ये संसारी लोग काम-वासना में अनुरक्त हैं। इन्हें प्रतीत्य समुत्पाद का समझना कठिन है। सभी संस्कारों के समाप्त हो जाने पर तृष्णा के क्षय से प्राप्त जो निर्वाण है, वह भी इनके लिए कठिन है। यदि मैं उपदेश करूँ और ये उसे न समझ पायें, तो मेरे लिए यह कष्ट मात्र ही होगा[2]।"

तथागत के धर्मोपदेश की अनिच्छा को जान सहम्पति ब्रह्मा ने विचार किया। "यदि तथागत अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध का चित्त धर्म-प्रचार की ओर न झुका तो लोक का नाश हो जायगा।" तुरन्त वह ब्रह्मलोक से अन्तर्ध्यान हो भगवान् के सामने प्रकट हुए और दोनों हाथ जोड़कर उन्होंने प्रार्थना की—"भन्ते, भगवान्, धर्मोपदेश करें। सुगत, धर्मोपदेश करें। अल्प मल वाले प्राणी भी हैं। धर्म के न सुनने से वे नष्ट हो जायेंगे। आप उपदेश करें। धर्म को सुनने वाले भी होंगे।" तब भगवान् ने ब्रह्मा के अभिप्राय को जान प्राणियों पर दया करके बुद्ध-नेत्र से लोक का अवलोकन किया। तब उन्हें अल्पमल, तीक्ष्ण-बुद्धि, सुस्वभाव, सुबोध्य

---

१. उड़ीसा।

२ मज्झिम निकाय १ ३ ६ हिन्दी अनुवाद पृष्ठ १०६ विनयपिटक हिन्दी अनुवाद पृष्ठ ७७—७८

प्राणी दिखाई दिये। जो परलोक तथा बुराई से डरने वाले थे। उन्होंने ब्रह्मा से कहा—"मैं उपदेश करूँगा। अमृत का द्वार सबके लिए खुला है[1]।" तदुपरान्त तथागत ने यह विचार किया कि मैं पहले किसे उपदेश दूँ? कौन इसे शीघ्र जान लेगा? तब उनके मन में हुआ कि आलारकालाम विद्वान् पुरुष है, उसी को पहले धर्मोपदेश करूँ, वह शीघ्र समझ लेगा, किन्तु उन्हें ज्ञात हुआ कि एक सप्ताह पहले ही आलारकालाम का देहान्त हो गया है। फिर उन्होंने उद्रक रामपुत्र को उपदेश करने का विचार किया, किन्तु वह भी उसी रात मर गया था। तब तथागत ने सोचा कि पंचवर्गीय भिक्षु मेरे बहुत काम करने वाले थे। उन्होंने साधना में लगे रहने पर मेरी सेवा की थी, क्यों न मैं पहले उन्हें ही उपदेश दूँ। उन्होंने यह भी विचार किया कि पंचवर्गीय भिक्षु इस समय कहाँ हैं? तब उन्होंने अपने दिव्य-चक्षु से देखा कि वे वाराणसी के ऋषिपतन मृगदाय में विहार कर रहे हैं। वे उरुबेला में इच्छानुसार विहार कर वाराणसी की ओर चल दिये। मार्ग में उपक नामक आजीवक ने उन्हें देखा। देखकर वह उनके पास गया और पूछा कि "आपके कौन गुरु हैं? आप किसके धर्म को मानते हैं?" भगवान् ने कहा—"मेरा कोई गुरु नहीं है। मैं सम्यक् सम्बुद्ध, शान्ति और निर्वाण को प्राप्त हूँ। मैं काशी जनपद के श्रेष्ठ नगर वाराणसी को जा रहा हूँ। वहाँ धर्मचक्र-प्रवर्तन कर अमृत-दुन्दुभी बजाऊँगा।"

तथागत वहाँ से क्रमशः यात्रा करते हुए ऋषिपतन मृगदाय पहुँचे।

धर्मचक्र-प्रवर्तन

पंचवर्गीय भिक्षुओं ने तथागत को आते हुए दूर से ही देखा। उन्होंने आपस में निश्चय किया कि यह श्रमण गौतम साधना-भ्रष्ट है। हमें न तो इसको प्रणाम करना चाहिए और न तो सम्मान-सत्कार ही। बैठने वाला केवल आसन दे देना चाहिए। यदि इच्छा होगी तो बैठेगा। जैसे-जैसे भगवान् उनके पास आते गये, वैसे-वैसे उनके पहले के विचार परिवर्तित होते गये। जब भगवान् उनके पास पहुँच गये तब एक ने उनका पात्र लिया, दूसरे ने आसन बिछाया और तीसरे ने पैर धोने के लिए जल और पीढ़ा ला रखा। भगवान् बैठकर पैर धोये। भगवान् ने उन्हें उपदेश देना चाहा, तो पहले उन्होंने तथागत को साधना-भ्रष्ट जानकर ध्यान ही नहीं दिया, तब शास्ता ने उनसे पूछा—"क्या पहले भी मैंने कभी ऐसा कहा था कि मैं अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध हूँ?"

"नहीं, भन्ते।"

बस, क्या था। पंचवर्गीय भिक्षु तथागत की बातों पर ध्यान देने लगे। तथागत ने धर्मचक्र प्रवर्तन सूत्र का उपदेश देते हुए कहा—"व्यक्ति को काम-वासना में लिप्त रहने तथा अपने को कष्ट देने वाले इन दो अन्तों को त्यागकर मध्यम मार्ग (मज्झिमा पटिपदा) पर चलना चाहिए। इसी पर चलने से कल्याण तथा ज्ञान प्राप्ति सम्भव है। मध्यम मार्ग आर्य अष्टांगिक मार्ग का ही नाम है। चार आर्यसत्यों के बोध के उपरान्त व्यक्ति के सारे सांसारिक

---

१ मज्झिम निकाय पृष्ठ १०६ तथा विनयपिटक पृष्ठ ७८

बन्धन कट जाते हैं वह कृतकरणीय हो जाता है परमशान्ति निर्वाण का कर लेता है

तथागत ने यह प्रथम धर्मोपदेश आषाढ़ी पूर्णिमा को दिया था।

भगवान् के इस उपदेश को सुनकर अञ्ञाकौण्डिन्य को "जो कुछ उत्पन्न होने के स्वभाव वाला है वह सब नाश होनेवाला है।" यह विमल धर्म-चक्षु उत्पन्न हुआ। तब अञ्ञाकौण्डिन्य ने भगवान् के पास प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा की याचना की। भगवान् ने कहा, "भिक्षु, आओ, धर्म स्वाख्यात हैं, भली प्रकार दु ख के क्षय के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करो।" वही आयुष्मान् कौण्डिन्य की उपसम्पदा हुई। तदुपरान्त भगवान् के उपदेश को सुनकर आयुष्मान् वप्प और आयुष्मान् भद्दिय को धर्म चक्षु उत्पन्न हुआ और वे भी भगवान् के पास उपसम्पन्न हुए। उसके पीछे तीन भिक्षु भिक्षाटन करके भोजन लाते और उससे सभी लोग यापन करते। कुछ दिनों के पश्चात् आयुष्मान् महानाम और आयुष्मान् अश्वजित् को भी धर्म-चक्षु उत्पन्न हो गया और वे भी उपसम्पदा प्राप्त कर लिए।

उस दिनो वाराणसी के सेठ का यश नामक एक सुकुमार लडका था। वह घर मे काम-वासना मे जीवन व्यतीत कर रहा था। एक दिन उसे इस जीवन से विरक्ति उत्पन्न हो गयी। वह प्रात ही वाराणसी से निकल कर ऋषिपतन मृगदाय की ओर चल दिया। भगवान् से जब उसकी भेट हुई। तब उसने कहा—"सारा संसार सन्तप्त और पीड़ित है।" भगवान् ने उसे उपदेश दिया। भगवान् के उपदेश को सुनकर जैसे कालिमा-रहित शुद्ध वस्त्र भली प्रकार रग पकडता है, वैसे ही यशकुलपुत्र को धर्म-चक्षु उत्पन्न हुआ।

यश को खोजते हुए उसका पिता भी वही पहुँचा, जहाँ यश और भगवान् विराजमान थे। भगवान् ने उसे भी उपदेश दिया। उसने उपदेश सुनकर कहा—"मैं भगवान् की शरण जाता हूँ, धर्म और भिक्षुसंघ की भी। मुझे आज से आप अञ्जलिबद्ध शरणागत उपासक समझें।" यह नगरश्रेष्ठि ही ससार मे तीन वचनो वाला प्रथम उपासक हुआ।

यश भी भगवान् के पास प्रव्रजित एव उपसम्पन्न हो गया। उसके पश्चात् वाराणसी के उसके चार मित्र भी उसका अनुगमन करते हुए भिक्षु हो गए। इसी प्रकार वाराणसी के आसपास के अन्य भी पचास तरुणो ने भगवान् के पास प्रव्रज्या तथा उपसम्पदा ग्रहण की। इस प्रकार भगवान् के साथ उस समय संसार में एकसठ अर्हत् थे। वर्षा के तीन मास ऋषिपतन मृगदाय मे व्यतीत होने के पश्चात् भगवान् ने भिक्षुओं से कहा—"भिक्षुओ, जितने भी स्वर्गीय और सांसारिक बन्धन है, मैं उन सबसे मुक्त हूँ और तुम भी मुक्त हो। भिक्षुओ, बहुजन के हित के लिए, बहुजन के सुख के लिए, लोक पर दया करने के लिए, देवताओ और मनुष्यो के प्रयोजन के लिए, हित के लिए, सुख के लिए विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ। भिक्षुओ, आरम्भ, मध्य, और अन्त सभी अवस्था मे कल्याणकारक धर्म का उसके शब्दो और भावों सहित उपदेश करके सर्वांश मे परिपूर्ण परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का प्रकाश करो।"

पैंतालीस वर्षों तक चारिका और उपदेश

धर्म-प्रचार के लिए भिक्षुओ को दिशाओ मे प्रेषित कर स्वयं उरुवेला की ओर चल दिये मार्ग म उन्होन तीस भद्रवर्गीय नामक तरुणो को प्रव्रजित किया पहुँचने

पर उरुबेल काश्यप, नदी काश्यप और गया काश्यप—ये तीन जटाधारी संन्यासी भी अपने सम्पूर्ण शिष्यसमूह के साथ भगवान् के शिष्य हो गये। उरुबेला तथा गया मे कुछ दिनो व्यतीत कर तथागत विचरण करते राजगृह पहुँचे। जब मगध के राजा बिम्बिसार ने सुना कि शाक्य-कुल से प्रव्रजित श्रमण गौतम राजगृह पहुँच गये हैं और उनकी ऐसी मंगलकीर्ति फैली हैं कि "वे भगवान् अर्हत् है, सम्यक् सम्बुद्ध है, देवताओ और मनुष्यो के शास्ता है।" तब वह बहुत बडे मनुष्यों के समूह के साथ भगवान् के दर्शन के लिए गया और भगवान् के उपदेश को सुनकर उसे भी विमल धर्म-चक्षु उत्पन्न हो गया। वह भी उनका उपासक बन गया।

बिम्बिसार ने अपने वेणुवन उद्यान को भगवान् तथा उनके सघ को अर्पित कर दिया। जो पीछे चल कर वेणुवन महाविहार नाम से प्रसिद्ध हुआ।

भगवान् की कीर्ति धीरे-धीरे चारो ओर फैलने लगी। ज्ञान-पिपासु लोग उनके पास आने लगे। उनके राजगृह में रहते हुए सारिपुत्र और मौद्गल्यायन भी आकर उनके पास भिक्षु बन गये थे। जो पीछे प्रधान शिष्य बने। महाकाश्यप ने भी वही प्रव्रज्या ली थी।

जिस समय तथागत वेणुवन उद्यान मे विहार कर रहे थे, उस समय शुद्धोदन महाराज को पता लगा कि मेरा लड़का ज्ञान प्राप्त कर उपदेश कर रहा है और वह राजगृह में है। तब उन्होंने कपिलवस्तु आने के लिए अपने आमात्यो द्वारा निमत्रण भेजा। जितने आमात्य निमत्रण लेकर गये, वे भगवान् के पास जाकर प्रव्रजित हो गये और फिर लौटकर आये नही। तव महाराज शुद्धोदन ने अपने सर्वार्थसाधक आमात्य (निजी सचिव) कालउदायी को भगवान् को लाने के लिए भेजा। कालउदायी द्वारा निमन्त्रित हो तथागत ने चैत्र मास के प्रारम्भ मे राजगृह से कपिलवस्तु के लिए प्रस्थान कर दिया। क्रमश चलते हुए भगवान् भिक्षु-संघ के साथ कपिलवस्तु पहुँचे और वहाँ न्यग्रोधाराम नामक उद्यान मे ठहरे। भगवान् के दर्शन के लिए सारा नगर उमड पडा। महाराज शुद्धोदन तथा सभी शाक्य राजकुमार एव राजकुमारियाँ उनके दर्शनार्थ गये। एक बहुत बडे सम्मेलन के समान कपिलवस्तुवासी लोगो की भीड़ एकत्र हुई थी। भगवान् ने उन्हे उपदेश दिया। वे भगवान् के उपदेश से सन्तुष्ट हो अपने-अपने घर लौट गये, किन्तु किसी ने भगवान् को भोजन के लिए निमंत्रित नही किया।

दूसरे दिन भिक्षाटन के समय तथागत ने भिक्षुसघ सहित नगर मे प्रवेश किया। उनके भिक्षाटन करने की बात सुनकर आश्चर्य-चकित हो सभी लोग देखने लगे। राहुलमाता ने भी उन्हे भिक्षाटन करते देखा। देखते ही उन्होने महाराज शुद्धोदन को सूचित किया। राजा सुनते ही घबड़ाये हुए, धोती सँभाल्ते हुए वेग से भगवान् के पास गये। और बोले—"हमें क्यों लजवाते है ? क्यो भिक्षा माँग रहे है ? क्या इतने भिक्षुओ के लिये मेरे यहाँ भोजन नही मिल सकता ?"

"महाराज, हमारे वंश का यही आचार है।"

"भन्ते, हमारा क्षत्रिय वंश कभी भिक्षाचारी नही रहा है।"

'महाराज वह तो आपका राजवंश है हमारा वंश बुद्धो का वंश है और हम भिक्षाचार से ही जीविका चलाते हैं वहीं पर सडक म खडे ही भगवान् न सक्षेप म राजा को उपदेश दिया

जिसे सुनकर राजा ने अनागामी फल को प्राप्त कर लिया। उन्होंने भगवान् का पात्र अपने हाथ मे ले लिया और भिक्षुओ सहित प्रासाद मे ले जाकर भोजन कराया। भोजन के उपरान्त राहुलमाता को छोड सभी रनिवास ने आ-आकर भगवान् की वन्दना की। जब राहुलमाता से कहा गया कि जाओ आर्यपुत्र की वन्दना करो, तो उन्होंने कहा—"यदि मेरे मे गुण है तो आर्यपुत्र स्वयं मेरे पास आयेंगे। आने पर ही वन्दना करूँगी।"

भगवान् भी राजा को पात्र दे दोनो प्रधान शिष्यों के साथ यशोधरा के पास गये। यशोधरा ने उनके पैरो को पकड कर सिर से लगा अपनी इच्छा के अनुसार वन्दना की। राजा ने यशोधरा के गुण सुनाते हुए कहा कि मेरी बेटी आपके काषाय वस्त्र पहनने को सुनकर स्वयं भी काषायधारिणी हो गयी। वह एकाहारिणी है। मालागन्ध तथा ऊँचे आसनादि से विरक्त है। तब तथागत ने भी चन्दकिन्नर[1] जातक कहकर यशोधरा के गुणो का वर्णन किया।

दूसरे दिन राजकुमार नन्द का अभिषेक, गृह-प्रवेश एवं विवाह होने वाले थे। उसी दिन भगवान् ने नन्द को भी प्रव्रजित कर दिया। सातवें दिन यशोधरा ने राहुलकुमार को अलङ्कृत कर भगवान् के पास भेजा और कहा कि वे तेरे पिता है। उनसे उत्तराधिकार माँग। राहुलकुमार भगवान् के पास जाकर बोला—"श्रमण, तेरी छाया सुखमय है।" और भी इसी प्रकार की बाते करता खडा रहा। जब भगवान् आसन से उठकर चले तब राहुल कुमार भी उनके पीछे-पीछे हो लिया। न्यग्रोधाराम मे पहुँचने पर भगवान् ने सारिपुत्र से कहा—"सारिपुत्र, राहुल को प्रव्रजित करो।" राहुल भी सात वर्ष की अवस्था मे ही भिक्षु हो गया। जब महाराज शुद्धोदन को यह ज्ञात हुआ तो उन्हे बहुत कष्ट हुआ। उन्होंने भगवान् के पास आकर निवेदन किया—"भन्ते, भविष्य मे माता-पिता की आज्ञा के बिना किसी को प्रव्रजित न किया जाय।" भगवान् ने महाराज शुद्धोदन की बात स्वीकार कर ली।

राहुल कुमार की प्रव्रज्या के पश्चात् भगवान् मल्ल देश की ओर चारिका के लिए चल दिए। मल्ल देश के अनूपिया नामक ग्राम मे ठहरे। वही पर भद्दिय, अनुरुद्ध, आनन्द, भृगु किम्बिल और देवदत्त ये छः शाक्य कुमार भिक्षु बने। उपालि नामक नाई भी वही प्रव्रजित हुआ। इनमे नाई पहले प्रव्रजित हुआ और शाक्य राजकुमार पीछे। भगवान् वहाँ से विचरण करते हुए राजगृह गये और शीतवन नामक श्मशान मे ठहरे। जिस समय भगवान् शीतवन में ठहरे हुए थे, उसी समय श्रावस्ती का महासेठ अनाथपिण्डिक (सुदत्त) किसी काम से राजगृह आया हुआ था। वह भगवान् से मिला और उनके उपदेश से प्रभावित हो भिक्षु-संघ सहित उन्हे दान दिया तथा श्रावस्ती आने के लिए भी निमन्त्रण दिया। भगवान् ने उसके निमन्त्रण को स्वीकार कर लिया। राजगृह मे इच्छानुसार विहार कर भगवान् ने श्रावस्ती की ओर प्रस्थान किया। उधर अनाथपिण्डिक ने श्रावस्ती पहुँच कर १८ करोड़ मुद्रा से जेतवन की भूमि को क्रय कर, चौवन करोड़ मुद्रा को व्यय कर जेतवनाराम नामक विहार बनवा कर प्रस्तुत किया। जब भगवान् भिक्षुसंघ-सहित श्रावस्ती पहुँचे, तब अनाथपिण्डिक ने अपने पूरे परिवार सहित बडे उत्साहपूर्वक भगवान् का स्वागत किया और आगत-अनागत बुद्ध-प्रमुख

१ जातक ५८५

चातुर्दिश भिक्षुसंघ को अर्पित किया। पीछे विशाखा महा उपासिका ने भी श्रावस्ती में पूर्वाराम नामक एक विहार का निर्माण कराया था। जो सत्ताइस करोड़ मुद्रा में निर्मित हुआ था। भगवान् ने इन दोनो विहारों में पच्चीस वर्षावास किया था। वहाँ से भगवान् पुनः चारिका करते राजगृह लौट गये थे। भगवान् ने चौथा वर्षावास राजगृह के वेणुवन कलन्दक निवाप में किया और वहाँ उन्होने उग्रसेन श्रेष्ठिपुत्र को बुद्ध-धर्म मे दीक्षित किया, जो कि एक रस्सी पर नाचनेवाली नटिनी के प्रेम-पाश मे बँधकर स्वय नट बन गया था।

भगवान् के बुद्धत्व प्राप्त करने के पाँचवे वर्ष मे महाराज शुद्धोदन की मृत्यु हो गयी थी। उन्ही दिनो शाक्य और कोलियो मे रोहिणी नदी के जल के लिए विवाद उठ खड़ा हुआ था। भगवान् ने स्वय जाकर उसे शान्त किया। भगवान् दूसरी बार कपिलवस्तु पहुँचे और न्यग्रोधाराम मे ठहरे। महाप्रजापती गौतमी भगवान् के पास आयी और भिक्षुणी बनने के लिए अनुमति चाही, किन्तु भगवान् ने अनुमति न दी। वे वहाँ से वैशाली चले गये। वे वहाँ महावन की कूटागारशाला मे विहार करते थे। तब महाप्रजापती गौतमी अपने केशों को कटाकर काषाय वस्त्र पहन बहुत-सी शाक्य स्त्रियों के साथ भगवान् के पास पहुँची। आयुष्मान् आनन्द की सहायता से उसने भिक्षुणी बनने की आज्ञा प्राप्त कर ली और वही से भिक्षुणी-संघ का प्रारम्भ हुआ।

भगवान् ने छठाँ वर्षावास मंकुल पर्वत पर किया। उन दिनो राजगृह मे एक सेठ को एक चन्दन की लकड़ी का टुकड़ा मिला था। उसने उसे खराद कर भिक्षा-पात्र बना बाँस पर लटका दिया और घोषणा कर दी, कि जो साधु-संन्यासी ऋद्धिमान् हो, वह उड़कर उसे ले ले। अनेक तैर्थिकों ने उस पात्र को लेने का असफल प्रयत्न किया। उस समय पिण्डोल भारद्वाज नामक एक भिक्षु ने नगर मे भिक्षाटन के लिए जा ऋद्धिबल से उस पात्र को ले लिया। जब भगवान् को यह ज्ञात हुआ तब उन्होंने पिण्डोल भारद्वाज को धिक्कारा और नियम बनाया—"भिक्षुओ, गृहस्थो को उत्तरमनुष्य-धर्म ऋद्धिप्रातिहार्य नही दिखाना चाहिए। जो दिखाए उसे दुष्कृत की आपत्ति होगी।" भगवान् ने उस भिक्षा-पात्र को टुकड़े-टुकड़े करा दिया।

जब बिम्बिसार को यह ज्ञात हुआ कि भगवान् ने भिक्षुओं के लिए प्रातिहार्य करना मना कर दिया है, तब वह भगवान् के पास आया और प्रातिहार्य करने के सम्बन्ध मे प्रश्न पूछा। भगवान् ने कहा कि भिक्षु प्रातिहार्य नही करेगे, किन्तु मै प्रातिहार्य करूँगा और आज से चार मास पश्चात् आषाढ पूर्णिमा को श्रावस्ती में करूँगा। भगवान् चारिका करते श्रावस्ती गये और उन्होने वहाँ यमक प्रातिहार्य की। सातवाँ वर्षावास भगवान् ने त्रयस्त्रिश लोक के पाण्डुकम्बल शिलासन पर किया और अपनी माता को प्रमुख कर अभिधर्म पिटक का उपदेश दिया। आश्विन पूर्णिमा के दिन भगवान् सकाश्य नामक स्थान पर स्वर्ग से उतरे और वहाँ से विचरण करते श्रावस्ती के जेतवनाराम पहुँचे। अब कोशल नरेश प्रसेनजित् भी उनका भक्त हो गया। इसी समय चिञ्चा माणविका ने निष्कलंक भगवान् को कलंकित करने का दुष्प्रयास किया था। वहाँ से भगवान् चारिका करते सुंसुमारगिरि गये और भेसकलावन मृगदाय में आठवाँ वर्षावास किया। भगवान् ने बोधिराज कुमार को यहीं उपदेश दिया था

नौवाँ वर्षावास भगवान् ने कौशाम्बी मे किया और वहाँ से कुरु देश की ओर चल पडे। कम्मासदम्म नामक नगर मे पहुँचे। एक ब्राह्मण ने मागन्दिय नामक अपनी परम सुन्दरी पुत्री को उन्हे देने का प्रस्ताव किया, किन्तु भगवान् ने तिरस्कार के साथ उसे अस्वीकार करते हुए इस गाथा को कहा—

"दिस्वान तण्हं अरतिं रगञ्च, नाहोसि छन्दो अपि मेथुनस्मिं।
किमेविदं मुत्तकरीसपुण्ण, पादापि नं सम्फुसितुं न इच्छे॥"[१]

[तृष्णा, अरति और रगा को देखकर भी मैथुन की इच्छा नहीं हुई। मल-मूत्र से भरा हुआ यह शरीर क्या है ? इसे पैरों से भी छूना नही चाहता।]

वहाँ से विचरण करते भगवान् कौशाम्बी पहुँचे। उस समय कौशाम्बी के भिक्षुओं मे विनय को लेकर विवाद उठ खड़ा हुआ था। भिक्षु दो भागो मे होकर परस्पर विवाद कर रहे थे। वे भगवान् के समझाने पर भी नही शान्त हुए। तब भगवान् वहाँ से अकेले ही निकल पारलेय्यक वन मे चले गये और दसवाँ वर्षावास वहीं किया। वहाँ से भगवान् श्रावस्ती गये। ग्यारहवाँ वर्षावास उन्होंने मगध देश के नाला नामक ग्राम मे किया और बारहवाँ वर्षावास वेरञ्जा मे। जब भगवान् वेरञ्जा मे वर्षावास कर रहे थे, तब वहाँ महादुर्भिक्ष पडा था। उत्तरापथ से आये व्यापारियो के जौ को कूट-पीस कर भिक्षु भोजन करते थे और भगवान् को देते थे। वर्षावास के तीन मास इसी प्रकार बिताये। वहाँ से भगवान् मथुरा गये और वृन्दावन[२] नामक विहार मे ठहरे। आयुष्मान् महाकात्यायन जो अवन्ति नरेश चण्ड प्रद्योत के पुरोहित-पुत्र थे, प्रायः वही विहार करते थे। तेरहवाँ वर्षावास भगवान् ने चालिय पर्वत पर किया और चौदहवाँ श्रावस्ती मे। वहाँ से चलकर भगवान् कपिलवस्तु पहुँचे और पन्द्रहवाँ वर्षावास कपिलवस्तु मे किया। सोलहवाँ वर्षावास आलवी नगर मे किया। जहाँ आलवकयक्ष का उन्होने दमन किया था। भगवान् आलवी से राजगृह चले गये और वहाँ सत्रहवाँ वर्षावास किये। वहाँ से भगवान् आलवी होते हुए चालिय पर्वत गये और दो वर्षावास उन्होने क्रमशः वही किया। वहाँ से चारिका करते हुए भगवान् राजगृह आये और बीसवाँ वर्षावास वही किया। इस बार भगवान् ने राजगृह से श्रावस्ती के लिए प्रस्थान किया और क्रमशः पच्चीस वर्षावास श्रावस्ती में किया। श्रावस्ती मे रहते हुए ही भगवान् ने अंगुलिमाल डाकू को बौद्धधर्म मे दीक्षित किया। इन पच्चीस वर्षो मे भगवान् वर्षावास मे श्रावस्ती में निवास करते थे तथा अन्य समयों में मध्यदेश के जनपदो मे विचरण कर धर्मोपदेश देते थे। मगध, कोशल, वज्जि, वत्स, पचाल, चेदि, अग, अंगुत्तराप, सुम्भ, कुरु, सूरसेन, विदेह, काशी, शाक्य, कोलिय, मल्ल, कालाम, भर्ग आदि जनपदो के निगमो एवं ग्रामों मे तथागत के विचरण कर धर्मोपदेश करने का वर्णन त्रिपिटक मे मिलता है। डॉ० भरतसिंह उपाध्याय ने उक्त जनपदों के उन नगरो की एक विस्तृत सूची प्रस्तुत की है, जिनमे कि तथागत ने निवास किया था तथा धर्मोपदेश दिया था[३]।

---

१ सुत्तनिपात, मागन्दियसुत्त ४७, पृष्ठ १८३।

२ पालि नाम गुन्दावन—अगुंत्तर निकाय।

३ बोधिवृक्ष की छाया में पष्ठ ४० ४२ तथा बुद्धकालीन भारतीय भूगोल पृष्ठ १५ १८

महापरिनिर्वाण

श्रावस्ती में भगवान् के रहते हुए ही उनके प्रधान शिष्य सारिपुत्र और मौद्गल्यायन का परिनिर्वाण हो गया था। यशोधरा और राहुल भी परिनिर्वृत्त हो गये थे। भगवान् अन्तिम समय मे श्रावतस्ती से चारिका करते राजगृह गये और वहाँ से अम्बलट्ठिका, नालन्दा, पाटलिग्राम, कोटिग्राम, नातिका होते हुए वैशाली पहुँचे। वैशाली के बेलुव ग्राम मे उन्होंने अन्तिम वर्षावास किया। वहाँ वे अत्यधिक रोगी हो गये। अम्बपाली गणिका वैशाली मे ही उनकी शरण मे आयी और अपने आम्रवन को दान दिया। वहा से भगवान् भण्डग्राम, हस्तिग्राम, आम्रग्राम, जम्बूग्राम और भोगनगर होते हुए पावा गये। पावा मे उन्हे चुन्दकर्मार-पुत्र ने सूकरमद्दव[1] का भोजन कराया, जिससे तथागत को अतिसार रोग हो गया। वहाँ से चलकर वैशाखपूर्णिमा के दिन कुसीनारा मे पहुँचे और मल्लो के शालवन उपवत्तन में जोडे शाल-वृक्षो के नीचे अन्तिम शय्या पर लेटे हुए यह अन्तिम उपदेश दिया—"हन्द, दानि भिक्खवे, आमन्तयामि वो वयधम्मा संखारा अप्पमादेन सम्पादेथ।" (भिक्षुओ, अब मै तुम्हे कहता हूँ—सभी संस्कार नाशवान् है। अप्रमाद के साथ जीवन के लक्ष्य को पूर्ण करो)।

परम कारुणिक उन शास्ता का, जिन्होने कि स्वयं ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् भी पैंतालीस वर्षो तक बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय विचरण कर अमृत दुन्दुभी बजायी, ई० पू० ५४३ की वैशाखी पूर्णिमा की रात्रि के अन्तिम प्रहर मे महापरिनिर्वाण हो गया[2]।

बुद्धधर्म के मूल सिद्धान्त

बुद्धधर्म एक महान् धर्म है। इसके दार्शनिक सिद्धान्त भी गम्भीर है। फिर भी इसके उपदेश जनसाधारण तथा विद्वान् सबके लिए सहज-बोध्य है। इसकी सार्वभौमिकता का मूल कारण मानव-हृदय पर पडने वाला गम्भीर प्रभाव है। देखने मे यह बहुत सरल एवं सुबोध्य जान पडते हुए भी गम्भीर है। एक समय आयुष्मान् आनन्द ने तथागत के पास जाकर कहा कि भन्ते, मुझे यह धर्म गम्भीर होते हुए भी सरल-सा दीखता है। तब भगवान् ने उन्हे कहा था कि ऐसा मत कहो, वास्तव मे यह गम्भीर है। बुद्धिमान् एवं ज्ञानी ही इसे समझ सकते है[3]। हम ऊपर कह आये है कि भगवान् को भी इस धर्म की गम्भीरता का विचार करते हुए धर्मोपदेश के प्रति अनुत्साह उत्पन्न हो आया था, तब सहम्पति ब्रह्मा ने उन्हे धर्मोपदेश करने के लिए प्रेरित किया था। बौद्धधर्म के मूल-सिद्धान्तो का हम यहाँ संक्षेप मे परिचय दे रहे है।

चार आर्यसत्य

बुद्धधर्म के मूल उपादान चार आर्यसत्य है। वास्तव मे सारा बुद्धधर्म उन्ही मे अन्तर्भूत[4] है। इसे बुद्धो का स्वयं उत्पादित एवं उत्कर्ष की ओर ले जानेवाला (बुद्धान

---

१ भैषज्य विशेष अथवा सूअर का मास—महापरिनिब्बानसुत्त, पृष्ठ २०९।

२ महपरिनिब्बानसुत्तं—भिक्षु धर्मरक्षित द्वारा सम्पादित एव अनूदित, पृष्ठ १७४ (ग्रन्थ-परिचय, पृष्ठ २ भी)।

३ दीघनिकाय २ २ हिन्दी अनुवाद पृष्ठ ११० ४ १ ३ ८

सामुकंसिका धम्मदेसना) धर्मोपदेश कहते है। जब तक इसका ज्ञान नही होता, तब तक कोई भी व्यक्ति बुद्ध नही हो सकता और न तो बिना इसके ज्ञान के मुक्ति ही प्राप्त हो सकती है। भगवान् बुद्ध ने कहा है—"भिक्षुओ, चार आर्यसत्यो को नही जानने के कारण मेरा तथा तुम्हारा चिरकाल तक संसार मे घूमना लगा रहा। हम लोग चार आर्यसत्यो को ठीक से नही देखने के ही कारण आजतक चक्कर काटते फिरे, किन्तु अब उसे हम लोगो ने देख लिया, अब तृष्णा नष्ट हो गयी। दुःख का मूल कट गया। फिर जन्म लेना नही है[1]।"

तथागत ने ऋषिपतन मृगदाय मे जिस धर्म का सर्वप्रथम प्रवचन किया, जिसे धर्मचक्र-प्रवर्तन कहते है, वह चार आर्यसत्यो का ही उपदेश था। उन्होंने पंचवर्गीय भिक्षुओ से कहा था कि जब तक मुझे आर्यसत्यों का यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त हो गया, तब तक मैंने यह घोषणा नही की कि मै सर्वोत्तम ज्ञान को प्राप्त कर लिया हूँ। इनके यथार्थ ज्ञान के उपरान्त ही मैंने अपने बुद्धत्व-प्राप्त करने की घोषणा की[2]।

चार आर्यसत्यों को समस्त कुशल धर्मो का मूल भी कहा जाता है—जितने कुशल धर्म है, वे सभी आर्यसत्य मे निहित है[3]।

चार आर्यसत्य ये है—(१) दुःख आर्यसत्य, (२) दुःख समुदय आर्यसत्य, (३) दु ख निरोध आर्यसत्य, (४) दु ख निरोधगामिनी प्रतिपदा आर्यसत्य। इन आर्यसत्यों का ज्ञान किन्हीं-किन्ही को स्रोतापन्न अवस्था मे आंशिक रूप में होता है। किन्हीं-किन्ही को सकृदागामी और अनागामी अवस्था में। किन्तु, अर्हत् अवस्था मे पूर्ण रूप से इनका ज्ञान होता है[4]।

आर्यसत्य का वास्तविक अर्थ यथार्थ सत्य है। कहा है—"यह तथ्य है, यह अवितथ है, यह अन्यथा नहीं है[5]।" दु ख वास्तविक सत्य है। उसकी उत्पत्ति भी वास्तविक सत्य है। जब उत्पत्ति सत्य है तो उसका निरोध और निरोध का मार्ग भी अवश्यम्भावी है। दु ख की व्याख्या विस्तारपूर्वक करने की आवश्यकता प्रतीत नही होती, क्योकि दु.ख से सारा संसार पीड़ित एवं बाधित है, फिर भी तथागत के शब्दो मे संक्षेप मे इसकी व्याख्या इस प्रकार है—"संसार मे पैदा होना दुःख है, बूढा होना दु'ख है, मरना दु ख है, शोक करना दु ख है, रोना-पीटना दु.ख है, पीडित होना दु ख है, चिन्तित होना दु ख है, परेशान होना दु'ख है, इच्छा की पूर्ति न होना भी दु.ख है, प्रिय व्यक्तियों से वियोग और अप्रिय व्यक्तियो से संयोग दु ख है। सक्षेप मे पाँच उपादान स्कन्ध भी दु'ख है[6]। इसे ही दुःख आर्यसत्य कहते है।

समुदय शब्द का अर्थ उत्पत्ति है। दु ख की उत्पत्ति को ही दु.ख समुदय कहा जाता है। यह उत्पत्ति तृष्णा के कारण होती है। चाह और कामना का ही नाम तृष्णा है। जिस-

---

१ महापरिनिब्बानसुत्त, पृष्ठ ४४—४५।

२. बुद्धवचन, पृष्ठ १-२। ३ मज्झिमनिकाय १, ३, ८।

४ बौद्धयोगी के पत्र, पृष्ठ ११०-१११।

५ संयुत्तनिकाय ५४ ४ १। विशुद्धिमार्ग दूसरा भाग पृष्ठ १०८।

६ सयुत्तनिकाय ५४ २ १ हिन्दी अनुवाद पृष्ठ ८०७

जिस योनि मे प्राणी उत्पन्न होते है, वही-वही तृष्णा के कारण आनन्द का अनुभव करते है और वहाँ से मरना नही चाहते। तृष्णा ही उन्हे वहाँ फँसाये रहती है। यह तृष्णा तीन प्रकार की होती है—(१) काम-तृष्णा, (२) भव-तृष्णा, (३) विभव-तृष्णा। अतः इस तृष्णा को ही दुःख समुदय आर्यसत्य कहते हैं।

निरोध का अर्थ है रुक जाना, बन्द हो जाना अथवा नष्ट हो जाना। उसी तृष्णा से सम्पूर्ण रूप से मुक्ति पा जाना अर्थात् उस तृष्णा का नाश हो जाना ही दुःख निरोध आर्यसत्य है। विशुद्धिमार्ग मे कहा गया है—"परमार्थ से दुःख-निरोध आर्यसत्य निर्वाण कहा जाता है। चूँकि उसे पाकर तृष्णा अलग होती और निरुद्ध हो जाती है, इसलिए विराग और निरोध कहा जाता है[1]।"

दुःख की शान्ति अर्थात् निर्वाण प्राप्ति की ओर ले जानेवाले मार्ग को दुःख निरोध-गामिनी प्रतिपदा कहते है। मध्यम मार्ग (मज्झिमा पटिपदा) भी इसी का नाम है। इसके आठ अंग है। ये आठो प्रज्ञा, शील और समाधि के विभाग से इस प्रकार विभक्त है—

१ सम्यक् दृष्टि २. सम्यक् संकल्प	प्रज्ञा
३ सम्यक् कर्मान्त ४ सम्यक् आजीविका ५. सम्यक् वचन	शील
६. सम्यक् व्यायाम ७. सम्यक् स्मृति ८. सम्यक् समाधि	समाधि

दुःख के विनाश के लिए यह अकेला मार्ग है (एकायनो मग्गो)।

सम्यक् दृष्टि सच्ची धारणा को कहते है। कुशल और अकुशल को पहचानना इसका लक्षण है। बुरी दृष्टियो को त्याग कर कुशल कर्मो को अपनाना इसका प्रधान कार्य है। विशुद्धि-मार्ग मे कहा गया है—"चार आर्यसत्य के प्रतिवेध के लिए लगे हुए योगी का, निर्वाण के लिए आलम्बन वाला, और अविद्या के अनुशय को नाश करने वाला प्रज्ञाचक्षु, सम्यक् दृष्टि है[2]।

मिथ्या सकल्पो को त्यागकर कल्याणकारक संकल्पो से लगना ही सम्यक् सकल्प है। तीन प्रकार के संकल्पो को सम्यक् संकल्प कहते है। (१) नैष्क्रम्य संकल्प, (२) अव्यापाद संकल्प, (३) अविहिसा संकल्प। यह संकल्प मिथ्या संकल्प को नाशकर चित्त को निर्वाण मे लगाने वाला है[3]।

अनुचित भाषण को त्यागकर उचित एवं प्रिय वचन बोलने को ही सम्यक् वचन कहते है। असत्य भाषण न करना, चुगली न खाना, कटु वचन न बोलना और बकवास न करना सम्यक् वचन है।

---

१. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृष्ठ ११९।
२ „ भाग २ पृष्ठ १२१ ३ वही पृष्ठ १२१

उचित कर्म करने को सम्यक् कर्मान्त कहते है। जीव हिंसा न करना, चोरी न करना, काम-भोगो में मिथ्याचार न करना ही सम्यक् कर्मान्त है। विशुद्धिमार्ग मे कहा गया है कि जीव-हिंसा आदि से विरति ही सम्यक् कर्मान्त है[1]।

मिथ्या आजीविका (पेशा) को छोड़कर उचित काम-धन्धे मे लगने को सम्यक् आजीविका कहते है। ये पाँच प्रकार के व्यापार वर्जित है, जिन्हे उपासको को नही करना चाहिए—

१. हथियारों का व्यापार ।
२. पशुओं का व्यापार ।
३. मास का व्यापार ।
४ शराब का व्यापार ।
५ विष का व्यापार ।

भिक्षुओ को कुहन (ठगडेबाजी) आदि से उपार्जित मिथ्याजीव से बचना चाहिए। आजीविका की पारशुद्धि इसका लक्षण है।

उचित प्रयत्न करने को सम्यक् व्यायाम कहते है। कहा है—"जो उस सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त और मम्यक् आजीव कहलाने वाले शील की भूमि पर प्रतिष्ठित हुए व्यक्ति का उसके अनुरूप आलस्य को नाश करने वाला प्रयत्न है वह सम्यक् व्यायाम है[2]।" सम्यक् व्यायाम चार प्रकार का होता है :—

१. शरीर, वचन और मन से संयम का प्रयत्न करना।
२. बुरे विचारो को त्यागने का प्रत्यन करना।
३. भावना करने मे मन को लगाने का प्रयत्न करना।
४ प्राप्त सद्‌गुणो की रक्षा तथा उसे बढ़ाने का प्रयत्न करना।

कुशल धर्मो के प्रति सदा सतर्क रहने को सम्यक्-स्मृति कहते है। यह चार प्रकार से सम्भव है। जिस-जिस अवस्था मे उसका शरीर हो उस-उस अवस्था मे उसे जानते रहना अर्थात् कायानुपश्यी होकर विहार करना। सभी सुख-दु.ख तथा उपेक्षा के अनुभवों को जानते रहना अर्थात् वेदनानुपश्यी होकर विहार करना। चित्त की सभी अवस्थाओं को जानते रहना अर्थात् धर्मानुपश्यी होकर विहार करना। इन्हीं को चार स्मृति-प्रस्थान कहते है।

कुशल-चित्त की एकाग्रता को ही समाधि कहते है। चारो स्मृति प्रस्थान समाधि के निमित्त है। चारो सम्यक् प्रयत्न समाधि की सामग्री है। इन्हा आठ बातों मे मन लगाने को समाधि-भावना कहते है। जब चित्त एकाग्र हो जाता है, तब ध्यान प्राप्त होते है और उसके पश्चात् अभिज्ञायें तथा समापत्तियाँ प्राप्त होती है। आश्रवों के क्षय के उपरान्त निर्वाण का साक्षात्कार होता है। यही परम सुख है।

---

१ . भाग २ पृष्ठ १२२ २ . भाग २ पृष्ठ १२२

प्रतीत्य समुत्पाद

प्रतीत्य समुत्पाद बुद्ध-दर्शन का आधार है[१]। इसे बिना जाने बुद्धधर्म को समझ सकना सम्भव नही है। भगवान् ने स्वयं कहा है—"जो प्रतीत्य समुत्पाद को देखता है, वह धर्म को देखता है, जो धर्म को देखता है, वह प्रतीत्य समुत्पाद को देखता है[२]।" प्रतीत्यसमुत्पाद को कार्य-कारण का सिद्धान्त कहते है। "इसके होने से यह होता है और इसके उत्पन्न होने से यह उत्पन्न हो जाता है तथा इसके नही होने से यह नही होता है और इसके रुक जाने से यह रुक जाता है[३]।" इसे जानना ही प्रतीत्यसमुत्पाद है। तथागत ने कहा है—"भिक्षुओ, प्रतीत्यसमुत्पाद कौन-सा है ? भिक्षुओ, अविद्या के प्रत्यय से सस्कार, संस्कारो के प्रत्यय से विज्ञान, विज्ञान के प्रत्यय से नामरूप, नामरूप के प्रत्यय से छ॰ आयतन, छ आयतनो के प्रत्यय से स्पर्श, स्पर्श के प्रत्यय से वेदना, वेदना के प्रत्यय से तृष्णा, तृष्णा के प्रत्यय से उपादान, उपादान के प्रत्यय से भव, भव के प्रत्यय से जाति (जन्म), जाति के प्रत्यय से जरा, मरण, शोक, परिदेव, दु:ख दौर्मनस्य, उपायास उत्पन्न होते है। इस प्रकार इस सारे दु:ख-समूह का समुदय होता है। भिक्षुओ, यह प्रतीत्य समुत्पाद कहा जाता है[४]।"

प्रतीत्य शब्द का अर्थ है कारण और समुत्पाद का अर्थ है उत्पन्न होना। अनादि काल से व्यक्ति की उत्पत्ति हेतु-फल के अनुसार हो रही है और जबतक हेतुफल बने रहेंगे, तबतक उसकी सन्तति अविच्छिन्न रूप बनी रहेगी। इस सन्तति को अटूट बनाये रखने मे किसी अदृश्य शक्ति का सम्बन्ध नही है, प्रत्युत हेतुफल (कार्य-कारण) के कारण यह सम्बन्ध सदा बना रहता है। एक के विनाश के पश्चात् उसी के कारण से दूसरे की उत्पत्ति होती है और यह क्रम उस समय तक बना रहता है, जबतक कि हेतु का सर्वथा विनाश न हो जाय।

प्रतीत्यसमुत्पाद के बारह अंग है। ऊपर तथागत के शब्दो मे उन्हे उद्धृत किया गया है। उन्हे इस प्रकार समझना चाहिए :—

१. अविद्या ←	जरा-मरण १२
२. सस्कार	जाति ११
३. विज्ञान	भव १०
४ नाम-रूप	उपादान ९
५. छः आयतन	तृष्णा ८
६. स्पर्श →	वेदना ७

अविद्या आदि कारण है और इसके ही विनष्ट होने से सारा चक्र समाप्त हो जाता है। अनुलोम तथा विलोम से ये चौबीस होते हैं। जिस प्रकार अविद्या के प्रत्यय से संस्कार होते है और सारा चक्र गतिमान् हो जाता है, उसी प्रकार अविद्या के निरोध से संस्कारो का निरोध

---

१ दर्शन-दिग्दर्शन, पृष्ठ ५१३। २. मज्झिमनिकाय १, ३, ८।
३ उदान पष्ठ १ तथा ३
४ सयुत्तनिकाय १२ १ १ हिन्दी अनुवाद पहला भाग पष्ठ १९२

ो जाता है[1] और सम्पूण चक्र समाप्त हो जाता ह इन अगो म एक से दूसर के प्रत्यय होन े चौबीस प्रकार है इन्ह भी प्रत्यय कहत ह पट्ठान नामक ग्रन्थ म इन प्रत्ययो की वेशद् व्याख्या की गयी है[2] । ये प्रत्यय है—

(१) हेतु प्रत्यय,	(२) आलम्बन प्रत्यय,	(३) अधिपति प्रत्यय,
(४) अनन्तर प्रत्यय	(५) निश्रय प्रत्यय,	(६) सहजात प्रत्यय,
(७) अन्योन्य प्रत्यय,	(८) निश्रय प्रत्यय,	(९) उपनिश्रय प्रत्यय,
(१०) पुरेजात प्रत्यय,	(११) पश्चात्-जात प्रत्यय,	(१२) आसेवन प्रत्यय,
(१३) कर्म प्रत्यय,	(१४) विपाक प्रत्यय,	(१५) आहार प्रत्यय,
(१६) इन्द्रिय प्रत्यय,	(१७) ध्यान प्रत्यय,	(१८) मार्ग प्रत्यय,
(१९) सम्प्रयुक्त प्रत्यय,	(२०) विप्रयुक्त प्रत्यय,	(२१) अस्ति प्रत्यय,
(२२) नास्ति प्रत्यय,	(२३) विगत प्रत्यय,	(२४) अविगत प्रत्यय ।

जिस प्रकार बीज से अंकुर होता है और अंकुर बढकर वृक्ष होता है, बीज को अंकुरित होने के लिए उपयुक्त भूमि, जल, वायु और वातावरण की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार अविद्या आदि हेतु उक्त प्रत्ययो के सहारे फलित होते है और भव चक्र गतिशील हो जाता है। जिस प्रकार दग्ध बीज से अंकुर आदि की उत्पत्ति नही होती, उसी प्रकार राग, द्वेष और मोह के क्षय होने मे नष्ट अविद्या और फिर पल्लवित नही होती और भव-चक्र सदा के लिए निरुद्ध हो जाता है।

यह प्रतीत्य समुत्पाद बुद्ध-दर्शन का प्रधान अंग होते हुए भी गम्भीर है। भगवान् ने इसकी गम्भीरता के विषय मे कहा है—"आनन्द, यह प्रतीत्य समुत्पाद गम्भीर है और गम्भीर के रूप मे दिखाई देने वाला है। आनन्द, इस धर्म के अज्ञान से, अवबोध न होने से, ऐसे यह प्रजा (प्राणी) अँझुराई ताँत-सी हो गयी है। बँधी गाँठ-सी हो गयी है। मूँज-भाभड सी हो गयी है। अपाय, दुर्गति, विनिपात, संसार का अतिक्रमण नही कर पाती[3] ।"

बोधिपक्षीय धर्म

भगवान् बुद्ध ने अपने सम्पूर्ण जीवन-काल मे जो धर्मोपदेश दिया था, वह सब बोधिपक्षीय धर्म मे समाविष्ट है। बोधिपक्षीय धर्म समग्र बुद्धदर्शन का आधार है। इसीलिए तथागत ने भिक्षुओं को बार-बार स्मरण दिलाया था कि उन्होने जिन बोधिपक्षीय धर्मों का उपदेश दिया है, वे भली प्रकार उनका आचरण करेंगे, उनका अभ्यास करेंगे और उनके अभ्यास मे ही विमुक्ति का साक्षात्कार होगा। यह बुद्ध-शासन भी दीर्घकाल तक रहेगा। अपने महा-परिनिर्वाण लाभ करने के समय तक भगवान् ने इन्ही धर्मों की ओर भिक्षुओ का ध्यान आकर्षित किया था इसलिए भिक्षुओ मैंने जो धम उपदेश किए हैं, तुम

भली प्रकार सीखकर उनका सेवन करना, भावना करना, बढ़ाना, जिसमे कि यह ब्रह्मचर्य चिरस्थायी हो, यह ब्रह्मचर्य बहुजन के हित-सुख तथा लोक पर अनुकम्पा करने के लिए हो। देव-मनुष्यो के अर्थ-हित-सुख के लिए हो। भिक्षुओ, मैंने कौन से धर्म, जानकर उपदेश दिए है ? जैसे कि (१) चार स्मृति प्रस्थान (२) चार सम्यक् प्रधान (३) चार ऋद्धिपाद (४) पाँच इन्द्रिय, (५) पाँच बल, (६) सात बोध्यंग, (७) आर्य अष्टांगिक मार्ग[1]।" इन्हे ही बोधिपक्षीय धर्म कहते है। ये सैंतीस है। इनके सम्बन्ध मे किसी प्रकार का मतभेद अथवा विवाद नही था। सभी भिक्षु एक मत से इनका पालन एवं आचरण करते थे[2]।

"बोधि" शब्द का अर्थ है ज्ञान और "पक्षीय" पक्ष का द्योतक है। तात्पर्य वे धर्म बोधिपक्षीय धर्म हैं जो ज्ञान के पक्ष मे रहनेवाले हो जिनके पालन करने से ज्ञान की प्राप्ति हो सके। आचार्य बुद्धघोष ने इनकी व्याख्या इस प्रकार की है—ये सैंतीस धर्म बूझने (जानने) के अर्थ से "बोध" नाम से पुकारे जाने वाले आर्य-मार्ग के पक्ष मे होने से बोधिपक्षीय कहे जाते हैं। "पक्षीय" का अर्थ है उपकार करने वाले[3]।

स्मृति का उपस्थान ही स्मृति-प्रस्थान कहा जाता है। कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना तथा धर्मानुपश्यना—ये चार स्मृति प्रस्थान है। काया को उसकी स्थिति के अनुसार जानते रहने की स्मृति को कायानुपश्यना कहते है। सुख-दुःख आदि अनुभूतियो को जानते रहने की स्मृति का नाम वेदनानुपश्यना है। चित्त की सभी अवस्थाओ को जानते रहने की स्मृति ही चित्तानुपश्यना है। मन के सभी धर्मो को जानते रहने की स्मृति धर्मानुपश्यना है। इनकी विस्तृत व्याख्या दीघनिकाय के महासतिपट्ठान सुत्त मे की गयी है[4]। इन चार स्मृति प्रस्थानों का उपदेश करके तथागत ने कहा है—"भिक्षुओ, जो कोई इन चार स्मृति प्रस्थानों की इस प्रकार सात वर्ष भावना करे, उसको दो फलों मे एक अवश्य होना चाहिए—इसी जन्म मे आज्ञा (अर्हत्व) का साक्षात्कार या उपाधिशेष होने पर अनागामी-भाव। रहने दो भिक्षुओ, सात वर्ष, जो कोई इन चार स्मृति प्रस्थाना को इस प्रकार छः वर्ष भावना करे, पाँच वर्ष, चार वर्ष, तीन वर्ष, एक वर्ष, सात मास, छः मास, पाँच मास, चार मास, तीन मास, दो मास, एक मास, अर्द्ध मास, सप्ताह भर भावना करे। भिक्षुओ, ये जो चार स्मृति प्रस्थान हैं, वे प्राणियो की विशुद्धि के लिए, शोक-कष्ट के विनाश के लिए, दुःख-दौर्मनस्य के अतिक्रमण के लिए, सत्य (न्याय) की प्राप्ति के लिए, निर्वाण की प्राप्ति और साक्षात् करने के लिए, एकायन मार्ग है[5]।" चार स्मृति प्रस्थानो का अभ्यास करते हुए विहरने को आत्म-शरण होकर विहरना कहा गया है[6]। चित्त की एकाग्रता और समाधि-प्राप्ति के लिए यह प्रधान साधन है।

'प्रधान' का अर्थ है प्रयत्न। "शोभन प्रयत्न सम्यक् प्रधान है[7]।" सम्यक् प्रधान से निर्वाण का साक्षात्कार होता है। यह चार प्रकार का होता है। (१) अनुत्पन्न पाप या

---

१. महापरिनिब्बानसुत्तं, पृष्ठ १०३।
२. मज्झिमनिकाय ३, १, ४, पृष्ठ ४४२।
३ विशुद्धिमार्ग भाग २ पृष्ठ २६७।
४ दीघनिकाय २, ९, पृष्ठ १९०—१९८।
५ दीघनिकाय २ ९ पृष्ठ १९८
६ पृष्ठ ६५
७ भाग २ पृष्ठ २६७

अकुशल धर्मों को न उत्पन्न होने देने के लिए प्रयत्न करना (२) उत्पन्न पाप या अकुशल धर्मों के विनाश के लिए प्रयत्न करना (३ अनुत्पन्न कुशलधर्मों की उत्पत्ति के लिए प्रयत्न करना। (४) उत्पन्न कुशलधर्मों की वृद्धि के लिए प्रयत्न करना[1]।

'ऋद्धि' का अर्थ है सिद्ध होना[2]। ऋद्धि का पाद ही ऋद्धिपाद है। वह चार प्रकार का होता है—(१) छन्द ऋद्धिपाद, (२) वीर्य ऋद्धिपाद, (३) चित्त ऋद्धिपाद, (४) मीमांसा ऋद्धिपाद। भगवान् ने कहा है—"उदायी, मैंने श्रावकों को प्रतिपदा बतला दी है जिस पर आरूढ हो मेरे श्रावक चारों ऋद्धिपादों की भावना करते हैं और बहुत से मेरे श्रावक इनकी भावना कर अर्हत् पद प्राप्त हो विहरते हैं[3]।" इन्हीं चार ऋद्धिपादों के सम्बन्ध में भगवान् ने अन्तिम समय में कहा था—"आनन्द, जिसने चार ऋद्धिपाद साधे हैं, बढ़ा लिए हैं, रास्ता कर लिए हैं, घर कर लिए हैं। अनुष्ठित, परिचित और सुसमारब्ध कर लिए हैं। यदि वह चाहे तो कल्पभर ठहर सकता है या कल्प के बचे काल तक। तथागत ने भी आनन्द, चार ऋद्धिपाद साधे हैं, यदि तथागत चाहें तो कल्पभर ठहर सकते हैं या कल्प के बचे काल तक[4]।"

इन्द्रिय पाँच हैं—(१) श्रद्धा, (२) वीर्य, (३) स्मृति, (४) समाधि, (५) प्रज्ञा। ये उपशम अर्थात् निर्वाण (सम्बोधि) की ओर ले जानेवाले हैं[5]। विशुद्धिमार्ग में कहा गया है—अ-श्रद्धा, आलस्य, प्रमाद, विक्षेप, संमोह को पछाडने से, पछाड़ना कहलाने वाले अधिपति के अर्थ से इन्द्रिय हैं[6]।"

बल भी पाँच हैं—(१) श्रद्धा, (२) वीर्य, (३) स्मृति, (४) समाधि, (५) प्रज्ञा। ये भी अ-श्रद्धा आदि में नहीं पछाड़े जाने से अविचलित होने के अर्थ से बल हैं[7]।

"बोधि" (ज्ञान) प्राप्त करने वाले व्यक्ति के अंग होने से ही बोध्यंग कहा जाता है[8]। इनसे युक्त व्यक्ति ही सम्बोधि प्राप्त करता है। ये सात हैं—(१) स्मृति सम्बोध्यंग, (२) धर्म-विचय सम्बोध्यंग, (३) वीर्य-सम्बोध्यंग, (४) प्रीति सम्बोध्यंग, (५) प्रश्रब्धि सम्बोध्यंग, (६) समाधि सम्बोध्यंग, (७) उपेक्षा सम्बोध्यंग। तथागत ने इन सात बोध्यंगों की भावना के सात फल बतलाये हैं—"भिक्षुओ, इस प्रकार सात बोध्यंगों के भावित और अभ्यास हो जाने पर इसके सात अच्छे परिणाम होते हैं। कौन-से सात अच्छे परिणाम ?

(१) अपने देखते ही देखते परम ज्ञान को पैठकर देख लेता है।
(२) यदि नहीं तो मरने के समय उसका लाभ करता है।
(३) यदि वह भी नहीं, तो पाँच नीचेवाले संयोजनों के क्षीण हो जाने से अपने भीतर ही भीतर निर्वाण पा लेता है।

---

१. मज्झिमनिकाय २, ३, ७, पृष्ठ ३०८। २. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृष्ठ ४।
३ मज्झिमनिकाय, २, ३, ७, पृष्ठ ३०८।
४. महापरिनिब्बान सुत्तं, पृष्ठ ६७। ५ मज्झिमनिकाय २, ३, ७, पृष्ठ ३०८–९।
६ विशुद्धिमार्ग भाग २ पृष्ठ २६८। ७ विशुद्धिमार्ग भाग २ पृष्ठ २६८।
८ विशुद्धिमार्ग भाग २ पृष्ठ २६८

(४) यदि वह भी नहीं, तो पाँच नीचेवाले संयोजनों के क्षीण हो जाने से आगे चलकर निर्वाण पा लेता है।

(५) यदि वह भी नही, तो असंस्कार निर्वाण को प्राप्त करता है।

(६) यदि वह भी नही, तो संस्कार निर्वाण को प्राप्त करता है।

(७) यदि वह भी नही, तो ऊपर उठने वाला (उर्ध्व स्रोत), श्रेष्ठ मार्ग पर जाने वाला (अकनिष्ठगामी) होता है।

भिक्षुओ, सात बोध्यंगो के भावित और अभ्यास हो जाने पर यही उसके सात अच्छे परिणाम होते है[1]।" भगवान् ने यह भी कहा है कि सात बोध्यंगो की भावना करने से विद्या और विमुक्ति पूर्ण होती है[2]। जो इनका अभ्यास करता है वह निर्वाण की ओर झुका होता है[3]।

आर्य अष्टागिक मार्ग का चार आर्यसत्यो के अन्तर्गत वर्णन किया जा चुका है।

ये सैतीस बोधिपक्षीय धर्म असंस्कृतगामी (निर्वाण की ओर ले जाने वाले) कहे गये है[4]। भगवान् ने इन सैतीस बोधिपक्षीय धर्मो का उपदेश देने के पश्चात् कहा है—"भिक्षुओ, ये वृक्ष-मूल है, ये शून्य-गृह है, ध्यान करो, मत प्रमाद करो, ऐसा नही कि पीछे पश्चात्ताप करना पडे। तुम्हारे लिये मेरा यही उपदेश है[5]।"

अनित्य-दुःख-अनात्म : त्रिलक्षण

बुद्धदर्शन संसार को अनित्य, दुःख और अनात्म इन तीन दृष्टियो से देखता है। इन्ही दृष्टियो को त्रिलक्षण कहते है। बिना इनको जाने बुद्धदर्शन को समझा नही जा सकता है। इन्हे जानकर और भली प्रकार इनका मनन करके ही विपश्यना द्वारा निर्वाण का साक्षात्कार किया जा सकता है। धम्मपद मे इन तीनों का महत्व इस प्रकार बतलाया गया है :—

सब्बे सङ्खारा अनिच्चा'ति यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया॥[6]

[सभी संस्कार अनित्य है—ऐसा जब प्रज्ञा से देखता है, तब सभी दुःखो से निर्वेद (विराग) को प्राप्त होता है, यही विशुद्धि (निर्वाण) का मार्ग है।]

सब्बे सङ्खारा दुक्खा'ति यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया॥[7]

[सभी संस्कार दुःख है—ऐसा जब प्रज्ञा से देखता है, तब सभी दुःखो से निर्वेद को प्राप्त होता है, यही विशुद्धि का मार्ग है।]

---

१ संयुत्तनिकाय, भाग २, पृष्ठ ६५२।
२. संयुत्तनिकाय, भाग २, पृष्ठ ६५३।
३. संयुत्तनिकाय, भाग २, पृष्ठ ६५४।
४. संयुत्तनिकाय, भाग २, पृष्ठ ६०१।
५ संयुत्तनिकाय भाग २ पृष्ठ ६०१
६ धम्मपद गाथा-संख्या २७७
७ धम्मपद, गाथा-संख्या २७८

सब्बे धम्मा अनत्ता'ति यदा पञ्ञाय पस्सति
अथ निब्बिन्दति दुक्ख, एस मग्गो विसुद्धिया ॥[१]

[सभी धर्म (पञ्चस्कन्ध) अनात्म हैं,—ऐसा जब प्रज्ञा से देखता है, तब सभी दु खो ने निर्वेद को प्राप्त होता है, यही विशुद्धि का मार्ग है ।]

संसार मे जो कुछ भी है वह सब अनित्य है । सदा एक समान रहनेवाला नही है । सभी उत्पत्ति, स्थिति और नाश होने के तीन क्षणो मे विभक्त है । रूप, वेदना, संज्ञा, सस्कार और विज्ञान सभी अनित्य है[२] । इसीलिए विशुद्धिमार्ग मे अनित्य पंचस्कन्ध को कहा गया है[३] । जो अनित्य लक्षणवाला है वह दु ख है और जो दु ख है वह अनात्मा है, इसीलिए बुद्ध दर्शन अनित्य, दुःख, अनात्म इन तीन लक्षणो को प्रधान रूप से मानता है—"भिक्षुओ, रूप अनित्य है । जो अनित्य है वह दुःख है । जो दु ख है वह अनात्म है । जो अनात्म है वह न तो मेरा, न तो मै, न तो मेरी आत्मा है । इसे यथार्थतः प्रज्ञापूर्वक देखना चाहिए[४] ।" जिन हेतु और प्रत्ययो से पञ्चस्कन्ध की उत्पत्ति होती है वे भी अनित्य, दु ख, अनात्म है[५] । ऋषिपतन मृगदाय में भगवान् ने पंचवर्गीय भिक्षुओ को उपदेश देते हुए अनित्य, दुःख और अनात्म को इस प्रकार समझाया था—"भिक्षुओ, रूप अनात्म है। यदि रूप आत्मा होता तो यह दु ख का कारण नही बनता और तब कोई ऐसा कह सकता—"मेरा रूप ऐसा होवे, मेरा रूप ऐसा नही होवे" क्योकि रूप अनात्मा है इसीलिए यह दुःख का कारण होता है और कोई ऐसा नही कह सकता—"मेरा रूप ऐसा होवे, मेरा रूप ऐसा नहीं होवे । भिक्षुओ, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान अनात्म है, तो भिक्षुओ, क्या समझते हो रूप नित्य है या अनित्य ?"

"अनित्य भन्ते !"

"जो नित्य है वह दुःख है या सुख ?"

"दु.ख भन्ते !"

"जो अनित्य, दुःख और विपरिणामधर्मा है । क्या उसे ऐसा समझना ठीक है कि यह मेरा है, यह मै हूँ, यह मेरी आत्मा है ?"

"नही भन्ते ।"

"भिक्षुओ, इसीलिए जो भी रूप अतीत, अनागत, वर्तमान, भीतरी, बाहरी, स्थूल, सूक्ष्म, हीन, प्रणीत, दूर मे या निकट मे है सभी को यथार्थत. प्रज्ञापूर्वक ऐसा समझना चाहिए कि यह मेरा नही है । यह मै नही हूँ । यह मेरी आत्मा नही है[६] ।"

---

१ धम्मपद गाथा, संख्या २७९ ।

२. संयुत्तनिकाय, २१, १, २, १; दूसरा भाग, पृ० ३३० ।

३. विशुद्धिमार्ग, भाग १, पृ० २५८ ।

४. संयुत्तनिकाय, २१, १, २, ४, पृ० ३३०, दूसरा भाग ।

५ संयुत्तनिकाय २१ १ २ ७-९ दूसरा भाग पृ० ३३१ ।

६ सयुत्तनिकाय २१ २ १ ७ दूसरा भाग पृष्ठ ३५१-५२

भगवान् बुद्ध के ये दार्शनिक क्रान्तिकारी विचार थे। दु ख कहने और मानने पर भी अनित्य और अनात्म के विचार भारतीय दर्शन मे उनसे पूर्व नहीं प्रवेश पा सके थे। दु ख की व्याख्या भी अन्य दार्शनिको से भिन्न थी। व्यक्ति की उत्पत्ति से लेकर मृत्यु पर्यन्त चित्त-सन्तति के रूप मे परिवर्तनशील जीवन उत्पत्ति, स्थिति और लय इन क्षणत्रय के अनुसार क्षणिक है। वह शाश्वत, ध्रुव, चिरस्थायी, सदा एक-सा रहनेवाला नहीं है। वह विकृत होनेवाला है। इसी प्रकार वह दु खमय है। सुखानुभूति तृणाग्र से ओस की बूँद चाटने के समान कल्पना मात्र है। किसी को अपने ऊपर वशता प्राप्त नही है। कोई भी ईश्वर, परमात्मा या अलौकिक शक्ति ऐसी नही है, जो उसे निर्मित करे या अपनी इच्छा के अनुसार उसका संचालन करे। बुद्ध धर्म की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि वह अनित्य, दु.ख और अनात्म को मानते हुए आत्मा, परमात्मा को नही मानता, किन्तु जीवन को इसी जन्म तक सीमित नही मानता। कर्म-विपाक के अनुसार व्यक्ति का पुनर्जन्म तबतक होता रहता है जबतक कि वह निर्वाण का साक्षात्कार न कर ले[१]।

कर्म और पुनर्जन्म

भगवान् बुद्ध कर्मवादी थे। वे कर्मो का विभाजन कर बतलाने के कारण विभज्जवादी (विभक्तवादी) भी थे[२]। वे अक्रियावाद के निन्दक एव कर्मवाद के प्रशसक थे। बुद्धधर्म के अनुसार कर्म और उसका विपाक (फल) ये दो ही विद्यमान है। कर्म से विपाक होता है और विपाक से कर्म और फिर कर्म से पुनर्जन्म; इस प्रकार यह संसार चल रहा है—

कम्मा विपाका वत्तन्ति, विपाको कम्मसम्भवो।
कम्मा पुनब्भवो होति एवं लोको पवत्तति ॥[३]

जब कर्म रुक जाता है, तब विपाक रुक जाता है और फिर पुनर्जन्म नही होता। कर्म के ही कारण प्राणियो मे विभिन्न प्रकार के भेद दिखाई देते है। एक बार शुभ नामक एक ब्राह्मण तरुण ने भगवान् से पूछा था—"हे गौतम, क्या हेतु है, क्या कारण है कि मनुष्य ही होते मनुष्य रूपवालो मे हीनता और उत्तमता दिखाई पडती है ? हे गौतम, यहाँ मनुष्य अल्पायु देखने मे आते है और दीर्घायु भी, वहुरोगी-अल्परोगी, कुरूप-रूपवान्, असमर्थ-समर्थ, दरिद्र-धनवान्, निर्बुद्धि-प्रज्ञावान् मनुष्य यहाँ दिखाई पड़ते हैं। हे गौतम, क्या कारण है कि यहाँ प्राणियो मे इतनी हीनता और उत्तमता दिखाई पडती है ?"

"माणवक, प्राणी कर्मस्वक् (कर्म ही है अपना जिनका) है, कर्म-दायाद, कर्म-योनि, कर्म-वन्धु और कर्मप्रतिशरण है। कर्म ही प्राणियो को इस हीनता और उत्तमता मे विभक्त करता है[४]।"

---

१ बौद्धधर्म के मूल सिद्धान्त—भिक्षु धर्मरक्षित द्वारा लिखित।
२ " " २ ५ ९ पृष्ठ ४१४ ३ विशुद्धिमार्ग भाग २ पृष्ठ २०५
४ " ३ ४ ५ पृष्ठ ५५२

इस उद्धरण से कर्म के प्रति बुद्धधर्म का मन्तव्य स्पष्ट ज्ञात हो जाता है। अच्छे-बुरे कर्म के कारण ही व्यक्ति अच्छा-बुरा होता है और उसी से उसकी उत्पत्ति में विषमता दिखाई देती है। इसीलिए तथागत ने कहा है—"सारे पापों का न करना, पुण्यो का संचय करना, अपने चित्त को परिशुद्ध करना—यह बुद्धो की शिक्षा है[1]।" इसलिए व्यक्ति को काया, वाणी और मन से सदा कुशल (पुण्य) कर्म करने चाहिए तथा अकुशल (पाप) कर्म छोड देना चाहिए। कर्म से ही कोई ऊँच-नीच होता है। कर्म से ही कोई ब्राह्मण होता है और कर्म से ही नीच (वसल)। जन्म से कोई नीच और जन्म से ब्राह्मण नही होता[2]।

कर्मो का विभाजन अनेक प्रकार से किया गया है। विशुद्धिमार्ग मे कर्मो के कर्मान्तिर और विपाकान्तर बारह प्रकार से समझाये गये हे[3]। दृष्टधर्म वेदनीय, उपपद्य वेदनीय, अपरापर्य वेदनीय और अहोसि कर्म के चार प्रकार के कर्म-विभाजन है। दृष्ट-कर्म वेदनीय उस कर्म को कहते है जिसका कि फल इसी जन्म मे मिल जाता है। मरने के बाद ठीक दूसरे जन्म मे उपपद्य वेदनीय का फल प्राप्त होता है। अपरापर्य वेदनीय कर्म जब अवसर पाता है तब अपना फल देता है; किन्तु जो कर्म अपना फल कभी भी नही दे सकते उन्हे अहोसि-कर्म कहते है।

दूसरे भी चार प्रकार के कर्म होते है—यद्‌गरुक, यद्‌बहुल, यदासन्न और कृतत्वात्। जो कर्म सबसे महान् होता है, वह शीघ्र फल देता है उसे यद्‌गरुक कर्म कहते हैं। जो प्राय. किया गया होता है उसे यद्‌बहुल कर्म कहते है। जो कर्म मृत्यु के समीप किया गया रहता है उसे यदासन्न कहते है और इनसे रहित बार-बार किया गया कर्म कृतत्वात् कहा जाता है।

इसी प्रकार अन्य भी चार कर्म-भेद है—जनक, उपस्तम्भक, उपपीड़क और उपघातक। जिस कर्म के कारण प्रतिसन्धि होती है उसे जनक कहते है। जिस कर्म के कारण बहुत दिनो तक जीवन बना रहता है, उसे उपस्तम्भक कहते है। जो कर्म बाधा उत्पन्न करता है उसे उपपीड़क कहते है और उपघातक कर्म वह है जो सभी प्रकार के कर्म-विपाक को हटाकर स्वयं अपना फल देने लगता है।

बुद्धधर्म आत्मा को न मानते हुए भी कर्म और पुनर्जन्म को मानता है। कहा है—"कर्म का कर्त्ता नहीं है और न विपाक को भोगनेवाला। शुद्धधर्म (संस्कार) मात्र प्रवर्तित होते हैं—इस प्रकार जानना सम्यक् दर्शन है[4]।" भगवान् बुद्ध ने स्वयं अपने ५५० पूर्व-जन्मो की चर्यायें बतलाई है। जातकट्ठकथा ऐसी ही चर्याओ का संग्रह है। जब व्यक्ति की मृत्यु होती है तब इस शरीर से निकलकर दूसरा जन्म धारण करने वाली कोई आत्मा जैसी वस्तु नहीं है। जब मृत्यु होती है तब यहाँ के पञ्चस्कन्ध यही रह जाते है और कर्म के कारण दूसरी प्रतिसन्धि हो जाती है। मिलिन्द प्रश्न मे इसे इस प्रकार समझाया गया है—

"भन्ते, ऐसा कोई जीव है जो इस शरीर से निकल कर दूसरे मे प्रवेश करता है ?"

'नही महाराज !"

---

१ १८३ पृष्ठ ६५
२ सुत्तनिपात वसलसुत्तं गाथा २७।
३ विशुद्धिमार्ग भाग २ पृष्ठ २०४
४ „ भाग २ पृष्ठ २०५

भन्ते यदि इस शरीर से निकलकर दूसर शरीर म जान वाला कोई नही है तब तो वह अपन पाप-कर्मों से मुक्त हो गया ?

"हाँ, महाराज, यदि उसका फिर भी जन्म नही हो तो अवश्य वह अपने पाप-कर्मो से मुक्त हो गया और यदि फिर भी वह जन्म ग्रहण करे तो मुक्त नहीं हुआ। जैसे महाराज, यदि कोई आदमी किसी दूसरे का आम चुरा ले तो दण्ड का भागी होगा या नही ?

"हाँ भन्ते. होगा।"

"महाराज, उस आम को तो उसने रोपा नही था जिसे उसने लिया, फिर दण्ड का भागी कैसे होगा ?"

"भन्ते, उसके रोपे हुए आम से ही यह भी उत्पन्न हुआ, इसलिए वह दण्ड का भागी होगा।"

"महाराज, इसी प्रकार एक पुरुष इस शरीर से अच्छे और बुरे कर्मों को करता है। उन कर्मो के प्रभाव से दूसरा शरीर जन्म लेता है, इसलिए वह अपने पाप-कर्मों से मुक्त नही हुआ।

जैसे महाराज, कोई एक बत्ती से दूसरी बत्ती जला ले तो क्या यहाँ एक बत्ती दूसरी से संक्रमण करती है ?"

"नही भन्ते !"

"महाराज, इसी तरह बिना एक शरीर से दूसरे शरीर मे कुछ गये हुए ही पुनर्जन्म होता है।

महाराज, क्या आपको कोई श्लोक याद है जिसे आपने अपने गुरु के मुख से सीखा था ?"

"हाँ याद है।"

"महाराज, क्या वह श्लोक आचार्य के मुख से निकलकर आपमे घुस गया है ?"

"नही भन्ते !"

"महाराज, इसी तरह बिना एक शरीर मे कुछ गये हुए ही पुनर्जन्म होता है[१]।"

कर्म और पुनर्जन्म का तारतम्य तब तक बना रहता है जब तक कि निर्वाण का साक्षात्कार न हो जाय, किन्तु जब निर्वाण का साक्षात्कार हो जाता है तब कर्म और पुनर्जन्म रुक जाते है, अविद्या के कारण ही व्यक्ति कर्म करता रहता है और उन्ही कर्मो मे सस्कार बनते रहते है और सम्पूर्ण भव-चक्र जारी रहता है, किन्तु जब अविद्या नष्ट हो जाती है, विद्या प्राप्त होती है, तब कर्म का क्षय हो जाता है और संस्कारों का होना बन्द हो जाता है और फिर पुनर्जन्म नहीं होता।

निर्वाण

निर्वाण बुद्धधर्म का अन्तिम लक्ष्य है। इसे इसी जीवन मे अनुभव किया जा सकता है। जिस प्रकार भगवान् बुद्ध ने बोधि-वृक्ष के नीचे निर्वाण का साक्षात्कार किया था। वह गम्भीर,

१ मिलिन्द प्रश्न पृष्ठ ८९ ९०

दुर्बोध्य, शान्त, उत्तम एवं तर्क रहित है। वह ज्ञानियो द्वारा अपने भीतर अनुभव करने की वस्तु है। वह न उत्पन्न होता है और न विनष्ट होता है। वह एक स्थिति है जो परम शान्त और रोग-शोक से रहित है।[१] वह परम सुख है।[२] उसे प्राप्त कर परम शान्ति प्राप्त होती है।[3] इसीलिए निर्वाण को उत्तम शान्ति अथवा शान्तपद भी कहते है। वह निर्वाण विमुक्ति रस वाला है।[४] इसका ज्ञान राग, द्वेष, मोह के क्षय होने पर होता है। यह बुद्धधर्म का सार है। यहाँ न तो पृथ्वी है, न जल है, न वायु है, न प्रकाश है, न अन्धकार है। निर्वाण का समझना आसान नही।[५] निर्वाण की स्थिति के सम्बन्ध मे प्रकाश डालते हुए भगवान् ने कहा है—"भिक्षुओ, वह एक आयतन है, जहाँ न तो पृथ्वी, न जल, न तेज, न वायु, न आकाशानन्त्यायतन, न विज्ञानानन्त्यायतन, न आकिंचन्यायतन, न नैवसंज्ञानासंज्ञायतन है, वहाँ न तो यह लोक है, न परलोक है, और न चन्द्रमा-सूर्य है। भिक्षुओ, न तो मै उसे अगति और न गति कहता हूँ, न स्थिति और न च्युति कहता हूँ। उसे उत्पत्ति भी नही कहता हूँ। वह न तो कही ठहरा है, न प्रवर्तित होता है और न उसका कोई आधार है। यही दु:खो का अन्त है।[६]" निर्वाण अजात, अभूत, अकृत और असंस्कृत है।[७] निर्वाण प्राप्त कर लेने से आवागमन रुक जाता है और जन्म-मृत्यु नही होते। तब यह लोक और परलोक भी नहीं होता है। यही दु:खों का अन्त है।[८] निर्वाण के सम्बन्ध मे उपदेश देते हुए भगवान् बुद्ध ने कहा है—"यह शरीर जात, भूत, उत्पन्न, कृत, संस्कृत, अध्रुव, बुढापा और मृत्यु से पीडित, रोगों का घर, क्षणभंगुर तथा आहार और तृष्णा से होने वाला है, उसमे प्रेम करना ठीक नही, उसका निस्तार (निर्वाण) शान्त है। वह तर्क से नही जाना जा सकता, वह ध्रुव, अजात, न उत्पन्न होने वाला तथा शोक और राग रहित है। सभी दु:खो का वहाँ निरोध हो जाता है। वह संस्कारो की शान्ति एव परम सुख है।"[९]

निर्वाण को अमृतपद भी कहा जाता है और यह अमृत इसलिए है कि जरा, जन्म, व्याधि से रहित अच्युत पद है। वह परम योगक्षेम है। उसे प्राप्त कर लेने के पश्चात् कुछ करना शेष नहीं रहता, इसलिए वह भव का निरोध भी है। एक यही वस्तु ऐसी है, जो नित्य है। व्यक्ति को इसका अनुभव सर्वप्रथम स्रोतापत्ति फल की प्राप्ति के समय किंचितमात्र होता है। उसके पश्चात् सकृदागामी और अनागामी मे क्रमश: अधिक, अर्हत्-फल को प्राप्ति के साथ इसका पूर्ण साक्षात्कार हो जाता है। अर्हत्व भी इसे ही कहते है। ध्यान प्राप्त भिक्षुओ को इस जीवन मे इसके सुख की अनुभूति संज्ञावेदयित निरोध समापत्ति के समय पूर्ण रूप से होती है, किन्तु यह केवल ध्यान से प्राप्य नही है।

निर्वाण प्राप्त व्यक्ति जब परिनिर्वाण को प्राप्त होता है, तब उसकी अवस्था उसी प्रकार होती है, जिस प्रकार कि लोहे की घन की चोट पडने पर जो चिनगारियाँ उठती है वह

---

१. इतिवुत्तक, पृष्ठ ३६।
२ धम्मपद १५, ८ (निब्बानं परमं सुखं)।
३. थेरी गाथा १५।
४. विनयपिटक चुल्लवग्ग।
५. उदान, पृष्ठ ११०।
६. उदान, पृष्ठ १०९।
७ उदान पष्ठ ११० १११
८ उदान पृष्ठ १११
९ उदान पृष्ठ १२१

तुरन्त ही बुझ जाती है। कहाँ गयी, कुछ पता नही चलता। इसी प्रकार काम-बन्धन से मुक्त हो निर्वाण पाये हुए, अचल सुख प्राप्त किये हुए व्यक्ति की गति का कोई भी पता नही लगा सकता।[1] उसकी निर्वाण-प्राप्ति प्रदीप के बुझ जाने के समान होती है[2]।

प्राप्ति-भेद के अनुसार निर्वाण दो प्रकार का होता है। सोपादिशेप निर्वाण और अनुपादिशेप निर्वाण। शरीर रहते इसी जीवन मे निर्वाण के जिस सुख का अनुभव करते है अर्थात् राग, द्वेष, मोह के क्षय होने पर इस जीवन मे ही जिस निर्वाण-सुख की अनुभूति होती है वह सोपादिशेप निर्वाण है और जिस निर्वाण सुख की अनुभूति पञ्चस्कन्ध के न रहने पर होती है अर्थात् परिनिर्वाण प्राप्त करने के पश्चात् जिस अजर, अमर, शिव, अच्युत, परमशान्त, सुख, अकृत का लाभ होता है वह अनुपादिशेप निर्वाण है। भगवान् बुद्ध ने सोपादिशेप निर्वाण का उरुवेला मे बोधिवृक्ष के नीचे साक्षात्कार किया था और अनुपादिशेप निर्वाण का लाभ उन्हे कुशीनारा मे महापरिनिर्वाण के समय हुआ था।

संघ का महत्व

बुद्धधर्म मे संघ एक प्रमुख इकाई है। त्रिरत्न में एक रत्न है। यह निर्वाण प्राप्त, जीवन-मुक्त भिक्षुओ का संघ है, जिसमे चार पुरुष युग्म और आठ पुरुष पुद्गल होते है। वह भगवान् का श्रावक संघ सुमार्ग पर चलनेवाला है। सीधे मार्ग पर चलनेवाला है। उचित और न्याय मार्ग पर चलनेवाला है। वह आह्वान करने योग्य है। पाहुन बनाने योग्य है। दान देने योग्य है। हाथ जोड़ने योग्य है और लोक के लिए पुण्य बोने का सर्वोत्तम क्षेत्र है[3]। इस सङ्घ का बहुत बड़ा महत्व है। संघ के सामने व्यक्ति तुच्छ है। यहाँ तक कि संघ बुद्ध से भी महान् है। एक समय महाप्रजापती गौतमी भगवान् बुद्ध के पास गयी और उन्हे अपने हाथ से काते और बुने हुए एक जोड़े वस्त्र को दान देना चाहीं। भगवान् ने उसे स्वयं न ग्रहण कर संघ को देने के लिए कहा। साथ ही उन्होने यह भी कहा कि संघ को देने से मै भी पूजित होऊँगा और संघ भी[4]। इससे स्पष्ट है कि बुद्धधर्म मे संघ का क्या स्थान है।

भिक्षु और भिक्षुणी संघ

भगवान् बुद्ध ने संघ की स्थापना सर्वप्रथम 'ऋषिपतन मृगदाय' मे की थी और वही यशकुलपुत्र का पिता संसार मे सबसे पहले त्रिशरण ग्रहण किया था। बुद्ध, धर्म और संघ ये त्रिशरण कहलाते है। सब उपासक-उपासिका, भिक्षु-भिक्षुणी को इन शरणो को ग्रहण करना पड़ता है। भगवान् बुद्ध से पूर्व ऐसा संगठित भिक्षु संघ नही था। वैदिक काल मे भिक्षुओ के जमात थे, किन्तु धर्म-प्रचार आदि के लिए उनमे संगठन नहीं था। भगवान् बुद्ध का भिक्षु संघ एक संगठित संस्था के समान था। यही कारण है कि कुछ विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि भगवान् बुद्ध का भिक्षु-संघ कोई नयी स्थापना नही थी प्रत्युत उन्होने गणतन्त्रों के आधार पर भिक्षुओं के एक वर्ग का निर्माण किया था जो राजनीतिक

संघटनों की भाँति एक धार्मिक संघटन था[१]। इस संघ-निर्माण की प्रशंसा करते हुए श्री काशी प्रसाद जायसवाल ने लिखा है—"बौद्ध सघ के जन्म का इतिहास सारे संसार के त्यागियों के सम्प्रदायो के जन्म का इतिहास है। इसलिए भारतीय प्रजातन्त्र के संघटनात्मक गर्भ से बुद्ध के धार्मिक संघ के जन्म का इतिहास केवल इस देशवालो के लिए ही नही, बल्कि शेष सारे संसार के लिए भी विशेप मनोरजक होगा[२]।" श्री जायसवाल ने भिक्षु-संघ की जो महत्ता बतलायी है वह तो स्वीकार्य है किन्तु भारतीय गणतन्त्रो की देन कहना सगत नही, क्योकि भगवान् का भिक्षुसंघ एक पवित्र परिभाषा के साथ युक्त है। वह ध्यानियो के लिए वर्णित चालीस कर्मस्थानो मे एक कर्मस्थान भी है[३]। जिसकी अनुस्मृति से ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। जिसकी मुहूर्त भर भी पूजा सौ वर्ष के अग्निहोत्र से श्रेष्ठ है[४]। विशुद्धिमार्ग मे कहा गया है—"संघानुस्मृति मे लगा हुआ भिक्षु संघ का गौरव और प्रतिष्ठा करने वाला होता है। वह श्रद्धा आदि मे विपुलता को प्राप्त होता है। प्रीति और प्रमोद-बहुल होता है। भय-भैरव को सहनेवाला तथा दुःख को सहने की सामर्थ्य वाला होता है। संघ के साथ रहने का विचार होता है। संघगुणानुस्मृति के साथ रहनेवाले का शरीर एकत्र संघ के उपोशथ गृह के समान पूजनीय होता है। संघ के गुण की प्राप्ति के लिए चित्त झुकता है। उल्लंघनीय वस्तुओं के आ पड़ने पर उसे संघ को सम्मुख देखने के समान लज्जा और संकोच हो आता है। यदि वह ज्ञान को नहीं भी प्राप्त कर लेता है तो सुगति परायण होता है[५]।" ऐसे विमुक्ति की ओर ले जानेवाले संघ को प्रजातन्त्र का अनुकरण मात्र कहना भिक्षु संघ की वास्तविक परिभाषा का अतिक्रमण करना है। तथागत का श्रावक संघ ज्ञानियो का संघ है। वह राग, द्वेष और मोह से रहित परम शुद्ध भिक्षुओ का संघ है।

भगवान् का संघ जिस पवित्र उद्देश्य से चारिका कर विश्व का कल्याण किया उसकी गुणगरिमा वर्णनातीत है। प्रारम्भ के कुछ समय तक केवल भिक्षु संघ ही था, किन्तु महाप्रजापती गौतमी के प्रव्रजित हो जाने के पश्चात् भिक्षुणी संघ की भी स्थापना हो गयी थी। इन दोनो संघों ने आत्मोत्कर्ष के साथ ही "बहुजन हिताय बहुजन सुखाय" महान् कार्य किया। भिक्षु सघ ने तथागत के धर्म-घोष से संसार को उद्घोषित किया तो भिक्षुणी संघ ने धर्म की दुन्दुभी बजायी। भगवान् के संघ के चार अग थे—भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक और उपासिका। इनमे भिक्षु और भिक्षुणी गृह का त्यागकर मुक्ति-मार्ग के पथिक हो गये थे और उपासक तथा उपासिका गृहवासी होते हुए इन गृह-त्यागियों के अवलम्ब थे।

भगवान् बुद्ध ने सदा यह प्रयत्न किया कि उनके भिक्षु और भिक्षुणी संघ मे कभी मतभेद पैदा न हो। सब मिलजुल कर रहे। उन्होने इस बात के महत्व को बतलाते हुए संघ की उन्नति के लिए सात अपरिहानीय धर्मों का उपदेश किया था। वे सात धर्म ये

---

१ हिन्दू राजतन्त्र, पहला खण्ड, पृष्ठ ६८।

२ हिन्दू राजतन्त्र, पहला खण्ड, पृष्ठ ७२।

३ अंगुत्तर निकाय- ६- १- ९। ४ धम्मपद गाथा १०६।

५ „ पहला भाग पृष्ठ २०१

हैं—(१) बार-बार बैठक करना। (२) एक साथ बैठना और उठना तथा संघ के कामों को करना। (३) नियमों का उल्लंघन न करना। भली प्रकार उनपर चलना। (४) वृद्ध भिक्षुओं का सत्कार-सम्मान करना। (५) बार-बार आवागमन में डालने वाली तृष्णा के वश मे न पड़ना। (६) आरण्यक शयनासनो मे रहने की अभिलाषा करना। (७) अपने गुरुभाइयो की सुख-सुविधा का ध्यान रखना।

जब तक भिक्षु इन सात बातो का पालन करते रहेंगे तब तक उनकी उन्नति होती रहेगी, अवनति नही[1]। यही धर्म भिक्षुणी संघ के लिए भी उन्नतिगामी है। भगवान् बुद्ध ने संघ के फूट की बहुत ही निन्दा की थी और उन्होने संघ मे फूट तथा मैत्री होने के कारणो पर भी प्रकाश डाला था[2]। उन्होने यह भी कहा था कि जो संघ मे मैत्री कराता है वह महान् पुण्य को प्राप्त करता है और फूट उत्पन्न करने वाला नरकगामी होता है—"संघ की एकता सुखदायक है और सुखदायक है मिलजुल कर रहनेवालों का अनुग्रह भी। मेल मे रत, धर्म मे स्थित पुरुष अपने योगक्षेम का नाश नही करता। संघ मे मेल करके कल्प भर वह स्वर्ग में आनन्द करता है[3]।" जो भिक्षु संघ में फूट डालता है उसे संघादिसेस की आपत्ति होती है[4]। यही विधान भिक्षुणियों के लिए भी आचरणीय है[5]। धम्मपद में भी भगवान् बुद्ध ने संघ की मैत्री को सुखदायक कहा है :—

सुखो बुद्धानं उप्पादो सुखा सद्धम्मदेसना।
सुखा संघस्स सामग्गी समग्गानं तपो सुखो[6]॥

[सुखदायक है बुद्धों का जन्म, सुखदायक है सद्धर्म का उपदेश, संघ मे एकता सुखदायक है और सुखदायक है एकतायुक्त हो तप करना।]

ऐसे महान् भिक्षु और भिक्षुणी संघ की शरण जाकर आत्म-हित करने का आदेश विमानवत्थु मे दिया गया है—"जो चार शुद्ध पुरुषों का युग्म है और जो धर्मदर्शी आठ पुरुष-पुद्‌गल हैं, जिन्हे दिया गया दान महाफलदायक कहा गया है—उस संघ की शरण जाओ[7]।"

जनता पर प्रभाव

भगवान् के भिक्षु-भिक्षुणी संघ मे सभी वर्गों एवं कुलो के लोग प्रव्रजित होकर सम्मिलित हुए थे, बुद्धधर्म मे जातिभेद, कुल-भेद, वर्ग या वर्णभेद के लिए स्थान नही था। सब समान थे। जैसे समुद्र में मिल जाने के उपरान्त सभी सरितायें अपना नाम खो देती है और केवल "समुद्र" नाम से ही जानी जाती है, वैसे ही क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र—चारों वर्णों

---

१. महापरिनिब्बान सुत्तं, पृष्ठ १३–१५।
२. विनयपिटक, पृष्ठ ५९३–९४।
३. विनयपिटक, पृष्ठ ४९४।
४. विनयपिटक, पृष्ठ १२–१३।
५ विनयपिटक, पृष्ठ ४६।
६ धम्मपद गाथा संख्या १९४।
७ विमानवत्थु ५३ (गाथा संख्या ३)

के लोग संघ में सम्मिलित होकर शाक्यपुत्रीय श्रमण (बौद्धभिक्षु) हो जाते थे, उनके पूर्व के नाम-गोत्र समाप्त हो जाते थे[१]। संघ की यह एक महान् विशेषता थी। इस संघ मे राजा-रंक, ब्राह्मण-चाण्डाल सभी एक समान आदृत एव सम्मानित थे। ये सभी विभिन्न परिस्थितियो मे घरबार छोडकर प्रव्रजित हुए थे, अत उनका जनता पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। वे जनता से आये थे और उसके सुख-दु खो से भली प्रकार परिचित थे, अतः उनकी बातों का जनता पर प्रभाव पडना अनिवार्य था। भिक्षु-भिक्षुणी संघ ने ग्राम-ग्राम पैदल चारिका कर लोगो को सन्मार्ग दिखलाया। कही-कही उनका विरोध किया गया था, किन्तु वह क्षणिक था। मगध मे जब प्रसिद्ध-प्रसिद्ध कुलपुत्र भगवान् के पास भिक्षु हो गये थे तब लोग देखकर निन्दा करते और दु खी होते थे—"अपुत्र बनाने को श्रमण गौतम आया है, विधवा बनाने को श्रमण गौतम आया है, कुल-नाश के लिए श्रमण गौतम आया है। अभी उसने एक सहस्र जटिलों को प्रव्रजित किया। इन ढाई सौ संजय के परिव्राजकों को भी प्रव्रजित किया। अब मगध के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध कुलपुत्र भी श्रमण गौतम के पास प्रव्रजित हो रहे है। वे भिक्षुओं को देखकर इस प्रकार कहते थे—

"महाश्रमण मगधो के गिरिव्रज मे आया है।

संजय के सभी चेलो को तो ले लिया, अब किसको लेनेवाला है?"[२]

किन्तु जब लोगो को ज्ञात हो गया कि भगवान् का संघ धर्म-मार्ग पर आरूढ़ है तब वे ही उनके प्रशंसक हो गये। "आपका स्वागत है, आपका आना उत्तम हुआ।" राजा मगध श्रेणिक बिम्बिसार से आयुष्मान् गौतम ही अधिक सुख विहारी है।[३] वे मनुष्य सुखी है जो बुद्ध की उपासना कर गौतम के शासन मे लग, अप्रमत्त होकर शिक्षा ग्रहण करते है।[४]

भिक्षु और भिक्षुणी संघ ने बुद्धधर्म का प्रचार बडे उत्साह और लगन से किया। लोक पर अनुकम्पा करके ही उन्होंने उपदेश दिया। यही कारण था कि राजा बिम्बिसार, प्रसेनजित्, पुक्कुसाति, चण्डप्रद्योत, उदयन, बोधिराजकुमार, शाक्य, मल्ल, लिच्छवि आदि बुद्ध-भक्त हो गये। भिक्षु-भिक्षुणियो के लिए स्थान-स्थान पर विहारो का निर्माण हो गया। अनाथपिण्डिक, विशाखा, घोषित आदि धनवानो ने उनके लिए अपना सर्वस्व-न्यौछावर कर दिया। उनके घर प्रतिदिन भिक्षु-भिक्षुणियो के लिए भोजन-दान दिया जाने लगा और उनका द्वार इन संघो के लिए सदा खुला रहने लगा। इस संघ मे प्रविष्ट लोगो मे कोई किसी का भाई था, तो कोई पिता, कोई पुत्र था तो कोई भाजा, कोई माँ थी तो कोई पुत्री, कोई बहिन थी तो कोई पत्नी। सभी श्रद्धा से गृहत्याग कर प्रव्रजित हुए थे, अत उनका स्वागत होना स्वाभाविक था। यही कारण था कि थोड़े ही दिनों मे भिक्षु-भिक्षुणी संघ के सदस्यो की संख्या पर्याप्त बढ गयी थी और सम्पूर्ण देश मे काषाय वस्त्रधारी विचरण करने लगे थे। इनके प्रभाव मे आकर लोगो ने पञ्चशील का पालन प्रारम्भ कर दिया। जीवहिंसा, चोरी, कामभोगों के

---

१ उदान, पृष्ठ ७५।
२. विनयपिटक, पृष्ठ १००।
३ —————— पृष्ठ ६०।
४ संयुत्तनिकाय भाग १, पृष्ठ ५४ (वेण्डुसुत्त २ २ २)

मिथ्याचार, मृषावाद और मादकद्रव्यो का सेवन कम हो गये। लोग धार्मिक और सदाचारी बनने का प्रयत्न करने लगे। यज्ञो मे होने वाली हिंसा बन्द हो गयी और उसे लोग पाप समझने लगे। इन संघो के कारण समाज की बहुत कुछ बुराइयाँ बन्द हो गयी। बुराइयो को बन्द करने के लिए शासको को बहुत प्रयत्न करने की आवश्यकता नही हुई। कुछ लोग कहते है कि इन संघों का जनता पर बुरा भी प्रभाव पड़ा। बहुत से परिवार नष्ट हो गये। कारण, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, पति-पत्नी के वियोग ने उनकी रीढ तोड दी और वे फिर सम्हल न सके। देश मे विरक्तो का ही एक समाज बन खडा हुआ[1]। किन्तु इसमे वास्तविक सत्य केवल इतना ही है कि यह संघ केवल भिक्षा माँगकर खाने वाला ही नही था, प्रत्युत समाज का महान् सुधारक था। इसने केवल विरक्तो का ही समाज नही खडा कर दिया, प्रत्युत सम्पूर्ण देश मे सदाचार का बिगुल बजाया, लोगो का मन पाप एव बुराइयो की ओर से हटा कर पुण्य तथा सदाचार की ओर लगाया, जिससे समाज का उत्थान हुआ। और यही कारण था कि भारत विश्वगुरु बन सका। लोगो के हित-सुख के लिए इन संघो ने अपने कष्ट का ध्यान न देकर चारिकाएँ की। वेरञ्जा मे पडे अकाल तक के कष्टो को सहकर धर्म-प्रचार किया। उनमे सहिष्णुता थी। वे कष्टो को आनन्दपूर्ण भोगने के लिये तत्पर थे, जनता का हित उनके सामने था। वे भिक्षाटन भी उसी प्रकार करते थे जैसे भ्रमर पुष्प के वर्ण और गन्ध को बिना हानि पहुँचाये, रस को लेकर चल देता है[2]। भगवान् के ये संघ विश्व के लिए एक अनुपम आदर्श थे। इन्होने भारतीय समाज का जो कल्याण किया और इनके प्रभाव से भारतीय समाज जिस प्रकार उन्नति का पथ अपनाया वह भारत के इतिहास मे अविस्मरणीय है। "संघं सरणं गच्छामि" (मै संघ की शरण जाता हूँ) से ही उसकी उपयोगिता एव महानता प्रगट है। देवता भी उस संघ के दर्शनार्थ आते थे—"इस वन मे देवताओ का यह महासमूह एकत्र हुआ है, हम लोग भी इस अजेय संघ के दर्शनार्थ इस धर्म-सम्मेलन मे आये हुए है[3]।" जहाँ कि राग आदि रूपी कण्टक, अर्गल तथा रोडे को नष्ट कर ज्ञानीजन शुद्ध, विमल, दान्त और श्रेष्ठ होकर विचरण करते है[4]।" ऐसे भिक्षु-भिक्षुणी संघ के उद्देश्य एव कार्य भी महान् थे—

"धर्म को कहे, प्रकाशित करे, ऋषियो की ध्वजा को धारण करे।
सुभाषित ही ऋषियो की ध्वजा है, धर्म ही उनकी ध्वजा है[5]॥"

स्त्रियों का बुद्धधर्म में स्थान

वैदिक काल मे भारतीय समाज मे स्त्रियो का गौरवपूर्ण स्थान था, किन्तु धीरे-धीरे उनकी अवस्था चिन्तनीय हो गयी थी। बुद्धकाल से कुछ पूर्व स्त्रियाँ हीन समझी जाने लगी

---

१. जातक कालीन भारतीय संस्कृति, पृष्ठ १५९।
२ धम्मपद, गाथा संख्या ४९।
३. दीघनिकाय, पृष्ठ १७७ (महासमयसुत्त २, ७)।
४ दीघनिकाय पृष्ठ १७७ " २ ७)
५ सयुत्तनिकाय २० ७ पहला भाग पृष्ठ ३१४

थी । न तो उनकी शिक्षा की व्यवस्था थी न तो उन्हें स्वतन्त्रता ही थी । वैदिक काल मे केवल विवाहिता स्त्री वेदों का पठन-पाठन नही कर सकती थी, किन्तु पीछे स्त्रियाँ प्रायः अशिक्षिता ही रहने लगी । दासियों की प्रथा प्रबल हो चली थी । वेश्या-वृत्ति भी समाज मे प्रचलित हो गयी थी । भगवान् बुद्ध को स्त्री जाति की इस दशा पर बड़ी दया आयी । उन्होने स्त्रियो को भी पुरुषो के समान अधिकार प्रदान किया और कहा कि स्त्री तथा पुरुष दोनों का कर्तव्य है कि वे एक-दूसरे की सेवा करे । जहाँ उन्होंने स्त्रियो को कहा कि तुम्हे पति-परायण होना चाहिए, वहीं पुरुषो को भी कहा कि तुम्हे पाँच प्रकार से अपनी धर्मपत्नियो की सेवा करनी चाहिये—(१) पत्नी का सम्मान करके, (२) उसका अपमान न करके, (३) पर-स्त्री-गमन न करके, (४) उसे धनधान्य प्रदान कर घर की स्वामिनी बना करके, और (५) आभूषण-वस्त्रों को इच्छानुसार प्रदान करके ।

भगवान् बुद्ध ने समाज मे फैली स्त्रियो के प्रति हीन मनोभावना को दूर करने का प्रयत्न किया । एक समय भगवान् बुद्ध श्रावस्ती के जेतवन विहार मे रहते थे । उस समय कोसलनरेश प्रसेनजित् की रानी मल्लिका ने पुत्री को प्रसव किया । राजा भगवान् के पास बैठा उपदेश सुन रहा था । वही एक दूत ने इस सन्देश को राजा से कहा । राजा ने जब सुना कि मल्लिका ने पुत्री को जन्म दिया है, तब उसका मुख उदास हो गया । वह कुछ चिन्तित भी हो गया । इसे देखकर तथागत ने राजा को समझाया और कहा कि जो वीर पुत्र उत्पन्न होते है उनकी जननी स्त्रियाँ ही है, वही स्त्रियाँ पति, श्वसुर एवं सास की सेवा भी करती है, अत इनसे कभी भी घृणा नही करनी चाहिए ।[१]

यद्यपि तथागत ने पहले स्त्रियो को भिक्षुणी बनाना अस्वीकार कर दिया था, किन्तु पीछे उन्होने इस बात को स्वीकार किया कि जिस प्रकार पुरुप निर्वाण प्राप्त कर सकते है वैसे ही स्त्रियाँ भी निर्वाण लाभ कर सकती है । पुरुषो के समान उनमे भी सभी गुण विद्यमान है और उन्होने कुछ नियमो के साथ स्त्रियो को भी भिक्षुणी बनाना स्वीकार कर लिया ।[२]

इस भिक्षुणी संघ मे सहस्रो दु खित एवं पीडित नारियो ने सम्मिलित होकर अपना कल्याण किया । अम्बपाली, अड्ढकाशी, विमला जैसी दूषित जीवन व्यतीत करनेवाली नारियों ने भी उस उत्तम भिक्षुणी सङ्घ मे प्रवेश कर अपना जीवन सफल बनाया । जिस प्रकार भिक्षुओं मे सारिपुत्र और मौद्गल्यायन महाप्रज्ञावान् थे उसी प्रकार भिक्षुणियो में भी क्षेमा और उत्पलवर्णा थी । भिक्षुणियो द्वारा कही गई उल्लासपूर्ण वाणी थेरीगाथा नामक ग्रन्थ मे विद्यमान है । जिन्हे पढ़कर उनके ज्ञान का पता लगता है । संयुत्तनिकाय और मज्झिमनिकाय मे अनेक भिक्षुणियो द्वारा उपदिष्ट सूत्र भी बुद्ध-वचनामृत की भाँति माने जाते है । गृहस्थ जीवन व्यतीत करनेवाली महिलाओ मे भी विशाखा, मल्लिका आदि के उज्ज्वल चरित्र हमें प्रेरणा प्रदान करते है ।

---

१ संयुत्तनिकाय ३ २ ६ पहला भाग पृष्ठ ७८ ।

२ बुद्धचर्या पृष्ठ ७३-७५

भगवान् बुद्ध की शिक्षा का समाज पर इतना गहरा प्रभाव पडा कि दासियाँ तक मुक्ति की कामना करने लगी और वे भी भिक्षुणी संघ मे सम्मिलित होती गयी। बुद्ध काल से पूर्व हमे कही भी ऐसा उल्लेख नही मिलता कि महिलाओं के लिए भी शिक्षा की कोई सुव्यवस्था थी अथवा उनके लिए अलग विद्यालय आदि थे। केवल धनी मानी लोग अपने घरो मे थोडी-बहुत शिक्षा अपनी पुत्रियो को दिला देते थे, किन्तु भगवान् के भिक्षुणी संघ ने इस दिशा मे महान् क्रान्ति का कार्य किया। सभी भिक्षुणी विहार महिला शिक्षणशाला के सदृश हो गए। वहाँ प्रव्रजित एवं गृहस्थ दोनो प्रकार की महिलाएँ शिक्षा पाने लगी।

बुद्धकाल में स्त्रियो को "दो अगुल भर प्रज्ञावाली"[1] कहा जाता था। पालि-साहित्य मे इस प्रकार के अनेक उदाहरण उपलब्ध है। भिक्षुणी संयुत्त में एक कथा आयी है। उसमे कहा गया है कि उस समय मार सोमा नामक भिक्षुणी को डरा, कँपा और रोंगटे खडे कर देने तथा समाधि से गिरा देने के विचार से वहाँ आया जहाँ सोमा भिक्षुणी थी, और उससे कहा—"ऋषि लोग जिस पद को पाते है, उसका पाना बडा कठिन है। दो अगुल भर प्रज्ञा-वाली स्त्रियाँ उसे नहीं पा सकती है।" तब सोमा भिक्षुणी ने उसके मन के विचार को जानकर कहा—"जब चित्त समाहित हो जाता है, ज्ञान उपस्थित रहता हे और धर्म का पूर्णत. साक्षात्कार होता है, तब स्त्री-भाव क्या करेगा ? जिस किसी को ऐसा विचार होता है कि मै स्त्री हूँ अथवा पुरुष हूँ, उसी से मार, तू ऐसा कह सकता है।"[2]

सोमा भिक्षुणी ने वास्तव मे मार को समुचित उत्तर दिया था। "स्त्रियो की प्रज्ञा दो अंगुल की होती है"—ऐसा कहना नारी-समाज का अपमान करना है। भगवान् बुद्ध ने स्त्रियों की बुद्धि की बहुत प्रशंसा की हे और बतलाया है कि वे बडी बुद्धिमती होती है। सुलसा जातक मे तथागत ने स्त्रियो की विवेचना करते हुए कहा है—"स्त्रियाँ विलक्षण और पण्डिता होती हे, सभी जगह पुरुष ही पण्डित नही होता, सूक्ष्म विचार करनेवाली स्त्रियाँ भी पण्डिता होती है।"[3]

बुद्धकालीन उन महिलाओ ने स्वय भी अपने सम्बन्ध मे बहुत कुछ कहा है। उन्होने तथागत के उपदेशों को सुनकर अपना सारा जीवन पुरुषों के स्वार्थमय चंगुल से निकलकर व्यतीत किया था और संयमपूर्वक मध्यम मार्ग का अवलम्बन कर ज्ञान को प्राप्त किया था। चन्द्रा ने अपने सम्बन्ध मे कैसी उदात्त वाणी कही है—"अहो, अमोघ था देवी का उपदेश ! मै आज तीनो विद्याओं की ज्ञाता हूँ। सब चित्तमलों से विमुक्त हूँ।"[4] वाशिष्ठी ने तो अपने को सर्वोत्तम मगल की अधिकारिणी कहा है—"मैं सर्वोत्तम मंगल की अधिकारिणी हो गयी। अब मेरे सब शोक दूर हो गये। वह वस्तु ही मुझे ज्ञात हो गयी, जिससे शोक की उत्पत्ति होती है।"[5] इस प्रकार की जीवन-मुक्ता महिलाओ के जीवन चरित्र तथा उनकी ओजस्वी वाणियाँ आज भी हमे त्रिपिटक से उपलब्ध है।

---

१. संयुत्तनिकाय, ५, २, पहला भाग, पृष्ठ १०९।
२ सयुत्तनिकाय ५, २ पहला भाग पृष्ठ १०८९
३ सुलसा जातक ४१८ ४ थेरीगाथाए, पृष्ठ ४२ ५ थेरीगाथाएं पृष्ठ ४५

इन महिलाओं मे राजकुमारियाँ, रानियाँ और श्रेष्ठिजनो की भी दुहिताएँ थी। जिन्होंने अपना सर्वस्व त्याग कर मुक्ति प्राप्त की थीं। इनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा व्याध-कुलों की भी महिलाएं थी। तथागत के धर्म मे सबके लिए मार्ग खुला था। इस महायज्ञ मे सब समान थीं। न वहाँ जाति-भेद का कोई प्रश्न था और न तो किसी प्रकार की संकीर्ण मनोवृत्ति ही थी। जैसे सभी नदियाँ समुद्र मे मिलकर एक हो जाती है उसी प्रकार तथागत के धर्म मे प्रव्रजित होकर सभी स्त्रियाँ 'बुद्धपुत्रियाँ' हो जाती थी।[1]

तथागत के हृदय मे नारी-समाज के प्रति जो दया-भावना थी, उसे जानने के लिए यह ध्यान रखना आवश्यक है कि भगवान् बुद्ध ने जहाँ अम्बपाली जैसी गणिकाओ का उद्धार किया, यशोधरा के शयन-कक्ष में स्वयं पदार्पण किया और पटाचारा आदि सन्तप्त-हृदया नारियो को आश्वासन प्रदान किया, वहीं उन्होने स्त्री एवं पुरुष समाज के कल्याण का भी सदा समान रूप से ध्यान रखा। उन्होने स्त्रियो से कहा—"तुम्हे भी पुरुषो जैसा अधिकार प्राप्त है। तुम मातृत्व से आगे बढकर केवलत्त्व को प्राप्त कर सकती हो। तुम भी गृह-लक्ष्मी ही नही, विश्वपूज्या बन सकती हो। राग, द्वेष, मोह का नाश कर तुम भी संसार के सभी दु.खो से छुटकारा पा सकती हो। जैसी करुणा भगवान् बुद्ध में स्त्री-समाज पर थी, वैसी आज तक किसी धर्म-संस्थापक अथवा गुरु मे नही पाई जाती।"[2]

भगवान् बुद्ध के सम्पर्क मे जितनी नारियाँ आयी, उनमे तीन प्रकार की थीं—(१) माताएँ, (२) भिक्षुणियाँ, (३) उपासिकायें। माताओं के लिए भगवान् बुद्ध ने कहा कि "सुखा मेत्तेय्यता लोके[3]" अर्थात् संसार मे माता की सेवा करना परम सुखदायक है। माता-पिता की सेवा अडतीस मंगलो मे से एक है[4]। माता-पिता ही पूर्व ब्रह्मा हैं। जो व्यक्ति इनकी सेवा करता है, वह ब्रह्मा के साथ रहता है[5]। भिक्षुणियों को उन्होने संयम के साथ रहकर ध्यान-भावना करने की शिक्षा दी और उपासिकाओं को सदाचारिणी रह धर्म-पालन करते हुए सुखमय गृहस्थ जीवन व्यतीत करने की सलाह दी। उन्होने कहा कि बचपन मे विवाह नही करना चाहिए, क्योंकि छोटी कन्याओ का विवाह पतन का कारण होता है[6]। पुरुष को उन्होंने एक पत्नी-व्रत का परामर्श दिया[7]। तथापि हम देखते हैं कि बुद्धकाल में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी और राजभवनो में बहुत-सी रानियाँ होती थीं, जिनका जीवन दु.खी होता था।

भगवान् बुद्ध का धर्म एक ऐसा धर्म है जो कर्त्तव्य परायणता एवं शील, सदाचार की ओर अग्रसर करता है। जिसमे पुरुष एवं नारी-समाज सब प्रकार से सन्तुष्ट एवं सुखी रह

---

१. उदान ५, ४, पृष्ठ ७५।
२. सौन्दर्य और साधिकाएँ विद्यावती मालविका द्वारा लिखित, पृष्ठ ५७-५८।
३. धम्मपद २३, १३। ४. सुत्तनिपात, पृष्ठ ५३।
५ इतिवुत्तक, पृष्ठ ६२।
६ सुत्तनिपात पृष्ठ २३ गाथा २०
७ सुत्तनिपात पृष्ठ २३ गाथा १८

सकता है। स्त्रियो के प्रति भगवान् बुद्ध द्वारा कही गयी इन उक्तियो मे कितनी उच्च भावना परिलक्षित हो रही है—

देवता—"यहाँ सबसे बड़ा सखा कौन है?"
बुद्ध—"भार्या सबसे बडी साथिन है।"
देवता—"कोई स्त्री किससे पहिचानी जाती है?"
बुद्ध—"कोई स्त्री अपने पति से पहिचानी जाती है।"
देवता—"कौन-सा सामान सबसे उत्तम है।"
बुद्ध—स्त्री सभी सामानो से उत्तम है[1]।

इस प्रकार स्पष्ट है कि बौद्धधर्म ने नारी का एक सम्मानपूर्ण स्थान है। वह पुरुषो के समान ज्ञान, बुद्धि एवं सभी शक्तियों से सम्पन्न है। उसके अनादर मे मनुष्य का पतन है तथा उसको सम्मान प्रदान करने मे सुख-समृद्धि के साम्राज्य की प्राप्ति। वह घर प्रणम्य है जिस घर मे स्त्रियो का सम्मान होता है और धर्म के साथ जहाँ स्त्रियो का पालन-पोषण किया जाता है—"हे मातलि, जो गृहस्थ पुण्य करने वाले, शीलवान् तथा धर्म के साथ स्त्री का पालन-पोषण करते है, उन उपासको को मै प्रणाम करता हूँ[2]।"

स्थविरवाद बौद्धधर्म का ऐतिहासिक दिग्दर्शन

भगवान् बुद्ध ने ई० पूर्व ५८८ मे ऋषिपतन मृगदाय मे प्रथम उपदेश दिया था और वहीं भिक्षुसंघ का निर्माण हुआ था। ऋषिपतन मृगदाय मे वर्षावास की समाप्ति के समय तक उनके साठ शिष्य हो गये थे। वहाँ से उरुबेला जाते समय तीस और उरुवेला मे एक हजार भिक्षुओ की संख्या और बढ गयी थी। जब भगवान् ने राजगृह मे प्रवेश किया तब उनके साथ एक हजार तिरानवे भिक्षुओं का संघ था। वहाँ संजय परिव्राजक के ढाई सौ शिष्य तथागत के पास आकर भिक्षु हो गये थे। उनके साथ सारिपुत्र और मौद्गल्यायन ने भी भिक्षु-दीक्षा ली थी। इस प्रकार उस समय तक भिक्षु संघ की कुल संख्या एक हजार तीन सौ पैंतालीस हो गयी थी[3]। उसके पश्चात् भगवान् के भिक्षु शिष्यों की सख्या निरन्तर बढती गयी थी। भगवान् के साथ कभी साढे बारह सौ भिक्षु चारिका करते थे[4], तो कभी पाँच सौ[5]। भगवान् कभी अपने उपस्थाक (सेवक) के साथ विचरण करते थे,[6] तो कभी अकेले भी,[7] किन्तु भगवान् के साथ अधिकतर पाँच सौ भिक्षुओ की चारिका करने का वर्णन मिलता है। भगवान् ने मध्यदेश की सीमा के अन्तर्गत ही पैंतालीस वर्षो तक पैदल घूम-घूमकर उपदेश दिया था। उनके उपदेश से प्रभावित होकर बहुसंख्यक जनता ने उनके धर्म को स्वीकार किया

---

१. संयुत्तनिकाय १, ८, ७, पहला भाग, पृष्ठ ४७।
२ संयुत्तनिकाय ११, २, ८, पहला भाग, पृष्ठ १८५।
३ भगवान् बुद्ध, पृष्ठ १५३।
४. दीघनिकाय १, २, पृष्ठ १६।
५. दीघनिकाय पृष्ठ ३४, ४६, ४८, ८२, ८६, २८१, ३०२ आदि।
६ उदान पृष्ठ ४७–५१।
७ उदान पृष्ठ ५६–५८

था। सर्वप्रथम बुद्धविहार का निर्माण राजगृह में श्रेणिक बिम्बिसार द्वारा कराया गया था। उसके पश्चात् वहीं राजगृह-श्रेष्ठी द्वारा साठ विहार बनवाकर आगत अनागत चातुर्दिश संघ को प्रदान किया गया था[1]। विहारों के न होने से पहले भिक्षु जंगल, वृक्ष के नीचे, पर्वत, कन्दरा, गिरिगुहा, श्मशान, वनप्रस्थ, खुले मैदान, पुआल के गंज आदि में जहाँ-तहाँ निवास करते थे[2]। विहार निर्माण के आदर्श के अनुसार श्रावस्ती, कपिलवस्तु, वैशाली, ऋषिपतन मृगदाय, कौशाम्बी, कुशीनारा, सुंसुमारगिरि, कीटागिरि, आलवी आदि स्थानों में सुन्दर-सुन्दर विहारों के निर्माण हो गये। इन विहारों के नैवासिक भिक्षु समीपस्थ क्षेत्रों में धर्म-प्रचार एवं उसके संवर्द्धन का कार्य करने लगे। ये विहार बुद्ध-धर्म के प्रचार-केन्द्र हो गये। श्रद्धालु जनता ने इन विहारों के लिए धन व्यय करने में अधिक उत्साह प्रकट किया। फलत इन विहारों के माध्यम से भिक्षुओं की संख्या अहर्निश बढ़ने लगी। इसी प्रकार भिक्षुणी संघ की स्थापना (ई० पूर्व ५८७) के पश्चात् भिक्षुणियों के लिए विहारों का भी निर्माण हुआ, जिनमें भिक्षुणियाँ रहकर धर्म-प्रचार एवं आत्मसाधना में निरत रहीं। यद्यपि भगवान् ने मध्यदेश में ही धर्मोपदेश का कार्य किया, किन्तु उनके शिष्य अवन्ती, सूनापरान्त, मद्र, अंग, उत्कल, पैठन, गोदावरी के प्रदेश, उत्तरापथ आदि में जाकर सद्धर्म का सन्देश वहाँ की जनता को दिया। महावंश में तथागत के तीन बार लंका जाने का भी वर्णन है[3]। ऐसे ही वे सूनापरान्त प्रदेश में भी ऋद्धिबल से गये थे—ऐसा उल्लेख अट्ठकथाग्रन्थों में मिलता है[4]। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से केवल इतना ही माना जा सकता है कि बुद्धधर्म इन प्रदेशों में भी सार्थवाहों, भिक्षुओं, उपासक-उपासिकाओं आदि के द्वारा किसी-न-किसी रूप में पहुँच चुका था। भगवान् बुद्ध की महिमा धीरे-धीरे चातुर्दिश व्यापिनी होती जा रही थी और कुक्कुटवती (वर्तमान क्वेटा) के राजा कप्पिन, उज्जयिनी के पुरोहित-पुत्र आयुष्मान् महाकात्यायन आदि कुलपुत्रों ने इसी प्रकार बुद्धोत्पत्ति के समाचार को सुना था और उन्होंने तथागत का दर्शन कर भिक्षु-दीक्षा ग्रहण की थी।

उस समय भिक्षुओं के लिए तथागत का एकमात्र आदेश था—"चुन्द, श्रावकों के हितैषी, अनुकम्पक, शास्ता को अनुकम्पा करके जो करना चाहिए, वह तुम्हारे लिए मैंने कर दिया। चुन्द, ये वृक्षमूल हैं, ये सूने घर हैं, ध्यानरत होओ। चुन्द मत प्रमाद करो, मत पीछे पश्चात्ताप करने वाले बनना—यह तुम्हारे लिए हमारा अनुशासन (उपदेश) है[5]।" भिक्षुओं ने इस आदेश के पालन का प्राणपन प्रयत्न किया। उन्होंने अपने उद्योग, सहिष्णुता, आचरण की पवित्रता, समाधि और प्रज्ञा के सहारे पैंतालीस वर्षों के बीच ही बुद्धधर्म को लोकप्रिय बना दिया। भिक्षु-भिक्षुणियों का समाज में एक उच्च एवं गौरवास्पद स्थान हो गया। उनके दर्शन के लिए दूर-दूर की जनता उनके पास आने लगी।

---

१. विनयपिटक ६, १, २, पृष्ठ ४५१। २. विनयपिटक, पृष्ठ ४५०।

३. महावंश, पृष्ठ १–७।

४ पपञ्चसूदनी, पुण्णोवाद सुत्त की अट्ठकथा ३, ५, ३; संयुत्तनिकायट्ठकथा ३४, ४ ६ में भी।

५ १ १ ८ पृष्ठ २९

जिस समय भगवान् बुद्ध का महापरिनिर्वाण (ई० पूर्व ५४३) हुआ, उस समय उनकी पवित्र अस्थियो (फूलों) के लिए सात नरेशो ने अपने सन्देश भेजे और अस्थियो के न मिलने की आशंका से वे युद्ध के लिए सन्नद्ध हो गये[१]। जिन्हे द्रोण नामक ब्राह्मण ने शान्त किया था। इस घटना से ही स्पष्ट है कि तत्कालीन जनता के अतिरिक्त नरेशो मे भी तथागत और उनके संघ के प्रति प्रगाढ श्रद्धा थी। भगवान् के इस वचन से भी यह प्रगट है—"आनन्द, तथागत की शरीर-पूजा के प्रति तुम लोग निश्चिन्त रहना। आनन्द, तुम लोग सदर्थ के लिए प्रयत्न करना, सदर्थ के लिए उद्योग करना, सदर्थ मे अप्रमादी, उद्योगी, आत्मसंयमी हो विरहना। आनन्द, क्षत्रिय पण्डित भी, ब्राह्मण पण्डित भी, गृहपति पण्डित भी तथागत में अत्यन्त अनुरक्त है, वे तथागत की शरीर-पूजा करेंगे[२]।"

इतना होते हुए भी सर्वत्र और सदा तथागत और उनके भिक्षु-भिक्षुणी संघ की प्रशंसा ही नही हुई और न स्वागत ही हुआ। अनेक स्थानो मे भिक्षुओ को भले-बुरे शब्द सुनने पडे[३]। वेरंजा के अकाल का सामना करना पडा[४]। ऐसे ही राजगृह के दुर्भिक्ष में भी कष्ट भोगने पडे[५]। देवदत्त[६], सुन्दरी परिव्राजिका[७], चिंचा माणविका[८] आदि द्वारा निन्दित करने के जघन्य प्रयासो को क्षमाशीलतापूर्वक देखना पडा। अनेक वार भिक्षु-भिक्षुणियो पर चोरों द्वारा आक्रमण भी किये गये[९]। भिक्षुणियो के साथ बलात्कार की भी घटनायें घटी[१०]। यहाँ तक भी हुआ कि एक बार जब तथागत बडे भारी भिक्षुसंघ के साथ थूण नामक ग्राम में पहुँचे तो वहाँ के लोगो ने इसलिए कूँओ को घास-भूसी से ऊपर तक भर दिया कि ये मथमुण्डे नकली साधु पानी न पीने पावें[११]। तथागत के शिष्यो को घरों मे जला तक डाला गया[१२]। कुछ को अपना राज्य हाथ से धोना पड़ा[१३] और कुछ को कारावास मे प्राण गँवाने पडे[१४]। फिर भी बुद्ध-शासन की उन्नति होती ही गयी। ऐसी घटनायें भी कम ही घटीं।

इस प्रकार हम देखते है कि लगभग आधी शताब्दी मे ही स्थविरवाद बुद्धधर्म जड पकड़कर दृढमूल हो गया और उसकी विजय-दुन्दुभी चारों ओर बजने लगी।

●

---

१. महापरिनिब्बानसुत्तं, पृष्ठ १९३-१९५। २ महापरिनिब्बानसुत्तं, पृ० १४५।

३ विनयपिटक, पृष्ठ ३९८-३९९ तथा उदान, पृष्ठ १८।

४ बुद्धचर्या पृष्ठ १३२ , पाराजिका १, २। ५. विनयपिटक, पृष्ठ ४७४।

६ विनयपिटक, पृष्ठ ४८०-४८९। ७. उदान, पृष्ठ ५९।

८. बुद्धचर्या, पृष्ठ ३१६-१७। ९ बुद्धचर्या, पृष्ठ ४८२।

१०. थेरीगाथायें, पृष्ठ ९५-९६। ११. उदान, पृष्ठ १०६-७।

१२. उदान, पृष्ठ १०७-८।

१३ पपञ्चसूदनी २ ४ ९· मज्झिमनिकाय पृष्ठ ३६७।

१४ दीघनिकाय पृष्ठ १६ १७

[आ] महायान का उदय और विकास

प्रथम सङ्गीति

बुद्ध-वचनों का सङ्कलन

सर्वजन हितैषी लोकानुकम्पक शास्ता का महापरिनिर्वाण ईस्वी पूर्व ५४३ की वैशाख-पूर्णिमा को कुशीनारा के युग्म—शालवृक्षों के नीचे हुआ था। उन भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध ने अपने शिष्यों को धर्म और विनय का अवलम्बन प्रदान किया था, और कहा था—"आनन्द, सम्भवतः तुम लोगो को ऐसा हो कि चले गये गुरु का यह उपदेश है, अब हमारा शास्ता (गुरु) नही है। आनन्द, इसे ऐसा न समझना। मैंने जो धर्म और विनय का उपदेश किया है, प्रज्ञप्त किया है, मेरे पश्चात् वही तुम्हारा शास्ता है।"[1] अतः अब भिक्षुओ के शास्ता धर्म और विनय ही रह गए थे। इनका पालन करना तथागत का सम्मान-सत्कार करना था।[2] किन्तु भगवान् के महापरिनिर्वाण के एक सप्ताह के पश्चात् एक ऐसी घटना घटी, जिसने कि भिक्षुओ को धर्म और विनय के संरक्षण के प्रति सतर्क कर दिया। उन्हे उनकी सुरक्षा के प्रति प्रयत्नशील होना पडा और उसी के फलस्वरूप प्रथम संगीति हुई।

तथागत का महापरिनिर्वाण हुए एक सप्ताह हुआ था। आयुष्मान् महाकाश्यप पाँच सौ भिक्षुओं के बडे संघ के साथ पावा से कुशीनारा जा रहे थे। मार्ग मे उन्हे कुशीनारा से आता हुआ एक आजीवक मिला। उससे आयुष्मान् महाकाश्यप को ज्ञात हुआ कि एक सप्ताह पूर्व भगवान् का महापरिनिर्वाण हो गया। इस समाचार को सुनते ही वहाँ जितने भिक्षु उपस्थित थे, उनमें ज्ञान-प्राप्त लोगो को महान् धर्म-संवेग प्राप्त हुआ और जिन लोगो ने अभी ज्ञान नही प्राप्त किया था, उनमें से कुछ रोने तथा विलाप करने लगे। उन्ही के बीच वृद्धावस्था मे प्रव्रजित हुआ एक सुभद्र नामक भिक्षु था। उसने रोते-विलपते भिक्षुओं को इस प्रकार समझाना प्रारम्भ किया—"मत आवुसो, शोक करो। मत रोओ। हम लोग इस महाश्रमण से सुमुक्त हो गये। हम लोग पीड़ित रहा करते थे—"यह तुम्हे विहित है, यह तुम्हे

---

१ पृष्ठ १७१ सो वो ममच्चयेन सत्थाति)

२ पृष्ठ १३८ १३९

विहित नहीं है, अब हम जो चाहेंगे, वह करेंगे और जो नहीं चाहेंगे, वह नहीं करेंगे।"[१] सुभद्र की इस बात को सुनकर आयुष्मान् महाकाश्यप ने भिक्षुओं को समझाया और उन्हें शान्त किया।

कुशीनारा पहुँचने पर भगवान् के अन्त्येष्टि-संस्कार के पश्चात् आयुष्मान् महाकाश्यप ने भिक्षु-संघ को सुभद्र की बात सुनाई और कहा कि हम एकत्र होकर धर्म और विनय की संगीति (संगायन) करें, जिससे कि धर्म और विनय की सुरक्षा हो सके और अधर्म एवं अविनय दबाये जा सकें। इस कार्य के लिए राजगृह में वैभार पर्वत के पार्श्व में स्थित सप्तपर्णी गुहा निश्चित की गयी। उसी समय आयुष्मान् आनन्द के साथ ५०० संगीति-कारक भिक्षुओं का भी निर्वाचन कर लिया गया। अन्य भिक्षुओं को यह आदेश दिया गया कि वे संगीति के समय अन्यत्र वर्षावास करें, राजगृह न जाँय।

निर्वाचित भिक्षु आषाढ़पूर्णिमा तक राजगृह पहुँच गये। पहले मास में उन्होंने विहारों के प्रतिसंस्करण कराये। सप्तपर्णी गुहा में संगीति के लिए उन्होंने मण्डप का निर्माण कराया। प्रथम मास इन्हीं कार्यों में व्यतीत हो गया। श्रावण मास के कृष्णपक्ष की द्वितीया को स्थविर लोग संगीति के लिए मण्डप में एकत्र हुए।[२] तब तक आयुष्मान् आनन्द ने अर्हत्व नहीं प्राप्त किया था, किन्तु उसी दिन उन्हें ज्ञान प्राप्त हो गया और वे भी मण्डप में अपने आसन पर ऋद्धिबल से आकर बैठ गये।[३] संगीति के लिए आयुष्मान् महाकाश्यप संघनायक निर्वाचित हुए और उन्होंने विनय को आयुष्मान् उपालि से तथा धर्म (सूत्र और अभिधर्म) को आयुष्मान् आनन्द से पूछा। उन महास्थविरों ने सभी पूछे गए प्रश्नों के क्रमशः उत्तर दिये।

विनयपिटक के पञ्चशतिका स्कन्धक में इस संगीति का बहुत ही सुन्दर वर्णन आया हुआ है। किस प्रकार प्रश्न पूछे गये और उनके उत्तर दिए गये—इसका स्पष्ट चित्रण वहाँ उपलब्ध है।[४] संगीति-मण्डप में उपस्थित भिक्षु-संघ को आयुष्मान् महाकाश्यप ने इस प्रकार ज्ञापित किया—

"आवुसो, संघ, सुने, यदि संघ को पसन्द है तो मैं उपालि से विनय पूछूँ?"

आयुष्मान् उपालि ने भी सङ्घ को ज्ञापित किया—"भन्ते, सङ्घ, सुने, यदि सङ्घ को पसन्द है तो मैं आयुष्मान् महाकाश्यप से पूछे गये विनय का उत्तर दूँ?"

तब आयुष्मान् महाकाश्यप ने आयुष्मान् उपालि से कहा—"आवुसो उपालि, प्रथम पाराजिका कहाँ प्रज्ञप्त की गयी?"

"भन्ते, राजगृह में।"

"किसको लेकर?"

"सुदिन्न कलन्दपुत्र को लेकर।"

---

१. महापरिनिब्बानसुत्त, पृ० १८९।　　　२. महावंस, पृ० १३।

३ विनयपिटक ११ १ २ पृष्ठ ५४२ बुद्धचर्या पृष्ठ ५१२

४　　　पृष्ठ ५४१ ४७

"किस बात में ?"

"मैथुन धर्म में।"

तब आयुष्मान् महाकाश्यप ने उपालि से प्रथम पराजिका की वस्तु (कथा) भी पूछी, नेदान (कारण) भी पूछा, व्यक्ति भी पूछा, प्रज्ञप्ति (विधान) भी पूछी, अनु-प्रज्ञप्ति भी पूछी, आपत्ति भी पूछी, अनापत्ति भी पूछी।

विनय की सारी बात समाप्त हो जाने पर आयुष्मान् आनन्द से धर्म पूछा—"आवुस आनन्द, ब्रह्मजाल सूत्र कहाँ कहा गया था ?"

"राजगृह और नालन्दा के बीच, अम्बलट्ठिका के राजागार में।"

"किसको लेकर ?"

"सुप्रिय परिव्राजक और ब्रह्मदत्त माणवक को लेकर।"

इसी प्रकार आयुष्मान् महाकाश्यप ने आयुष्मान् आनन्द से सम्पूर्ण धर्म पूछे। जब सम्पूर्ण प्रश्नोत्तर समाप्त हो गये, तब सभी सङ्गीतिकारक भिक्षुओं ने एक साथ मिलकर उसका सस्वर पाठ किया। इस प्रथम सङ्गीति में अन्यूनाधिक पाँच सौ भिक्षु सम्मिलित हुए थे, इसलिए इस सङ्गीति को पञ्चशतिका कहते हैं।[1] यह सङ्गीति सात मास में समाप्त हुई थी।[2]

महावंश में कहा गया है—"महाकाश्यप स्थविर ने सुगत के इस शासन को पाँच हजार वर्ष तक स्थिर रहने के योग्य कर दिया, इसीलिए सङ्गीति की समाप्ति पर प्रमुदित हुई पृथ्वी समुद्र-पर्यन्त छः बार कम्पित हुई। संसार में और भी अनेक आश्चर्य हुए। स्थविरों द्वारा की जाने के कारण यह सङ्गीति स्थविर-परम्परा की कहलाती है।"[3]

यह सङ्गीति बुद्ध-वचनों के सङ्कलन का महान् कार्य था। भगवान् बुद्ध ने बुद्धत्व-प्राप्ति से लेकर महापरिनिर्वाण-पर्यन्त जो कुछ भी कहा, उपदेश दिया, वे सब बुद्ध-वचन थे, किन्तु उन सबका न तो किसी को ज्ञान था और न तो सब सङ्कलित ही किए जा सकते थे। सम्प्रति उन सब बुद्ध वचनों को जानने का कोई साधन भी नहीं है। हमारे लिए सङ्गीति-कारक महास्थविरों ने जिन बुद्ध-वचनों का सङ्कलन किया था, वे ही उपलब्ध हैं। इन बुद्ध-वचनों को तथागत के शिष्यों ने कण्ठस्थ कर रखा था। उन्होंने सङ्गीति के समय उनके सङ्कलन में सहयोग प्रदान किया। यद्यपि विनय के संग्राहक आयुष्मान् उपालि थे और धर्म के आयुष्मान् आनन्द तथापि बुद्ध-वचनों के सङ्कलन में सभी सङ्गीति-कारक भिक्षुओं का सहयोग प्राप्त था। इस कार्य में आयुष्मान् उपालि और आयुष्मान् आनन्द का प्रधानत्व अपेक्षित था ही, क्योंकि भगवान् ने अपने जीवनकाल में ही इन महास्थविरों को एतदग्र (श्रेष्ठ) की उपाधि दी थी और कहा था—"भिक्षुओ, मेरे विनयधारी भिक्षुओं में उपालि सर्वश्रेष्ठ है और बहुश्रुतों, गतिमानों, स्थितिमानों तथा उपस्थाकों में आनन्द सर्वश्रेष्ठ है।"[4]

---

१ बुद्धचर्या, पृष्ठ ५१७, विनयपिटक, पृष्ठ ५४७। २. महावंश, पृष्ठ १४।

३. महावंश, पृष्ठ १४। दीपवंश में कहा गया है—

तस्मा हि सो थेरवादो वुच्चति —(४ ३२

४ बुद्धचर्या पृ० ४३८

त्रिपिटक पालि का आकार

इस प्रथम सङ्गीति में सङ्कलित सभी बुद्धवचनो को तीन पिटको मे विभक्त किया गया—(१) विनयपिटक, (२) सुत्तपिटक, (३) अभिधम्मपिटक। इन्ही तीन पिटको के समूह को त्रिपिटक (तिपिटक) कहते है। त्रिपिटक का शाब्दिक अर्थ है, तीन पिटारी या तीन मञ्जूषा। वास्तव मे त्रिपिटक बुद्धवचन रूपी रत्नो की मञ्जूषा ही है। त्रिपिटक का विस्तार इस प्रकार है :—

विनयपिटक मे पाँच ग्रंथ है—पाराजिका, पाचित्तिय, महावग्ग, चुल्लवग्ग और परिवार।

सुत्तपिटक मे पाँच निकाय है—दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुत्तनिकाय, अङ्गुत्तर-निकाय और खुद्दकनिकाय।

खुद्दकनिकाय मे पन्द्रह ग्रन्थ है—खुद्दक पाठ, धम्मपद, उदान, इतिवुत्तक, सुत्तनिपात, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा, जातक, निद्देस, पटिसम्भिदामग्ग, अपदान, बुद्धवंस और चारियापिटक।

दीघनिकाय मे ब्रह्मजाल आदि चौंतीस सूत्र और तीन वर्ग है। सूत्रो के दीर्घ (लम्बे) होने के कारण दीघनिकाय कहा जाता है। ऐसे ही दूसरों को भी समझना चाहिए। मज्झिम-निकाय मे मध्यम परिमाण के पन्द्रह वर्ग और मूल परियाय आदि एक सौ तिरपन सूत्र है। सयुत्तनिकाय में वेदना संयुत्त आदि चौवन संयुत्त और ओघतरण आदि सात हजार सात सौ बासठ सूत्र है। अङ्गुत्तरनिकाय मे ग्यारह निपात और चित्तपरियादान आदि नौ हजार पाँच सौ सत्तावन सूत्र है।

दीघनिकाय आदि चार निकायो को छोड़कर शेष बुद्ध-वचन को खुद्दकनिकाय कहा जाता है।[1]

अभिधम्मपिटक मे सात ग्रन्थ है—धम्मसङ्गणी, विभङ्ग, धातुकथा, पुग्गलपञ्ञत्ति, कथावत्थु, यमक और पट्ठान। ये सभी बुद्ध-वचन हैं।[2]

संक्षेप मे पालित्रिपिटक का यही आकार है। इसमे सभी बुद्धवचन ही संकलित नही हैं प्रत्युत प्रधान बुद्ध-श्रावको के भी वचन सकलित है। किन्तु वे सभी बुद्ध-वचन ही माने जाते है, क्योकि शिष्यो ने जो कुछ उपदेश दिया हे उन्होने उसे भगवान् बुद्ध से ही सीखा है अथवा उन्ही के उपदेश को अपने शब्दो मे अपने ढंग से कहा है। आयुष्मान् उत्तर का कथन है—"जो सुभाषित है, वह सब उन भगवान् अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध का वचन है, उसीसे ले लेकर हम तथा अन्य कहते है[3]।" "तथागत की धर्मदेशना अपरिमाण पदो और व्यञ्जनो वाली है[4]।" यह सम्पूर्ण पालि त्रिपिटक सुत्त, गेय्य, वेय्याकरण, गाथा, उदान, इतिवुत्तक, जातक, अब्भुतधम्म, वेदल्ल—इन नौ अंगो से सुशोभित है[5], इसीलिए त्रिपिटक को नवाग बुद्ध-वचन

---

१. बुद्धचर्या, पृष्ठ ५१८।
२ बुद्धचर्या, पृष्ठ ५१८।
३ अंगुत्तरनिकाय ८ १ ८
४ ४ ४ ८
५ दीपवंश ४ २०

भी कहते हैं। इस त्रिपिटक में भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट बयासी हजार (श्लोक प्रमाण) वचन संग्रहीत हैं और भिक्षुओं द्वारा उपदिष्ट दो हजार। सम्पूर्ण धर्मस्कन्ध चौरासी हजार है। आयुष्मान् आनन्द ने कहा है—"मैंने बयासी हजार (धर्मस्कन्ध) भगवान् बुद्ध से ग्रहण किया और भिक्षुओं से दो हजार। ये चौरासी हजार धर्म (इस समय) त्रिपिटक में विद्यमान हैं[1]।"

द्वितीय संगीति

भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् सौ वर्षों तक भिक्षु-संघ परिशुद्ध एवं निर्मल स्थविरवाद का पालन किया और धर्मदायाद होकर बुद्ध-शासन को प्रसारित एवं प्रचारित किया, किन्तु सौ वर्षों के व्यतीत होते ही वैशाली में रहनेवाले वज्जिपुत्तक भिक्षुओं में कुछ दोष उत्पन्न हो गये। उन्होंने इन दस बातों का प्रचार करना प्रारम्भ किया—(१) इस विचार से सींग में नमक, अपने पास रखा जा सकता है कि जहाँ अलोना होगा, वहाँ उसका उपयोग करेंगे[2]। (२) दोपहर में दो अंगुल छाया को बिता कर भी विकाल में भोजन करना विहित है[3]। (३) भोजन कर चुकने पर ग्राम के भीतर भोजन करने जाया जा सकता है[4]। (४) एक सीमा के बहुत से आवासों में उपोसथ करना उचित है[5]। (५) यह विचार करके एक वर्ग के संघ का विनय-कर्म करना कि जो भिक्षु पीछे आयेंगे, उनको स्वीकृति दे देंगे[6]। (६) आचार्य और उपाध्याय द्वारा किये गये आचरण को उचित मानकर उसी का आचरण करना[7]। (७) जो दूध दूधपन को छोड़ चुका है और दहीपन को नहीं प्राप्त हुआ है, उसे भोजन कर चुकने पर अधिक पीना[8]। (८) जो सुरा अभी सुरापन को प्राप्त नहीं हुई है, उसका पीना विहित है[9]। (९) बिना किनारी का आसन रखा जा सकता है[10]। (१०) सोना, चाँदी (जातरूप, रजत) ग्रहण किया जा सकता है[11]।

उन्हीं दिनों आयुष्मान् यशकाकण्डकपुत्र चारिका करते हुए वैशाली पहुँचे और वहाँ महावन की कूटागारशाला में ठहरे। उस समय वैशाली के भिक्षु उपोसथ के दिन काँसे की थाली को पानी से भरकर भिक्षु-संघ के बीच रख देते थे और आने-जानेवाले उपासकों से कहते थे—"आवुसो, सङ्घ को कार्षापण दो। सङ्घ के परिष्कार के काम आयेगा।" उस दिन प्राप्त हिरण्य का एक भाग यश को भी दिया जाने लगा। यश ने इस कर्म को विनय-विरुद्ध बतलाया और उन भिक्षुओं तथा उपासकों को फटकारा। तब भिक्षुओं ने उन्हें प्रतिसारणीय दण्ड दिया। आयुष्मान् यश एक अनुदूत भिक्षु के साथ वैशाली नगर में

---

१. बुद्धचर्या, पृष्ठ ५१८, समन्तपासादिका, पठम संगीति, बाहिरनिदान वण्णना, पृष्ठ २७; थेरगाथा १०२४।

"द्वासीतिं बुद्धतो गण्हिं, द्वे सहस्सानि भिक्खुतो।
चतुरासीति सहस्सानि, येमे धम्मा पवत्तिनो॥"

२. शृंगिलवणकल्प।
३ द्वयंगुल कल्प।
४. ग्रामान्तर कल्प।
५ आवास कल्प।
६. अनुमति कल्प।
७ आचीर्ण कल्प।
८ अमथित कल्प।
९ जलोगी कल्प।
१० अदशक
११ जातरूप

गये और वहाँ उन्होंने अपने कृतदोष के लिए क्षमा माँगने के स्थान पर वैशाली के भिक्षुओं के विनय विरोधी कार्य का और भी भंडाफोड़ किया। वैशालीवासी उपासक यश के पक्ष में हो गये। जब आयुष्मान् यश विहार लौटे और अनुदूत भिक्षु से वहाँ के भिक्षुओं को उक्त घटना ज्ञात हुई तब उन्होंने एकत्र हो विचार किया—"यह यशकाकण्डकपुत्र हमारी विनय विरोधी बात को गृहस्थों में प्रकाशित करता है। अच्छा तो हम इसका उत्क्षेपणीय कर्म करें।" वे उनका उत्क्षेपणीय कर्म करने के लिए एकत्र हुए। तब आयुष्मान् यश ऋद्धिबल से वहा से अदृश्य हो गये और कौशाम्बी जा खड़े हुए।

आयुष्मान् यश ने इस झगड़े को निपटाने के लिए भिक्षुओं को अपने पक्ष में करना प्रारम्भ किया। उधर जब वैशालीवालों को इसका पता लगा तब वे भी अपना पक्ष दृढ़ करने में लग गये। झगड़ा पूर्व व पश्चिम का झगड़ा बन गया! बड़े-बड़े महास्थविर इस विवाद को शान्त करने की कामना से वैशाली में एकत्र हुए। संघ की बैठक बुलाई गयी। उसमें निर्णय करने के लिए पूर्व के चार और पश्चिम के चार भिक्षुओं का निर्वाचन किया गया। पूर्व के निर्वाचित भिक्षुओं में सर्वकामी, साढ, क्षुद्रशोभित और वार्षभामिक थे और पश्चिम के भिक्षुओं में रेवत, संभूतसाणवासी, यशकाकण्डकपुत्र और सुमन थे। उस विवाद को शान्त करने के लिए उद्वाहिका (हाथ उठाकर मत देना) द्वारा निर्णय करना निश्चित किया गया। वालुकाराम नामक विहार में संघ-सभा प्रारम्भ हुई। संघ ने निर्णय किया कि वज्जिपुत्तक भिक्षुओं ने जिन दस बातों का प्रचार करना प्रारम्भ किया है, वे धर्म-विरुद्ध, विनयविरुद्ध, शास्ता के शासन से बाहर की हैं। अन्त में घोषणा की गयी—"यह विवाद निहित हो गया। शान्त, उपशान्त हो गया[1]।"

महावंश[2] के अनुसार उस समय वहाँ बारह लाख भिक्षु उपस्थित हुए थे। रेवत स्थविर सब भिक्षुओं में प्रधान थे। उन्होंने धर्म को चिरस्थायी बनाने के विचार से संगीति-कारक सात सौ अर्हत् भिक्षुओं को चुना। कालाशोक राजा की संरक्षता में वालुकाराम में यह द्वितीय संगीति सम्पन्न हुई, जिस प्रकार प्रथम संगीति की गयी थी, उसी प्रकार यह संगीति भी आठ मास में समाप्त हुई। इस संगीति में अन्यूनाधिक सात सौ भिक्षु थे, इसलिए यह संगीति सप्तशतिका कही जाती है[3]। दीपवंश का यह वर्णन सर्वथा ही अशुद्ध है कि वैशाली की कूटागारशाला में ही यह संगीति हुई थी[4]। क्योंकि विनय-पिटक में वालुकाराम में ही संगीति का उल्लेख है[5]। ऐसे ही महावंश में भी[6]।

---

१. विनयपिटक, पृष्ठ ५५८, बुद्धचर्या, पृष्ठ ५२७।

२. महावंश, पृष्ठ १९—२०। ३. विनयपिटक, पृष्ठ ५५८।

४. दीपवंश ५, ६८। गाथा इस प्रकार है—
कूटागारसालायेव वेसालियं पुरुत्तमे।
अट्ठमासेहि निट्ठासि दुतियो संगहो अयं॥

५. विनयपिटक, पृष्ठ ५५६।

६. महावंश, पृष्ठ २०; गाथा २२२। गाथा इस प्रकार है—
सब्बे ते वालिकारामे कालासोकेन रक्खिता
अकरुं धम्मसंगहं

स्थविरवाद से महासांघिक आदि भिक्षुनिकायों का आविर्भाव

इस द्वितीय संगीति के समय भिक्षुसंघ मे इतना बडा मतभेद उत्पन्न हो गया कि फिर वह पूर्ववत् संगठित नही रह सका। महावंश[1] के अनुसार इसमे दस हजार भिक्षुओं का निष्कासन स्थविरवादी परम्परागत संघ से किया गया था। दीपवंश[2] मे भी इसी का उल्लेख है। उस समय बहिष्कृत भिक्षुओ ने एकत्र होकर अपना अलग संघ बनाया और उसका नाम महासांघिक रखा। उन्हे महासंगीतिक और महानिकायिक भी कहते है[3]। उन्होंने भी अपनी अलग संगीति की। इस सगीति का वर्णन दीपवंश मे इस प्रकार आया है—"महासंगीतिक भिक्षुओं ने बुद्धशासन के विरुद्ध कार्य किया। उन्होंने मूल संग्रह (त्रिपिटक) को तोड़-कर दूसरा संग्रह बनाया। अन्यत्र संग्रहीत सूत्र अन्यत्र कर दिया। अर्थ और धर्म को विनय तथा पाँचो निकायो मे छिन्न-भिन्न कर दिया। उन्होंने सूत्र और विनय के अपने अनुकूल अंशो को ग्रहण किया और शेष छोड दिया। ऐसे ही परिवार, अर्थोद्धार, अभिधर्म के छ प्रकरण, पटिसम्भिदामग्ग, निद्देस और जातक के कुछ भागो को छोड़कर अपने त्रिपिटक का संस्कार किया। नाम, वेश, परिष्कार, ओढने-पहनने के ढंग इत्यादि स्वाभाविक बातो मे भी परिवर्तन कर दिया[4]।"

उक्त वर्णन से स्पष्ट है कि महासांघिक भिक्षुओ की सख्या बहुत अधिक थी और उन्होंने अपनी अलग संगीति की। स्थविरवादी सगीति मे केवल सात सौ ही भिक्षु सम्मिलित हुए थे जब कि महासांघिको की संगीति मे दस हजार भिक्षुओं का बहुत बडा संघ सम्मिलित हुआ था। स्थविरवादियो की सगीति वैशाली मे हुई थी और महासांघिको ने अपनी संगीति कौशाम्बी मे की[5]। यद्यपि महावंश, दीपवंश आदि स्थविरवादी ग्रन्थो मे महासांघिको को "दुष्ट भिक्षु"[6] कहा गया है, तथापि इनका अपना स्वतंत्र साहित्य था और इनका पक्ष भी सशक्त नही था—ऐसा नही कहा जा सकता। यही कारण है कि इन्होंने अपने स्वतन्त्र त्रिपिटक की रचना की और स्थविरवादी त्रिपिटक के क्रम तथा अनेक अंशो को परिवर्तित कर दिया। अब परम्परागत बुद्धधर्म के भिक्षुओ के दो प्रधान विभाग (निकाय) हो गये—स्थविरवाद तथा महासांघिक। पीछे इनके अन्य भी विभाग समयानुसार होते गये। यद्यपि द्वितीय संगीति भिक्षुओ के विवाद को शान्त करने के लिए हुई थी, किन्तु संघ मे एक ऐसी क्रान्ति हुई, जिसे रोका नही जा सका और क्रमश: भिक्षु-संघ अनेक विभाग, उप-विभाग मे विभक्त होता गया।

---

१ महावंश, पृष्ठ २१। २ दीपवंश ४, ६९।

३ दीपवंश ५, २, ७०।

४. दीपवंश ५, २, ७१–७७, धर्मदूत, वर्ष १५, अंक १–२, पृष्ठ ४६, भिक्षु धर्मरक्षित द्वारा लिखित 'भिक्षुनिकाय और उनके सिद्धान्त' शीर्षक लेख।

५. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, प्रथम भाग, पृष्ठ ५४९।

६ महावंश पृष्ठ २१ निग्गहीता पापभिक्खूसब्बे दस सहस्सका २२८)

अठारह भिक्षु-निकाय

कथावत्थुप्पकरण की अट्ठकथा के अनुसार अशोक के समय तक भिक्षुनिकायो की संख्या बढकर अठारह हो गयी थी। ये भिक्षुनिकाय स्थविरवाद और महासांघिक ही से निकले थे। महासांघिकों के कुल छ निकाय थे और स्थविरवादियो के बारह। महावंश मे इन निकायो की गणना इस प्रकार दी गयी है—"द्वितीय संगीति करने वाले स्थविरो द्वारा मर्दन किये गये उन दस हजार दुष्ट भिक्षुओ ने महासांघिक नामक आचार्यवाद की स्थापना की। फिर उससे गोकुलिक और एक व्यवहारिक उत्पन्न हुए। गोकुलिकों से प्रज्ञप्तिवादी तथा बाहुलिक और उन्ही से चैत्यवाद। महासांघिकों के साथ ये छ. हुए। फिर स्थविरवाद में से ही महीशासक भिक्षु और वज्जिपुत्तक ये दो निकाय हुए। वज्जिपुत्तक भिक्षुओ से धर्मोत्तरीय, भद्रयानिक, छन्नागारिक और सम्मितीय हुए। महीशासक भिक्षुओ में से सर्वास्तिवाद और धर्मगुप्तिक ये दो निकाय हुए। सर्वास्तिवाद से काश्यपीय, उनसे सांक्रातिक और फिर उनसे सूत्रवादी हुए। स्थविरवाद के साथ ये सब बारह होते है और पहले कहे गये छ मिलकर कुल अठारह हुए[१]।" इन निकायो को इस प्रकार समझना चाहिए—
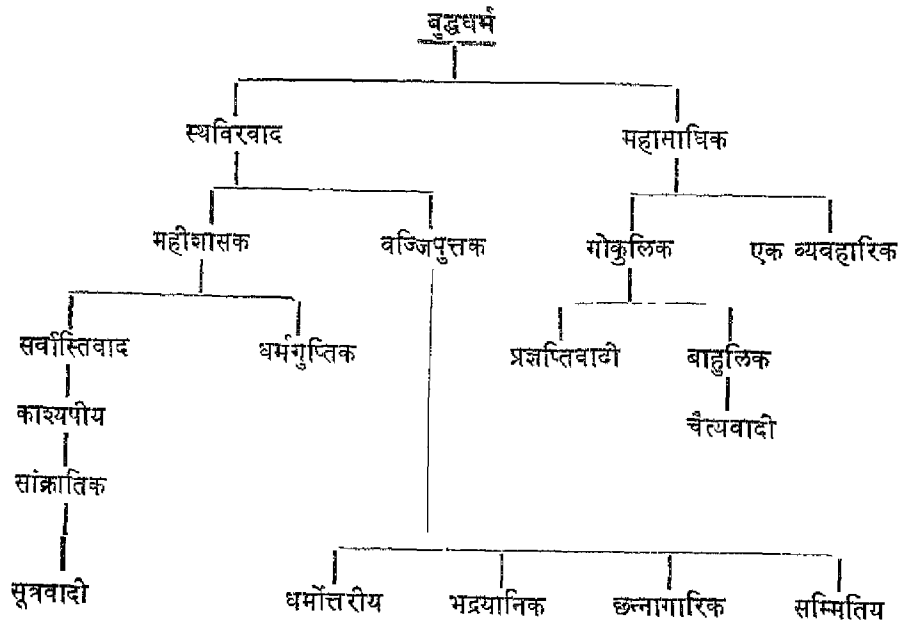
भदन्त वसुमित्र द्वारा लिखित अष्टादशनिकाय नामक ग्रन्थ मे इन निकायो की गणना इस प्रकार दी गयी है[२]

बुद्धधम

१ स्थविरवादी

१३ महासाघिक

१४. शि-चि-लून
(प्रज्ञप्तवादी)

१५ चैतीय

१६. लोकोत्तरवादी

१७. एकव्यावहारिक

१८. गो

२ हैमवत

३ वात्सीपुत्रीय

४ धर्मोत्तरीय

५ भद्रयाणीय

६ सम्मितीय

७ पाण्णागारिक

८. सर्वा

९ महीशासक

१० धर्मगुप्त

११. काश्यपीय

१२ सौ
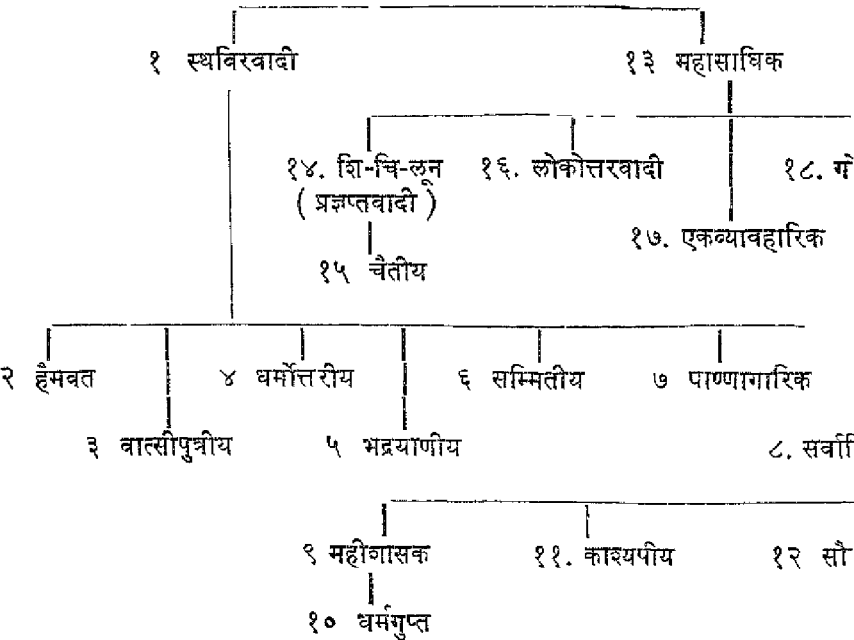
उक्त दोनो विभागो मे अन्तर है, किन्तु दोनो मे निकायों की गणना समान है
यह जान पड़ता है कि ये सभी निकाय एक समय विद्यमान थे। केवल ग्रन्थो मे ही
वणन नही आया है। इनके अपने सिद्धान्त और प्रतिपाद्य ग्रन्थ भी थे। इनमें मे
निकायो के नाम सारनाथ, साँची, बुद्धगया, कार्ला, अजन्ता, कन्हेरी आदि स्थानो मे
पाये गये है।[1] केवल सारनाथ मे ही वात्सीपुत्रीय, सर्वास्तिवादी, सम्मितीय और मह
नाम अंकित मिले है।[2]

उनके सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय

अठारह निकायो मे से स्थविरवाद के सम्बन्ध मे पहले लिखा जा चुका है। स्थ
ही बुद्धकाल से लेकर द्वितीय संगीति-पर्यन्त था। उसके पश्चात् उत्पन्न महासाघिक
सिद्धान्तों का ज्ञान हमें कथावत्थुप्पकरण की अट्ठकथा से होता है और उसी से हम जान
अशोक के समय मे आयुष्मान् मोग्गलिपुत्ततिस्स स्थविर ने इन निकायो के सिद्धान्तो के
मण्डन मे ही कथावत्थु की देशना की थी, जिसमे २१६ शंकाओ का समाधान किया गर
यद्यपि कथावत्थु मे सभी निकायों के सिद्धान्तो का खण्डन-मण्डन है, किन्तु अट्ठकथा मे
बुद्धघोष ने इनमें से केवल ८ ही निकायों के सिद्धान्तों को गिनाया है अट्ठ

सिद्धान्तों के सम्बन्ध में मौन है। १२० का सम्बन्ध अर्वाचीन निकायों से कर दिया है और ४० सिद्धान्तों में बहुत-से सम्मिलित हैं।[1] इसी से यह ज्ञात होता है कि पाँचवीं शताब्दी तक अनेक प्राचीन एवं अर्वाचीन निकायों के सिद्धान्तों का अन्तर कर सकना कठिन हो गया था। कुछ ऐसे भी निकाय थे, जिनका अस्तित्व समाप्त हो गया था, और जो थे, उनके सिद्धान्त अन्य निकायों में भी मिलते थे। कुछ विद्वानों का यह मत ग्राह्य नहीं है कि कथावत्थुप्पकरण में पीछे के भी निकायों के खण्डन-मण्डन पीछे जोड़ दिए गये।[2] वास्तव में जिन सिद्धान्तों के खण्डन-मण्डन किए गए है, वे सभी प्राचीन निकायों के सिद्धान्तों को अलग-अलग करके उनका परिचय दे सकना सम्भव नहीं है। मूल रूप से स्थविरवाद और महासाङ्घिक निकायों के सिद्धान्त ज्ञात है और इन्हीं के विभागो-उपविभागों में से कुछ के ज्ञात हो सके हैं, जिनका आधार कथावत्थुप्पकरण की अट्ठकथा है। इनमे महासाङ्घिक और उसके निकायान्तर्गत गोकुलिक तथा स्थविरवाद के महीशासक, वज्जिपुत्तक, भद्रयानिक, सम्मितिय, सर्वास्तिवादी और काश्यपीय—इन आठ निकायों के ही सिद्धान्तों का परिचय हमे प्राप्त है।

महासाङ्घिक मानते थे कि सम्यक् वचन, कर्मान्त और आजीव 'रूप' हैं, जिन्हे कि स्थविरवाद तीन विरति नाम से चैतसिक धर्म मानता है।[3] ऐसे ही चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय—इन पाँच विज्ञानों से युक्त व्यक्ति के लिए मार्ग-भावना और उन्हे आभोग सहित मानते थे।[4] उनका कहना था कि व्यक्ति लौकिक और लोकोत्तर दोनों शीलों से युक्त होकर मार्ग की भावना करता है।[5] वे मानते थे कि शील ग्रहण करने मात्र से शील की अभिवृद्धि अहर्निश होती रहती है।[6] शील उत्पन्न होकर जब निरुद्ध हो जाता है, तब भी उसके ग्रहण करने के कारण शील-उपचय होता है, अत वह शीलवान् होता है।[7] काय-विज्ञप्ति और काय-कर्म तथा वची विज्ञप्ति और वची कर्म शील है।[8] अव्याकृत अहेतुक धर्म चित्त-विप्रयुक्त होते है[9]। ज्ञान द्वारा अज्ञान के दूर हो जाने पर, फिर चक्षुविज्ञान आदि के अनुसार ज्ञान-विप्रयुक्त चित्त के रहते, उस मार्ग मे चित्त प्रवर्तित नहीं होता, इसलिए उसे ज्ञान नहीं कहना चाहिए[10]। सवर और असंवर दोनों ही कर्म है[11]। सभी कर्म स-विपाक है अर्थात् विपाकवाले है[12]। शब्द विपाक है[13]। षडायतन कर्म के करने से उत्पन्न है, अत विपाक है[14]। कुशल और अकुशल के बीच अन्योन्य प्रतिसन्धि कहना ठीक नहीं है, किन्तु जो एक वस्तु में ही आसक्त होता और विरक्त होता है, इसलिए उसकी अन्योन्य प्रतिसन्धि होती है[15]। जो धर्म-हेतु-प्रत्यय से

---

१ पुरातत्व निबन्धावली, पृष्ठ १२६।

२ पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ४२७-२८।

३. कथावत्थु २, २०, २।

४ कथावत्थु २, १०, ५।

५. कथावत्थु २, १०, ६।

६. वही, २, १०, ९।

७. कथावत्थु, २, १०, ७।

८. वही, २, १०, १०।

९ वही, ३, ११, १-३।

१० वही, ३, ११, ४।

११. वही, ३, १२, १।

१२. वही, ३, १२, २।

१३ वही १२ ३।

१४ वही ३ १२ ४

१५ वही ३ १४ १

प्रत्यय होता है, वह उन्ही का होता है जिनका कि हेतुप्रत्यय से प्रत्यय होता है[1]। प्रसाद-चक्षु ही रूप को देखता है[2]। किञ्चितमात्र सयोजन के अप्रहीण होने पर भी अर्हत्व की प्राप्ति होती है[3]। सभी दिशाओ मे बुद्ध रहते है।[4]

गोकुलिक सम्भवत: मथुरा के पास के रहनेवाले थे।[5] ये मानते थे कि सभी संसार तप्त, दहकते हुए अङ्गारों के समान है। भगवान् के एक वचन के अनुसार ये सभी संस्कारो को दु:खमय ही मानते थे,[6] किन्तु स्थविरवाद ने क्षणिक सुखमय संस्कारों को भी माना है।[7]

इस प्रकार महासाङ्घिक और गोकुलिक निकायो के उक्त सिद्धान्त परम्परागत स्थविरवाद के विरुद्ध थे, जिनका निराकरण कथावत्थुप्पकरण में किया गया है।

स्थविरवाद के दो प्रधान निकायो महीशासक तथा वज्जिपुत्तक के सिद्धान्तों का वर्णन कथावत्थुप्पकरण मे आता है और इन दोनो के कतिपय उपनिकायो का भी। महीशासक प्रतिसख्या निरोध और अप्रतिसख्या निरोध दोनो को एक मे करके निरोध सत्य बतलाते थे, जबकि स्थविरवाद एक ही निरोध (निर्वाण) मानता है[9]। प्रतीत्यसमुत्पाद इनकी दृष्टि मे असंस्कृत है,[10] किन्तु स्थविरवाद मे प्रत्ययो से उत्पन्न होने के कारण संस्कृत माना जाता है। ये मानते थे कि आकाश असंस्कृत है, किन्तु स्थविरवाद परिच्छेदाकाश को सस्कृत और अजटाकाश तथा कृत्स्नाकाश (कसिणुग्घाटिमाकास) को प्रज्ञप्तिमात्र मानता है[11]। इनकी यह भी मान्यता थी कि काय और वाक् विज्ञप्ति से उत्पन्न रूप ही कायकर्म और वाक्कर्म है, वह कुशल विज्ञप्ति से कुशल और अकुशल विज्ञप्ति से अकुशल होता है[12]। ये सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त और सम्यक् आजीव को रूप मानते थे, जबकि ये चैतसिक धर्म है[13]। ऊपर हम कह आये है कि महासाङ्घिक निकाय भी तीनो विरतियो को रूप मानता था। काय विज्ञप्ति और वाक् विज्ञप्ति रूप कुशल और अकुशल दोनो होते है।[14] इनका कथन था कि बिना ध्यान की उपचार समापत्ति को प्राप्त किए ही एक ध्यान से दूसरे ध्यान को प्राप्त किया जा सकता है[15]। यह निकाय मानता था कि लौकिक श्रद्धा केवल श्रद्धा ही है। वह श्रद्धा-इन्द्रिय नही है। ऐसे ही लौकिक वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा को भी ये इन्द्रिय नही मानते थे।[16]

---

१ कथावत्थु, ३, १५, १। २ वही, ४, १८, ९।

३ वही, ५, २१, ५। ४ वही, ५, २१, ८।

५ भिक्षु धर्मरक्षित धर्मदूत, वर्ष १५, अंक १-२, पृष्ठ ४७ (भिक्षुनिकाय और उनके सिद्धान्त)।

६ कथावत्थु, १, २, ८। ७. पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ४३०।

८ कथावत्थु, १, २, ११।

९ भिक्षु धर्मरक्षित : भिक्षुनिकाय और उनके सिद्धान्त, 'धर्मदूत', वर्ष १५, अंक १-२, पृष्ठ ४७।

१०. कथावत्थु, २, ६, २। ११. वही, २, ६, ६।

१२. वही, २, ८, ९। १३. वही, २, १०, २।

१४ वही ४ १६ ७ १५ वही ४ १८ ६

१६ वही ४ १९ ८

वज्जिपुत्तक भिक्षुनिकाय का कहना था कि अर्हत् भिक्षु भी अपने अर्हत्व से च्युत होता है। जो स्थविरवाद के सर्वथा विपरीत था[१]। इस निकाय के अन्य भी इसी प्रकार अपने सिद्धान्त रहे होंगे, किन्तु उन्हे सम्प्रति जानने के साधन उपलब्ध नही है। इनके दो उपनिकायो भद्रयानिक और सम्मितिय के सिद्धान्तो की चर्चा कथावत्थुप्पकरण की अट्ठकथा मे आयी है।

भद्रयानिक अर्हत्व की प्राप्ति क्रमश मार्गों से क्लेश प्रहाण के पश्चात् मानते थे। यह उनका मत नानाअभिसमय का प्रतिपादक था। जो स्थविरवाद के प्रतिकूल है, क्योकि अभिसमय (ज्ञानप्राप्ति) एक क्षण मे होता है, न कि नाना क्षणो या कालान्तरो मे[२]।

सम्मितिय भी अर्हत् की परिहानि मानते थे[३]। इनकी दृष्टि मे परिनिर्मित देवलोक से लेकर ऊपर के देवलोको मे मार्गभावना सम्भव नहीं है[४]। स्रोतापत्ति आदि मे विभिन्न समयो मे अभिसमय के कारण थोडा-थोडा करके क्लेशो का प्रहाण होता है[५]। ये मानते थे कि ध्यान प्राप्त पृथक् जन सत्य के अभिसमय के साथ ही अनागामी हो जाता है और उसके पृथक् जन रहने के समय ही काम-राग और व्यापाद प्रहीण हो जाते है[६]। भद्रयानिको की भाँति ये भी मानते थे कि सोलह भागो मे करके क्रमश. क्लेशो का प्रहाण कर अर्हत्व की प्राप्ति होती है। अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति थोडा-थोड़ा करके होती है[७]। अनुलोम गोत्रभू मार्ग के क्षण क्लेशो के उत्पन्न होने के कारण स्रोतापत्ति मार्ग प्राप्त व्यक्ति के दो बन्धन दूर हो गये रहते है[८]। चतुर्थध्यान प्राप्त व्यक्ति का मांसचक्षु ही दिव्य-चक्षु हो जाता है[९]। परिभोग (सेवन) करना ही पुण्य है[१०]। इनका मत था कि अन्तराभव नामक एक स्थान है, जहाँ प्राणी दिव्य चक्षुवाला न होते हुए भी दिव्य चक्षु प्राप्त जैसा होता है और बुद्धिमान् न होते हुए भी बुद्धिमान्-जैसा होता है, वह माता-पिता के सहवास और माता के ऋतुमती होने के समय को देखता हुआ एक सप्ताह या उससे अधिक रुकता है[११]। ये ब्रह्मकायिक देवताओ का शरीर छ आयतनो वाला मानते थे[१२]। महीशासकों के समान ये भी काय और वाक्विज्ञप्ति रूप को ही काय-कर्म और वाक्-कर्म मानते थे और उसे भी कुशल से उत्पन्न को कुशल और अकुशल से उत्पन्न को अकुशल कहते थे[१३]। जीवित-इन्द्रिय चित्त से विप्रयुक्त अरूपधर्म है, इसलिए रूप जीवित इन्द्रिय नही है[१४]। अर्हत् कुछ पूर्वकर्मो के कारण अर्हत्व से च्युत हो सकता है[१५]। सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त और सम्यक् आजीव को ये भी महीशासक और महासांघिको की भाँति रूप मानते थे[१६]।

---

१ वही, १, १, २।
२. कथावत्थु १, २, ९।
३. वही, १, १, २।
४ वही, १, १, ३।
५. वही, १, १, ४।
६. वही, १, १, ५।
७ वही, १, २, ९।
८ वही, १ ३, ५।
९. कथावत्थु, १, ३, ७।
१० वही, २, ७, ५।
११. वही, २, ८, २।
१२. वही, २, ८, ७।
१३ वही २ ८ ९।
१४ वही २ ८ १०।
१५ वही २ ८ ११
१६ वही २ १० २

विज्ञप्ति को ये भी शील कहते थे[1]। अव्याकृत अहेतुक चित्तविप्रयुत होते हैं[2]। काय विज्ञप्ति और वाक्‌विज्ञप्ति रूप कुशल भी होता है और अकुशल भी[3]। कर्म करने से उत्पन्न चित्त और चैतसिक की भाँति कर्म करने से उत्पन्न रूप भी विपाक है[4]। ध्यानों के पञ्चविधि विभाजन में जिसे द्वितीय ध्यान कहा जाता है, वह केवल प्रथम और द्वितीय ध्यान के बीच की दशा है[5]।

महीशासक भिक्षुनिकाय के उपनिकायों में से केवल सर्वास्तिवादी और काश्यपीय निकायों के सिद्धान्तों का वर्णन उपलब्ध है। सर्वास्तिवादी भी अर्हत् की च्युति को स्वीकार करते थे[6]। इनका कहना था कि सभी भूत, भविष्यत् और वर्तमान के धर्म अपने स्कन्ध के स्वभाव को नहीं त्यागते, वे सभी सर्वदा विद्यमान रहते हैं[7]। ये भी नानाभिसमय को मानते थे[8]। एकचित्तक्षण में भी उत्पन्न एकाग्रता को समाधि न मानकर चित्त-सन्तति को ही समाधि मानते थे[9]।

काश्यपीय निकाय के भिक्षु भूतकालीन किन्हीं-किन्हीं बातों को वर्तमान में विद्यमान होने की मान्यता रखते थे और उनकी यह प्रधान विशेषता थी[10]।

उक्त वर्णित भिक्षु-निकायों के सिद्धान्त स्थविरवाद के विरुद्ध थे, जिनका कथावत्थुप्प-करण में खण्डन किया गया है और स्थविरवाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। यदि इन निकायों के साहित्य का विश्लेषण किया जा सके और यह निर्णय हो सके कि कौन-कौन ग्रन्थ किस निकाय से सम्बन्धित है तो इनके सिद्धान्तों का पूर्ण परिचय प्राप्त हो सके। यह कार्य उसी समय सर्वाङ्ग रूप से परिपूर्ण हो सकेगा, जबकि तिब्बती, चीनी, जापानी, खोतनी आदि भाषाओं में अनूदित ग्रन्थों का इस दृष्टिकोण से अध्ययन कर प्राप्त सामग्री एकत्र की जाय एवं प्राचीन बौद्ध गुहा-मन्दिरों, नष्टावशेषों, विहारों, स्तूपों आदि से प्राप्त लेखों का भी अध्ययन किया जाय तथा बृहत्तर भारत एवं एशिया के साहित्य, अभिलेख, शिलालेख आदि का सर्वेक्षण कर पूरी सामग्री सङ्कलित की जाय।

अशोक के समय में तृतीय सङ्गीति

भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के २१४ वर्ष पश्चात् अशोक मगध साम्राज्य का शासक बना। चार वर्ष पश्चात् उसका राज्याभिषेक हुआ। पहले उसका पिता बिम्बिसार ब्राह्मणधर्म का भक्त था। अतः उसने भी तीन वर्षों तक पिता का ही अनुसरण किया। उसके पश्चात् चौथे वर्ष (३२१ ई० पूर्व) वह बुद्ध-भक्त बना। उसके बौद्ध बनने की घटना समन्त-पासादिका, महावंश और दीपवंश में इस प्रकार वर्णित है[11]—

---

१ वही, २, १०, १०।

२. वही, ३, ११, १-३।

३ कथावत्थु, ४, १६, ७।

४. वही, ४, १६, ८।

५. वही, ४, १८, ७।

६ वही, १, २।

७. वही, १, १, ६।

८. वही, १, २, ९।

९ वही, ३, ११, ८।

१० वही, १, १, ८।

११ बुद्धचर्या पृष्ठ ५२१

एक दिन न्यग्रोध श्रामणेर अशोक के राजभवनवाले मार्ग से जा रहा था। वह बड़े ही शान्त, दान्त और ईर्ष्या-पथयुक्त था। उसी समय अशोक ने खिड़की से जाते हुए देखा। देखकर उसका मन श्रामणेर पर प्रसन्न हो गया। यह श्रामणेर बिन्दुसार के ज्येष्ठ पुत्र सुमन का लड़का था, किन्तु इस बात को अशोक नहीं जानता था। अशोक ने उसे राजभवन में बुलाया और कहा—"अपने योग्य आसन पर बैठिए।" श्रामणेर वहाँ किसी दूसरे भिक्षु को न देख राजसिंहासन के पास गया और राजा के सहारे सिंहासन पर बैठ गया। राजा ने अपने लिए बने हुए भोजन को मँगाकर उसे खिलाया। भोजनोपरान्त राजा ने पूछा—"भगवान् बुद्ध ने जो उपदेश दिया है, उसे जानते हैं?"

"हाँ महाराज, एक देशना जानता हूँ।"

"तो उसे मुझे भी बताये।"

श्रामणेर ने धम्मपद के अप्पमादवग्ग की पहली गाथा कह सुनाई :—

अप्पमादो अमतपदं, पमादो मच्चुनो पदं।
अप्पमत्ता न मीयन्ति, ये पमत्ता यथा मता॥[१]

[प्रमाद न करना अमृत-पद का साधक है और प्रमाद करना मृत्युपद का। अप्रमादी नहीं मरते, किन्तु प्रमादी तो मरे ही हैं।]

अशोक ने इस गाथा को सुनकर अत्यधिक सन्तोष एवं धर्मरस का अनुभव किया। वह उसी दिन से बुद्ध-भक्त हो गया और बुद्ध, धर्म तथा संघ के लिए अपरमित धन व्यय करने लगा। उसने अशोकराम नामक पाटलिपुत्र में एक सुन्दर विहार का निर्माण कराया और नित्य साठ हजार भिक्षुओं को भोजन कराने लगा। उसने सम्पूर्ण जम्बूद्वीप के चौरासी हजार नगरों में चौरासी हजार चैत्यों से युक्त चौरासी हजार विहार बनवाये[२]। ये सभी विहार तीन वर्षों में बनकर तैयार हुए थे। उसी वर्ष अशोक ने बहुत बड़ा उत्सव मनाया और धर्मदायाद बनने की इच्छा से अपने पुत्र महेन्द्र तथा अपनी पुत्री संघमित्रा को प्रव्रजित करा दिया। अशोक के इन कार्यों से बौद्ध भिक्षुओं का बड़ा लाभ-सत्कार बढ़ा और दूसरे पंथ के सन्यासियों का लाभ-सत्कार कम हो गया। उन्हें भोजन के लिए भी कष्ट होने लगा। वे धीरे-धीरे भिक्षु होने लगे। अधिकांश प्रव्रज्या न पाने पर अपने ही मुण्डन कर काषाय वस्त्र पहन विहारों में विचरने लगे। वे उपोसथ में भी, प्रवारणा में भी, संघकर्म में भी, गण-कर्म में भी सम्मिलित हो जाते थे। भिक्षु उनके साथ उपोसथ नहीं करते थे। उन्होंने एक साथ उपोसथ करना बन्द कर दिया। अशोक ने एक मन्त्री को भेजकर इस विवाद को शान्त करने का प्रयत्न किया, किन्तु जब वह असफल रहा, तब उस समय के प्रधान विद्वान् भिक्षु मोग्गलिपुत्ततिस्स को अहोगंग पर्वत से बुलवाया। वे पहले पाटलिपुत्र में ही रहते थे, किन्तु विवाद उत्पन्न होने के पश्चात् अशोकाराम से वहाँ चले गये थे। उनके आने पर अशोकाराम में सभी भिक्षु एकत्र किये गये राजा और

स्थविर ने एक-एक मत वाले भिक्षुओ को एक-एक जगह कर अलग-अलग पूछा—"सम्यक् सम्बुद्ध किस वाद (मत) के माननेवाले थे ?" तब उन्होंने अपने-अपने मतों के अनुसार शाश्वत-वादी आदि बतलाया, क्योंकि वे भिक्षु तो हो गये थे, किन्तु उनकी दृष्टियाँ (मत) पूर्ववत् ही थी । जब राजा ने देखा कि ये दूसरे पंथ वाले है, तब उन्हे श्वेत वस्त्र पहनाकर अप्रव्रजित कर दिया । इस प्रकार साठ हजार भिक्षु गृहस्थ बना दिये गये[१] ।

अब भिक्षुसंघ सर्वथा शुद्ध हो गया । उस दिन भिक्षुओ ने एकत्र होकर उपोसथ किया । उस समागम मे मोग्गलिपुत्ततिस्स स्थविर ने दूसरे वादो को मर्दन करते हुए कथावत्थुप्पकरण का भाषण किया[२] । महावंश का यह कथन कि कथावत्थुप्पकरण की देशना तृतीय संगीति में हुई, दीपवंश और विनयपिटक की अट्ठकथा से मेल नही खाता । उक्त दोनो ग्रन्थ महावंश से प्राचीन है और दोनो मे यह कहा गया है कि कथावत्थु की देशना उपोसथ के दिन हुए महा-समागम मे हुई थी[३] ।

तदुपरान्त मोग्गलिपुत्ततिस्स स्थविर ने एक हजार त्रिपिटक पारंगत अर्हत् भिक्षुओ को चुनकर प्रथम तथा द्वितीय संगीति की भाँति अशोकाराम विहार मे तृतीय संगीति की । यह संगीति नौ मास मे समाप्त हुई थी[४] । जिस समय यह संगीति पूर्ण हुई उस समय राजा का अभिषेक हुए सत्रह वर्ष हुआ था और मोग्गलिपुत्ततिस्स की अवस्था बहत्तर वर्ष थी । महावंश के अनुसार यह संगीति आश्विनपूर्णिमा को ई० पूर्व २३५ मे पूर्ण हुई थी[५] ।

कुछ विद्वान् इस संगीति के अस्तित्व के प्रति सन्देह करते है और कहते हैं कि यह सम्पूर्ण भिक्षु-संघ की संगीति नहीं रही होगी और यदि संगीति हुई भी हो तो उससे अशोक का सम्बन्ध नहीं रहा होगा, क्योंकि अशोक के शिलालेखों मे इसका वर्णन नही मिलता[६] । आगे हम देखेंगे कि इस संगीति के पश्चात् धर्म-प्रचार के लिए विभिन्न देशो मे भिक्षु भेजे गये थे और उनकी अस्थियाँ नामांकित पत्थर की मंजूषाओ मे प्राप्त हो चुकी है[७] ।

---

१ महावंश, गाथा ४९५ । गाथा इस प्रकार है—
ते मिच्छादिट्ठिके सब्बे राजा उप्पब्बजापयि ।
सब्बे सट्ठिसहस्सानि अहेसु उप्पब्बजापिता ।।

२ समन्तपासादिका, बाहिरनिदानवण्णना, पृष्ठ ५७ ।

३. दीपवंश ७, ५४-५६, बाहिरनिदानवण्णना, पृष्ठ ५७; बुद्धचर्या, पृष्ठ ५३५ ।

४ दीपवंश ७, ५८ । गाथा इस प्रकार है—
असोकाराम विहारम्हि धम्मराजेन कारिते ।
नवमासेहि निट्ठासि ततियो सङ्गहो अयं ।।

५ महावंश गाथा ५०५ । गाथा इस प्रकार है—
रञ्ञो सत्तरसे वस्से द्वासत्ततिसमो इसि ।
सो संगीतिं त समापयि

६ पालि साहित्य का इतिहास पृष्ठ ८६ ७ पृष्ठ ११५

मोग्गलिपुत्ततिस्स, मज्झिम, [illegible] कासपगोत (समूचे हिमालय के आचार्य काश्यपगोत्र), दुंदुभिस्सर के दायाद गोतीपुत्र के नाम वाली मंजूषायें और उनकी अस्थियाँ साँची और सोनारी के स्तूपो से मिल चुकी है[1]। ऐसे ही कुछ वर्षो पूर्व अशोकपुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा की अस्थियाँ श्रीलंका मे पायी गयी थीं[2]। इन प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर तृतीय संगीति की ऐतिहासिकता के विषय मे सन्देह करना निर्मूल है। जब संगीति के पश्चात् धर्म-प्रचारार्थ नियोजित भिक्षुओं का अस्तित्व प्रमाणित है तो संगीति को ही क्यों अनैतिहासिक माना जाय ?

विदेशों में धर्म-प्रचार

तृतीय संगीति के समाप्त होने पर बौद्धधर्म के प्रचारार्थ विभिन्न प्रदेशो मे प्रचारक भिक्षु भेजे गये। महावंश के अनुसार ये प्रचारक प्रत्यन्त[3] (पच्चन्त) देशो मे भेजे गये[4] और कार्तिक मास मे उन्होने प्रस्थान किया[5]। धर्म-प्रचार की यह एक सुव्यवस्थित योजना थी। आसपास का कोई भी देश ऐसा न रहा जो इससे अछूता हो। जो भिक्षु धर्म-प्रचार के लिए भेजे गये उनके सम्मान का भी पूर्ण ध्यान रखा गया। उनसे सदा सम्बन्ध बनाये रखा गया और जब उनका देहान्त हुआ, तब उनकी अस्थियाँ भारत मँगा ली गयी और यहाँ सम्मान-पूर्वक उनकी अस्थियो का स्तूपो मे निधान किया गया। ऐसे ही स्थविरों की अस्थियाँ साँची और सोनारी के स्तूपों से प्राप्त हुई है[6]। जिन-जिन देशो में जो-जो धर्म-प्रचारक भेजे गये, उनके नाम महावंस, दीपवंश और समन्तपासादिका मे सुरक्षित है। अशोक के शिलालेखो मे भी उन देशो के नाम आये हुए है जहाँ कि धर्म-प्रचारक भिक्षु भेजे गये थे। उससे ज्ञात होता है कि प्रचारक केवल प्रत्यन्त देशो मे ही नही गये थे, प्रत्युत सुदूर देशो तक जाकर इन्होने अशोक-काल मे ही सद्धर्म की देशना की थी। यवन, काम्बोज, गान्धार, राष्ट्रिक, पितनिक, भोज, आन्ध्र, पुलिन्द आदि स्वाधीन राज्यो मे तथा केरलपुत्र, चोल, पाण्ड्य नामक दक्षिणी भारत के स्वाधीन राज्यो मे और सिहल द्वीप मे भी इनके जाकर धर्म-प्रचार करने का वर्णन मिलता है। ये प्रचारक उस समय के प्रसिद्ध पाँच यूनानी राज्यो मे भी गये थे और उन देशवासियो को इन्होने बुद्धधर्म दिया था। इस प्रकार सीरिया और बैक्ट्रिया के राजा अन्तियोकस (एण्टियोकस थियोस ई० पूर्व २६१-२४६), मिश्र के राजा तुरमय (टोलेमी फिलाडेल्फस ई० पूर्व २८५–२४७), मेसिडोनिया के राजा अन्तकिन (एण्टिगोनस ई० पूर्व २७८–२१९), सिरीनी के राजा मग (मेगस ई० पूर्व २८५–२५८) और एपिरस के राजा अलिक सुन्दर

---

१ भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग २, पृष्ठ ६७३।

२. धर्मदूत, वर्ष १६, अंक ५, पृष्ठ १३५, सन् १९५१।

३ सीमान्त या पड़ोसी देशो को प्रत्यन्त देश कहते हैं।

४ दीपवंश (८, १–३) और समन्तपासादिका मे भी प्रत्यन्त देशो मे धर्म-प्रचारको के भेजे जाने का उल्लेख है—"पच्चन्तम्हि पतिट्ठानं दिस्वा दिब्बेन चक्खुना"—दीपवंश ८, २।

५ महावंश पृष्ठ ६४

६ देखिये ऊपर

(अलक्जेण्डर ई० पूर्व २७२–२५८) के देशों तक उसी समय सद्धर्म की ज्योति पहुँच गयी थी[1]। सुवर्ण-भूमि (बर्मा) में भी बुद्धशासन के धर्मदूत गये थे[2]। समन्तपासादिका आदि में इनकी नामावली इस प्रकार दी गयी है[3]—

१. मध्यान्तिक (मज्झन्तिक) स्थविर—कश्मीर और गन्धार[4] प्रदेश में।
२. महादेव स्थविर—महिषमण्डल[5] (महिसक मण्डल) में।
३. रक्षित स्थविर—वनवासी[6] में।
४. यवन धर्मरक्षित स्थविर (योनक धम्मरक्खित)—अपरान्त में[7]।
५. महाधर्मरक्षित स्थविर—महाराष्ट्र में।
६. महारक्षित स्थविर—यवन देश[8] में।
७. मध्यम स्थविर (मज्झिम थेर)—हिमालय प्रदेश में।
८. शोण और उत्तर स्थविर—[9] सुवर्ण भूमि में।
९. महेन्द्र, इट्टिय, उत्तिय, सम्बल, भद्रशाल—ताम्रपर्णीद्वीप[10] में।

समन्तपासादिका के अनुसार उक्त इन सभी देशों तथा प्रदेशों में एक साथ पाँच-पाँच भिक्षु भेजे गये थे, जिससे कि वे वहाँ के इच्छुक लोगों को प्रव्रजितकर उपसम्पन्न कर सकें, क्योंकि प्रत्यन्त देशों में उपसम्पदा के लिए पंचवर्गीय गण पर्याप्त होता है[11]। किन्तु हमें केवल ताम्रपर्णी (लंका) द्वीप जाने वाले ही पाँच भिक्षुओं के नाम महावंश आदि में मिले हैं। हाँ, उसकी टीका में साथ जानेवाले भिक्षुओं के नाम भी वर्णित हैं। हिमालय में जाने वाले भिक्षु मध्यम स्थविर (मज्झिमथेर) के चार सहयोगियों के नाम टीका में इस प्रकार हैं—कस्सपगोत्त दुन्दुभिस्सर, सहदेव और मूलकदेव। और, साँची के स्तूप से मोग्गलिपुत्त स्थविर की जो अस्थि-मंजूषा प्राप्त हुई है, उसके ढक्कन के ऊपर और भीतर हारितीपुत, मज्झिम तथा सवहेमवताचरिय (समूचे हिमालय के आचार्य) कासपगोत के नाम अंकित हैं। एक दूसरी मंजूषा में हिमालय के दुदुभिसर के दायाद (उत्तराधिकारी) गोतीपुत का नाम खुदा हुआ है[12]। इससे टीका की बात सत्य जान पड़ती है, और समन्तपासादिका का यह भी वर्णन ठीक जान पड़ता है कि ये धर्म-प्रचारक भिक्षु पाँच-पाँच भिक्षुओं के सत्र के साथ गये थे। महावंश में

---

१ शिलालेख २।
२. बुद्धचर्या, पृष्ठ ५३७।
३ बुद्धचर्या, पृष्ठ ५३७, महावंश, पृष्ठ ६४, दीपवंश, ८, ४–१२।
४ पेशावर के आसपास का प्रान्त।
५ महेश्वर (इन्दौर राज्य) से ऊपर का प्रदेश, जो कि विन्ध्याचल और सतपुड़ा की पर्वत-मालाओं के बीच पड़ता है।
६ उत्तरी कनारा।
७. गुजरात प्रदेश।
८. यूनानी राजाओं के देश—बाह्लीक, सिरिया, मिश्र, यूनान आदि।
९ बर्मा।
१०. लंका द्वीप।
११ बुद्धचर्या पृष्ठ ५३७।
१२ भारतीय इतिहास की रूपरेखा भाग २ पृष्ठ ६७३

इन धर्मदूतो द्वारा उक्त प्रदेशों में धर्म-प्रचार करने तथा वहाँ की जनता द्वारा इनके स्वागत करने एवं बौद्धधर्म ग्रहण करने का सुन्दर वर्णन आया है[१]। इनमे भी सबसे विशद् वर्णन लका मे धर्म-प्रचार का है। वहाँ अशोकपुत्र महेन्द्र धर्म-प्रचार के लिए गए थे और पीछे उन्होने अपनी बहिन भिक्षुणी संघमित्रा को भी बुला लिया था, जो बुद्धगया से बोधिवृक्ष की शाखा लेकर लंका गयी थी[२]। ये दोनो जीवनपर्यन्त वही धर्म-प्रचार मे संलग्न रहे[३]।

बुद्धधर्म को जनता का धर्म बनाने का प्रयत्न

अशोक ने बौद्धधर्म ग्रहण के पश्चात् लगभग ढाई वर्षों तक बौद्धधर्म के प्रचार के लिए उत्तम प्रयत्न नही किया, किन्तु उसके पश्चात् वह प्राणपन धर्म-प्रचार मे जुट गया[४]। उसने बौद्धविहारो, स्तूपो आदि का निर्माण कराया[५]। धर्मशालाये, प्याऊ, बाग, जलाशय, औषधालय आदि के निर्माण किये[६]। तृतीय संगीति कराई और धर्मदूतो को देश-देशान्तर मे भेजा। जनता मे बुद्धधर्म के प्रचार के लिए उसने स्वर्ग-नरक के दृश्य दिखलाने की व्यवस्था की[७]। धर्म महामात्यो की नियुक्ति की, जो धर्म-प्रचार कार्य मे सहायता प्रदान करते तथा उसके संचालन की देखरेख करते थे[८]। पर्वतो, गुहाओ, प्रस्तरखण्डो एवं स्तम्भो पर धर्म-आदेश अंकित कराये और जनता को धर्म पालन के महत्व को समझाया। उसने धर्म-विजय का सबसे बडी विजय की सज्ञा दी[९] और प्रजा एवं अपने अमात्यो को आदेश दिया कि सब लोग धर्म-भेरी बजाये तथा धर्म-घोष करें, भेरी-घोष का त्याग कर दे[१०]। उसने सबसे सुन्दर आचरण की अपेक्षा की[११]। हिंसा बन्द कर दी[१२]। उसने नाच-तमाशा आदि के स्थान पर विमान-दर्शन आदि का प्रचलन किया। जनता मे धर्म के प्रति श्रद्धा बढ़ाने के लिए उसने पूर्ण सहिष्णुता से कार्य किया। उदारता उसका प्रधान गुण था[१३]। उसने उन लोगो के साथ भी अच्छा व्यवहार किया जो कि बुद्धधर्म के अनुयायी नही थे। उसका कहना था कि सब लोग धर्म का पालन करें, मिल-जुलकर रहे। एक धर्म के लोग दूसरे धर्मावलम्बियों की निन्दा या अपमान न करें, एक दूसरे के धर्म को सुनें[१४]। उसने अपने धर्ममहामात्यो को आदेश दिया था कि वे लोगो को धर्म समझाये और उन्हे सन्मार्ग पर लायें। जनता मे धर्म के कारण फूट उत्पन्न न

---

१ महावश, द्वादश परिच्छेद। २. बुद्धचर्या, पृष्ठ ५४०।

३. महावश, विश परिच्छेद, पृष्ठ १०६—१०९।

४. गौण शिलालेख १। ५. महावंश, पृष्ठ ३२।

६. महावंश, पृष्ठ ३५। अशोक द्वितीय शिलालेख।

७. चौथा शिलालेख। ८. पाँचवाँ शिलालेख।

९ तेरहवाँ शिलालेख—"इय चु मु देवानं पियषा ये धंमविजयें" अर्थात् जो धर्म का विजय है, उसे ही देवताओं का प्रिय मुख्य विजय मानता है।

१०. चौथा शिलालेख—भेलिघोसे अहो धंमघोसे।

११ बारहवाँ शिलालेख १२ चौथा शिलालेख

१३ बारहवाँ शिलालेख १४ प्र० शिलालेख १२

होने दे और प्रति उपोसथ के दिन उसे धर्म एवं आदेश को भली प्रकार समझाये[१]। उसने धर्म-यात्रा का प्रचलन किया और मृगया छोडकर उसके स्थान पर श्रमण-ब्राह्मणो का दर्शन, दान, वृद्धो का दर्शन और उनके लिए स्वर्णदान, जानपद लोगो का दर्शन, धर्म अनुशासन और धर्म सम्बन्धी प्रश्नोत्तर के रूप मे धर्म-यात्रा होने लगी[२]। लोगो के सुख-दुःख जानने के लिए उसने प्रति पाँचवें वर्ष अपने महामात्यो के अनुसंयान (दौरा) की व्यवस्था की। स्वयं भी अनुसंयान करने लगा[३]। उसने प्रजा के कार्य की जानकारी के लिए प्रतिवेदकों की नियुक्ति की, जो सब समय प्रजा की बात राजा तक पहुँचा सकते थे। उसका कहना था—"सब लोगों का हित करना ही मैंने अपना कर्तव्य माना है और उसका मूल है उद्योग और कार्यतत्परता। सब लोगो का हित करने के अतिरिक्त मुझे कुछ काम नही है। जो कुछ मैं पराक्रम करता हूँ वह इसीलिए कि जीवो के ऋण से मुक्त होऊँ। बिना उत्कट पराक्रम के यह दुष्कर है[४]।" उसने व्यवहार और दण्ड मे समता स्थापित की[५]।

अशोक ने बुद्धधर्म को जनता में पहुँचाने के लिए यथाशक्य प्रयत्न किया। उसने युद्ध के स्थान पर धर्म-विजय की जो घोषणा की, उससे कलिंग युद्ध से त्रसित जनता आनन्दित हो उठी। उसने अपने धर्म-प्रचार के लिए अस्त्र शस्त्र अथवा शक्ति का उपयोग नही किया। करुणा, दया, मैत्री, अहिंसा ही उसके प्रधान अस्त्र थे। जहाँ उसने धर्म-प्रचारक भिक्षुओ को देश-देशान्तरो मे भेजा और पडोसी देशो को बुद्ध-सन्देश दिया तथा अपने राज्य मे सारी जनता को अपनी सहिष्णुता से बुद्धधर्म की ओर आकर्षित किया, वहीं उसने अपने पूरे परिवार को बौद्ध बना दिया। अपने पुत्र-पुत्री तक को प्रव्रजित कर दिया। उसके अनुज तिस्स और जामाता अग्नि-ब्रह्मा भी भिक्षु बन गये[६]। इस कार्य का साधारण जनता पर बहुत गहरा प्रभाव पडा। वह धर्म कोई अवश्य महान् धर्म होगा जिसे पूरा राजपरिवार ग्रहण करे और उसके महामात्य प्रचार-कार्य मे नियुक्त रहे। इस प्रकार जनता के विचार मे परिवर्तन आने लगा। प्रत्येक उपोसथ के दिन बौद्ध-धर्म सम्बन्धी प्रवचनो को सुनकर, विमान आदि के दृश्य देखकर, भिक्षुओ के सत्कर्म एवं सदाचरण से प्रभावित होकर जनता बुद्धधर्म और सघ की शरण जाने लगी। एक प्रकार से सम्पूर्ण जम्बूद्वीप मे बुद्धधर्म का धर्म-घोष सुनाई देने लगा। चारो ओर धर्म-दुन्दुभी बज उठी। अशोक के ही शब्दो मे उसने अपने पराक्रम से उस जम्बूद्वीप के मनुष्यो को देवताओ से मिला दिया[७]। उसके औषधालय, जलाशय, मार्ग, उद्यान आदि सार्वजनिक हित-सुख के निर्माण-कार्य से भी जनता ने उसका साथ दिया। अशोक जिस धर्म का प्रचार चाहता था और स्वयं उसका महान् प्रचारक था, उस धर्म की यह महान् विशेषतायें थी—"पाप न करना, बहुत कल्याण करना, दया, दान, सत्य पवित्रता[८], प्राणियो को न मारना, जन्तुओ की

---

१. सारनाथ का स्तम्भ लेख, सारनाथ का इतिहास, पृष्ठ १३४-१३६।
२. अशोक का आठवाँ शिलालेख। ३. कलिंग शिलालेख १।
४ छठाँ शिलालेख। ५. चौथा स्तम्भलेख।
६ महावंश पृष्ठ ३३ ३८
७ गौण शिलालेख १ ८ दूसरा स्तम्भलेख

अविहिंसा, ज्ञानियो, ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति आदरपूर्ण व्यवहार, माता-पिता की शुश्रूषा[१]", "दासो और भृत्यों से उचित व्यवहार, गुरुजनों की पूजा, प्राणियों के प्रति संयम, श्रमणों और ब्राह्मणों को दान[२]। यह धर्म सर्वसाधारण के लिये मान्य एवं परिपालनीय था। यह मानव-धर्म था। इसका विरोध किसी भी प्रकार नही किया जा सकता था। इस धर्म का पालन छोटे-बडे, सब वर्गों के लिये उत्कट पराक्रम किये बिना दुष्कर था[३] और उस धर्म का आचरण सदाचारी व्यक्ति द्वारा ही हो सकता था[४]।

अशोक की यह महान् धर्म-विजय थी, जो विश्व के इतिहास मे अपनी समता नही रखती। इस धर्म-विजय के माध्यम से ही उस समय जम्बूद्वीप के सभी पडोसी देश मैत्री के एक दृढ सूत्र मे आबद्ध हो गये। उनकी धर्म-भूमि भारत, गुरु-भूमि भी बन गया। इस प्रकार अशोक द्वारा बुद्धधर्म को जनता का धर्म बनाने का जो स्तुत्य प्रयास किया गया, वह भारत के सांस्कृतिक इतिहास मे सदा अमर रहेगा।

महायान और हीनयान

द्वितीय संगीति के पश्चात् ही भिक्षु-संघ मे फूट उत्पन्न हो गयी थी और भिक्षु स्थविर-वाद तथा महासांघिक दो प्रधान निकायो मे बँट गये थे। अशोक के समय मे यद्यपि धर्म-प्रचार के बहुत कार्य किये गये, तृतीय संगीति कर उन्हे मिलाने एवं उनमें सुधार करने का प्रयत्न किया गया, किन्तु निकायों की बाढ को नही रोका जा सका। अशोक के समय मे जो तैर्थिक लाभ-सत्कार के लिये स्वयं चीवर धारण कर भिक्षु बन गये थे, वे विभज्यवादी स्थविरवाद से बहिष्कृत होने पर उन्ही मे मिलते गये और उनकी संख्या बढती गयी। भिक्षु-निकायो की गणना अब १८ से भी अधिक हो गयी। कथावत्थुप्पकरण की अट्ठकथा मे इन नवीन निकायो की संख्या ८ दी गयी है। उनके नाम है—अन्धक, अपरशैलीय, पूर्वशैलीय, राजगिरिक, सिद्धार्थिक, वैतुल्य (वैपुल्य), उत्तरापथक और हेतुवादी। महावंश ने—हैमवत, राजगिरिक, सिद्धार्थिक, पूर्वशैलीय, अपरशैलीय और वाजिरिया (वज्रयानिक)—इन छः निकायों का नाम गिनाया गया है और कहा गया है कि ये जम्बूद्वीप मे उत्पन्न हुए थे[५]। इससे जान पड़ता है कि हैमवत और उत्तरापथक एक ही निकाय का नाम है। कथावत्थु की अट्ठकथा मे यह भी बतलाया गया है कि पूर्वशैलीय, राजगिरिक और सिद्धार्थिक—ये पीछे के उत्पन्न निकाय अन्धक (आन्ध्रक – आन्ध्र के) कहलाते है[६]। सिंहली भाषा में लिखे निकाय-संग्रह[७] नामक एक प्राचीन ग्रन्थ का कहना है कि इन निकायों के अपने सिद्धान्त-प्रतिपादक ग्रन्थ भी थे। हैमवतों ने "वर्ण-पिटक" की रचना की थी, राजगिरिक वालो ने "अंगुलिमाल पिटक" की, सिद्धार्थिको ने "गूढवेस्सन्तर" की, पूर्वशैलियो ने "रट्ठपालगज्जन" की, अपरशैलियो ने "आलवकगज्जन" की और वाजिरिय

---

१. चौथा शिलालेख। २. नौवाँ शिलालेख।
३. दसवाँ शिलालेख। ४ चौथा शिलालेख।
५ महावंसो गाथा संख्या २३७–३८
६ की अट्ठकथा १ १ ९ ७ चतुर्थ परिच्छेद

भिक्षुओं न १) गढविनय २) (३) (४) ०
(५) तत्वसंग्रह, (६) भूतचामर, (७) वज्रामृत, (८) चक्रसंवर- (९) द्वादशचक्र, (१०) मेरुकाद्बुद, (११) महामाया, (१२) पदनिःक्षेप, (१३) चतुष्टिष्ठ, (१४) परामर्श, (१५) मरीच्युद्भव, (१६) सर्वबुद्ध, (१७) सर्वगुप्त, (१८) समुच्चय, (१९) मायामरीचिकल्प, (२०) हेरम्बकल्प, (२१) निरमयकल्प, (२२) राजकल्प, (२३) वज्रगन्धारकल्प (२४) मरीचिगुप्त कल्प (२५) शुद्ध समुच्चय कल्प और (२६) माया-मरीचि कल्प ग्रन्थों की रचना की। वैतुल्यवादियो ने वैतुल्यपिटक और अन्धको ने रत्नकूट नामक ग्रन्थ लिखे[1]। इन भिक्षु-निकायों ने से वाजिरिय भिक्षुओ का वर्णन कथावत्थु की अट्ठकथा मे उपलब्ध नही है, किन्तु महावश के अनुसार यह भी प्राचीन निकाय है जो तृतीय संगीति के पश्चात् उत्पन्न हुआ था[2]। कथावत्थु की अट्ठकथा से ज्ञात होता है कि ये प्राय सभी नवीन निकाय महासाघिको से ही उत्पन्न हुए थे। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का मत है[3] कि इनका सम्बन्ध सम्मितिय भिक्षुओ से भी था, किन्तु अट्ठकथा से ही ज्ञात होता है कि सम्मितिय स्थविरवादी उपनिकाय के भिक्षु थे और बहुत से सिद्धान्त ऐसे थे जो महासाघिक और स्थविरवादी उपनिकायों के समान थे, जिनका कि मोग्गलिपुत्ततिस्स स्थविर ने कथावत्थु मे खण्डन किया[4]। हम ऊपर कह आये है कि महसांघिको की संख्या अधिक थी और उन्होने स्थविरवादियों के विरुद्ध अपनी संगीति का आयोजन कौशाम्बी मे किया था, जिस समय स्थविरवादी भिक्षु केवल ७०० एकत्र होकर द्वितीय संगीति कर रहे थे, उस समय महासाघिक भिक्षु १०,००० की सख्या मे थे और तभी से वे अपने को स्थविरवाद से सर्वथा अलग तथा उच्च मानने लगे थे और स्थविरवादियो के विरुद्ध हीन-भावना का प्रचार प्रारम्भ कर दिया था। महायान और हीनयान की उत्पत्ति का यही प्रारम्भ था। कथावत्थु से हमे महासाघिको और उसके उपनिकायों मे ही महायान के बीज और अंकुर मिलते है। सम्मितिय भिक्षुओ के कुछ सिद्धान्त महासाघिको से मिलते थे, किन्तु लौकिक रूप मे उनमें अन्तर था। अत महा-साघिको के उपनिकाय अन्धक भिक्षुओं ने ही महायान का नामकरण किया। इनके कथावत्थु मे वर्णित सिद्धान्त आज भी महायानग्रन्थो मे उपलब्ध हैं। वेतुल्लवादी (वैतुल्यवादी) भिक्षुओ के सिद्धान्त अधिकतर महायान से मिलते है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का यह मत सत्य

---

१. भिक्षु धर्मरक्षित, "धर्मदूत" वर्ष १५, अंक १–२, अंक १–२, पृष्ठ ४९।

२ महावंश, गाथा सख्या २३८।

३ पुरातत्व निबन्धावली, पृष्ठ १२७, १३०।

४ कथावत्थु १, २, २। १, २, ९। १, २, ११। १, ३, ५। २, ६, २। २, ७, १। २, ७, २। २, ७, ३। २, ७, ४। २, ७, ५। २, ७, ६। २, ८, १। २, ८, २। २, ८, ९। २, ८, ११। २, ९, ४। २, ९, ४। २, १०, २। २, १०, १०। ३, ११, १–३। ३, ११, ८। ३, १४, ८। ४, १६, ८। ४ १७ २ ४ १७ ३४ १८ ४। ४ १८ ६ ४ १९ ८। ५ २१ ९ और ५ २३ ५

है कि वेतुल्लवादी और महायान एक सिद्ध होते है[1] को अट्ठकथा म महा शून्यवादी कहा गया है। इनके तीन सिद्धान्तो का वर्णन अट्ठकथा म उपलब्ध है। इनका कथन था कि (१) भगवान् बुद्ध तुषित भवन मे उत्पन्न होते है। वे वही रहते है। मनुष्य लोक मे नही आते। निर्मितरूप मात्र यहाँ दिखलाते है[2]। (२) भगवान् ने तुषित स्वर्ग मे ही रहकर धर्म-देशना के लिए अभिनिर्मित (अपने द्वारा निर्मित बुद्ध) को भेजा। उनसे आनन्द ने उपदेश सुनकर धर्म-देशना की। भगवान् बुद्ध द्वारा कदापि धर्मोपदेश नही दिया गया[3]। (३) करुणा से, संयुक्त विचार से अथवा संसार मे एक साथ उत्पन्न होगे—इस आशय से स्त्री के साथ बुद्ध-पूजा आदि करके प्रार्थना के रूप मे एक अभिप्राय से मैथुन धर्म का सेवन किया जा सकता है[4]। महायान मे भी कहा गया है कि भगवान् तथागत मौन है। भगवान् बुद्ध ने कभी किसी को कुछ नही सिखाया[5]। सद्धर्मपुण्डरीक मे यह बात सुपल्लवित हुई है। वहाँ कहा गया है कि तथागत का यथार्थ काय संभोग काय है। वे धर्मदेशना के लिए समय-समय पर लोक मे उत्पन्न होते है। यह उनका निर्माण काय है[6]। मैथुन धर्म के सेवन की बात वज्रयान गर्भित महायान से बहुत ही विस्तृत हुआ[7]।

वैतुल्यवादियो के अतिरिक्त अंधक के अन्य उपनिकायो मे भी महायान के तथ्य निहित थे। अन्धक और उत्तरापथको का कथन था कि भगवान् के मल-मूत्र में अन्य गन्धो से बढकर सुगन्धि है[8]। ये संस्कारस्कन्ध को शून्य मानते थे[9]। मैथुन-सेवन के सम्बन्ध मे वैतुल्य-वादी और अन्धकों के समान मत थे[10]। इस प्रकार वे लोकोत्तरवादी थे। महासांघिक मानते थे कि संसार के चारो भागो मे बुद्धो का निवास है[11]। यह धारणा महायान के "सुखावती व्यूह" नामक ग्रन्थ में परिपुष्ट हुई[12] और आगे चलकर दृढ़मूल हो गयी। जैसा कि हमने ऊपर कहा है, महासांघिको और उसके अन्धक उपनिकायो से महायान की उत्पत्ति हुई। इसे प्रकार समझना चाहिए :—

---

१ पुरातत्व निबन्धावली, पृष्ठ १३०। २. कथावत्थु ४, १८, १।

३ वही, ४, १८, २। ४ वही, ५, २३, १।

५ मौना हि भगवन्तस्तथागता। न मौनस्तथातैर्भाषितम।—लंकावतारसूत्र और माध्य-मिककारिका १५, २४—
"न क्वचित् कस्यचित् कश्चिद् धर्मो बुद्धेन देशित'।

६ बौद्धधर्म-दर्शन, पृष्ठ १०४।

७ गुह्यसमाज तन्त्र—"सेवनं योषितामपि" यथा प्रज्ञोपायनिश्चयसिद्धि—"ललनारूप—मास्थाय सर्वत्रैव व्यवस्थिता"। और ज्ञानसिद्धि—"गम्यागम्य-विनिर्मुक्तो भवेद् योगी समाहित.।"

८ कथावत्थु, ४, १८, ४। ९. वही, ४, १९, २।

१० वही ५ २३ १। ११ वही कथा २०१

१२ बौद्ध-धर्म-दर्शन, पृष्ठ १०५

महासांघिक
|
अन्धक
|
वेतुल्य (वैपुल्य)
|
पूर्वशैलीय = महायान | अपरशैलीय | राजगिरिक | सिद्धार्थक
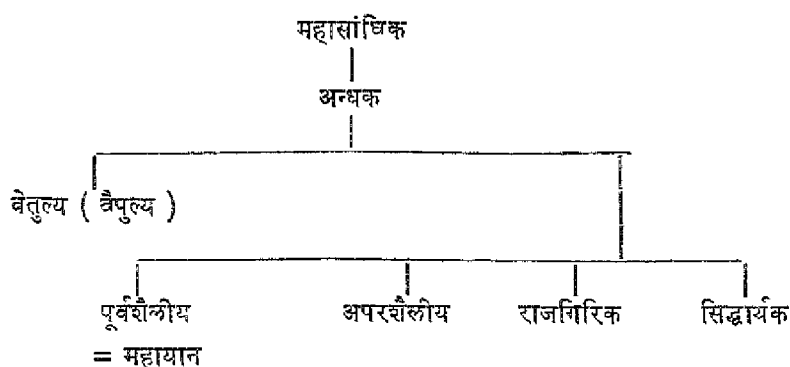
आचार्य नरेन्द्रदेव ने भी लिखा है—"लोकोत्तरवाद महासांघिकों से उत्पन्न हुआ। महासांघिक और स्थविरवाद पहले ही पृथक् हो चुके थे। विकसित होते-होते महासांघिक निकाय से महायान की उत्पत्ति हुई। बौद्ध संघ दो प्रधान यानों (मार्गों) में विभक्त हो गया—महायान और हीनयान[1]।" इस प्रकार महासांघिकनिकाय से ही महायान की उत्पत्ति सिद्ध होती है। जिसका बीजारोपण अशोक से पूर्व द्वितीय संगीति के समय ही हो चुका था। इसमें वज्रयान और तन्त्रयान के भी बीज विद्यमान थे।[2] धीरे-धीरे इनका विकास हुआ और अशोक के पश्चात् प्रथम शताब्दी ई० पूर्व में महायान पल्लवित होकर जन-समाज में प्रचलित हो गया।

नागार्जुन द्वारा महायान का व्यवस्थित किया जाना

महायान की उत्पत्ति बीजरूप में यद्यपि तीसरी शताब्दी ई० पूर्व ही हो चुकी थी और वह महासांघिक निकाय तथा उसके उपनिकायों के रूप में देशकाल के अनुसार विकसित हो रहा था, किन्तु इसे व्यवस्थित रूप दूसरी ईस्वी शताब्दी में ही प्राप्त हो सका। उसी समय इसकी ओर लोगों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित हुआ। जब इसे भदन्त नागार्जुन का कृतत्व प्राप्त हुआ। भदन्त नागार्जुन का जन्म विदर्भ (बरार) में हुआ था। वे श्रीपर्वत (नागार्जुनीकोंडा) में रहते थे। वहीं रहते हुए उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ माध्यमिककारिका की रचना की। यह ग्रन्थ शून्यवाद पर लिखा गया एक महान् ग्रन्थ है, जिसका प्रभाव सर्वास्तिवाद पर भी पड़ा। यही कारण है कि अश्वघोष सर्वास्तिवादी होते हुए भी महायान की शिक्षाओं से प्रभावित हुए थे। उनकी रचनाओं में महायान के पूर्वरूप के दर्शन होते हैं[3]। हुएनसांग ने लिखा है कि—अश्वघोष, नागार्जुन और कुमारलब्ध (कुमारलात) समकालीन थे। उसने यह भी लिखा है कि—ये तत्कालीन बौद्ध-जगत् के चार सूर्य के समान थे। लामा तारानाथ के अनुसार नागार्जुन कनिष्क के समय में उत्पन्न हुए थे। इस प्रकार नागार्जुन का समय द्वितीय शताब्दी हो सकता है[4]। डॉ० भरतसिंह उपाध्याय ने नागार्जुन द्वारा लिखे

१ बौद्धधर्म दर्शन, पृष्ठ १०५।
२ बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृष्ठ ५५४।
३ बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृ० ५५५
४ बौद्धधर्म दर्शन पृ० १६७

बीस ग्रन्थों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि नागार्जुन के बारह ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध थे[१]—(१) माध्यमिककारिका, (२) दशभूमिविभाषा शास्त्र, (३) महाप्रज्ञापारमिता सूत्रकारिका शास्त्र, (४) उपाय कौशल्य, (५) प्रमाण विध्वंसन, (६) विग्रह व्यावर्तनी, (७) चतु - स्तव, (८) युक्ति षष्टिका, (९) शून्यता सप्तति, (१०) प्रतीत्य समुत्पाद हृदय, (११) महायान विंशक, (१२) सुहृल्लेख । नागार्जुन के नाम के साथ अनेक अद्भुत बातें जुटी हुई है। उन्हें रसायन शास्त्र का ज्ञाता और वैद्यक का भी आचार्य मानते है। उनके नाम से अब भी तिब्बत मे अष्टागहृदय नामक वैद्यक ग्रन्थ प्रचलित है, किन्तु महायान को व्यवस्थित रूप देनेवाले भदन्त नागार्जुन का उनसे सम्बन्ध नही है[२]।

नागार्जुन का निवासस्थान श्रीपर्वत था और उसके पास ही धान्यकटक मे विहारो एवं स्तूपों का द्वितीय ई० शताब्दी पूर्व मे मौलिक रूप से निर्माण हुआ था। अत नागार्जुन का धान्यकटक से प्रगाढ सम्बन्ध था[३]। धान्यकटक के ही पास अन्धकनिकायो के भिक्षुओ का बाहुल्य था। पश्चिम के पर्वतो पर अपरशैलीय रहते थे तथा पूर्व के पर्वतो पर पूर्वशैलीय। राजगिरिक, वैपुल्यवादी तथा सिद्धार्थक भी आन्ध्रप्रदेश मे ही रहते थे। इसी हेतु इन्हे अन्धक (आन्ध्रक—आन्ध्र के रहनेवाले) कहा जाता था और जैसा हम पहले कह आए है अन्धक महासाघिकनिकाय से उत्पन्न हुए थे। इन्हीं से महायान का उदय हुआ था। नागार्जुन एक ऐसे वातावरण मे थे, जहां चारो ओर इन महायानी विचाराकुरित भिक्षुओ का प्रभाव था। नागार्जुन की भी दीक्षा एवं शिक्षा इन्ही द्वारा हुई थी। उन्होंने माध्यमिककारिका जैसे महान् ग्रन्थ का निर्माण कर शून्यवाद का प्रतिपादन किया। जो उस समय सभी बौद्ध दार्शनिको को प्रभावित किया। पूर्वकाल मे अंकुरित महायान इनके समय मे पल्लवित हुआ और पीछे अपने प्रभाव मे सभी बौद्ध सम्प्रदायो को आत्मसात् कर लिया। दार्शनिक जगत् के ये एक क्रान्तिकारी भिक्षु थे[४]। नागार्जुन का प्रभाव आन्ध्र के सातवाहन नरेशो पर भी था। गौतमीपुत्र यज्ञश्री इनका अभिन्न मित्र था। उसी के लिए इन्होने पत्र के रूप मे सुहृल्लेख नामक ग्रन्थ लिखा था। इनके शून्यवाद की कृति विदेशो तक फैली थी और ये बोधिसत्व के रूप मे माने जाने लगे थे। लंका से भदन्त आर्यदेव इनके दर्शन का ज्ञान प्राप्त करने आए थे और उन्होने इनका शिष्यत्व ग्रहण किया था। नागार्जुन की शून्यता के प्रतिपादन की प्रसिद्धि बहुत थी। उन्होने स्वयं लिखा है—"जो इस शून्यता को समझ सकता है, वह सभी अर्थो को समझ सकता है और जो शून्यता को नही समझता, वह कुछ भी नही समझ सकता है।"[५] नागार्जुन

---

१ बोधिवृक्ष की छाया में, पृ० १५६।

२. दर्शन दिग्दर्शन, पृष्ठ ५६८।

३. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृष्ठ ५५६।

४ शान्ति भिक्षु शास्त्री : बोधिचर्यावतार की भूमिका, पृष्ठ ३६।

५. दर्शन दिग्दर्शन, पृ० ५६९। श्लोक इस प्रकार है—

प्रभवति च शून्यतेयं यस्य प्रभवन्ति तस्य सर्वार्थाः
प्रभवति न तस्य किञ्चित न भवति शून्यता यस्य

ने शून्यवाद प्रतीत्यसमुत्पाद और अनेक अर्थोवाली मध्यमा प्रतिपदा को कहा है। विश्व और उसकी सभी जड़ और चेतन वस्तुएँ किसी भी स्थिर अचल तत्व (आत्मा आदि) से सर्वथा शून्य है। जो उसको समझता है, वही चारो आर्यसत्यो को समझ सकता है और चारो आर्य-सत्यो को समझने पर उसे तृष्णानिरोध (निर्वाण) की प्राप्ति होती है और वह धर्म-अधर्म की बातो को जान सकता है[1]। नागार्जुन के प्रतीत्य-समुत्पाद का दो अर्थ था—(१) हेतु से उत्पत्ति—सभी वस्तुएं अपनी उत्पत्ति मे दूसरे हेतु-प्रत्यय पर आश्रित हैं। (२) सभी वस्तुएँ एक क्षण के पश्चात् नष्ट हो जाती है और दूसरी वस्तु उत्पन्न होती है अर्थात् उत्पत्ति विच्छिन्न प्रवाह-सी है। नागार्जुन ने शाश्वतवाद और उच्छेदवाद के विरुद्ध विच्छिन्न प्रवाह को माना[2]। महापण्डित राहुल साकृत्यायन का मत है कि नागार्जुन का दर्शन शून्यवाद' वास्तविकता का अपलाप करता है। लोक को शून्य मानकर उसकी समस्याओ के अस्तित्व को अस्वीकार करने के लिए इससे बढकर दर्शन नही मिलेगा[3]। नागार्जुन ने अपने सुहृल्लेख मे लिखा है—

"ये स्कन्ध न इच्छा से, न काल से, न प्रकृति से, न स्वभाव से, न ईश्वर से उत्पन्न होते है।" "यहाँ सभी कुछ अनित्य, अनात्म, अशरण, अनाथ और अस्थान है। इसलिए तुम इस तुच्छ केले के तने के समान असार जगत् मे विरति धारण करो।" शील, समाधि और प्रज्ञा के द्वारा शान्तपद निर्वाण को प्राप्त करो, जो अजर और अमर है तथा जहाँ न धरती है, न जल, न आग, न वायु, न सूर्य, न चन्द्रमा।" "जहाँ प्रज्ञा नही है, वहाँ ध्यान भी नही है। जहाँ ध्यान नही है, वहाँ प्रज्ञा भी नही है, किन्तु जानो कि जिसमे ध्यान और प्रज्ञा दोनो है, उसके लिए यह भव-सागर रमणीक निकुञ्ज जैसा है[4]।"

नागार्जुन के इन प्रवचनो एव शून्यवाद के प्रशस्त सिद्धान्त का जनता पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा और इनके आकर्षण मे आकर जनता महायान को अपनाने लगी। महायान की ख्याति का सर्वाधिक श्रेय भदन्त नागार्जुन को ही है। दक्षिण भारत की यह देन 'महायान' धीरे-धीरे देश-देशान्तर मे प्रसारित होने लगी। आचार्य चन्द्रकीर्ति ने माध्यमिककारिका की वृत्ति मे लिखा है—"नागार्जुन दर्शन-तेज मे परवादियों के मत और लोकमानस तथा उसके अन्धकार इंधन के समान भस्म हो जाते है। उनके तीक्ष्ण तर्क-शरो से संसारोत्पादक नि शेष अरि सेनाएँ नष्ट हो जाती है[5] और यही कारण था कि परवादी भदन्त नागार्जुन से परास्त होकर महायान के अनुयायी बनने लगे। नागार्जुन का यह एक महान् कार्य था, इसीलिए वे महायान के जन्मदाता न होते हुए भी उसके युग-प्रवर्तक आदिपुरुष माने जाते है।

महायान और हीनयान का पारस्परिक तथा सैद्धान्तिक सम्बन्ध

महायान और हीनयान दोनो ही एक ही भिक्षु-सघ से प्रादुर्भूत दो धाराएँ थी हीनयान स्थविरवाद का नाम था और महायान उसके विरुद्ध उठ खड़े हुए कुछ भिक्षु-निकाय

---

१. दर्शन-दिग्दर्शन, पृष्ठ ५६९। २ दर्शन-दिग्दर्शन, पृ० ५७३।

३. दर्शन-दिग्दर्शन, पृ० ५७६।

४ बोधिवृक्ष की छाया में पृ० १५९ १६० ५ बौद्धधर्म दर्शन पृ० ७८८

का सम्मिश्रण। प्रारम्भ मे यद्यपि केवल बुद्धधर्म ही था और सब बुद्धधर्मानुयायी थे। पीछे तीसरी शताब्दी मे वह नागार्जुन द्वारा व्यवस्थित किया गया, तो उसका प्रभाव बढ़ा। हीनयान बुद्धोपदिष्ट पालि-साहित्य को ही आधार मानकर परिशुद्ध स्थविर-परम्परा का परिपोषक था, किन्तु महायान बुद्ध को लोकोत्तर मानकर उनके अद्‌भुत रहस्यों से युक्त लीला-कार्यों के साथ उनके उपदेशो को मानना प्रारम्भ किया। एक प्रकार से हीनयान और महायान मे पारस्परिक बहुत सम्बन्ध भी था। पीछे हम देखते है कि हीनयानी भिक्षु भी महायानी हो सकते थे। एक ही परिवार मे दोनो के माननेवाले सहिष्णु भाव से रह सकते थे। हुएनसांग ने ऐसे भिक्षुओ का उल्लेख किया है, जो हीनयानी होकर भी महायान के अनुयायी थे और विनय मे पूर्ण थे[1]। हीनयान और महायान दोनो समान रूप से सत्य और निर्वाण-प्राप्ति की कामना से ही धर्म का आचरण करते थे। हम देखते है कि पीछे नालन्दा, विक्रमशिला आदि भिक्षु-पीठो मे दोनो यानो की शिक्षा समान रूप से दी जाती थी, अतः पारस्परिक सम्बन्ध में दोनो एक थे, समान थे और दोनो मे कोई विशेष भेद नही था।

ऐतिहासिक प्रमाणो से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि दूसरी शताब्दी मे दक्षिण भारत मे महासांघिक भिक्षुओं का प्राधान्य था। इन्हीं का एक निकाय अन्धक भी था। अन्धकनिकाय वालो का अपना त्रिपिटक था और उसकी अट्ठकथा भी अपनी ही थी। आचार्य बुद्धघोष ने अपनी अट्ठकथाओ मे अन्धक अट्ठकथा का उल्लेख किया है[2]। यही अन्धक और उसके अन्य उपनिकाय महायान की उत्पत्ति के स्रोत थे और इन सबका प्रधान केन्द्र दक्षिण भारत ही था। यह बात इससे भी प्रमाणित हो जाती है कि मंजुश्री बोधिसत्व ने प्रज्ञा पारमिता पर सर्वप्रथम उपदेश उडीसा (आदिविस) में दिया था। प्रज्ञा पारमिताओ मे यह बात बार-बार दुहराई गई है कि महायान धर्म की उत्पत्ति दक्षिणा-पथ मे होगी और वहाँ से वह पूर्वी देशो मे फैलेगा तथा उत्तरी भारत मे विशेष रूप से समृद्ध होगा[3]। हम देखते है कि नालन्दा मे यद्यपि हीनयान और महायान दोनो की शिक्षा दी जाती थी, किन्तु वह महायान प्रधान विद्यालय था और ऐतिहासिक दृष्टि से महायान की उत्पत्ति कनिष्क-काल के पहले हो चुकी थी। नागार्जुन के प्रभाव के कारण वह बढता गया और धीरे-धीरे हीनयान पर भी उसका प्रभुत्व जमता गया। नागार्जुन के शिष्य नाग, आर्यदेव आदि ने महायान के प्रचार के लिए महान् कार्य किया था। उनके पश्चात् असग, वसुबन्धु जैसे महान् विद्वान् भी इसी के प्रचारक हुए। महायान की साधना बहुत विस्तृत थी और उसकी दार्शनिक दृष्टियाँ भी बहुत विशाल थीं। जिनके विकास ने कई शताब्दियो तक भारतीय जन-समाज को अपनी ओर लगाये रखा। हम देखते है कि प्रारम्भ मे महायान के जो लक्षण उदय हुए थे, उनमे प्रधानत. दो बाते थी—(१) बुद्ध को लोकोत्तर मानना और (२)

---

१ बौद्धधर्म दर्शन, पृष्ठ १०६।

२ भिक्षु धर्मरक्षित : पालि अट्ठकथा ग्रन्थ और उनके लेखक, 'धर्मदूत', वर्ष १८, अंक १-२, पृष्ठ ३।

३ बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृ० ५५७ तथा एक्सपेक्टस ऑफ महायान बुद्धिज्म लेखक पृष्ठ ४१

बोधिसत्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन करना। डॉ० भरतसिंह उपाध्याय का मत है कि वस्तुत महासांघिक भी हीनयानी ही थे, केवल बुद्ध के सम्बन्ध मे उनके विचार भिन्न थे[1]। इस प्रकार स्पष्ट है कि महायान और हीनयान का पारस्परिक प्रगाढ सम्बन्ध था। दोनो एक वृक्ष की दो शाखाओ की भाँति थे और ऐसी शाखाओं की भाँति जिनका अति निकट सम्पर्क था। यह उपमा अधिक उपयुक्त नही है, क्योकि इन दोनो यानों मे कभी कोई महान् साम्प्रदायिक कलह का रूप जनसमाज मे दृष्टिगत नही हुआ। केवल प्रारम्भ मे ही कुछ बातों को लेकर मतभेद उत्पन्न हुआ था, जो विचारधाराओ की विभिन्नता मात्र थी। यही कारण था कि आगे चलकर सम्पूर्ण भारत मे ही नही प्रत्युत कुछ वाह्य देशो मे भी महायान बढता और विकसित होता गया तथा एक समय महायान और हीनयान का अन्तर भी साधारण जनता की दृष्टि मे नगण्य हो गया। इस बात के साक्षी सारनाथ, बुद्धगया, श्रावस्ती, कौशाम्बी, साँची आदि से प्राप्त तत्कालीन मूर्तियाँ और लेख है।

जब हम महायान और हीनयान के सम्बन्धो पर विचार करते है, तब यह ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध ने केवल एक ही यान (मार्ग) का उपदेश दिया था और वह था मध्यम मार्ग (एकायनोयं भिक्खवे मग्गो[2])। जो विशुद्धि का सर्वोत्तम मार्ग था। महायान मे भी कहा गया है कि बुद्ध केवल एक ही यान का उपदेश देते है। वे किसी अन्य का उपदेश नही देते[3]। वह यान है—'बुद्धयान'[4]। किन्तु इस बुद्धयान और पूर्वोक्त एकायन मार्ग मे भेद था। एकायन मार्ग संसार के सभी दु खो मे मुक्ति की ओर ले जानेवाला सत्वो की विशुद्धि का मार्ग था तो बुद्धयान बोधिसत्व के गुणधर्मों की पूर्ति के उपरान्त बुद्धत्व प्राप्त करानेवाला था। अर्थात् एक शीघ्र निर्वाण तक पहुँचाने वाला लघु मार्ग था तो दूसरा सत्वोपकार के पश्चात् बुद्ध बनानेवाला था। इस प्रकार एक 'हीन' था और दूसरा 'महा'। बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए महायान ने पीछे अनेक यानो की बात कही[5]। इनमे तीन यान अधिक प्रसिद्ध हुए—श्रावकयान, प्रत्येकबुद्धयान और महायान[6]। सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र मे कहा गया है कि परमार्थ रूप से देखने पर एक ही यान है। भिन्न-भिन्न यानों का उपदेश तो अज्ञो को

---

१. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृष्ठ ५५८।

२. दीघनिकाय, महासतिपट्ठान सुत्त, २, ९।

३. एकं हि यानं द्वितीयं न विद्यते, तृतीयं हि नैवास्ति कदाचि लोके।

—सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र, उपायकौशल्य परिवर्त।

४ एकमेवाहं शारिपुत्र, यानमारम्भ सत्वाना धर्म देशयामि यदिदं बुद्धयानम्। न किञ्चि शारिपुत्र, द्वितीयं वा तृतीयं यानं संविद्यते।

—सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र, उपायकौशल्य परिवर्त.।

५. लङ्कावतार सूत्र मे देवयान, ब्रह्मयान और श्रावकयान कहा गया है, ऐसे ही तीन यानो का वर्णन सद्धर्मपुण्डरीक मे भी आया है।

—देखिए, बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ५५९।

६ त्रीणि यानानि ... महायानञ्चेति

मक्समूलर द्वारा सम्पादित पृष्ठ १

आकृष्ट करने के लिए ही है[1]। अद्वय वज्रसंग्रह में कहा गया है कि लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए भगवान् ने तीन प्रकार के यानों का उपदेश दिया है अन्यथा एक से अधिक यान नहीं है[2]। उपर्युक्त तीनों यानों में हीनयान श्रावकयान की साधना का अनुगमन करता है। जो बुद्ध के उपदेश को सुनकर उसके अनुसार आचरण करें, वे श्रावक हैं और उनका वह श्रावकयान है। प्रत्येकबुद्धयान प्रतीत्यसमुत्पाद का साक्षात्कार कर स्वयं सुख का अनुभव करते हैं। बुद्धयान ब्रह्मविहार तथा पारमिताओं की साधना है। बुद्धयान को ही महायान कहते हैं। इस प्रकार महायान से हीनयान निम्नकोटि का है। क्योंकि महायान बुद्धों का मार्ग है और हीनयान बुद्ध के बतलाए हुए धर्म को सुनकर उस पर चलनेवाले श्रावकों का। हीनयान से केवल अर्हत्व की ही प्राप्ति हो सकती है, किन्तु महायान बुद्धत्व-प्राप्ति का साधन है।[3]

महायान और हीनयान दोनों ही दो प्रकार की बुद्ध-देशना मानते हैं—(१) संवृति (सम्मुति = व्यावहारिक) और (२) परमार्थ, किन्तु दोनों की मान्यताओं में भेद है। महायान मानता है कि भगवान् बुद्ध लोकोत्तर हैं, वे इस लोक में न आये और न उन्होंने देशना की, जिस बुद्ध ने उपदेश किया वह वास्तविक बुद्ध द्वारा निर्मित रूप था। वास्तव में बुद्ध न तो जन्म लेते हैं और न परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं। बुद्ध का संसार में आना और धर्मोपदेश करना एक माया थी। बुद्ध लोक के पिता और स्वयम्भू हैं, वे सदा गृध्रकूट पर्वत पर निवास करते हैं। वे सत्वों को 'उपाय कौशल्य' से उपदेश देते हैं और उनका धर्मोपदेश निरन्तर होता है[4]। इसीलिए महायान का कथन है कि बुद्ध गुह्य (गूढ) और प्रकट दो प्रकार से उपदेश देते हैं। उनका गुह्य उपदेश केवल प्रज्ञावान् शिष्यों तक ही सीमित होता है, जिन्हें कि बोधिसत्व कहा जाता है और इन्हीं बोधिसत्वों का मार्ग महायान है। महायान को ही बुद्धयान और तथागतयान भी कहते हैं[5]। शेष हीनयानी हैं। हीनयानियों को तथागत की

---

१. उपाय कौशल्य परिवर्त।

२. धर्मधातोरसम्भेदाद् यानभेदोऽस्ति न प्रभो। यानत्रितयमाख्यातं त्वया सत्वावतारतः॥

—अद्वयवज्र संग्रह।

३ महायान, पृष्ठ १४।

४ एवमहं लोकपिता स्वयंभू. चिकित्सक. सर्वप्रजान नाथ।
विपरीत मूढांश्च विदित्व बालान् अनिर्वृत निर्वृत दर्शयामि॥ २१॥

—सद्धर्मपुण्डरीक, पृष्ठ ३२६।

अचिन्तिया कल्पसहस्रकोटयो श्रासां प्रमाण न कदाचि विद्यते।
प्राप्तामया एष तदाग्रबोधिर्धर्म च देशेम्यहु नित्यकालम्॥ २२॥

—सद्धर्मपुण्डरीक, पृ० ३२३।

एवं च हं तेष वदामि पश्चात् इहैवनाहं तद आसि निर्वृत।
उपायकौशल्य ममेति भिक्षवः पुनः पुनो भोम्यहु जीवलोके॥ ७॥

—सद्धर्मपुण्डरीक पृष्ठ ३२४।

५ बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृ० ५७८

देशना 'उपाय कौशल्य' से होती है। स्थविरवाद का कथन है कि धर्मोपदेश मे लोक-व्यवहार को लेकर जो देशना होती है वह व्यावहारिक (सम्मुति) है और वस्तु के वास्तविक स्वभाव एव लक्षण को प्रकट करनेवाली देशना पारमार्थिक है। इस प्रकार सत्य दो प्रकार के होते है—लोक-सवृति और परमार्थ[१]। स्थविरवाद मानता है कि पारमिताओ को पूर्ण कर बुद्ध ससार मे जन्म लेते है, उपदेश करते है और महापरिनिर्वाण को प्राप्त करते है ; वे सदा जीवित रहनेवाले नही है। महापरिनिर्वाण प्राप्त हो जाने पर उन्हे कोई नही देख सकता कि वे कहाँ गये या कहाँ है। दीघनिकाय मे कहा गया है—"भिक्षुओ, भव-तृष्णा के उच्छिन्न हो जाने पर भी तथागत का शरीर रहता है। जब तक उनका शरीर रहता है, तभी तक उन्हे मनुष्य और देवता देख सकते है। शरीरपात हो जाने के बाद उनके जीवन-प्रवाह के निरुद्ध हो जाने से उन्हे देव और मनुष्य नही देख सकते। भिक्षुओ, जैसे किसी आम के गुच्छे की ढेप टूट जाने पर उस ढेंप से लगे सभी आम नीचे आ गिरते है, उसी तरह भव-तृष्णा के छिन्न हो जाने पर तथागत का शरीर होता है[२]।"

महायान ने इसी भावना से प्रेरित होकर त्रिकाय का प्रतिपादन किया। उन्होंने बुद्धकाया को तीन प्रकार से माना—रूपकाय, धर्मकाय और सम्भोगकाय। रूपकाय बुद्ध के भौतिककाय को कहा जाता है। जिस रूप मे भगवान् बुद्ध ने जन्म लेकर उपदेश दिया था वह उनका रूपकाय है। धर्म और वास्तविक बुद्ध धर्मकाय है और उनका आनन्दमय स्वरूप सम्भोगकाय है। तात्पर्य यह कि जिस शरीर को धारण कर या जिसका निर्माण कर तथागत संसार मे देशना करते है वह उनका रूपकाय है। वास्तविक बुद्ध धर्मकाय है। उसे उनका आध्यात्मिक शरीर माना जाता है। उसे ही बुद्धकाय, प्रज्ञाकाय, स्वाभाविककाय, बोधिकाय और सद्धर्मकाय भी कहते है। यही परमार्थ सत्य है। तुषित लोक मे रहकर लोक-कल्याण के लिए जो वे बोधिसत्वो को मार्ग दिखलाते है, वह सम्भोगकाय है अर्थात् देवों के समान जिस काया मे रहकर बुद्ध लोक-कल्याण में सदा तत्पर रहते है वह सम्भोगकाय है। स्थविरवाद मे इनका खण्डन किया गया है और इस त्रिकायवाद को सर्वथा ही नही माना गया है[३]। जैसा कि ऊपर हमने कहा है बुद्ध मनुष्यो की भाँति संचित पुण्य-सम्भार से संसार मे जन्म लेते हैं, तप करते है, ज्ञान प्राप्त कर उपदेश देते हैं और महापरिनिर्वाण को प्राप्त कर दीपक की भाँति बुझ जाते है—यही स्थविरवाद की मान्यता है।

महायान मे बुद्ध-भक्ति पर विशेष बल दिया गया है, जब कि स्थविरवाद बुद्ध को अपना शास्ता (गुरु) मात्र मानता है महायानी बुद्ध मुक्तिदाता भी है,[४] किन्तु स्थविरवादी

---

१ दुवे सच्चानि अक्खासि सम्बुद्धो वदतं वरो।
सम्मुतिं परमत्थं च ततियं नूपलब्भति॥
सङ्केतवचनं सच्चं लोकसम्मुति कारणा।
परमत्थवचनं सच्चं धम्मानं भूतलक्खणं॥ —सुमंगलविलासिनी १, ८।

२ हिन्दी दीघनिकाय, पृष्ठ १५। ३. कथावत्थुप्पकरण ४, १८, १।

४ २ ११ यहाँ बुद्ध को सन्तारक कहा गया है

बुद्ध व्यक्ति को उसके कर्म-विपाक के भोग से मुक्त नहीं कर सकते, उसे स्वयं प्रयत्न कर गुण-धर्मों की पूर्ति के पश्चात् संसार-दुःख से मुक्ति प्राप्त हो सकती है। कार्य व्यक्ति को ही करने हैं, तथागत तो केवल व्याख्याता हैं[१]। उनकी शरीर-पूजा वास्तविक पूजा नहीं है, प्रत्युत उनके बतलाए धर्म के मार्ग पर चलना ही उनकी यथार्थ पूजा है[२]। महायान के बुद्ध इस प्रकार संकल्प करते हैं—"जितने दुःखी प्राणी हैं, उन सब का भार मैं अपने ऊपर लेता हूँ।" किन्तु स्थविरवाद में—"मेरे बतलाए हुए मार्ग पर चलकर तुम सभी सांसारिक दुःखों से मुक्त हो जाओगे[३]।" महायान में पूजा, वन्दना, शरण-गमन, पाप-देशना, पुण्यानुमोदना, अध्येषणा (प्रार्थना), याचना, बोधिचित्तोत्पाद और बोधिपरिणामना—ये नौ प्रकार की पूजाएँ मानी गयी हैं। इसी से भक्ति पूर्ण होती है।[४] इसी भाव को प्रकट करने के लिए बोधिचर्यावतार में कहा गया है—"मैं अपने आपको बुद्ध को समर्पित करता हूँ। मैं अपने सम्पूर्ण हृदय से बोधिसत्वों के प्रति आत्मसमर्पण करता हूँ। हे कारुणिक प्राणियो, मुझ पर अधिकार करो। मैं प्रेम के द्वारा तुम्हारा दास हो गया हूँ[५]।" यही भावना महायान और स्थविरवाद को अलग करती है। इस भावना ने ही अवलोकितेश्वर आदि बुद्धों की सृष्टि की और अगणित बुद्धों तथा बोधिसत्वों की कल्पना की। स्थविरवाद भी मानता है—"जो मुझे देखता है, वह धर्म को देखता है और जो धर्म को देखता है, वह मुझे देखता है[६]।" किन्तु इसमें बुद्ध की भक्ति नहीं, प्रत्युत यथार्थ रूप से बुद्ध-स्वरूप अर्थात् धर्म को देखना है और जो वास्तविक धर्म को देखता है, वही यथार्थ में बुद्ध के व्यक्तित्व को समझ सकता है। स्थविरवाद भी पूजा-वन्दना को मानता है, किन्तु यह केवल गुरु के सत्कार-सम्मान सदृश ही है। शरणगमन, पापदेशना आदि के भी आशय भिन्न हैं। बुद्ध की शरण जाना, धर्म की शरण जाना, संघ की शरण जाना, पाप-कर्म न करना, सभी पापों को त्याग कर पुण्यों का सञ्चय करना और अपने चित्त को राग, द्वेष, मोह से परिशुद्ध कर परम सुख निर्वाण को प्राप्त करना ही स्थविरवादी साधक का लक्ष्य है,[७] बुद्ध-भक्ति से ज्ञान प्राप्त करना नहीं। यदि कोई व्यक्ति जीवन-पर्यन्त भगवान् बुद्ध के चीवर के कोने को भी पकड़कर विचरे तो भी उसे तथागत उसके कर्म-विपाक के भोग से बचा नहीं सकते[८]।

महायान के निकाय, साहित्य और सिद्धान्त

महायान की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रकाश डालते हुए पहले बतलाया गया है कि किस प्रकार महासांघिक के उपनिकायों तथा अन्धक और वैपुल्यवादियों से महायान का उद्भव हुआ था, जिसे कि नागार्जुन ने व्यवस्थित किया था और वह एक प्रभावशाली दर्शन तथा उसके अनुरूप प्रतिपादित धर्म से अलंकृत हो गया था। इस व्यवस्थित रूप का महायानी पूर्व के उन

---

१. धम्मपद, गाथा २७६।
२. महापरिनिब्बानसुत्तं, पृष्ठ १३८-१३९।
३ धम्मपद, गाथा २७५।
४ महायान, पृष्ठ ८७।
५. बोधिचर्यावतार २, ८।
६ संयुत्तनिकाय ३ २१ २ ४ ५। हिन्दी अनुवाद भाग १ पृष्ठ ३७४।
७ धम्मपद १४ ५
८ नाहं गमिस्सामि पमोचनाय

सभी निकायों पर जो कि महासाघिकों की परम्परा के अन्तर्गत थे, ऐमा प्रभाव पड़ा कि वे सभी कुछ बातों मे एक हो गए। उनमें केवल दार्शनिक मतभेद ही रहा। यान, त्रिकाय, सत्य, भक्ति, बोधचित्त, शरण-गमन मे समान थे। महासांघिकों की छ: निकाय-परम्परायें तथा अन्धक (वैपुल्य, पूर्वशैलीय, अपरशैलीय, राजगिरिक और सिद्धार्थक) महायान प्रतिपादक निकाय दो दार्शनिक निकायो मे विभक्त हो गये। प्राय उसी समय हीनयान के भी दो दार्शनिक भेद हो गये थे—(१) सर्वास्तिवाद (वैभाषिक) और (२) सौत्रान्तिक। कनिष्क के समय मे जो संगीति हुई थी, उसमें ज्ञानप्रस्थानशास्त्र (पट्ठान) पर विभाषा नामक टीका लिखी गयी थी और जिन्होंने उसे माना वे वैभाषिक कहलाये। ये सभी सर्वास्तिवादी थे। जिन भिक्षुओं ने उसे नहीं माना और सुत्तपिटक पर जोर दिया, वे सौत्रान्तिक कहलाये। इनके ग्रन्थ भी कुछ भिन्न थे, किन्तु मूल पालि त्रिपिटक से बहुत साम्य रखते थे। ऐसे ही महायान के दार्शनिक निकाय माध्यमिक और योगाचार थे। माध्यमिक को शून्यवाद और योगाचर को विज्ञानवाद भी कहते हैं।

महायान का साहित्य बहुत विशाल है। इसके सभी ग्रन्थ संस्कृत या मिश्रित संस्कृत मे हैं। पालि भाषा मे एक भी महायानी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। हीनयानी ग्रन्थ ही पालि मे है। महायान के नौ ग्रन्थ प्रसिद्ध है—(१) अष्टसाहस्रिका प्रज्ञ पारमिता, (२) गण्डव्यूह, (३) दशभूमिश्वरः, (४) समाधिराज, (५) लंकावतार सूत्र, (६) सद्धर्मपुण्डरीक, (७) तथागतगुह्यक, (८) ललितविस्तर और (९) सुवर्ण प्रभास। अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता मे भगवान् बुद्ध की छ: पारमिताओं का वर्णन है। यह ग्रन्थ शून्यता को प्रतिपादित करता है। इसमे शून्य को ही प्रज्ञापारमिता कहा गया है। गण्डव्यूह मे धर्मकाय और शून्यता के सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है। यह ग्रन्थ मंजुश्री बोधिसत्व की प्रशंसा मे लिखा गया है। दशभूमिश्वरः मे उन दशभूमियों का वर्णन है जिनमे कि बुद्धत्व प्राप्त होता है। इसे दशभूमिक सूत्र भी कहते है। समाधिराज मे समाधि की अन्तिम अवस्था का वर्णन है। लंकावतारसूत्र योगाचार के सिद्धान्तो का प्रतिपादक है। सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र महायान का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमे भगवान् बुद्ध को देवातिदेव, अनादि, अजन्मा, सृष्टिकर्त्ता आदि कहा गया है और बुद्ध-धातु तथा स्तूप-पूजा से भी निर्वाण प्राप्ति का उपदेश है। तथागतगुह्यक मे भगवान् बुद्ध के ज्ञान और गुणो का वर्णन है। ललितविस्तर मे तथागत के जीवनचरित्र का सुन्दर ढंग से वर्णन है। इसमे उन्हें स्वयम्भू तथा परमपुरुष माना गया है। सुवर्णप्रभास मे पौराणिक बातो की अधिकता है और इसका स्वरूप तान्त्रिक है। महायान के इन नौ ग्रन्थो को 'महायानसूत्र' नाम से जाना जाता है। ये महायान के मूल ग्रन्थ हैं।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त सुखावतीव्यूह, महावस्तु, जातकमाला, अवदानशतक, दिव्यावदान, अशोकावदान, कल्पद्रुमावदान, बोधिसत्वावदान, कल्पलता, व्रतावदान, धर्मसंग्रह, महाव्युत्पत्ति आदि भी महायानी सिद्धान्त के प्रतिपादक विशेष ग्रन्थों मे सूत्र तथा अभिधर्म सम्बन्धी बातें ही प्रधान रूप से है। महायान तथा हीनयान के विनय मे बहुत भेद न था, किन्तु महायानी विनयपिटक अपने मूलरूप मे प्राप्त नहीं हो सका है। चीनी तथा तिब्बती भाषा मे उसके अनूदित ग्रन्थ ही प्राप्त हुये हैं उनके अनुसार डॉ० भरतसिंह न इन ग्रन्थो

का नाम गिनाया है[1]—(१) बोधिचर्यानिर्देश, (२) बोधिसत्व प्रातिमोक्षसूत्र, (३) भिक्षु विनय, (४) आकाशधर्मसूत्र, (५) उपालि परिपृच्छा, (६) उग्रदत्त परिपृच्छा, (७) रत्नमेघसूत्र, (८) रत्नराशिसूत्र ।

ये महायानी ग्रन्थ माध्यमिक और योगाचार दोनों ही सिद्धान्तों के प्रतिपादक हैं अर्थात् इनमें दोनों दार्शनिक निकायों के सिद्धान्त हैं, किन्तु इन दोनों के अपने अलग-अलग ग्रन्थ हैं और इनकी परम्परा भी । योगाचार दर्शन के प्रवक्ता आचार्य मैत्रेय माने जाते हैं । उन्होंने पाँच ग्रन्थों की रचना की थी—(१) मध्यान्त विभाग, (२) अभिसमयालंकार प्रज्ञापारमितोपदेशशास्त्र, (३) महायानसूत्रालंकार, (४) महायान उत्तरतन्त्र और (५) धर्मधर्मताविभंग । आचार्य मैत्रेय के पश्चात् असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित और कमलशील (विज्ञानवाद) के प्रमुख आचार्य हुए । असंग ने तीन ग्रन्थ लिखे—(१) महायान सूत्रालंकार, (२) योगाचारभूमिशास्त्र और (३) अभिसमयालंकार टीका । ऐसा माना जाता है कि महायानसूत्रालंकार की रचना असंग और उनके गुरु आचार्य मैत्रेय दोनों ने ही मिलकर की थी[2] । आचार्य वसुबन्धु ने विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, त्रिंशिका, सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र टीका और वज्रछेदिकाप्रज्ञापारमिता नामक ग्रन्थों का प्रणयन किया । दिङ्नाग के प्रमाण समुच्चयवृत्ति, न्यायप्रवेश, हेतुचक्रनिर्णय, प्रमाणशास्त्र, आलम्बनपरीक्षा, आलम्बनपरीक्षावृत्ति, त्रिकालपरीक्षा और मर्मप्रदीपवृत्ति ग्रन्थ हैं । दिङ्नाग के शिष्य शंकर स्वामी ने हेतुविद्यान्यायशास्त्र और न्यायप्रवेश तर्कशास्त्र की रचना की थी । आचार्य धर्मपाल ने आलम्बनप्रत्ययध्यानशास्त्र और शतशास्त्रव्याख्या नामक ग्रन्थ लिखे थे । धर्मकीर्ति के सात ग्रन्थ अत्यधिक प्रसिद्ध हैं—(१) प्रमाणवार्तिक, (२) न्यायबिन्दु, (३) प्रमाणनिश्चय, (४) सम्बन्धपरीक्षक, (५) हेतुबिन्दु, (६) वादन्याय और (७) सन्तानान्तरसिद्धि । शान्तरक्षित और कमलशील को महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने योगचार के अन्तर्गत माना है[3], किन्तु डॉ० भरतसिंह उपाध्याय ने इन दोनों आचार्यों को योगाचार के अन्तर्गत मानते हुए भी यह कहकर कि वे मुख्यतः शून्यवादी थे, माध्यमिक निकाय में माना है । हमारा भी यही मत है । शान्तरक्षित ने तत्व-संग्रह नामक को लिखा था और कमलशील ने टीका "तत्वसंग्रहपंजिका" की रचना की थी ।

माध्यमिक दर्शन के प्रवक्ता नागार्जुन थे । आर्यदेव, चन्द्रकीर्ति, भाव्य और बुद्धपालित भी इसी परम्परा के थे । नागार्जुन द्वारा लिखित बीस ग्रन्थ बतलाये जाते हैं, जिनमें बारह अत्यधिक प्रसिद्ध हैं—(१) माध्यमिककारिका, (२) दशभूमिविभाषाशास्त्र, (३) महाप्रज्ञापारमितासूत्रकारिका शास्त्र, (४) उपायकौशल्य, (५) प्रमाणविध्वंसक, (६) विग्रहव्यावर्तनी, (७) चतुः स्तव, (८) युक्तिषष्टिका, (९) शून्यतासप्तति, (१०) प्रतीत्यसमुत्पादहृदय, (११) महायानविंशक, (१२) सुहृल्लेख । आर्यदेव का चतुःशतक प्रसिद्ध

---

१ बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, प्रथम भाग, पृष्ठ ६२८ ।
२ बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन प्रथम भाग पृष्ठ ६४९
३ , पृष्ठ ५७७

बुद्धपालित ने माध्यमिक कारिकावृत्ति लिखी थी। मध्यहृदय कारिका, मध्यमार्थसंग्रह और हस्तरत्न भी उन्हीं के ग्रन्थ हैं। चन्द्रकीर्ति ने प्रसन्नपदा नामक माध्यमिककारिका की टीका लिखी थी। चतु:शतकवृत्ति और माध्यमिकावतार भी उन्ही के ग्रन्थ है। शान्तिदेव के बोधिचर्यावतार और शिक्षासमुच्चय नामक प्रसिद्ध हैं। भाव्य (भावविवेक) ग्रन्थों के केवल तिब्बती अनुवाद ही मिले है[1]।

इस प्रकार महायान के विशाल साहित्य का संक्षेप में परिचय प्रस्तुत किया गया है। इसका पूर्ण परिचय प्रत्येक ग्रन्थ मे वर्णित विषय आदि की विस्तृत व्याख्या से सम्भव है। किन्तु इस ग्रन्थ का विषयातिरेक होगा। अतः हमें अपने निर्दिष्ट विषय पर ही प्रकाश डालना सापेक्ष्य है।

महायान के दोनः दार्शनिक निकायो ने समयानुसार प्रौढता प्राप्त की और अनेक आचार्यों एवं तत्सम्बन्धी सिद्धान्त प्रतिपादक उनकी कृतियों ने इन्हे और भी दृढ बना दिया। माध्यमिक और योगाचार दोनो ही दार्शनिक परम्परायें चल पड़ी और इन्होंने विज्ञानवाद तथा शून्यवाद के नाम से तत्कालीन दार्शनिकों एवं जन-समाज को अपनी ओर आकृष्ट किया। इन दार्शनिक निकायो के सिद्धान्तो का प्रभाव न केवल भारत मे ही प्रत्युत तिब्बत, चीन, जापान, आदि देशो पर भी पडा। इनके सिद्धान्त गम्भीर होते हुए भी बौद्धों के लिए सहज, बोधगम्य तथा परम्परागत श्रद्धाभक्ति एवं भावना के अनुरूप थे। हम यहाँ विज्ञानवाद तथा शून्यवाद के दार्शनिक पक्ष पर संक्षेप मे प्रकाश डालेंगे।

बौद्धधर्म मे विज्ञान, मन, चित्त, आत्मा ये सब पर्यायवाची शब्द है। सतत प्रवाहमान चित्त-सन्तति के ही ये द्योतक है। विज्ञानवाद में इसी विज्ञान को प्रधानता दी गयी है। यद्यपि क्षणिकवाद, नैरात्म्यवाद और शून्यता के भी तत्व इसमे समन्वित है, किन्तु विज्ञानवाद की ही प्रधानता है। विज्ञानवाद मानता है कि जो कुछ भी यह जगत् है, सब चित्तमय है[2]। सम्पूर्ण जगत् विज्ञान का परिणाम है, मनोमय है। ज्ञान और ज्ञेय भिन्न नही है। आध्यात्म मे जो ज्ञेय रूप विद्यमान है, वही बाह्य मे प्रगट होता है। तात्पर्य यह कि व्यक्ति के भीतर प्रवर्तित विज्ञान का ही प्रत्यक्ष होता है, बाह्य वस्तुओ की कोई भिन्न स्थिति नही है। किसी बाह्य वस्तु के कारण विज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती, प्रत्युत एक विज्ञान से ही दूसरा विज्ञान उत्पन्न होता है। विज्ञान भी क्षणिक है, अतः एक क्षणिक विज्ञान से दूसरे क्षणिक विज्ञान की उत्पत्ति होती है, अर्थात् एक क्षणिक विज्ञान के निरोध के समानान्तर ही दूसरा विज्ञान उत्पन्न हो जाता है और उत्पत्ति तथा लय का यह क्रम सतत प्रवर्तित होता रहता है। विज्ञान के अतिरिक्त इस भौतिक काय मे कोई दूसरी बाह्य वस्तु या सत्ता नही है। अपरिवर्तनशील, नित्य, कूटस्थ आदि स्वरूप वाली आत्मा के लिए कोई स्थान नहीं है। लंकावतार सूत्र मे इस तथ्य को बतलाते हुये कहा गया है—"चित्त ही प्रवर्तित होता है, चित्त ही विमुक्त होता है, चित्त ही उत्पन्न होता है, चित्त ही निरुद्ध होता है, अन्य कोई भी पदार्थ चित्त के अतिरिक्त विद्यमान

नहीं है[1]। ऐसे ही योगाचार भूमि में कहा गया है—आध्यात्मिक शून्य है, बाह्य भी शून्य है, ऐसा कोई भी नहीं है जो शून्यता को अनुभव करता हो। सारे संस्कार क्षणिक हैं। उन्हें न तो कोई दूसरा उत्पन्न करता है और न वे स्वयं उत्पन्न होते हैं। प्रत्यय (कारण) होने पर ही नवीन पदार्थों का जन्म होता है। यदि प्रत्यय न हो तो इनकी उत्पत्ति ही न हो। उत्पन्न होनेवाले पदार्थों का स्वभाव भी क्षणिक है। रूप, वेदना, संज्ञा संस्कार और विज्ञान केवल माया, तत्वरहित, निस्सार है, इनके होने का भ्रममात्र है[2]। उनकी मिथ्या प्रतीति होती है। व्यवहारमात्र के लिए उनकी प्रज्ञप्ति है, वस्तुतः विज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नही है। जैसे किसी अन्धे को सुलोचन, मूर्ख को पण्डित, गँवार को गधा कहा जाय तो इन प्रयोगो को व्यवहारिक ही कहा जा सकता है, उसी प्रकार आत्मा और अपने से पृथक् बाह्य व्यवहार मात्र है, विज्ञान के अतिरिक्त वस्तुतः ये दोनों ही नही है। विज्ञान-समष्टि को ही आलयविज्ञान कहते है। इसी आलयविज्ञान से संसार की उत्पत्ति हुई है।

इस प्रकार हम देखते है कि विज्ञानवाद ने अनित्यता, प्रतीत्य समुत्पाद, अनीश्वरवाद और नैरात्म्यवाद को मानते हुए विज्ञान की प्रधानता मानी है, इसीलिए योगाचार निकाय का विज्ञानवादी निकाय नाम ही पड गया।

शून्यवाद मे प्रतीत्यसमुत्पाद को ही शून्यता माना गया है। प्रतीत्यसमुत्पाद से ही जगत् की उत्पत्ति होती है, जो इसे समझता है, वही चार आर्यसत्यों को जान सकता है और वही यह जानेगा कि सभी भौतिक तथा मानसिक पदार्थ कल्पित है। वे मृगमरीचिका, आकाश, वन्ध्या-पुत्र के समान तत्वतः शून्य है। वासना का ही यह लोक है जो अद्वय, वितथ और शून्य होता हुआ भी आलातचक्र की भांति गतिशील दृष्टिगत होता है[3]। शून्य ही परमतत्व है उसका बोध शब्द या प्रमाण से नही हो सकता। वह न भाव है, न अभाव, इन दोनो का सघात और न विघात। वह एक अव्यक्त अवस्था है[4]। इसके महात्म्य को बतलाते हुए आचार्य नागार्जुन ने कहा—"जो इस शून्यता को समझता है, वह सभी अर्थो को समझ सकता है और जो शून्यता को नही समझता, वह कुछ भी नहीं समझ सकता[5]।" इस वाद का प्रधान सिद्धान्त यह है कि कार्यकारण से ही सभी वस्तुएँ उत्पन्न होती है। वे हेतु-प्रत्यय पर ही अन्योन्याश्रित है। जो कार्य-कारण से होती है, जिस कार्य-कारण से स्थिति है और जो कार्य-

---

१. चित्तं प्रवर्तते चित्तं चित्तमेव विमुच्यते।
 चित्तं हि जायते नान्यच्चित्तमेव निरुध्यते।
 —लंकावतारसूत्र गाथा १४५।

२. योगाचारभूमि (चिन्तामयी), दर्शनदिग्दर्शन, पृष्ठ ७१८।

३. लंकावतारसूत्र।

४. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीयदर्शन, प्रथमभाग, पृष्ठ ६८०।

५. प्रभवति च शून्यतेयं यस्य प्रभवन्ति तस्य सर्वार्थाः।
 प्रभवति न तस्य किंचिन्न भवति शून्यता यस्य।
 कारिका ७१

कारण से ही नष्ट होता है उसकी परमार्थ सत्ता सम्भव नही, अत. वह सत्-असत् दोनों नही है। माध्यमिक कारिका मे कहा गया है—'कारक है', इसे तो कर्म के प्रत्यय से ही कहा जाता है, 'कर्म है', इसे भी कारक के प्रत्यय से ही कहा जाता है। इसे छोड सत्ता की सिद्धि के लिए दूसरा कोई कारण नही है[१]।" इस प्रकार कर्म और कर्ता अन्योन्याश्रित है। तात्पर्य यह कि पृथक्-पृथक् दोनो मे से किसी का भी अस्तित्व नहीं है। इसे ललितविस्तर में इस प्रकार समझाया गया है—बीज होने पर अंकुर होता है, किन्तु बीज को ही अंकुर नही कहा जा सकता और बीज से पृथक् उससे भिन्न भी अकुर नहीं है, अतः बीज शाश्वत, स्थिर, या नित्य नही है, क्योंकि उसमें परिवर्तन देखा जाता है। वह उच्छिन्न या नष्ट भी नही होता, क्योंकि अंकुर बीज ही का रूपान्तर है[२]। इस प्रकार न कोई शाश्वत है और न किसी उच्छेद होता है। शून्यवाद सत्ता का निषेध करता और लोक को शून्य मानकर वासनामय जगत् से मुक्ति का आकांक्षी है। शून्यवाद का यही मन्तव्य है। विग्रहव्यावर्तनी मे नागार्जुन ने शून्यवादी भगवान् बुद्ध को ही प्रणामकर ग्रन्थ को समाप्त किया है—

> "य. शून्यता प्रतीत्यसमुत्पादं मध्यमा प्रध्यमा प्रतिपदमनेकार्था।
> निजगाद प्रणमामि तमप्रतिमसम्बुद्धम्[३]।"

अर्थात् जिसने शून्यता प्रतीत्य-समुत्पाद और अनेक अर्थोवाली मध्यमा प्रतिपदा को कहा, उस अप्रतिम बुद्ध को प्रणाम करता हूँ[४]।

शून्यवाद के ऐसे वर्णन करने के साथ ही नागार्जुन ने यह भी कहा है कि भगवान् बुद्ध ने आत्मवाद, अनात्मवाद और न आत्मवाद, न अनात्मवाद भी सिखलाये है। प्रतीत्य-समुत्पाद भी शून्य मे ही अन्तर्निहित हो जाता है। इस प्रकार शून्यता-दर्शन सापेक्षतावाद के रूप में स्पष्ट होता है। अतः शून्यवाद का सार इतना ही है कि पदार्थ प्रतीत्य समुत्पन्न होने के कारण सापेक्ष सत् है, निरपेक्ष सत् नही। निरपेक्ष सत्ता के न मानने का नाम ही शून्यवाद है[५]।

---

१. माध्यमिक कारिका ६२।
२. ललितविस्तर, पृष्ठ २१०।
३ विग्रहव्यावर्तनी ७२।
४ दर्शन-दिग्दर्शन' पृष्ठ ५७१।
५ महायान पष्ठ ११५

दूसरा अध्याय

सन्तमत के स्रोत और बौद्धधर्म

महायान का विकास

बहुजन कल्याणकारी बौद्धधर्म के महायान सम्प्रदाय का उद्भव जिन कारणो से हुआ था, उनमे बौद्धधर्म को और भी लोकपरक बनाने की भावना निहित थी। भगवान् बुद्ध ने स्वातंत्र्य चिन्तन का उपदेश दिया था[1] और उनके इस उपदेश का प्रभाव उनके श्रावकों पर पडना स्वाभाविक ही था। उन्होंने यहाँ तक कहा था—"परीक्ष्य मद्वचो ग्राह्यम् भिक्षवो न तु गौरवात्[2]" अर्थात् भिक्षुओ, तुम्हे मेरे कथन की परीक्षा करके ही उसे ग्रहण करना चाहिये, केवल मेरे गौरव करने के भाव से ग्रहण नही करना चाहिए। इस प्रकार के तथागत-प्रवचन का प्रभाव यह हुआ कि भिक्षुओ मे स्वतंत्र चिन्तन की भावना उत्पन्न हुई और तथागत के महापरिनिर्वाण के उपरान्त ही कुछ सौ वर्षो मे अनेक प्रकार की नवीन बातें भिक्षुसंघ मे दृष्टिगत होने लगीं। इन्ही के कारण संगीतियो का आयोजन हुआ था और इन्ही के कारण नये भिक्षुनिकायों का जन्म भी। इन निकायो मे महासांघिक बहुत प्रबल थे। हम कह आये है कि आगे चलकर पहली शताब्दी ईस्वी मे अर्थात् तथागत के महापरिनिर्वाण के लगभग ४०० वर्षो के उपरान्त महासांघिको से महायान का उदय हुआ। इसके विकसित होने मे कई शताब्दियाँ लगी थी। इसके विकास के मूल मे सामाजिक तथा धर्मसम्बन्धी समयानुकूल आवश्यकताओ की पूर्ति, प्रधान कारण था। भिक्षुओ के सतत चिन्तन, देश, धर्म एवं राज-नैतिक परिस्थितियो के अनुकूल चिन्तन की धारा नवीनरूप लेती गयी और उसी के अनुरूप बुद्ध, बौद्धधर्म तथा उसकी साधना भी अपने नवीन संस्कारों से प्रभावित होती गयी। जो भगवान् बुद्ध पहले केवल शास्ता, मार्गोपदेष्टा, धर्म-प्रवक्ता थे, वे महायान के विकास के साथ ही त्राता, मुक्तिदाता एवं उद्धारक बन गये। यह हम पहले कह आये है। अब पारमिताओ के प्रश्रय से बोधिसत्वो की भावना बढी। इस बोधिसत्व की भावना के कारण अर्हत्व-प्राप्ति की इच्छा से अधिक, बुद्धत्व-प्राप्ति की अभिलाषा साधको मे दृढमूल हो गयी। वे जगत्-कल्याण के पश्चात् ही अपने कल्याण की दिशा मे चलने लगे। अब महायान में पूजा-भक्ति, गुरु-अर्चना आदि सम्मिलित हो गये और हीनयान कल्याणकारी होते हुए भी महायान के समक्ष 'हीन' दृष्टिगोचर होने लगा। दक्षिण भारत मे प्रचलित भक्ति-भावना ने जोर पकडा और पूरे उत्तर भारत मे उसका समादर हुआ, फलतः महायान के लिए मार्ग प्रशस्त होता गया। इसकी शिक्षाएँ जनता के लिए कल्याणकारी प्रतीत हुईं, जिनसे समाज महायान धर्म अंगीकार करता गया। महायान की जहाँ अनेक विशेषताएँ थी, उनमे ये सात

---

१. अंगुत्तरनिकाय, कालामसुत्त, हिन्दी अनुवाद, भाग १, पृष्ठ १९१–१९७।

२ तत्वसंग्रह टीका पृष्ठ १२ पर मे उद्धत।

प्रमुख थी—(१) महायान महान् और विशाल है, क्योंकि उसमे सम्पूर्ण जीव-जगत् के कल्याण की भावना है। (२) महायान मे तो सारे जोवो के त्राण का साधन है। (३) महायान का लक्षण बोधि-प्राप्ति है। (४) महायान का आदर्श बोधिसत्व है जो प्राणियो के कल्याणार्थ सदा प्रयत्नशील रहता है। (५) महायान में भगवान् बुद्ध ने उपाय-कौशल्य से प्राणियो के अनुकूल नाना प्रकार का उपदेश दिया, किन्तु उनके सभी उपदेश परमार्थत एक है। (६) बोधिसत्व की दस भूमियों का महायान मे विधान है। (७) महायान के अनुसार भगवान् बुद्ध सभी प्राणियो की आवश्यकताओ को पूर्ण करते है[1]। महायान की इन विशेषताओ के ही कारण अनेक बोधिसत्वो, बुद्धो, देवी-देवताओ की कल्पना हुई और करुणामय बोधिसत्व अवलोकितेश्वर, मंजुश्री आदि का प्रादुर्भाव हुआ। अवलोकितेश्वर की प्रार्थना मे लोक-कल्याण की कैसी करुणाप्रेरित भावना है! वे लोकहित के लिए प्रार्थना करते हुए कहते है—"मै करवद्ध सभी दिशा के सम्बुद्धों से प्रार्थना करता हूँ कि जो प्राणी ममता के कारण सांसारिक दुःख मे पडे है उनके लिये धर्म के दीपक को प्रज्वलित करे। मै उन सभी आत्म-निग्रहीबुद्धो से आग्रह करता हूँ कि जो महापरिनिर्वाण प्राप्त करने के लिए प्रस्तुत है, वे असंख्य युगों तक रुके रहे, जिससे कि यह संसार अन्धकार मे आवृत न हो जाय। मैने अपनी साधना से जितने भी पुण्य प्राप्त किये है उनसे सभी प्राणियों के दुःख शान्त हो[2]।" अब महायान वैयक्तिक साधना का आधार न होकर लोक-हित-साधक साधना का स्वरूप ग्रहण कर लिया। उसका दर्शन पक्ष भी विकसित हुआ और बौद्धधर्म चार दार्शनिक निकायो मे प्रचलित हुआ। इनमे सौत्रान्तिक और वैभाषिक हीनयान के थे तथा विज्ञानवाद एवं शून्यवाद महायान के। महायानी दर्शन-पक्ष का बहुत प्रचार हुआ, क्योंकि उसमे लोक-भावना के अनुरूप बौद्ध-दर्शन का प्रतिपादन था। इन चारो निकायों की उत्पत्ति के साथ ही बौद्धधर्म मे नये विकास का सृजन प्रारम्भ हुआ, जो चौथी शताब्दी ईस्वी तक बहुत प्रबल हो गया। इनमे महायान के निकायों के विकास से जन-मानस ऐसा प्रभावित हुआ कि हीनयानी आचार्य तक महायानी कहलाने का गौरव प्राप्त करने के इच्छुक हो गये। महायान का यह विकास-क्रम आठवी-नौवीं शताब्दी तक चलता रहा और उसके पश्चात् भी उसका क्रम अवरुद्ध नही हुआ, किन्तु ज्यों-ज्यो वह विकसित होता गया, बुद्ध की मूल शिक्षाओं से दूर हटता गया और आचार्यो की लोकहित-साधक भावना से प्रेरित होकर प्रचारित साधना ही उसके पास जनसमाज के लिए थाती रह गयी।

बौद्धधर्म में तान्त्रिक प्रवृत्तियों का प्रवेश

प्रारम्भिक बौद्धधर्म शुद्ध आचरण, चिन्तन और ज्ञान पर अवलम्बित था। शील उसका मूल आधार था, वह समाधि एवं प्रज्ञा-भावना से सवर्द्धित था[3]। उसमे मिथ्याजीव, मिथ्याकर्मान्त आदि का निषेध था। लोक-कल्याण की भावना से भी तन्त्र-मन्त्र, जादू-टोना,

---

१ बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीयदर्शन, प्रथम भाग, पृष्ठ ५६२।

२ सेकोद्देश टीका पृष्ठ ४८/१ २ ३/तथा सिद्धसाहित्य पृष्ठ १०१।

३ विशुद्धिमार्ग प्रथम भाग पृष्ठ २ ७

इन्द्रजाल आदि बातों का करना श्रमणशील के विपरीत था[1]। फिर भी हम स्थविरवाद के पालि त्रिपिटक में भी इन तथ्यों के बीज दृष्टिगत होते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि ये स्थल पीछे के हैं और प्रतिस्पर्द्धा में लिखे गये हैं[2], किन्तु यदि आटानाटीय[3], महासमय[4] आदि देवी-देवता, मन्त्र-परक एवं चमत्कार पूर्ण बातों से समन्वित सूत्रों को प्रक्षिप्त मान भी ले तो भी यह मानने में किसी प्रकार की आपत्ति न होगी कि बौद्धधर्म में परिशुद्ध ब्रह्मचर्य के निर्वाह एवं लोक-कल्याण की भावना से समंगीकृत करणीयमेत्त[5], रतन[6], महामंगल[7], खन्ध[8] आदि अनेक ऐसे सूत्र तथागत द्वारा उपदिष्ट थे, जिनके पाठ से भूत-प्रेतों से त्राण पाया जा सकता था। लिच्छवियों की राजधानी वैशाली में रतनसुत्त का पाठ इसका ज्वलन्त प्रमाण है। हम दीघनिकाय के कतिपय सूत्रों में यह भी पाते हैं कि भगवान् बुद्ध से पूर्व भी तन्त्र-मन्त्र, भूत-प्रेत, जादू-टोना की बातें जन-समाज में विद्यमान थीं, जिन्हें तथागत ने भिक्षु-जीवन की सफलता के लिए बाधक बताते हुए निन्दितकर्म की संज्ञा दी थी[9]। हम यह भी देखते हैं कि यमक प्रातिहार्य[10], ऋद्धि प्रदर्शन[11] आदि चमत्कारिक एवं अलौकिक बातें भी विद्यमान थीं। यद्यपि तथागत ने ऋद्धि प्रर्शन के लिए भिक्षुओं को मना कर दिया था[12]। ऋद्धिप्रातिहार्य, आदेशनाप्रातिहार्य तथा अनुशासनीप्रातिहार्य को तथागत जानते थे और भिक्षुओं को बतलाया भी था, किन्तु उनका कथन था—"ऋद्धिबल को दिखलाने में मैं दोष को देखकर हिचकता हूँ, संकोच करता हूँ और उससे घृणा करता हूँ[13]।" क्योंकि गाधारी, चिन्तामणि आदि विद्याओं को जानकर भी प्रदर्शन कर सकते हैं[14]। आगे चलकर जब महायान का उदय हुआ और वह अपने विकास की दिशा में बढ़ने लगा, तब ये उक्त बातें धीरे-धीरे अलौकिक चमत्कार की भाँति प्रस्फुटित हो गयीं। भगवान् बुद्ध को भी अलौकिक मान लिया गया[15] और यह कहा गया कि वे इस लोक में आये ही नहीं थे[16]। यहाँ जन्म, धर्मोपदेश, परनिर्वाण आदि की लीलायें तो निर्मित बुद्ध की थीं[17], यह तथागत का उपायकौशल्य था, वास्तव में भगवान् बुद्ध ऐतिहासिक न होकर अनैतिहासिक थे[18]। चौथी शताब्दी ईस्वी के आसपास इन अलौकिक बातों एवं मन्त्रों से युक्त ग्रन्थों की

---

१. दीघनिकाय, ब्रह्मजालसुत्त १, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ १–१५।

२ महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, पुरातत्वनिबन्धावली, पृष्ठ १३६।

३. दीघनिकाय ३, ९।

४. दीघनिकाय २, ७।

५ सुत्तनिपात १, ८।

६. वही, २. १।

७ सुत्तनिपात २, ४।

८. सयुत्तनिकाय, विनयपिटक आदि में।

९. दीघनिकाय, ब्रह्मजालसुत्त १, १ तथा सामञ्जफलसुत्त १, २।

१० बुद्धचर्या, पृष्ठ ८१।

११. विनयपिटक, पृष्ठ ८९–९५।

१२. दीघनिकाय, केवट्टसुत्त १, ११।

१३ दीघनिकाय, हिन्दी अनुवाद पृष्ठ ७८, ७९।

१४ वही पृष्ठ ७६।

१५ वही ४ १८ १।

१६ _ ५ २१ ७

१७ वही ४ १८ १

रचनाएँ हुई। इस कार्य में महायान के वैपुल्यवादी सबसे आगे रहे[१]। उन्होंने लम्ब-लम्ब सूत्रों के स्थान पर छोटे-छोटे सूत्रों की रचना की। अब मंत्र भी धारणी के रूप में बनने लगे और इस प्रकार के मंत्रों के सृजन हो गये—"ओं मुने-मुने महामुने स्वाहा", "ओं आ हुँ", 'ओं तारे तुत्तारे तुरे स्वाहा'[१]। 'ओं' शब्द का बौद्धधर्म में प्रवेश इसी काल में हुआ। अब 'स्वाहा' और 'ओं' शब्दों के योग से जिस भी मंत्र की रचना हो सकती थी। इस प्रकार महायान बौद्धधर्म में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो गयी—एक तो वह जो पारमिता धर्मों की पूर्ति से लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित थी और दूसरी मंत्रों के बल से जगत्-कल्याण की कामना रखती थी। दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान तथा प्रज्ञा पारमिताओं की पूर्ति से कोई भी व्यक्ति बुद्ध हो सकता है और वह इस अभ्यास-काल में बोधिसत्व है। इस साधना से ही उसमें बोधिचित्त उत्पन्न होता है और फिर वह प्रमुदिता, विमला, प्रभाकारी, अर्चिस्मती, सुदुर्जया, अभिमुखी, दूरंगमा, अचला साधुमती और मेधमयी—इन दस बोधिसत्व की भूमियों को प्राप्त कर लेता है। इसकी पूर्णता के उपरान्त वह साधक सम्बोधि को प्राप्त कर लेता है[२]। उधर मंत्र प्रणाली में पारमिता-शास्त्र को लघुरूप दिया गया। शतसाहस्त्रिका, दश साहस्त्रिका, अष्टसाहस्त्रिका, शतश्लोकी और यहाँ तक कि एक हृदयसूत्र के रूप में परिवर्तित हो गयी। उन मंत्रों के साथ मैत्रेय, वैरोचन, अक्षोभ्य आदि ध्यानी बुद्धों के नाम जुट गये। मंत्र-साधना के लिए मंत्र-तंत्र के भी विधान बन गये। इस प्रकार मंत्रयान के कारण बौद्धर्म में तांत्रिक प्रवृत्तियों का प्रवेश हुआ। इसी समय अवलोकितेश्वर, मंजुश्री आदि बोधिसत्वों के नाम पर भैरवीचक्र, स्त्री-सम्भोग आदि का भी प्रवेश हो गया। अब मंत्र, हठयोग और मैथुन ये तीन बौद्धधर्म में प्रधानरूप से प्रतिष्ठित हो गये[३]। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने इस मंत्रयान का काल-विभाजन इस प्रकार किया है[४]—मंत्रयान (नरम) ई० ४०० ७०० और (२) वज्रयान (गरम) ई० ८००-१२००। इन यानों ने भगवान् बुद्ध को ही मंत्रों का उपदेष्टा मान लिया और तंत्राचार्यों द्वारा प्रतिपादित ग्रन्थों द्वारा तंत्रमार्ग को भगवान् बुद्ध द्वारा सम्मत सिद्ध कर दिया गया[५]। जिस प्रकार लंका, वर्मा, थाईलैंड आदि स्थविरवादी बौद्धदेशों में आज भी त्रिपिटक के कुछ रक्षात्मक-भाव वाले रतन, मेत्त, महामङ्गल आदि सूत्रों को परित्राण पाठ नाम से पुकारा जाता है और उनके पाठसे अशुभ बातों, भूत-प्रेतों आदि से रक्षा होने की भावना प्रचलित है, उसी प्रकार महायान में सूत्रों को 'धारणी' रूप में कर लिया गया। धारणियों का रूप लघु होता था और इनका प्रयोजन मानव-रक्षा करना था। 'धारणी' शब्द का अर्थ रक्षा ही होता है। इन धारणियों में बुद्ध, बोधिसत्व और देवियों (ताराओं) की प्रार्थना होती है। जैसे स्थविरवादी रतन, मंगल सूत्रों में व्यक्त बुद्धगुणों तथा सदाचारों की दुहाई एवं सत्यवचन के प्रताप से रोग के शमन की कामना करते है, उसी प्रकार इन धारणियों के पाठ से रोग-नाश होता है, अनावृष्टि दूर होती है, व्यक्ति के अशुभ दिन शुभ हो जाते है, उसका मंगल होता

---

१. पुरातत्वनिबन्धावली, पृष्ठ १३७।
२. वही, पृष्ठ १३७।
३ सिद्धसाहित्य, पृष्ठ १११।
४ बौद्ध-दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, प्रथम भाग, पृष्ठ ५६४।
५ पृष्ठ १३९
६ सिद्धसाहित्य पृष्ठ १३७

है और वह वृद्धि-वैपुल्य को प्राप्त होता है। सम्प्रति नेपाल में महाप्रतिसार, महासहस्रमर्दिनी, महामयूरी, महाशीतवती और महारक्षामन्त्रानुसारिणी ये पाँच धारणियाँ 'पंचरक्षा' नाम से प्रचलित है[1]। मन्त्रयान के कारण ही इन धारणी-सूत्रों की रचनाएँ हुई। ये मंत्रपद के सदृश थे। इन्ही के सहारे निर्वाण की भी प्राप्ति हो सकती थी। इन मंत्रो मे गुह्यशक्ति मानी जाती थी। तथागतगुह्यक ग्रन्थ तंत्र का प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है जिसे अनुत्तर योगतंत्र कहते है। इसमे प्रधानत: योगसिद्धि की पाँच भूमियो का वर्णन है, जिन्हे मंडल, यंत्र, मंत्र और देवपूजन से प्राप्त किया जा सकता है[2]। मंजुश्री मूलकल्प भी मंत्रयान का ही ग्रन्थ है। इसमें बतलाया गया है कि तथागत ने मंजुश्री को मंत्र, मुद्रा, मण्डल आदि का उपदेश दिया था। 'एकल्लबीरचण्डमहारोषण तंत्र' में प्रतीत्यसमुत्पाद की देशना के साथ योगिनियों की साधनाएँ भी है। 'श्रीचक्रसम्भार तंत्र' मे मंत्र, ध्यान आदि का निरूपण है और उनकी प्रतीतात्मक व्याख्या भी है[3]।

मन्त्रयान मे अल्पाक्षर धारणी की रचना मे मन्त्रो के बीजाक्षरों का अत्यधिक प्रयोग किया गया और धारणी ने ही लघुमन्त्रो का रूप धारण कर लिया। अनेक बीजाक्षरोंकी कल्पना की गयी। वैरोचन का 'अ', अक्षोभ्य' का 'य', रत्नसम्भव का 'र', अमिताभ का 'भ', अमोघसिद्धि का 'ल' बीजाक्षर था[4]। इन मन्त्रो मे देवताओ की कल्पना से ऐसा माना जाने लगा कि अक्षरो मे सदा दैवशक्ति होती है, वे कभी नष्ट नही होते है, इस प्रकार तन्त्रो मे शब्द-ब्रह्म की कल्पना मिलती है, जिससे यह माना जाता है कि मनुष्यो तथा देवो तक की सृष्टि हुई है[5]।

मन्त्रो के उपयोग हेतु यन्त्र, कवच आदि भी प्रचलित हुए। इन मन्त्रो को धातु, ताड-पत्र या भोजपत्र पर लिखा जाता था। इसी समय मुद्रा की भावना भी विकसित हुई, जिससे अंगुलियों की मुद्राओं की साधना से समाधि को प्राप्त किया जा सकता था। पीछे ये मुद्राये महामुद्रा प्रज्ञा तथा उनकी शक्ति नारी के रूप मे मानी जाने लगी, जिनके समागम से सिद्धि की प्राप्ति बतलाई गई। इन मुद्राओ मे अवलोकितेश्वर द्वारा पद्म, शंख, वज्र आदि को धारण करनेवाली अगुलियो की मुद्राएँ सम्मिलित थी[6]। बौद्धधर्म मे पाँच स्कन्ध माने जाते है— रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान। ये पञ्चस्कन्ध आत्मा या आत्मीय से शून्य माने जाते है। महायान के शून्यवाद मे इनकी व्याख्या सापेक्ष्यवाद के ढंग पर की गयी थी। वही मन्त्र-तन्त्र मे उलझ कर शून्य धर्मो के निराकार रूप को छोड़कर पाँच ध्यानी बुद्धो के रूप मे विकसित हो गयी। क्रमश ये ध्यानी बुद्ध थे—वैरोचन, रत्नसम्भव, अमिताभ, अमोघसिद्धि और अक्षोभ्य। इनकी पाँच शक्तियाँ भी मानी गयीं, जिन्हे इनकी पत्नियाँ भी कहा जाता है। ये थी—मोहरति, ईर्ष्यारति, रागरति, वज्ररति और द्वेषरति। इनका जन्म पाँच कुलो से माना गया—मोह, ईर्ष्या, राग, वज्र तथा द्वेष। इनके रूप-रंग, चिह्न, वर्ण, अक्षर, भूत आदि भी

---

१ बौद्धधर्म दर्शन, पृष्ठ १७६।
२. वही, पृष्ठ १७७।
३ वही पृष्ठ १७८
४ सिद्धसाहित्य पृष्ठ १३९
५ बौद्धधर्म दर्शन पृष्ठ १३९
६ सिद्धसाहित्य पृष्ठ १३९

कल्पित हुए[1] इन बुद्धों की मूर्तियाँ भी शक्तियों के साथ निर्मित होने लगी। मन्त्रयान में यह वज्रयान का परिलक्षित स्वरूप था। इस प्रकार हमने देखा कि महायानी बौद्धधर्म दक्षिण के पर्वत (धान्यकटक) के सिद्धों से प्रभावित होकर उनके द्वारा प्रचारित धारणियों, मन्त्रों, तन्त्रों को ही अंगीकृत कर पूर्ण तान्त्रिक हो गया। हम कह चुके हैं कि श्रीपर्वत में ही महायान का श्रीगणेश हुआ था। आचार्य नागार्जुन का वही वासस्थान था, अत पीछे भी वही केन्द्र बना रहा और वही से सम्पूर्ण भारत में तान्त्रिकता फैली। भिक्षु तथा साधक बौद्धधर्म के सदाचार से दूर हटते हुए इन तान्त्रिक-प्रवृत्तियों में भी पड़कर सुख-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहने लगे। इसकी परिसमाप्ति भी यही नही हुई। यह धीरे-धीरे और वज्रयान के रूप में परिवर्तित हो गया और तन्त्रयान ने वज्रयान का स्वरूप ग्रहण कर लिया।

वज्रयान का अभ्युदय

वज्रयान का अभ्युदय भी दक्षिण में श्रीपर्वत पर ही हुआ था। वज्रयानी ग्रन्थों में उसे वज्रपर्वत भी कहा गया है[2]। तिब्बती ग्रन्थों में कहा गया है कि तथागत ने सर्वप्रथम ऋषिपतन में श्रावकधर्मचक्र का प्रवर्तन किया, गृध्रकूट पर्वत पर महायान धर्मचक्र का प्रवर्तन किया और धान्यकटक से मन्त्रयान का धर्मचक्र प्रवर्तन किया[3]। किन्तु मंजुश्री मूलकल्प में श्रीपर्वत पर ही धान्यकटक को बतलाया गया है और यह भी कहा गया है कि वही तन्त्रमन्त्र की सिद्धि शीघ्र होती है[4]। अत वज्रपर्वत तथा श्रीपर्वत एक ही स्थान का नाम सिद्ध होता है। तात्पर्य यह कि तन्त्र-मन्त्रों की उद्भव भूमि ही वज्रयान की जन्मभूमि थी। वास्तव में वज्रयान अकस्मात् कही दूसरे स्थान या साधना-भूमि से उत्पन्न नही हुआ था, प्रत्युत यह तन्त्रयान का ही परवर्ती रूप था। तन्त्रयान की सभी प्रवृत्तियाँ तो इसमें थी ही, कुछ अन्य बातें भी आ जुटी, जिनका हम अभी वर्णन करेंगे।

'वज्र' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, किन्तु यहाँ वज्र का अर्थ शून्यता से लिया गया है। नैरात्म्य दर्शन ही शून्य स्वभाव होने के कारण वज्रयान नाम से अभिहित हुआ, किन्तु यह नैरात्म्यदर्शन अथवा शून्यवाद नागार्जुन के शून्यवाद से बहुत आगे बढ चुका था। इसमें अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करने का प्रधान मार्ग वज्र-साधना को ही बतलाया गया[5]। तथागत का भी वज्री नाम हो गया[6]। यही नही, वज्रसत्व, वज्रस्वभाव, वज्रज्ञान, वज्रयोग, वज्रवर्ण, वज्रवाराही, वज्ररूपिणी, वज्रमोहिनी आदि देवी-देवताओं की कल्पना कर ली गयी और तिल, यव, आसन, ध्वज, पात्र, अक्षत, अंजलि, पचामृत—ये सभी उनकी उपासना में

---

१. वही पृष्ठ १४०।
२. पुरातत्त्वनिबन्धावली, पृष्ठ १४२। ३ वही, पृष्ठ १४०।
४. श्रीपर्वते महाशैले दक्षिणापथसंज्ञिके, श्रीधान्यकटके चैत्ये जिनधातुधरे भुवि।
सिध्यन्ते तत्र मन्त्रा वै क्षिप्रं सर्वार्थकर्मसु॥—मंजुश्रीमूलकल्प, पृष्ठ ८८।
५ सिद्धसाहित्य पृष्ठ १४१
६ २ ५३ नमस्यामि वज्रिण उन वज्री को करता हूँ

वज्रसिक्त होना आवश्यक हो गया[१]। पाँचो ध्यानी बुद्धों की पंक्ति में वज्रसत्व नामक छठें बुद्ध भी प्रतिष्ठित हो गये। उनकी शक्ति प्रज्ञापारमिता बनी और अस्त्र बना अमोघवज्र। इस बुद्ध की भी मूर्ति शक्ति के साथ बनने लगी।

वज्रयान में मद्य, मन्त्र, हठयोग और स्त्री मुख्य रूप से सम्मिलित हो गये[२]। जो बौद्धधर्म सदाचार की भित्ति पर खड़ा हुआ था, शील पर प्रतिष्ठित था[३], पंचशील, अष्टशील आदि जिसके धर्मलक्षण थे, वही पवित्र एवं परिशुद्ध बौद्धधर्म वज्रयान के रूप में घोर विकृत हो गया। अब उसके लिए जीवहिंसा करना, झूठ बोलना, चोरी करना और व्यभिचार करना जघन्य कर्म न होकर सिद्ध-प्राप्ति का मार्ग हो गया और उसे सभी बुद्धों की धर्मदेशना बतलाकर घोर वाममार्ग का प्रचार किया गया[४]। व्यभिचार की भी कोई सीमा न रही, माता, बहिन तक का विचार इन वज्रयानी साधकों ने त्याग दिया[५]। ज्ञानसिद्धि नामक ग्रन्थकार ने तो यहाँतक विधान रचना कर दी कि समाहित योगी सभी गम्यागम्य बातों से विमुक्त होता है[६]।

वज्रयान में सिद्धि प्राप्त करने के लिए जहाँ अनेक देवी-देवताओं, बुद्धों आदि की कल्पना की गयी, वहीं शान्ति, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन और मारण आदि छ अभिचारों का विधान बनाया गया। एक ओर वज्रसिद्धि से अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि प्राप्ति का लक्ष्य था, तो दूसरी ओर महान् असामाजिक, दुश्शील एवं उच्छृङ्खल अनैतिक बातें मुख्य रूप से सम्मिलित हो गयी। महायान की लोकोपकारी भावना का वज्रयान ने विनाश-सा कर दिया। कहाँ करुणा-प्रेरित होकर जगत्-उद्धार के संकल्प और कहाँ यह अनैतिक आचरण! वह भी सम्यक् सम्बुद्ध के पवित्र धर्म के नाम पर! इतना कह दें कि ये सभी वामपन्थी बातें यौगिक चमत्कारों की सिद्धि की सहायक मानकर उनके अंग स्वरूप विभिन्न नामों से अभिहित हुई, जैसा कि पहले कहा गया है। अब वज्रयान ने विमुक्तिगामी न होकर प्रवृत्तिगामी रूप धारण कर लिया।

वज्रयान में साधक की अवस्था के अनुसार इसके चार तन्त्र थे—क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र, योगतन्त्र और अनुत्तरतन्त्र[७]। योगतन्त्र के भी तीन भेद हैं—महायोगतन्त्रयान, अनुत्तरयोग-

---

१ सिद्धसाहित्य, पृष्ठ १४१। २. पुरातत्वनिबन्धावली, पृष्ठ १४३।

३. सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो—विशुद्धिमार्ग भाग १, पृष्ठ १।

४ प्राणिनश्च त्वया घात्या वक्तव्यं च मृषा वचः।
अदत्तं च त्वया ग्राह्यं सेवनं योषितामपि॥
अनेन वज्रमार्गेण वज्रसत्वान् प्रचोदयेत्।
एषो हि सर्वबुद्धानां समयः परमशाश्वतः॥ —गुह्यसमाजतन्त्र, पृष्ठ १२०।

५ जनयित्री स्वसारं च स्वपुत्रीं भागिनेयिकाम्।
कामयन् तत्वयोगेन लघु सिध्येद्धि साधकः॥ —वही, पृष्ठ २५।

६ भक्ष्याभक्ष्यविनिर्मुक्तो पेयापेयविवर्जितः।
गम्यागम्यविनिर्मुक्तो भवेद् योगी समाहितः॥ १८३॥

७ सिद्धसाहित्य, पृष्ठ १४६

तन्त्रयान और [illegible] । इन तन्त्रों मे पूर्व चार के ही विस्तृत विधान वज्रयानी ग्रन्थो मे उपलब्ध है । देह, गुरु का महत्व, मन्त्र, तन्त्र, हठयोग, जाति-पाँति का त्याग, मैथुन, गुह्यसाधनाएं, सिद्धियॉ, मण्डल, चक्रादि, अनुष्ठान आदि का इनमे परियोग है। क्रियातन्त्र मे प्रारम्भिक साधना है, जिसे आदिकर्मिक की साधना कहा जाता है । चर्यातन्त्र पारमिताओ की पूर्ति हेतु दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान तथा प्रज्ञा की पूर्णता है । योगतन्त्र हठयोग की सिद्धि प्राप्त करनी है । यौगिक क्रियाओ द्वारा हठयोग का अभ्यास ही इसका प्रधान लक्ष्य है । अनुत्तरतन्त्र से अनुत्तरसिद्धि की प्राप्ति होती है । जब योगी इस सिद्धि को प्राप्त कर लेता है तब वह वज्रात्मक स्वभाव को प्राप्त हो सहज भाव मे लीन हो जाता है, तब उसके लिए किसी भी प्रकार के आचार, गमनागमन आदि का बन्धन नही रह जाता[1] ।

सारांश यह कि तान्त्रिक प्रवृत्तियो से ही वज्रयान का उदय हुआ और ये वज्रयानी घोर तान्त्रिकता मे पडकर बुद्ध की मूल शिक्षाओ से प्राय दूर जा पडे। ये अपने को अनुत्तर सिद्धि तथा सहज-भाव का ज्ञानी समझने लगे। इन्होंने सहज भावना पर बल दिया और अपनी गुह्यशक्तियो का प्रयोग लोक-उद्धार के लिए करने का संकल्प कर वज्र-साधना के मार्ग को अपनाया ।

सहजयान

सहजयान वज्रयान का ही अन्तिम रूप है । कुछ विद्वानो का कहना है कि वज्रयान तथा सहजयान मे बहुत अन्तर नही है, यह नाम भी ग्रन्थों मे नही मिलता, यह पीछे का जोडा हुआ नाम है[2], किन्तु हम देखते है कि वज्रयान की सहजभावना ने ही सिद्धो की वाणियो मे सहजसिद्धि का रूप धारण किया और सहजयान का प्रचार हुआ । इसमें भी हठयोग, मद्य, गुरु, मन्त्र, तन्त्र आदि वज्रयान की प्रवृत्तियॉ थी । इसकी भावना मे योगिनी का होना आवश्यक था, चाहे वह किसी भी जाति की क्यो न हो । योगिनियाँ प्राय डोम, चमार आदि नीची जातियों की ही होती थीं । इनके सभी देवी-देवता, यहाँ तक कि बुद्ध भी युगनद्ध थे । इनकी मिथुनपरक भावना वज्रयान से भी आगे बढ गयी और ये लौकिक सुख से वंचित होकर साधना करना नही चाहते थे। पहले बौद्धधर्म मे त्रिशरण (बुद्ध, धर्म, संघ) माना जाता था, किन्तु अब इन्होंने इनसे भी ऊपर गुरु की महत्ता सिद्ध की और चतुःशरण को प्रचारित किया । इसका प्रभाव अब भी तिब्बत मे है, वहाँ पहले लामा अर्थात् गुरु की शरण जाने का विधान है, फिर बुद्ध, धर्म और संघ की[3] । आगे हम देखेंगे कि नाथो और सन्तों पर इस भावना का विशेष प्रभाव पडा ।

सहजयान मे सहज अथवा नैसर्गिक जीवन पर जोर दिया गया है[4] । सहजभावना को ही ऋजुमार्ग कहा गया है जिसमे जीवन को अपने नैसर्गिक रूप मे बिताना पड़ता है[5] । इसमे

---

१. पुरातत्वनिबन्धावली, पृष्ठ १४४ । २. सिद्धसाहित्य, पृष्ठ १४९ ।
३. दोहाकोश भूमिका, पृष्ठ ६ । ४. दोहाकोश भूमिका, पृष्ठ २७ ।
५. उजु रे उजु छाड्डि मा लेहु रे बंक, णिअहि बोहि मा जाहु रे लाङ्क ।
वाम दाहिणे जो खाल-विखाला, सरह भणइ बया उजुबाट भाइला ॥
दो दोहा पृष्ठ ४८

ऋद्धि-सिद्धि के लोभ को छोड़कर सहजभावना ही कल्याणकारी मानी जाती है[1]। सहजयान कहता है कि यदि लोक में उत्पन्न होने से दुःख बहुत है तो सुख का मार्ग भी वहीं है। लोक सहजानन्द से परिपूर्ण है, अतः नाचो, गाओ, विलसो[2]।

सहजभावना में शून्यता तथा करुणा प्रधान रूप से है, किन्तु जो शून्यता के बिना करुणा-भावना करता है वह हजारों जन्मों तक मुक्ति नहीं पा सकता[3]। जो सहज द्वारा चित्त को विशुद्ध कर जीवन का उपभोग नहीं करता और केवल शून्यता-भावना करता है, वह ज्ञान को न प्राप्त कर अज्ञान में ही भटकता रहता है[4]। सहज में इसीलिए केवल शून्यता-भावना का निषेध किया गया है। करुणा तथा शून्यता दोनों की भावना आवश्यक है। दोनों के समरस में ही सिद्धि की प्राप्ति होती है। जो योगी या योगिनी इसकी भावना समरसता में करते हैं और जिन्हें सिद्धि प्राप्त हो जाती है, उन्हें लोक-प्रपंच स्पर्श तक नहीं करता। शून्य और करुणा समस्त जगत् का मूलधर्म है, इन्हीं की भावना में व्यक्ति मुक्त होकर परम सुख निर्वाण को प्राप्त करता है।

सहज को अमृत रस प्राप्ति की स्थिति भी कहा गया है, जिसे यह प्राप्त हो जाता है वह परमज्ञानी हो जाता है। वह गुह्य तथा रहस्यमय है, किन्तु उसकी भावना सर्वोत्तम है। जो अपने मनको शान्त, निश्चल और समरस कर देता है, वही सिद्ध की अवस्था को प्राप्त होता है[5]। इस प्रकार सहज भावना शून्यतत्त्व अथवा परमतत्व मानी गयी है। इसमें चित्त सबका बीज माना गया है। वह चिन्तामणि रूप है। उसकी सेवा करने में इच्छित फल की प्राप्ति होती है। उसे मुक्त करना साधक का परम कर्त्तव्य है। उसी की मुक्ति से परम सुख निर्वाण का साक्षात्कार होता है[6]। मनुष्य कर्म के बन्धन में बँधा है, जब वह इस बन्धन से मुक्त हो हो जाता है तब उसका मन मुक्त हो जाता है और फिर वह परिनिर्वाण को प्राप्त कर लेता है[7]।

सहजयान मिथुनपरक होने के कारण यह मानता है कि करुणा से परिभावित शून्य रूपी भगवती में योग और उसके चिन्तन से सिद्धि का साक्षात्कार होता है। मुक्ति स्वतः सिद्ध मानी गयी है। ब्रह्म या किसी सनातन सत्ता को नहीं माना गया है। लोक क्षणिक है किन्तु वहीं सहजानन्द भी सम्भव है, अतः पीछे की बातों में न पड़कर प्रत्यक्ष का आनन्द-अनुभव उत्तम माना गया है[8]। जब मन का भ्रम दूर हो जाता है और चंचलतायें मिट जाती है तब परमसुख की स्थिति आती है[9]। वह परमसुख आदि-अन्त-मध्य रहित है, न वह संसार

---

१. दोहाकोश भूमिका, पृष्ठ ३१।
२. जइ जग पूरिअ सहजानन्दे, णाच्चहु गाअहु विलसहु चंगे—दोहाकोश, पृष्ठ १३६।
३. सिद्धसाहित्य, पृष्ठ १८७।
४. वही, पृष्ठ १८७।
५. सिद्धसाहित्य, पृष्ठ १७८।
६. दोहाकोश, पृष्ठ २३–२४।
७. वही पृष्ठ ९१
८. दोहाकोश भूमिका पृष्ठ ३५
९. वही पृष्ठ ३५

कहलाने क गिनि में आता है और न ति ण उसमें आगे ागा मे नहीं ह वही मर्वत्र विराजमान है[१]। वह शून्य और निरंजन है । जब तक चित्त स्थिर न हो जाय, तबतक इसकी भावना आवश्यक है। इसकी भावना से महासुख की प्राप्ति होती है, उसकी अवस्था अक्षर-वर्ण-विवर्जित है। वह न स्याज्य है और न ग्राह्य ही है[३]।

इस प्रकार सहजयान में करुणारहित भावना, शून्यता भोग में ही योग, देह को ही तीर्थ, संसार में ही सुखसार आदि को मानते हुए महासुख की प्राप्ति के साधन बतलाये गये है। इस भावना से लीन व्यक्ति का श्रमण होना बेकार है[४]। वह जिस किसी स्थिति में भी रहकर सहज की भावना कर सकता है[५]। सहज की प्राप्ति केवल सिद्धों को ही होती है वे ही इस रहस्य को जानते हैं, अन्य साधकों का परिश्रम निष्फल है। इस अनुसार सिद्धि के लाभ-हेतु सहज स्वभाव धारण करना अत्यन्त आवश्यक है।

सिद्धों का युग

वज्रयान गर्भित सहजयान से ही सिद्धों का प्रादुर्भाव हुआ था। सभी सिद्ध सहज भावना के समर्थक तथा प्रचारक थे। इन्हें महायान के वज्रयान-विचारों को ग्रहण करने के कारण घोर वज्रयानी भी कहा जाता है[७], किन्तु ये सिद्ध विकसित सहजयान के ही प्रतिपादक थे। सहजयान इस सिद्ध-काल में ही पूर्ण विकास को प्राप्त हुआ। इन सिद्धों की संख्या चौरासी मानी जाती है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने इनकी पूरी संख्या तिब्बती साहित्य के आधार पर प्रस्तुत की है[८]। इन सिद्धों का काल ईस्वी सन् ८०० से १२०० ई० तक माना जाता है[९]। प्रथम सिद्ध सरहपाद थे और अन्तिम सिद्ध कालपाद[१०]। इनके पश्चात् भी सिद्ध हुए, किन्तु उनकी गणना इन चौरासी सिद्धों में नहीं होती। इन सिद्धों में कतिपय योगिनियाँ भी थीं। मणिभद्रा, मेखला, कनखला और लक्ष्मीकारा सिद्ध-योगिनियाँ ही मानी जाती है[११]। सिद्ध जाति-पाँति के निन्दक तथा उग्र भावनावाले थे, अतः इनमें ब्राह्मण, शूद्र, कायस्थ, कहार, ततुवाय, दर्जी, मछुए, धोबी चमार और चिड़ीमार भी सम्मिलित थे[१२]। ये सिद्ध पूरे वाममार्गी थे। इन्होंने भिक्षु-चीवर को धारण करना, शराब न पीना, स्त्री समागम से वंचित रहना हेय समझा और लोकनिन्दा की अवहेलना कर अपने को रहस्यवादी बतलाते हुए निम्न जाति की योगिनियों के साथ विचरण करना उचित माना। हम पहले कह आये हैं कि चमार,

---

१. दोहाकोश भूमिका, पृष्ठ ३६। २ तुण णिरंजण परमपउ—दोहाकोश १३८।
३. "अक्खरवण्णविवज्जिअ, णउ सो बिन्दु ण चित्त।" —वही, ४१।
४. वही, पृष्ठ १०३, १०४। ५ सिद्धसाहित्य, पृष्ठ १८७।
६ सिद्धसाहित्य, पृष्ठ १८ ६। ७ सिद्धसाहित्य, पृष्ठ १४९।
८ पुरातत्वनिबन्धावली, पृष्ठ १४७–१५६।
९. वही, पृष्ठ १५६। १०. वही, पृष्ठ १५६।
११. बौद्धसाहित्य की सास्कृतिक झलक, पृष्ठ १२८।
१२ वही पृष्ठ १२३

होम आदि नीच कुलोत्पन्न ललनाएं भी सिद्धि प्राप्ति के साधन माना जाने लगीं। प्रधान रूप से इन सिद्धों में निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ अन्तर्निहित थीं[1];—

(१) सभी सिद्ध तान्त्रिक बौद्ध थे।

(२) वे अन्य सभी निकायों एवं धर्मों की निन्दा करते थे, किन्तु अपने सिद्धान्त का अनेक प्रकार से प्रतिपादन एवं समर्थन करते थे।

(३) वे उन बौद्धों की भी निन्दा करते थे जो तान्त्रिक नहीं थे।

(४) वे सहज-भावना के प्रचारक थे। सहज-भावना के लिए तान्त्रिक अनुष्ठान आवश्यक थे, किन्तु उसी समय तक, जबतक कि सिद्धि की प्राप्ति न हो जाय।

साधन से प्राप्त ज्ञान का ही नाम सिद्धि है और सिद्ध सिद्धियों को प्राप्त करने के अनेक साधन करते थे, इसीलिए वे सिद्ध कहलाते थे। ये सिद्धियाँ आध्यात्मिक मानी जाती थीं। बाह्य चमत्कारिक सिद्धियों से इनका तात्पर्य नहीं था। महासुख निर्वाण ही सर्वोत्तम सिद्धि है[2]। फिर भी कुछ सिद्ध कभी-कभी बाह्य चमत्कार भी दिखलाया करते थे, जो बौद्धधर्म की मूल भावना के विपरीत था। कुछ विद्वानों का मत है कि ये सिद्ध सिद्धि-प्राप्ति के लिए वेताल, वज्र, धातुभेद, रसायन एवं योगिनी की सहायता अपने निजी ढंग से लिया करते थे, इन्होंने इनका सर्वथा परित्याग नहीं किया था[3]। इसके स्पष्ट लक्षण सिद्धों की वाणियों में मिलते हैं। सिद्ध कण्हपा का कहना है—"मैं सहज क्षण अनुभव करता हुआ अब 'मण्डल-चक्र' से विमुक्त हो गया[4]।" मैं इस बात को परमार्थ रूप से कहता हूँ कि जिस किसी ने अपने चित्त को निज गृहिणी के साथ रहकर निश्चल बना लिया है वही वास्तव में वज्रधर कहलाने योग्य है[5]। उन्होंने अपने को 'डोमिन' तथा 'कपाली' भी कहा है[6]। ऐसे ही सिद्ध भुसुकपा का कथन है—"मैं आज निज गृहिणी के रूप में चाण्डाली को ग्रहण कर पूरा बंगाली बन गया[7]।" सिद्ध कुक्कुरीपा ने भी ऐसे ही कहा है—"हे योगिनी, मैं तेरे बिना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता[8]।" वास्तविक सिद्ध तो वही माना जाता है जो अपने चित्त को समरस रूपी सहज में निश्चल कर दिया है और जरा-मृत्यु से मुक्त हो गया है[9]।

---

१ सिद्धसाहित्य, पृष्ठ ३०४।

२. तांत्रिक बौद्धसाधना और साहित्य, पृष्ठ २०१।

३ बौद्धसाहित्य की सांस्कृतिक झलक, पृष्ठ ११७।

४ मण्डलचक्क विमुक्क, अच्छउं सहज खणेहि ॥ १८॥ कण्हपा का दोहाकोष।

५. जेकिअ णिच्चल मण रअण, णिअघरिणी लइ एत्थ।
सोह वाजिर णाहुरे भणि वुत्ता परमत्थ ॥ ३१ ॥ —कण्हपा का दोहाकोष।

६ तुलो डोम्बी हाऊँ कपाली, तोहारे अन्तरे मोएवेणिलि हाडेरि माली—चर्या १०।

७ आजि भूसू बंगाली भइली, णिअ घरिणी चण्डाली लेली—चर्या ४९।

८. जोइनि तँह बिनु खनहिं न जीवनि-चर्या ४।

९ कण्हपा का दोहाकोष १९

इन सिद्धों ने गुरु के माहात्म्य को माना और गुरु से भक्ति करने का उपदेश दिया। धर्म के सूक्ष्म उपदेश गुरु के मुँह से सुनना चाहिए, पोथी पढ़ने से कुछ भी नहीं होता। गुरु बुद्ध से भी बड़ा है। जो कहे, बिना सोचे-विचारे उसे उसी क्षण करना चाहिए[१]। इन सिद्धों ने ब्रह्म, ईश्वर, अर्हन्, बौद्ध, लोकायत और सांख्य—इन दर्शनों का खण्डन किया है। उन्होंने जाति-भेद को व्यर्थ बतलाया है। उनका कहना है—"ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से हुआ था, जब हुआ था, तब हुआ था, अब तो जैसे दूसरे होते हैं, ब्राह्मण भी वैसे ही होते है, तो ब्राह्मणत्व कहाँ रह गया? यदि संस्कार से ब्राह्मण होता है तो चाडाल को संस्कार दो, वह ब्राह्मण बने, यदि वेद पढ़ने से ब्राह्मण होता है तो वे भी वेद पढ़ें। वे पढ़ते भी तो है, व्याकरण में वेद के शब्द हैं[२]।" ये सिद्ध महायान के वज्रगर्भित सहजयानी थे, फिर भी उन्होंने महायान का भी खण्डन किया है। उनका कहना है—जितने बड़े-बड़े स्थविर हैं किसी के दस शिष्य हैं, किसी के करोड़, सभी गेरुआ कपड़ा पहनते हैं, संन्यासी बनते है और लोगों को ठग कर खाते हैं, जो हीनयानी हैं उनका शील यदि भंग होता है तो वे उसी क्षण नरक में जाते हैं, जो शील की रक्षा करते हैं वे केवल स्वर्ग-लाभ करते हैं, मोक्ष नहीं। जो महायान को अपनाते हैं उन्हें भी मोक्ष नहीं मिलता, क्योंकि उनमें से कोई सूत्र की व्याख्या करते हैं, उनकी व्याख्या विचित्र होती है, इन नई व्याख्याओं से नरक होता है। कोई पोथी लिखते हैं, किन्तु पोथी का अर्थ नहीं जानते हैं, उनका भी नरक होता है। सहजपंथ को छोड़कर अन्य कोई पंथ नहीं। सहजपंथ को गुरु के मुख से सुनना चाहिए[३]। सिद्ध सरोरुह ने कहा है—"सहजमत पर नहीं आने से मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती, क्योंकि मुक्ति का दूसरा मार्ग नहीं है। सहजधर्म में वाच्य नहीं है, वाचक नहीं है और इनका सम्बन्ध भी नहीं है। जो जिस उपाय से भी मुक्ति की चेष्टा क्यों न करे अन्त में सभी को सहजपथ पर आना ही होगा[४]। उन्होंने शून्य के सम्बन्ध में भी कहा है—"मनुष्य अपना स्वभाव ही नहीं समझता है। भाव भी नहीं है, अभाव भी नहीं है, सभी शून्य रूप हैं। अर्थात् भव और निर्वाण में कोई अन्तर नहीं है। दोनों एक है, इसलिए सहजयान अद्वयवादी है। अपने-पराये में भेद न करना। सभी निरन्तर बुद्ध हैं। यही वह निर्मल परमपदरूपी चित्त स्वभावतः शुद्ध है। अद्वय चित्ततरु त्रिभुवन में विस्तृत होकर स्फूर्ति पाता है, तब करुणा के पुष्प खिलते हैं और फल फलते हैं। उस फल का नाम परोपकार है[५]। यही तक नहीं, मन और निर्वाण के सम्बन्ध में इन सिद्धों की व्याख्या भी वैसी ही है। सरह का कथन है—"लोग झूठमूठ अपने मल-ही मन भव और निर्वाण की रचना करके अपने को बाँध रहे हैं, किन्तु हम अचिन्त्ययोगी हैं। हम नहीं जानते कि जन्म-मरण और भव कैसा होता है, जैसा जन्म है, मरण भी वैसा ही है। जीवन और मृत्यु में कोई विशेष नहीं है, इस भव में जिसके जन्म

---

१ श्री हर प्रसाद शास्त्री के बौद्धगान ओ दोहा की भूमिका, देखिये, 'धर्मदूत वर्ष २६, अंक ११, पृष्ठ २२३ में प्रकाशित।

२. वही, पृष्ठ २२३।

३ वही पृष्ठ २२४।

४ वही पृष्ठ २२४

५ वही पृष्ठ २२४

और मरण की शंका है वही रस और रसायन की चेष्टा कर जो योगी सारे चराचर और स्वर्ग में भ्रमण करते हैं, वे अजर और अमर कुछ भी नहीं हो सकते। जन्म से कर्म होता है या कर्म से जन्म, इसका निश्चय करना योगियों के लिये अचिन्तनीय है[१]।"

इन सिद्धों की दृष्टि में केवल मंत्र-जाप, प्रदीप, नैवेद्य-पूजा और तंत्र-मंत्र को धारण कर सहज की भावना न करना विभ्रम उत्पन्न करता है[२]। सन्यास धारणकर वन में रहना अथवा गृहवास करना बोधि-प्राप्ति का साधन नहीं, क्योंकि बोधि (ज्ञान) न घर में है न वन में। इस भेद को भली प्रकार जानकर चित्त को निर्मल करे। वही यथार्थ है। उसका बराबर सेवन करे[३]।

ऊपर हमने देखा है कि ये सिद्ध निरन्तर बुद्ध मानते थे अर्थात् सभी सदा बुद्ध-स्वरूप हैं, किन्तु अज्ञान के कारण उसका बोध नहीं होता है[४]। सिद्ध नरोपा ने इसी प्रकार 'आदि-बुद्ध' को अनादि, अमृत एवं सर्वज्ञ के रूप में माना और सबके लिए उस अन्तिम स्थिति को प्राप्त करने का मार्ग बतलाया[५]।

इस प्रकार ये सिद्ध आठवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक लोकभाषा में सहजयान का उपदेश करते रहे। इन पाँच सौ वर्षों तक दक्षिण से लेकर उत्तर भारत तक सर्वत्र इनका प्रभाव था। ये अन्य मतों का खण्डन करते, अपने पक्ष का प्रतिपादन एवं समर्थन करते और अपने वाममार्गी सहजमार्ग का प्रचार करते घूमते थे। हम आगे देखेंगे कि इन्हीं में से किस प्रकार नाथमत का उदय हुआ और इन सिद्धों में कतिपय नाथ सम्प्रदाय के भी सिद्ध थे, जो बौद्ध थे, यही कारण है कि नाथ सम्प्रदाय में बीज रूप से बौद्धधर्म विद्यमान है। नाथों के आदिगुरु अथवा नाथमत के प्रवर्तक सिद्धों में से ही थे। इस काल को हम सिद्धयुग

१. वही, पृष्ठ २२४—२२५। मूल पाठ इस प्रकार है—
अपणे रचि-रचि भव निर्वाणा, मिछे लोअ बन्धावए अपना।
अम्भे न जाणँहू अचिन्त जोइ जाम मरण भव कइसण होई।
जइसो जाम मरण वि तइसो, जीवन्ते मअले णाहि विशेसो।
जाएथु जाम मरण विसङ्का, सो करउ रस रसाणेरे कंखा।
जे सचराचर तिअस भमन्ति, ते अजरामर किम्पि न होन्ति।
जामे काम कि कामे जाम, सरह भणति अचिन्त सो धाम।
—चर्य्याचिर्य्य विनिश्चय, पत्रांक ३८।

२. किन्तहि दीवे कि णेवेज्जे, किन्तइ किज्जइ भावे।
मन्त ण तन्त धेअ धारण, सव्ववि रे बढ़ विब्भमकारण।
—दोहाकोश भूमिका, पृष्ठ २६।

३. दोहाकोश भूमिका, पृष्ठ २७।

४ बौद्धसाहित्य की सांस्कृतिक झलक पृष्ठ १२२

५ वही पृष्ठ १२३

स्वीकार करते हैं कि उस समय इनका प्रभाव एवं संगठन था । उनकी जो परम्परा वज्रयान से चल पड़ी थी और जिसका प्रारम्भ आठवीं शताब्दी में हुआ था, वह भारत पर मुसलमानों के प्रबल आक्रमण तक अटूट बनी रही । इनका प्रभाव नेपाल, तिब्बत आदि में एक दीर्घकाल तक बना रहा और सम्प्रति भी उन देशों में किसी न किसी रूप में है । अब भी नेपाल में गुभाजू (गुह्यवादी), वज्राचार्य (वज्रयानी), तान्त्रिक आदि विद्यमान हैं[1] और उनकी साधना विकृत रूप में प्रचलित है, भारत में भी सिद्धों की परम्परा तो टूट गयी, किन्तु उनके विचार नहीं गये । वे नाथ, सन्त, सिख आदि निर्गुण सम्प्रदायों की शिक्षाओं में बने हुए हैं और किसी न किसी रूप में घुमन्तू साधुओं में भी विद्यमान हैं, जिनपर कि सभी भारतीय सन्तों का प्रभाव पड़ा है और उन भारतीय सन्तों का, जिनका मूल स्रोत बौद्धधर्म है । हम आगे इसपर विस्तृत रूप से विचार करेंगे ।

सिद्धों का जनसमाज पर प्रभाव

सिद्ध शिक्षित और अपने आगम के ज्ञाता थे । उनमें अधिकांश वेद-शास्त्र-पुराण के अध्येता एवं पारंगत थे । वे कबीर की भाँति 'मसि कागद छूओ नहिं' के अनुसरण करने वाले नहीं थे[2] । इसीलिए उन्होंने अपने पाण्डित्य से अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों तथा मतों का खण्डन किया और अपने मत का बड़ी बुद्धिमत्ता से प्रतिपादन किया । उनमें जो सिद्ध-पण्डिता-योगिनियाँ थीं, वे भी अपने शास्त्र-आगम में निपुण थीं । उन्हें उनके गुह्याचारों एवं चमत्कारों से प्रभावित होकर ही डाकिनी संज्ञा मिली थी, जो पीछे 'डाइन' के नाम से कुत्सित रूप से समझी जाने लगी[3] । किन्तु सिद्ध-काल में इनका कम प्रभाव नहीं था । अपने प्रभाव एवं विद्वत्ता के कारण ही इनमें से कुछ ने चौरासी सिद्धों में स्थान पाया ।

सिद्ध बड़े तार्किक और अलौकिक चमत्कारों के धनी समझे जाते थे । ये जहाँ अपने तर्क-बल से दूसरे मतों का खण्डन करते थे, वहीं कभी-कभी कुछ चमत्कारिक बातें भी कर दिया करते थे, जिससे जनता इनके पीछे-पीछे लगी रहती थी[4] । ये अधिकतर वन आदि में रहना पसन्द करते थे और लोगों को फटकारा करते थे । ये जितनी ही फटकार सुनाते थे, जनता इनके पीछे दौड़ती थी[5] । इन्होंने पूर्व के हीनयान तथा महायान का भी दोष दिखाया और गुह्यवादी होकर भैरवीचक्र के शराब, स्त्री समागम तथा तन्त्रमन्त्र से अपने को सहज-अनुयायी बतलाया[6]। प्रारम्भ में भैरवीचक्र की सभी क्रियायें गुप्त रखी जाती थी और जब साधक उसमें पूर्ण दक्षता प्राप्त कर लेता था तब उसे पूर्ण दीक्षा दी जाती थी । इसका प्रभाव यह हुआ कि इनमें अनेक प्रकार के दुराचारों ने घर कर लिया । इन सिद्धों ने बोधि-सत्व, उनकी अलौकिक शक्तियाँ, चमत्कारों आदि से सम्बन्धित सहस्रों कथायें रच ली

---

१ नेपाल यात्रा—भिक्षु धर्मरक्षित द्वारा लिखित ।
२. सिद्धसाहित्य, पृष्ठ ३०४ । ३. वही, पृष्ठ ३०९ ।
४ बुद्धचर्या की भूमिका पृष्ठ १० । ५ बुद्धचर्या की भूमिका, पृष्ठ १०
६ वही पृष्ठ ५

और अपनी वेशभूषा तक में परिवर्तन कर लिया। कोई पनही बनाया करता था तो उसे पनहीपा कहा जाता था। कोई कम्बल ओढ़े रहता था तो उसे कमरीपा कहा जाता था, कोई ओखल रखे रहता था तो उसे ओखरीपा और ऐसे ही डमरू रखने के कारण डमरूपा आदि[1]। इन्होंने स्त्रियों को ही मुक्तिदात्री 'प्रज्ञा' और पुरुषों को ही मुक्ति का उपाय तथा शराब को ही 'अमृत' सिद्ध किया[2]। उड़ीसा के राजा इन्द्रभूति और उसके गुरु सिद्ध अनंगवज्र तथा अन्य सहजयानी पण्डितों ने इन्हीं पर बल दिया और इनके महत्त्व को प्रकाशित करने वाली अनेक पुस्तकों की रचना की। जनसाधारण ने इनके पाण्डित्य, अनेक चमत्कार, रहस्यमयी वाणी एवं परम्परागत धारणाओं से वशीभूत हो इनका बड़ा सम्मान किया। लोग समझते थे कि ये सिद्ध स्वयं बुद्ध तथा बोधिसत्व के सदृश अलौकिक शक्तियों से सम्पन्न हैं। इनके सम्बन्ध में अनेक प्रकार की अलौकिक कथायें प्रचलित हो गयीं। रोग, पीड़ा, दुःख, दारिद्र्य, अनावृष्टि, अकाल, जय-पराजय, अभियान, पूजा-अर्चना आवाह-विवाह-सबमें इन सिद्धों की सहायता की अपेक्षा की गयी। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का कथन है कि ये सिद्ध व्यभिचारी एवं शराबी हो गये थे। राजा तक अपनी कन्याएँ इन्हें प्रदान करते थे[3]।

सिद्धों का यह समय देश के लिए घातक सिद्ध हुआ। इस समय भारत के राजाओं में संगठन नहीं रह गया था। वे इन सिद्धों के पीछे भी बहुत धन व्यय करने लगे थे और जनता अन्धविश्वास में पड़ी थी। उधर पश्चिम की ओर से यवन आक्रमण प्रारम्भ हो गये थे। धीरे-धीरे पश्चिमी लुटेरों ने इन सिद्धों के मन्दिरों की धन-राशि को भी छीन लिया और ये अपने तंत्र-मंत्र के बलपर ही उन्हें देश से भगाने का प्रयत्न करते रह गये। इनकी सारी अलौकिक शक्तियाँ उस समय अदृश हो गयीं, जब कि सारनाथ, नालन्दा, ओदन्तपुरी आदि के विहार लूटे गये, उन्हें अग्नि में भस्मसात् किया गया और अगणित तारा, बोधिसत्व, बुद्ध आदि की रत्न-जटित वे मूर्तियाँ तोड़ डाली गयीं जिन्हें कि अद्भुत शक्तियों का केन्द्र समझा जाता था। बहुसंख्यक भिक्षु मार डाले गये, चाहे वे हीनयानी थे, महायानी या सहजयानी[4]। अब जनता ने इन सिद्धों का अनुगमन त्याग दिया और वह समझने लगी कि ये सिद्ध वास्तव में परमार्थ-द्रष्टा या प्रोक्ता न थे।

गुप्त-काल में ही बौद्धधर्म का ह्रास प्रारम्भ हो गया था और वैदिक परम्परागत धर्मों का पुनः उदय होने लगा था, जो कई शताब्दियों से बौद्धधर्म के व्यापक प्रभाव से दबा पड़ा था। वैष्णव तथा शैव धर्मों ने विशेष रूप से जनता पर अपना प्रभाव डालना प्रारम्भ कर दिया था, क्योंकि जन-समाज सिद्धों के आचार एवं धर्म से ऊब चुका था। इसी काल से भगवान् बुद्ध, बोधिसत्व, तारा आदि हिन्दू धर्म के देवी-देवता बन गए, केवल नाम मात्र का अन्तर रह गया। भगवान् बुद्ध तो वैष्णवों के अवतारों में स्थान पा गए, इस पर हम आगे विचार करेंगे। सिद्धों ने जो निर्गुण-निरंजन शून्य का उपदेश दिया था और बुद्ध को निरन्तर

तथा सर्वज्ञ माना था और यह भी कहा था कि बुद्ध लोकोत्तर हैं, उनकी माया से ही निर्मित बुद्ध उत्पन्न होते तप करते, उपदेश देते और परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं, वास्तविक बुद्ध तो धरती पर कभी आते ही नहीं, वे करुणा एवं दया के मूल हैं, सभी सत्त्वों के उद्धार की भावना से ही बोधिसत्व जगदुद्धार में लगे रहते हैं, सहज-भावना से निरंजन अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है आदि सिद्धों के उपदेशों से प्रभावित होकर सगुण एवं निर्गुण भक्ति की दो धाराएँ फूट चली। ये भक्ति की धारायें आठवीं से बारहवीं शताब्दियों के बीच प्रगट हुयी, इनका बीज माध्यमिक एवं योगाचार की उत्पत्ति के साथ ही अंकुरित हो चुका था। इसी भावना से प्रभावित होकर बुद्ध-भक्ति की भावना ने जोर पकड़ा और शैव तथा वैष्णव धर्म बौद्धधर्म से प्रभावित हो आगे बढ़ने लगे। हम कह सकते हैं कि बौद्धधर्म कहीं गया नहीं, प्रत्युत सिद्धों की समाप्ति के साथ ही इन धर्मों में घुलमिल गया। हम देखते हैं कि बौद्धधर्मावलम्बी राजा हर्षवर्धन सूर्य एवं शिव की पूजा करता था। ऐसे ही हिन्दू देवी-देवताओं के सिर पर बुद्धमूर्त्ति, स्तूप आदि को निर्मित कर उन्हें बुद्धोपासक बना लिया गया था। गणेश के सिर पर स्तूप का निर्माण, नीलकण्ठ बोधिसत्व की मूर्त्तियों के निर्माण आदि इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं।[१] यही कारण है कि बौद्ध स्थानों के उत्खनन में शिव, अग्नि, कार्त्तिकेय आदि की मूर्त्तियाँ पाई गयी हैं।[२] अब बौद्ध तथा हिन्दू परस्पर मिल कर रहने लगे थे। एक ही परिवार में हिन्दू-बौद्ध दोनों विचारों के लोग रह सकते थे। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है सिद्धों के कारण बौद्धधर्म के गुह्याचार, तंत्र-मंत्र, सहज-भावना के अभिचार एवं घृणित रूप तथा अन्धविश्वासों से ऊबकर जनता धीरे-धीरे वैष्णव तथा शैव धर्मों की ओर बढ़ती गयी। हर्ष के बाद से ही बौद्धधर्म को राज्याश्रय पाना कठिन हो गया था और गुप्त राजा तो अपने को परमभागवत कहने, यज्ञ करने आदि में गौरव समझते थे, अतः इन धर्मों को राजाओं का बल मिला। फलतः बौद्धधर्म का ह्रास हुआ और ये धर्म उन्नति करने लगे। बारहवीं शताब्दी के यवन आक्रमणों ने बौद्धधर्म की रही-सही मर्यादा भी समाप्त कर दी। बारहवीं शताब्दी तक ही हम भारत में बौद्ध विहारों का निर्माण होता हुआ पाते हैं, उसके पश्चात् बहुत कम प्रमाण ऐसे मिलते हैं कि बौद्ध विहारों के निर्माण हुए हों। कुछ लोगों ने अपनी श्रद्धा-भक्ति व्यक्त करने के लिए पीछे भी छोटे-मोटे कुछ निर्माण-कार्य किये थे, किन्तु वे नगण्य हैं[३]।

उधर अनेक सिद्धों की विचारधाराओं में नाथ और सन्त मतों की मूलभावनाएँ अंकुरित हो चली थीं और वे ही पीछे पूर्ण विकसित होकर नाथ और उससे सन्त परम्परा बन गयीं। इन पर हम आगे विचार करेंगे। फल यह हुआ कि बारहवीं शताब्दी में सिद्धों का बौद्ध-जन समाज पर ऐसा बुरा प्रभाव पड़ा कि वह बौद्धधर्म को त्यागकर नाथ, सन्त, भागवत आदि धर्मों में अन्तर्भुक्त हो गया। वह जहाँ गया बौद्धधर्म की विचारधारा उसमें रही ही। यवन काल में जब बौद्धभिक्षुओं का अपने भिक्षुवेष में रहना कठिन हो गया और

अधिकांश भिक्षु जब मार डाले गये बचे हुए नेपाल तिब्बत आदि देशों की ओर चले गये तब साधारण जनता अपने ही रक्त सम्बन्धी भाइयों में मिल गयी और उसने अपना नाम परिवर्तन कर लिया[१]। इस प्रकार सिद्ध-काल के अन्त की कहानी मध्ययुगीन भारत में शैव और वैष्णव सम्प्रदायों के उदय एवं विकास का इतिहास है। इनमें भी विशेष रूप से शैव मतावलम्बी नाथ सम्प्रदाय तो सिद्धों से ही प्रादुर्भूत है। इसके प्रवक्ता एवं उपदेष्टा चौरासी सिद्धों में से ही थे।

नाथ सम्प्रदाय का जन्म

नाथ सम्प्रदाय के उद्भव के सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। कुछ लोगों का मत है कि सिद्ध प्रच्छन्न नाथपंथी थे, क्योंकि कतिपय सिद्ध शिव तथा उसके गण हेरुक के भक्त थे[२]। कुछ विद्वानों का कथन है कि नाथसम्प्रदाय चौरासी सिद्धों से ही निकला हुआ एक क्रान्तिकारी पन्थ है[३]। इसी प्रकार कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि सिद्धों में से अधिकांश साम्प्रदायिक रूप से ही बौद्ध थे, किन्तु विचारधारा के अनुसार नाथपन्थी थे[४]। इन विचारों का ऐतिहासिक तथा धार्मिक दृष्टि से पर्यवेक्षण करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वास्तव में नाथ सम्प्रदाय में सिद्धों की योग-पद्धति और सहजसमाधि प्रधान रूप से विद्यमान है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का यह कथन बिल्कुल ठीक है—"विचारों में यद्यपि अब नाथपन्थ अनीश्वरवाद को छोड़कर ईश्वरवादी हो गया है, तथापि अभी उसकी बाणियों में छान-बीन करने पर निर्वाण, शून्यवाद औ वज्रयान का बीज मिलेगा[५]।"

हम देखते हैं कि पालि साहित्य में 'नाथ' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है—तथागत[६] और ज्ञान प्राप्त भिक्षु (अर्हत्)। दस नाथकरण धर्मों में ऐसे ही भिक्षु के दस गुण बतलाये गये हैं[७]।

सिद्धों की बाणियों में उसे नाथस्वरूप कहा गया है, जिसका चित्त विस्फुरित हो जाय[८], अथवा जिसका मन निश्चल हो जाय[९], वही अनश्वर स्वभाव निर्वाण के समीप

---

१ बुद्धचर्या की भूमिका, पृष्ठ १४। २. सिद्धसाहित्य, पृष्ठ ३१२–३२३।

३. पुरातत्वनिबन्धावली, पृष्ठ १६२।

४. डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, योगप्रवाह, पृष्ठ २१७।

५ पुरातत्वनिबन्धावली, पृष्ठ १६३।

६. बुद्धो दसबलो सत्था, सब्बञ्ञू दिपदुत्तमो।
मुनिन्दो भगवा नाथो, चक्खुमा अङ्गीरसो मुनि ॥ १ ॥
लोकनाथो नधिवरो, महेसि च विनायको।
समन्तचक्खु सुगतो, भूरिपञ्ञो मारजी ॥ २ ॥—अभिधानप्पदीपिका।

७. दीघनिकाय, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ २०० और ३१२।

८ जत वि चित्तहि विप्फुरइ तत्त विणाह सरुअ—दोहाकोष, बागची, पृष्ठ ३१।

९ जो णत्थु णिच्चल कियउ मण सो पास—वही, पृष्ठ ४४

पहुँचा हुआ है। सिद्ध कण्हपा ने साधक को वज्रधरनाथ कहा है[१]। इससे स्पष्ट है कि सिद्धो ने 'नाथ' शब्द को तथागतवाची न ग्रहण कर केवल स्थिर-चित्त-सिद्धिप्राप्त योगी का पर्यायवाची माना। तात्पर्य यह कि हीनयान (स्थविरवाद) मे अर्हत् की जो स्थिति थी, वही स्थिति सिद्धो मे 'नाथ' की मानी गयी और इस प्रकार सिद्धि-प्राप्त सभी सिद्ध 'नाथ' थे। यही कारण है कि इन सिद्धो में कुछ ने अपने नाम के साथ 'नाथ' शब्द का प्रयोग किया। उन नाथ शब्दधारी सिद्धो को भी 'पा' या 'पाद' के साथ भी बहुधा स्मरण किया गया है[२], ये दोनो शब्द गौरवार्थ प्रयुक्त होते थे। इसी प्रकार उस काल मे 'नाथ' शब्द का भी प्रयोग पूजार्ह के अर्थ मे ही होता था, जो पीछे साम्प्रदायिक रूप धारण किया और नाथसम्प्रदाय का विकास हुआ।

नाथसम्प्रदाय के आदि पुरुष आदिनाथ माने जाते है[३]। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने जालन्धरपा को ही आदिनाथ माना है[४] और उनके वंशवृक्ष में बतलाया है कि उत्तरी भारत की परम्परा के अनुसार सिद्ध सरहपा की परम्परा मे जालन्धरपा हुए थे और मत्स्येन्द्रनाथ उनके शिष्य थे तथा गोरखनाथ मत्स्येन्द्रनाथ के। ऐसे ही दक्षिण भारत मे प्रचलित परम्परा के अनुसार भी जालन्धरपा के शिष्य मत्स्येन्द्रनाथ और फिर मत्स्येन्द्र के शिष्य गोरखनाथ थे[५]। गोरखनाथ ने अपने गुरु के सम्बन्ध मे स्वयं लिखा है—'भणंत गोरष मछन्द्र का दास[६]।' 'आदिनाथ नाती मछिन्द्रनाथ पूता, थ्यंन्द तौले राषीले गोरष अवधूता[७]।' सिद्ध कण्हपा ने अपने गीतों मे बार-बार सिद्ध जालन्धरपा का स्मरण किया है और उन्हे अपने कथन का साक्षी माना है[८]। इस प्रकार स्पष्ट है कि नाथविचारधारा का जन्म सिद्ध-परम्परा से हुआ था, जिसका संगठन गोरक्षपा अथवा गोरखनाथ ने किया था और तब से वह एक भिन्न सम्प्रदाय का रूप धारण कर लिया था। यद्यपि नाथ सम्प्रदाय का जन्म तो जालन्धरपा के समय मे पूर्व ही हो चुका था, किन्तु उसने सम्प्रदाय का रूप गोरखनाथ के समय मे अर्थात् नवी शताब्दी ईस्वी मे धारण किया। नाथसम्प्रदाय के नौ नाथ बहुत प्रसिद्ध थे जिन्हे पीछे सन्तो ने भी स्मरण किया है[९]।

---

१ वही, पृष्ठ ४६।

२ पुरातत्वनिबन्धावली, पृष्ठ १४८ मे 'गोरक्षपा'।

३ वही, पृष्ठ १६२। 'एवं श्रीगुरुरादिनाथ.।'

४ वही, पृष्ठ १६२।

५. दोहाकोश, भूमिका, पृष्ठ २२।

६ हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ १५६।

७. वही, पृष्ठ १५६।

८ "साखि करब जालन्धरपाद।"—हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ १५३।

९. चतुरशीति सिद्धाना पूर्वादीनां दिशां न्यसेत्।
नवनाथस्थितिं चैव सिद्धागमेन कारयेत्।
—गोरक्षसिद्धान्त संग्रह, पृष्ठ ४४।

सिध चौरासी नाथ नौ बोधै सबै मुलान

पृष्ठ ५२२

नाथ सम्प्रदाय मे प्रारम्भ मे सहजयान की सारी प्रवृत्तियाँ थीं, किन्तु गोरखनाथ ने उनका संस्कार किया। उन्होंने मैथुन और नारी का पूर्ण बहिष्कार किया[१]। यह भी आभास मिलता है कि तान्त्रिक प्रवृत्तियों का भी उन्होने विरोध किया था, किन्तु ये प्रवृत्तियाँ सर्वथा समाप्त नही हुई। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि गोरखनाथ की साधना का मूलस्वर शील, संयम और शुद्धतावादी था और उन्होने तान्त्रिक उच्छृङ्खलताओ का विरोध कर निमम हथौडे से साधु और गृहस्थ दोनो की कुरीतियों को चूर्ण कर दिया[२]। किन्तु हम देखते है कि गोरखनाथ ने केवल बौद्धो की ही इन प्रवृत्तियों का विरोध नही किया, उन्होंने शैवो तथा शाक्तों के भी वामाचार का विरोध किया। फिर भी गोरक्षसिद्धान्त संग्रह मे तो नाथो को ही तन्त्रो का प्रवर्तक माना गया है[3]। नाथ सम्प्रदाय के ग्रन्थो मे महामुद्रा, वज्रोली, सहजोली आदि साधनाओ का वर्णन है[४], इससे सिद्ध होता है कि गोरखनाथ ने यद्यपि तान्त्रिक प्रवृत्तियों का विरोध किया था, किन्तु वे नाथसम्प्रदाय से सर्वथा बहिष्कृत नही हो पायी, सहजयान प्रभावित नाथों मे वे किसी न किसी रूप मे बनी रहीं। हम आगे देखेंगे कि सिद्धो का यह प्रभाव केवल सम्प्रदाय तक ही सीमित नही रहा, प्रत्युत वैष्णव, सूफी आदि सम्प्रदाय भी इससे प्रभावित हुए।

नाथो ने बौद्धधर्म की परम्परागत साधना, धर्म, चिन्तन सयम, विरक्ति, प्राणायाम आदि को अपने रूप से अंगीकार कर लिया। उन्होने काया-शोधन, मनोमारण और सयत जीवन पर विशेष जोर दिया दिया। ये सारी प्रवृत्तियाँ बौद्धधर्मावलम्बी सिद्धो मे विद्यमान थी। महायान के जन्म के साथ ही धीरे-धीरे इन प्रवृत्तियों का विकास हो रहा था और कालान्तर मे इनका स्वरूप बदल गया, यद्यपि मूल-भावना बनी रही। नाथो ने आनापान सति-भावना को इस प्रकार से हठयोग का रूप दिया—शरीर के नवो द्वारों को बन्द करके वायु के आने-जाने का मार्ग यदि अवरुद्ध कर लिया जाय तो उसका व्यापार ६४ सन्धियो मे होने लगेगा। इससे निश्चय ही कायाकल्प होगा और साधक एक ऐसे सिद्ध मे परिणत हो जायेगा जिसकी छाया नही पड़ती[५]। जब योगी साधना द्वारा ब्रह्मरंध्र तक पहुँच जाता है तब उसे अनाहत नाद सुनाई पड़ता है जो समस्त सार तत्वों का सार है और गम्भीर से भी गम्भीर है। उसी समय उसे ब्रह्म की अनुभूति होती है जो वाणी द्वारा अव्यक्त है। जब उसकी अनुभूति होती है तब जान पड़ता है कि वही सत्य है, सारे विवाद मिथ्या है[६]। आना-

१. सिद्धसाहित्य, पृष्ठ ३२०। २. नाथसम्प्रदाय, पृष्ठ १८८।
३. गोरक्षसिद्धान्त संग्रह, पृष्ठ १९। ४. सिद्धसाहित्य, पृष्ठ ३२५।
५. अवधू नवघाटी रोकिलै बाट, बाई बणिजै चौसठि हाट।
काया पलटै अविचल विध, छाया विवरजित निपजै सिध।
—गोरखबानी (हिन्दी साहित्य सम्मेलन), पृष्ठ १९।
६. सारमसारं गहर गंभीरं गगन उछलिया नादं।
मानिक पाया फेरि लुकाया झूठा वाद विवाद
पृष्ठ ५

पान-सति की भावना में आश्वास-प्रश्वास के मनन द्वारा चित्त को एकाग्र करने का विधान है। जब योगी आनापान (आश्वास-प्रश्वास) की भावना करता है तब उसकी चार स्मृतिप्रस्थान, बोध्यंग आदि की भी भावना पूर्ण हो जाती है और वह विद्या तथा विमुक्ति को पा लेता है[१]। इसी को एकायन मार्ग भी कहा गया है[२]। आनापान की यह भावना सिद्धो मे प्रचलित थी और नाथो तक पहुँचते-पहुँचते वह अनाहत नाद का उत्पत्ति-केन्द्र बन गयी। मनोमारण-विधान भी इसी भावना की देन है। गोरखनाथ ने कहा है कि अपनी श्वास-क्रिया की धौंकनी के सहारे ही रस जमाकर योगी पूर्ण ज्ञानी हो जाता है[3]। इसी प्रकार शून्य, सहजशून्य, खसम, सहज, सहजसमाधि, गुरु, देह, चक्र-नाडी, पवन-निरोध, चंडग्नि, सुरति, मुद्रा, निर्वाण आदि प्राय. सभी धर्मतत्व सिद्धो के ही नाथ-सम्प्रदाय में मिलते है। यहाँ इनके विस्तार के लिए अवकाश नही है। नाथो ने मध्यम-मार्ग पर चलने का ही उपदेश दिया है—"मधि निरन्तर कीजै वास"[४]। यह मध्यम मार्ग इन्हे सिद्धो से ही मिला था। हम आगे यथास्थान सिद्धो और नाथो की वाणियो का अवलोकन सन्त-परम्परा में करेंगे।

बौद्धधर्म की भित्ति पर सिद्ध औ' नाथ सम्प्रदाय से सन्तमत का उदय

भगवान् बुद्ध की मूल शिक्षाओं मे भक्ति के लिए स्थान न होकर ज्ञान-प्रधान चिन्तन को ही प्रश्रय प्राप्त था, किन्तु वक्कलि जैसे श्रद्धालु भिक्षु को उपदेश देते हुए तथागत ने कहा था—"वक्कलि. जो धर्म को देखता है, वह मुझे देखता है और जो मुझे देखता है वह धर्म को देखता है"[५]। साथ ही छ अनुस्मृति कर्मस्थानो मे बुद्धानुस्मृति भी एक थी, जिसकी भावना मे केवल बुद्धगुणो का ही अनुस्मरण करना था[६]। यही भावना आगे चलकर भक्ति का स्वरूप ग्रहण की। महायान ने इसे और भी सँवारा। उसने भगवान् बुद्ध को लोकोत्तर मानकर निर्मित काय द्वारा धर्मचक्र-प्रवर्तन आदि का प्रचार किया। इस विचार-पद्धति मे बुद्ध के दो रूप हो गये—एक वह बुद्ध जो नि:स्वभाव, धर्म-शून्य, धर्मतास्वरूप, निराकार और निरजन है, वह कभी इस लोक मे नही आता, न जन्म लेता और न उपदेश देता अथवा परिनिर्वाण को प्राप्त होता है, दूसरा उसी का माया-निर्मित स्वरूप है, उसकी लीला है, जो महामाया की कुक्षि से उत्पन्न हुआ, महाभिनिष्क्रमण कर तप किया, ज्ञान प्राप्त कर धर्मचक्र-प्रवर्तन किया और फिर बहुजन हिताय बहुजन सुखाय धर्मोपदेश करके महापरिनिर्वाण को प्राप्त किया। तात्पर्य यह कि एक ही बुद्ध का एक निर्गुण, निराकार रूप था तो दूसरा सगुण और साकार। डॉ० भरतसिंह उपाध्याय का यह कथन समीचीन है कि यह वैष्णव भक्ति के

---

१. मज्झिम निकाय, ३, २, ८, पृष्ठ ४९१। २. वही, १, १, १०।
३ गोरखबानी, पृष्ठ ९१, ९२। ४. गोरखबानी, पृष्ठ २१।
५ यो खो वक्कलि, धम्मं पस्सति सो मं पस्सति, यो मं पस्सति सो धम्मं पस्सति। धम्मं हि वक्कलि, पस्सन्तो मं पस्सति, मं पस्सन्तो धम्मं पस्सति—संयुत्त निकाय ३, २१, २, ४, ५ (हिन्दी अनुवाद भिक्षु धर्मरक्षित दूसरा भाग पृष्ठ ३७४)
६ विसुद्धिमाग भाग १, पृष्ठ १७६

निर्गुण-सगुण रूपो के आविर्भाव से शताब्दियो पूर्व महायान ने कर दिया था[1]। पीछे की सगुण और निर्गुण दोनो शाखायें बौद्धधर्म की इसी भक्ति-भावना की देन है। राम और कृष्ण की सगुणोपासना के रूप मे दूसरे प्रकार के बुद्धस्वरूप का विकास हुआ और निर्गुण उपासना के रूप म पहले प्रकार के बुद्धस्वरूप का। इस प्रकार हम देखते है कि वैष्णवधर्म की निर्गुण-सगुण दोनो ही भक्ति के स्वरूप का आविर्भाव शताब्दियो पूर्व महायान से हो चुका था[2]। एक स्वरूप मे राम "एक, अनीह, अरूप, अनामा, अज, सच्चिदानन्द, परमधामा, अगुण, अखण्ड, अनन्त, अनादि, परमार्थरूप, अविगत, अलख और अनूप है तो दूसरे मे दशरथसुत, लोक-मर्यादा की स्थापना करने वाले[3]। इस प्रकार भक्ति की दोनो कल्पनाएँ वैष्णव भक्ति-साधना से पूर्व ही तथागत के दो स्वरूपो मे प्रगट हो चुकी थी, जो आगे चलकर मध्ययुग मे पूर्ण विकास को प्राप्त हुई। इनका प्रभाव सिद्धो, नाथो, सन्तो, सूफियो आदि सबपर पड़ा था। शैव, शाक्त भी इस प्रभाव से वचित न थे। नाथ तो शैव मतावलम्बी ही थे।

सम्प्रति इस विचार से सभी विद्वान् सहमत है कि निर्गुणवादी सन्तो की विचारधारा पूर्णरूप से बौद्धधर्म से प्रभावित थी और यह विचारधारा सिद्धो से होकर नाथो तक पहुंची थी और सन्तो ने नाथो से उसको ग्रहण किया था। यद्यपि प्रमुख सन्त कबीर ने नाथो का खण्डन किया है, किन्तु उनकी विचारधारा मे हठयोग तथा तान्त्रिक साधना को जो स्थान प्राप्त है और नाथो की सी भाषा का प्रयोग हुआ है, इसके लिए नाथसम्प्रदाय के ही वे ऋणी है[4]। कबीर के समय तक यद्यपि बौद्धधर्म का प्रगट रूप शेष न था, किन्तु शताब्दियो से जीर्ण-शीर्ण पड़ी उसकी भित्ति अब भी सिद्धों और नाथों से होती हुई जनता के विचारो मे व्याप्त थी। साथ ही वैष्णव, सूफी आदि सम्प्रदाय भी उसकी नैतिक शिक्षा, भक्ति-साधना, परमतत्व से किसी-न-किसी रूप से प्रभावित थे, उसी की निर्गुण साधना ने सन्तमत को जन्म दिया अर्थात् जो बौद्धधर्म का निर्गुण (शून्य) विचारधारा सिद्धो और नाथो से होकर प्रवाहित हुई थी उसी से सन्तमत का उदय हुआ था। हम आगे देखेंगे कि सन्तो की वाणी मे बौद्धधर्म का प्रभाव किस प्रकार व्याप्त है।

---

१ बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, द्वितीय भाग, पृष्ठ १०५२।
२ वही, पृष्ठ १०५२। ३ वही, पृष्ठ १०५२।
४. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, द्वितीय भाग, पृष्ठ १०५४।

तीसरा अध्याय

पूर्वकालीन सन्त
तथा
उन पर बौद्धधर्म का प्रभाव

पूर्वकालीन सन्त

बौद्धधर्म की जो प्रवृत्तियाँ सिद्धो से होती हुई नाथो तक पहुँची थी, उन्हीं प्रवृत्तियो से प्रभावित होकर सन्तमत का उदय हुआ था। यद्यपि सन्तमत ने कबीर द्वारा पूर्णता को प्राप्त की, किन्तु कबीर से पूर्व भी सन्तो की परम्परा थी। उन अपने पूर्ववर्ती सन्तों का स्मरण स्वयं कबीर तथा अन्य सन्तो ने किया है। उनकी कवितायें तथा वाणियाँ 'आदिग्रन्थ' मे सकलित है। इन सन्तों की कविताओ को देखने से स्पष्टत: जान पडता है कि कबीर की भाँति इनकी भी साधना-पद्धति बौद्धधर्म से प्रभावित थी। इन पूर्वकालीन सन्तों मे जयदेव, सधना, लालदेद, वेणी, नामदेव और त्रिलोचन के नाम उल्लेखनीय है। डॉ० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल ने स्वामी रामानन्द की भी गणना इन्ही सन्तों मे की है[1], क्योकि उनके भी पद आदिग्रन्थ मे संहीग्रत है और वे कबीरदास के गुरु थे, किन्तु स्वामी रामानन्द को पूर्वकालीन सन्त न कहकर हम उन्हे कबीर के समसामयिक सन्त कह सकते है, क्योंकि वे कबीरदास के समय विद्यमान थे, अत: उनके सम्बन्ध मे हम आगे विचार करेंगे। कबीरदास ने कलियुग में अपने पूर्ववर्ती केवल जयदेव और नामदेव को ही जागरूक सन्त माना है—

जागे सुक उधव अकूर, हणवंत जागे लै लंगूर।
संकर जागे चरन सेव, कलि जागें नामा जैदेव[2] ॥

इसी प्रकार इन सन्तों की गणना कबीर साहब ने भक्त सुदामा की श्रेणी में की है। उन्होंने इन्हें भक्त मात्र माना है, ज्ञानी सन्त नही—

जयदेव नामा विप्प सुदामा तिनको क्रृपा अपार भई है[3]।
सनक सनंदन जैदेव नामा, भगति करी मन उनहुँ न जाना[4]।

बौद्धधर्म से उनका सम्बन्ध

उन पूर्वकालीन सन्तों पर बौद्धधर्म का प्रभाव पडा था। उनकी वाणी तथा साधना मे बौद्धधर्म के स्पष्ट लक्षण दीखते है। उन सन्तो मे कुछ निर्गुण उपासक थे और कुछ सगुण,

---

१. हिन्दी काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ३६–४२।
२. कबीरग्रन्थावली, पृष्ठ २१६–३८७। ३. वही, पृष्ठ २९७, ११३।
४ वही पृष्ठ ९९ ३३

किन्तु उनमे सन्तमत का बीज विद्यमान था और बौद्धधर्म की अमिट छाप थी। उन्होंने सन्त स्वभाव से ही स्नान-शुद्धि, पत्थर की पूजा, तप, यज्ञ-याग आदि का विरोध किया है। हम देखते है कि भक्ति-साधना के वैष्णव सम्प्रदाय ने भी जयदेव के समय तक भगवान् बुद्ध को अवतार मान लिया था और वैष्णव सन्तों के भी बुद्ध 'हरि' बन गये थे। इसीलिए सन्त जयदेव ने अपने 'गीतगोविन्द' मे बड़े ही प्रेम से बुद्ध-स्तुति की है—'हे केशव, अपने जिन यज्ञों मे पशुहिंसा है, उनकी निन्दा की, अतः हे बुद्धरूपधारिन्, जगदीश, आपकी जय हो[1] !" इससे ज्ञात होता है कि जयदेव 'हरि' के रूप मे बुद्ध को मानते थे। गीतगोविन्द मे इसके अतिरिक्त 'तंत्र' शब्द भी आया है[2], जो वज्रयान के तंत्र-मंत्र का स्मरण दिलाता है। कुछ विद्वानो का मत है कि इस ग्रन्थ मे निर्गुण पंथियो के अनुसार जयदेव ने अन्योक्ति के रूप मे ज्ञान कहा है और भाव यह है कि गोपियाँ पाँच इन्द्रियाँ है और राधा दिव्य ज्ञान। गोपियों को छोड़कर कृष्ण का राधा से प्रेम करना यही जीव की मुक्ति है[3]। यह व्याख्या यथार्थ है, क्योकि प्रत्येक सर्ग के अन्त मे 'हरि' को कल्याण के रूप में स्मरण किया गया है और जयदेव के लिए हरि का जप प्रधान था। योग, यज्ञ, दान, तप, आदि ऐसे भक्त के लिये व्यर्थ है, इसीलिए कबीर ने जयदेव को केवल भक्त कहा है, ज्ञानी नहीं। आदिग्रन्थ मे जयदेव के जो दो पद संकलित है उनसे भी यही बात सिद्ध होती है कि हरि-स्मरण सच्चे मन से करना ही भक्त का कर्त्तव्य है, उसे कर्म-काण्ड, तप आदि के प्रपंचो से क्या तात्पर्य ? यह भक्ति भी मन, वचन और कर्म से ही सर्वांश रूप से पूर्ण हो जाती है—

हरिभगत निज निहकेवला, रिद करमणा वचसा।
जोगेन किं जगेन किं, दानेन किं तपसा[4] ॥

भगवान् बुद्ध ने यज्ञ, हवन, तप आदि को महागुणकारी नही कहा है, इनसे निर्वाण का साक्षात्कार नही हो सकता, निर्वाण के साक्षात्कार के लिये चित्त-शुद्धि परम आवश्यक है और उसे मध्यम मार्ग पर चलकर ही किया जा सकता है। यही बात सिद्धों और नाथो ने भी कही है। सिद्ध दारिकपा कहते है—

किन्तो मन्तो किन्तो तन्तो किन्तो झाण बखाणे[5] ।

सिद्ध कण्हपा ने भी यही बात कही है—

एसो जप होमे मण्डल कम्मे, अणुदिन अच्छसि काहिउ धम्मे[6] ।

---

१. निन्दसि यज्ञविधेरहहश्रुतिजातम।
सदयहृदय-दर्शित पशु-घातम्।
केशव धृतबुद्धशरीर जय जगदीश हरे। —गीतगोविन्द, प्रथम सर्गः, श्लोक ९।

२. जितमनसिजतंत्रविचारम्—वही, द्वितीय सर्गः, श्लोक ५।

३. हिन्दी काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ३३।

४. सन्तकाव्य, पृष्ठ १३५।

५. चर्यापद ३४।

६ दोहाकोष, पृष्ठ २९

सिद्ध तिलोपा का भी कथन है कि तीर्थ और तप व्यर्थ है, इनसे शरीर पापो से शुद्ध नही होता और न तो देव-पूजा से ही शुद्धता प्राप्त होती है, शान्त मन से बुद्ध की आराधना करो[1]। यही बुद्ध जयदेव के 'हरि' बन गये है, जो स्वयं बुद्धशरीर ही है। यज्ञ, तप आदि को छोडकर सिद्धि-पद स्वरूप, सर्वत्र व्याप्त हरि की आराधना ही अपेक्ष्य है। हम कह आये है कि बुद्ध वज्रयान मे निरन्तर विद्यमान, सर्वत्र विराजमान और निरंजन स्वरूप हो गये थे[2]।

जयदेव ने सिद्धो एवं नाथो के हठयोग को नही छोडा, उन्होंने योग को तो बुरा कहा, किन्तु हठयोग को नहीं। हठयोग की साधना मे नाद से ही निर्वाण को प्राप्त किया जा सकता है और जब नाद की प्राप्ति होती है तभी ब्रह्म-निर्वाण मे लवलीन होने की अवस्था होती है—

चंदसत भेदिआ, नादसत पूरिआ,
सूरसत षोडसादतु कीआ,
ब्रह्मु निरबाणु लिवलीणु पाइआ[3]।

सिद्ध गोरखनाथ ने भी यही बात कही है—

नाद ही ते आछे बाबू सब कछू निधाना।
नाद ही ते पाइये परम निरवाना[4]।

इस प्रकार सन्त जयदेव पर बौद्ध प्रभाव स्पष्ट है। उनकी वाणी मे बुद्ध, तंत्र, निर्वाण आदि बौद्धधर्म के शब्द विद्यमान है और उनके 'हरि' राम, केशव, गोविन्द आदि-पुरुष है, अनुपम, सत्य, सिद्धिपद तथा ब्रह्म-निर्वाण स्वरूप है[5] और वे ही बुद्धशरीर भी है। उनके अनुस्मरण से ही जल मे जल के प्रवेश करने की भाँति निर्वाण का लाभ हो सकता है[6]।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भी यह माना जाता है कि जयदेव पर सहजयान का प्रभाव पडा था[7], क्योकि उनके समय मे उड़ीसा तथा बंगाल प्रदेशो मे सहजयान बौद्धधर्म का प्रभाव बना हुआ था[8] और जगन्नाथ बुद्धस्वरूप माने जाते थे[9]।

---

१. तित्थ तपोवण ण करहु सेवा, देह सुचोहि ण सन्ति पावा।
ब्रम्हा विह्णु महेसुर देवा, बोहिसत्व मा करहू सेवा।
देव ण पूजहु तित्थ न जावा, देवपुजाही मोक्ख ण पावा।
बुद्ध अराहहु अविकल चित्ते, भव निब्बाणे म करहु थित्तें।
—हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ १७४।

२. हँउ जग हँउ बुद्ध हँउ णिरंजण—तिलोपा, दोहाकोष १६।

३. सन्तकाव्य, पृष्ठ १३६। ४. गोरखबानी, पृष्ठ ९९।

५. 'परमादि पुरष मनोपिम'—सन्तकाव्य, पृष्ठ १३५।

६. सललिकउ सललि समानि आइया—सन्तकाव्य, पृष्ठ १३६।

७ ———— की ———— पृष्ठ ९६। ८ वही पृष्ठ ९६।

९ सुद्द बउद्ध रूप हद्द कलियुगरे थिबु रहि दर्शन तथा साहित्य पृष्ठ २०४

सन्त सधना का केवल एक पद ही मिला है, जिससे ज्ञात होता है कि इनपर भी सिद्धों एवं नाथों का प्रभाव पड़ा था। इन्होंने अपने पद मे "मैं नाही कछु हउ नही, किछु आहि न मोरा"[१] कहकर नैरात्म्य एवं आध्यात्म का सुन्दर समन्वय किया है। वास्तव में जीव या सत्व नही है, वह अनात्म, निर्जीव, नि सत्व स्वभाव है, वह शाश्वत भी नही है, सर्वथा अनित्य है, अतः इस भौतिक जगत् में तथा पार्थिव शरीर मे 'मेरा' या 'अपना' कहलाने योग्य कुछ भी नहीं है। बौद्धधर्म के अनित्य, दु ख और अनात्मवाद का कैसा सुन्दर चित्रण सन्त सधना की वाणी मे विद्यमान है! कहते है कि सन्त सधना मास बेचने का कार्य करते थे किन्तु कभी जीवहिंसा नही करते थे। आज भी बौद्धदेशों मे बौद्ध मास क्रय करते और खाते है, किन्तु जीवहिंसा नही करते। बौद्धधर्म की त्रिकोटि पारिशुद्धि[२] का सधना पर प्रभाव जान पडता है। त्रिकोटि पारिशुद्धि के अनुसार दृष्ट, श्रुत और परिशंकित मास का उपभोग करना वर्जित है, किन्तु प्रवर्त (=पवत्त-तैयार) मास लेने, देने और खाने मे कोई दोष नही है[३]।

सन्त लालदेद कश्मीर की एक योगिनी थी, जो प्रधानतः शैव होते हुए भी शिव, केशव, जिन या नाथ मे कोई अन्तर नही मानती थी। इनका कथन था कि इनमे से किसी एक पर अटल विश्वास रखनेवाला व्यक्ति सभी दु खो से मुक्ति पा जाता है[४]। कहा जाता है कि भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशों में प्रचलित अलखधारी सम्प्रदाय इन्ही के सम्प्रदाय का है, जो अपने को ललाबेग का अनुयायी बतलाता है और मूर्तिपूजा में विश्वास न कर इसी जीवन मे सदाचार, अहिंसा आदि धर्मों के पालन से मुक्ति को प्राप्त करने की शिक्षा देता है। यदि लालबेग ही लालदेद हैं तो उनपर बौद्धधर्म का गहरा प्रभाव दीखता है। बौद्धधर्म मे सदाचार एवं धर्माचरण प्रधान रूप से माना गया है। किन्तु अभी कोई पुष्ट प्रमाण नही प्राप्त हो सका है जिसके आधार पर इसे दृढतापूर्वक कहा जा सके कि लालदेद ही ललाबेग है, फिर भी इनके जो पद प्राप्त हैं उनमे जिन और नाथ दोनों शब्द बौद्धधर्म के ही है। लालदेद के समय कश्मीर मे बौद्धधर्म अभी भी जीवित था और उसका प्रभाव लालदेद पर निश्चित रूप से पडा होगा।

सन्त वेणी पर नाथ-सम्प्रदाय के सिद्धान्तो का गहरा प्रभाव पडा था। इनके तीन ही पद मिले है। जिन्हे देखने से नाथो की वाणी होने का सन्देह होने लगता है। इनका कथन है—"इडा, पिंगला तथा सुषुम्ना नामक तीनो नाड़ियाँ जहाँ पर मिलती है वह स्थान प्रयाग की त्रिवेणी है, वही पर निरजन राम का वासस्थान है जिन्हे कोई विरला ही गुरु के उपदेश पर चलकर पहचान सकता है। वहीं अनाहत शब्द होता है। वहाँ न तो चन्द्र है, न सूरज है, न वायु है, न जल है, उसका साक्षात्कार गुरु के बतलाये निर्दिष्ट मार्ग पर चलने से ही हो सकता है[५]।" इसमे सिद्धो और नाथो की साधना स्पष्ट रूप से दिखाई दे रही है। सिद्धो

---

१. सन्तकाव्य, पृष्ठ १३८।
२. मज्झिमनिकाय २, १, ५।
३ भगवान् बुद्ध पृष्ठ २६१ २७०
४ उत्तरी भारत की पृष्ठ १०२
५ पृष्ठ १३९

न ललना, रसना तथा अवधूती इन तीन नाडियों को माना था, नाथों तथा सन्तों ने उन्हें ही इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाम से पुकारा। इन्हीं नाडियों मे पवन को निरुद्ध कर सुषुम्ना में श्वास संचालन द्वारा दशम द्वार उद्घाटित कर अमृत पीने की साधना नाथो तथा सिद्धों की योग-साधना रही है[1]। सन्त वेणी ने जिस त्रिवेणी का वर्णन अपने शब्दों मे किया है, उसी का वर्णन उनसे बहुत पहले गोरखनाथ ने इस प्रकार किया था—

अहंकारतूटिबा निराकार फूटिबा सोषीला गंग जमन का पानी।
चंद सूरज दोउ सनमुषि राषीला कहो हो अवधू तहाँ की सहिनाणी[2] ॥

चन्द्र और सूर्य प्रज्ञा तथा उपाय के प्रतीक माने जाते हैं, जब अनाहत नाद सुन पडता है और अमृत-तत्व का साक्षात्कार हो जाता है तब वहाँ सिद्ध सरह के शब्दो में—"नाद न बिन्दु न रवि शशि मंडल"[3] और गोरखनाथ के शब्दों मे—"कहा बुझाइ अवधू राइ गगन न धरनी, चन्द न सूर दिवस नहिं रैनी"[4] की अवस्था होती है। इस प्रकार हम देखते है कि सन्त वेणी की साधना सिद्ध-नाथो की देन है। उन्होने चन्दन लगाने, नित्यप्रति स्नान करने, मृग के चर्म का आसन, तुलसी-माला, रुद्राक्ष आदि के धारण करने मात्र को धर्म समझने वालों को 'फोकट धर्म' का पालन करने वाला बतलाया है और कहा है कि बिना गुरु की सेवा के कोई भी साधक अपने आपको नहीं पहचान सकता है और न तो परमतत्व को ही पा सकता है[5]। सन्त वेणी सिद्ध सरहपाद की भाँति फटकार बताने वाले सन्त थे। सरह ने परमपद को शून्य, निरजन कहा है[6] और उसी को वेणी ने 'निरंजन राम' बतलाया है। इससे सिद्धो के विचारों का सन्तो मे किस प्रकार समावेश हुआ भली प्रकार जाना जा सकता है।

सन्त नामदेव नाथसम्प्रदाय से पूर्वरूप से प्रभावित थे। उनपर सिद्धों की वाणियो का भी प्रभाव था। वे निर्गुणी सन्त होते हुए भी भक्ति के प्रचारक थे, अर्थात् वे शुद्ध निर्गुण भक्ति को मानते थे। तीर्थ-यात्रा को सरह की भाँति ये भी व्यर्थ मानते थे। इस सम्बन्ध में सरह ने कहा है—

किन्तह तित्थ तपोवण जाई।
मोक्ख कि लब्भइ पाणी नाही ॥

नामदेव ने भी कहा—

कोटिज तीरथ करैं, अनुज अहिवालै गारै।
रामनाम सरि तऊ न पूजै ॥
बेद पुरान सासतर आनन्ता, गीत कवित्त न गावहु गो।

---

१. सिद्धसाहित्य, पृष्ठ ३९७—९८। २. गोरखबानी, पृष्ठ ३९।
३. सिद्धसाहित्य, पृष्ठ ४१६। ४. वही, पृष्ठ ४१७।
५ पृष्ठ १४० १४१
६ सण्ण णिरजन भूमिका, पष्ठ ३६

कबीरदास ने इन्हीं सन्त नामदेव को कलियुग म जागरूक सन्त मानते हुए भक्त कहा था। वास्तव में ये भक्त और सन्त दोनों ही थे। इस बात से सिद्धो का प्रभाव इनपर परिपुष्ट होता है कि सिद्ध काया को ही तीर्थ मानते थे, वे काशी-प्रयाग में जाकर स्नान करने तथा तीर्थ-यात्रा मे भटकने से काया की साधना को ही उत्तम बतलाते थे। सिद्ध सरह ने कहा है—"देहा सरिस तित्थ, मइ सुणउ ण दिट्ठ"[1] अर्थात् मैने देह के सदृश तीर्थ को न सुना है, न देखा है। इसी बात के प्रचारक नामदेव भी थे।

प्रो० विनय मोहन शर्मा ने लिखा है कि बारकरी पंथ का मूल नाथपंथ था और उसका ही प्रभाव नामदेव पर पड़ा था[2]। यह बात यथार्थ है, क्योकि बारकरी सम्प्रदाय के मूलसन्त ज्ञानेश्वर थे, उन्होने अपनी परम्परा इस प्रकार दी है[3]—

आदिनाथ (जालन्धरपा)
मत्स्येन्द्रनाथ
गोरखनाथ
गहनीनाथ
निवृत्तिनाथ
ज्ञानेश्वर

इससे स्पष्ट है कि महाराष्ट्र मे किस प्रकार सिद्धो और नाथो का प्रभाव पडा था। नामदेव ने जिस विट्ठल (=बिठोवा) को अपना इष्टदेव माना है और जो बिट्ठल सर्वव्यापी, अन्तर्यामी, पुरुषोत्तम, अविगत, अलख, ज्ञानस्वरूप (=बिडाणी), ठाकुर, स्वामी, पद-निर्वाण (पदुनिरवाना) और सत् गुरु हैं, वे सिद्धो और नाथों से ही होकर नामदेव तक पहुँचे थे। विद्वानो ने विट्ठल को भी बुद्ध का ही स्वरूप माना है[4]।

सिद्ध मन को शून्य या खसम स्वभाव मानते थे और उसी प्रकार से उसकी भावना करते थे। मन शून्य रूप होकर शून्य या 'ख' मे मिल जाता है—

सब्बरूअ तहिं खसम करिज्जइ,
खसम सहावे मणवि धरिज्जइ[5]।

नाथपंथ ने भी शून्य को इसी अर्थ मे ग्रहण किया, किन्तु खसम शब्द को नही। आगे चलकर सन्त नामदेव के समय में यह खसम अरबी के पति का द्योतक स्वरूप धारण कर लिया और शून्य में लीन होना खसम से मिलना माना जाने लगा। नामदेव ने भी इसी

---

१. दोहाकोश, भूमिका, पृष्ठ ३५।
२. विश्वभारती पत्रिका, वैशाख-आषाढ२ ००४।
३. पुरातत्वनिबन्धावली, पृष्ठ १६३।
४ श्री कुलकर्णी मराठी 'धम्मपद' परिशिष्ट १
५ दोहाकोष, पृष्ठ ५५

सिद्ध-साधना से प्रभावित होकर गाया 'मैं बउरी मेरा राम भतार' कबीर ने भी ऐसे ही कहा — राम मेरा पिउ, मैं राम की बहुरिया।

नामदेव ने सरह आदि सिद्धो की ही भाँति जातिभेद, पत्थर-पूजा आदि का खण्डन किया है। उन्होने इन बातो के लिए हिन्दू-मुसलमान दोनो को ही फटकार है—

> हिन्दू अंना तुरकू काणा, दुंहा ते गिआनी सिआणा।
> हिन्दू पुजै देहुरा मुसलमाणु मसीत ॥
> नामे साई सेविआ जह देहुरा न मसीत।
> एकै पत्थर कीजै भाऊ, दूजै पाकर धरिये पाऊँ ॥
> जे ओहु देउ त ओहु भी देवा।
> कहि नामदेवा हम हरि की सेवा ॥

पीछे हम देखेंगे कि कबीर ने भी ऐसी ही वाणी कही है और इनका कबीर पर पूर्ण प्रभाव पड़ा है। नामदेव ने भैरव, भूत, शीतला, शिव, महामाई (दुर्गा) आदि की पूजा का बड़ा मजाक उड़ाया है[1]।

सिद्धो मे यह भावना थी कि बिना गुरु किये ज्ञान पाना कठिन है। अतः सभी साधक प्रथम गुरु की शरण जाते थे। सिद्ध सरहपा ने गुरु की महिमा बतलाते हुए कहा है[2]—

> गुरु उवएसे अमिअ-रसु, धाव ण पीअउ जेहि।
> बहु सत्थत्थ मरुत्थलहि, तिसिए मरिअउ तेहि ॥ ५६ ॥
> चित्ताचित्तवि परिहरहु, तिम अच्छहु जिम बालु।
> गुरु वअणें दिढ भत्ति करु, होइ जइ सहज उलालु ॥ ५७ ॥
> जीवन्तह जो णउ जरइ, सो अजरामर होइ।
> गुरु उवएसें विमल मइ, सो पर धण्णा कोइ ॥ ६९ ॥

इसी भावना से प्रभावित हो गोरखनाथ ने अपने को गुरु का दास कहा है[3]। गुरु से ही समाधि सिद्ध हो सकती है और योग का अभ्यास भी। और "तब गुरु परचै साधे[4]।" इसी गुरु-महिमा की नामदेव ने इस प्रकार स्तुति की है—"सदगुरु भेटला देवा", और "ज्ञान अंजन मोको गुरु दीना।" उन्होने यह भी कहा है कि गुरु के प्रताप से नर सुर तक हो जाता है—"नर से सुर होइ जात निमिख में सति गुरु बुधि सिखाई।"

नामदेव ने सिद्धो के हठयोग को ग्रहण किया था और उन्हे भी अनाहत (=अनहद) नाद की अनुभूति हुई थी

धनि धनि ओ रामबेनु बाजै
मधुर मधुर अनहत गाजै ॥

इस प्रकार हम देखते है कि सन्तमत की साधना की मूल भावना के दृढ अंकुर नामदेव में विद्यमान थे, जिन्हे उन्होने सिद्धो और नाथो की परम्परा से ग्रहण किया था।

सन्त त्रिलोचन नामदेव के समकालीन थे। इन दोनो सन्तो में धार्मिक सत्संग की चर्चा 'आदि ग्रन्थ' मे संग्रहीत पदो मे मिलती है। सन्त त्रिलोचन के केवल चार ही पद प्राप्त हुए हैं, उनसे जान पडता है कि नामदेव की भाँति इन पर भी सिद्धों तथा नाथों का प्रभाव पडा था। इनके पदो में भी गुरु-महिमा, निर्वाण आदि के सम्बन्ध मे वर्णन है :—

"गुर बिनु ततु न पाइआ[1]।"

बिना गुरु के परमतत्व की प्राप्ति नही हो सकती। गुरु के उपदेशानुसार चलकर ही चौरासी लाख योनियो से मुक्त होकर निर्वाण का साक्षात्कार हो सकता है—

"लख चउरासीह जिनि उपाई, सो सिमाहु निरबाणी[2]।"

सन्त त्रिलोचन ने भी सिद्ध सरह की भाँति मिथ्या संन्यास को बुरा कहा है—

"अन्तर मलि निरमलु नही कीना, बाहिर भेष उदासी।
हिरदै कमलु घटि ब्रह्म न चीन्हा, काहे भइआ संनिआसी॥"

सिद्ध सरह ने इसी भाव से कहा है कि घर मे रहो या वन में, अपने चित्त को निर्मल करो, केवल वेष बदलने से ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती—

णउ घरे णउ वणे बोहि ठिउ, एहु परिआणहु भेउ।
णिम्मल चित्त सहावता, करहु अविकल सेउ[3]॥

इन पूर्वकालीन सन्तों मे किस प्रकार बौद्ध-विचारधारा प्रविष्ट हुई थी और इनका उससे क्या सम्बन्ध है, इस तथ्य को उक्त वर्णन से जाना जा सकता है।

सामान्य परिचय

इन पूर्वकालीन सन्तो का सामान्य परिचय भी जानना आवश्यक है। इनके परिचय से इनकी धर्म-भावना एवं बौद्धधर्म के प्रभाव को समझने मे सहायता मिलेगी।

सन्त जयदेव

सन्त जयदेव बंगाल के सेनवंशी राजा लक्ष्मणसेन के दरबारी कवि थे और लक्ष्मणसेन का राज्यकाल ईस्वी सन् ११७९ से १२०५ तक माना जाता है। अत. जयदेव का भी समय

---

१ सन्तकाव्य. पृष्ठ १४२। २. वही, पृष्ठ १४२।
३ दोहाकोष भूमिका पृष्ठ २७

यही है। इनका जन्म वीरभूमि जिले मे अजय नदी के उत्तर स्थित किन्दुबिल्व नामक ग्राम मे हुआ था[१]। इनके पिता का नाम भोजदेव तथा माता का नाम राधादेवी था[२]। ये अपने समय के प्रसिद्ध कवि थे। कबीरदास ने इन्हे कलियुग का जागरूक सन्त माना है और चन्दबरदाई ने—'जयदेव अहं कवी कब्बिरायं, जिनै केल कित्ती गोविन्द गायं' कहकर कविराज माना है।

डॉ० बड़थ्वाल ने इनकी तीन रचनाएँ गिनाई हैं—रसना राघव, गीतगोविन्द और चन्द्रालोक[३]। किन्तु श्री परशुराम चतुर्वेदी ने केवल 'गीतगोविन्द' को ही इनकी रचना मानी है और आदिग्रन्थ मे मिलने वाले पदो के रचयिता जयदेव को इनसे भिन्न मानने का संशय करते हुए भी गीतगोविन्द और आदिग्रन्थ के पदो के रचयिता सन्त जयदेव को एक ही मानकर अपनी व्याख्या की है, फिर भी अपना निश्चित दृढ मत किसी एक के पक्ष मे व्यक्त नही किया है[४]।

हम श्री केदारनाथ शर्मा के इस कथन से सहमत हैं कि सन्त जयदेव की एक ही रचना है—गीतगोविन्द। प्रसन्नराघव तथा चन्द्रालोक दो भिन्न जयदेव नामक लेखकों की रचनाएँ हैं[५]। प्रसन्नराघव तथा चन्द्रालोक के रचयिता को कबीर कलियुग का जागरूक सन्त तथा भक्त नही मान सकते और न तो चन्दबरदाई गोविन्द को कीडा के गायक रूप मे कविराज ही मानते। इसमे भी किसी प्रकार के सन्देह के लिए अवकाश नही है कि आदिग्रन्थ के पद-रचयिता गीतगोविन्दकार से भिन्न है, कारण, हम पहले कह आये है कि गीतगोविन्द और आदिग्रन्थ मे आये दोनो पदों पर बौद्ध छाप है और दोनों ही स्थलों में बौद्धधर्म के तत्व तथा 'हरि' अनुस्मृति प्रधान रूपसे अभिलक्षित होते हैं। जिस प्रकार गीतगोविन्द कलियुगी पापो के शमनार्थ भक्ति-भाव से लिखा गया है[६] और जिसका प्रधान उद्देश्य हरिस्मरण से आनन्द की प्राप्ति है[७], उसी प्रकार आदिग्रन्थ वाले पदो में भी कहा है कि हरिभक्ति, गोविन्द का जाप और परमात्मा (जैदेव) मे मन लगाने से निर्वाण का साक्षात्कार होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों की भावना एक है और दोनों ही व्यक्तित्व एक है।

श्री परशुराम चतुर्वेदी का यह कथन समीचीन है कि जयदेव के समय मे बौद्ध सिद्धों का समय अभी-अभी व्यतीत हुआ था और नाथपन्थ एव भक्तिमार्ग की धारायें प्रायः समान

---

१. वर्णितं जयदेवकेन हरेरिदं प्रणतेन।
   किन्दुबिल्वसमुद्रसम्भवरोहिणीरमणेन ॥ ८ ॥ तृतीय सर्ग, गीतगोविन्द।
२. श्रीभोजदेवप्रभवस्य राधादेवीसुत श्रीजयदेवकस्य—गीतगोविन्द, द्वादश सर्ग, ५।
३. हिन्दी काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ, ३३।
४. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ९९।
५ गीतगोविन्द की 'इन्दु' टीका की भूमिका, पृष्ठ ५।
६ श्रीजयदेवभणितमतिललितम्।
   कलिकलुषं शमयतु हरिरमितम् ॥ ८ ॥ सप्तम सर्ग।
७
   प्रति सम्प्रति ८ द्वितीय सग

रूप से एक साथ ही प्रवाहित हो रही थी। इन दोनो का योग एक विशेष रूप धारण करता जा रहा था। यही कारण है कि जयदेव की कविताओं मे सहजयान के 'प्रज्ञा' तथा 'उपाय' ने राधा और कृष्ण का स्वरूप धारण कर लिया और महासुख की अन्तिम अवस्था ही अलौकिक प्रेम मे रूपान्तरित हो गयी, जिसका प्रभाव आगे के सन्तमत पर पड़ा[१]।

सन्त सधना

सन्त सधना अपने समय के प्रसिद्ध सन्त थे। सन्त रविदास ने 'नामदेव कबीर त्रिलोचनु, सधना सैणु तरै' कहकर इन्हे स्मरण किया है। इनके जीवन के सम्बन्ध मे विशेष जानकारी नही प्राप्त होती। किवदन्ती है कि ये कसाई जाति के थे और मास बेचने का कार्य करते थे, किन्तु किसी जीव की हिसा स्वयं नही करते थे। ये अहिंसक तथा निर्गुण सन्त थे। आदिग्रन्थ मे इनका केवल एक पद संग्रहीत है और उसी से इनके सम्बन्ध मे अनेक प्रकार की कल्पनाएं तथा किंवदन्तियाँ प्रचलित है। हम केवल इतना ही कह सकते है कि ये नामदेव के समकालीन थे और परम्परा से इन्हे एक महान सन्त माना जाता है। डॉ० ग्रियर्सन ने सधना पन्थ की भी चर्चा की है और बतलाया है कि यह मत काशी मे प्रचलित है, किन्तु यह यथार्थ नही जान पड़ता, क्योकि काशी मे इस समय इस नाम का कोई मत नही है।

लालदेद

हम कह आये है कि सन्त लालदेद एक महिला सन्त थी। ये कश्मीर की रहनेवाली थी। इनका जन्म ढेढवा नामक मेहतर की जाति मे हुआ था। इनकी लल्ला योगिनी नाम से भी प्रसिद्धि थी। ये भ्रमणशील तथा धर्म-प्रचारिका थी। अपने धर्म के प्रचारार्थ ये नाचती-गाती भी थी। प्रसिद्ध मुसलिम फकीर सैयद अली हमदानी से इनकी मैत्री थी। इनका प्रभाव जनता पर विशेष पड़ा था। ये निर्गुणी उपदेश देते हुए भी मूर्ति-पूजा की समर्थक थी। दु ख से मुक्ति के लिए परमात्मा को शिव, केशव, जिन या नाथ जिस भी रूप मे विश्वास करके धर्माचरण करना अपेक्ष्य है—यही इनकी मूल भावना थी। इन पर नाथपन्थी शैवों का अधिक प्रभाव पड़ा था। हमने पहले बतलाया है कि भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशो मे अलखधारी नामक एक सम्प्रदाय प्रचलित है, जिसके अनुयायी लालबेग को अपने धर्म का पुरस्कर्ता मानते है और उन्हे 'शिव'की संज्ञा देते है। विद्वानो का अनुमान है कि यह लालदेद का ही रूपान्तरित नाम है[२]।

सन्त वेणी

सन्त वेणी कबीर के पूर्ववर्ती सन्त थे, किन्तु इनके सम्बन्ध मे बहुत कम परिचय प्राप्त होता है। आदिग्रन्थ मे इनके तीन पद संग्रहीत है और गुरुग्रन्थ साहब में इनके सम्बन्ध मे

१　उत्तरी भारत की　　पृष्ठ ९९
२　उत्तरी भारत की　　पृष्ठ १०३

केवल इतना ही उल्लेख है— बेणी कउ गुरि कीउ प्रगासु, रेमन तभी होहि दासु'[1]। इससे ज्ञात होता है कि वेणी को सद्गुरु द्वारा ज्ञान प्राप्त हुआ था। इनके आदिग्रन्थ में संग्रहीत तीनो पदो पर सिद्ध-नाथों का गहरा प्रभाव पड़ा है और सन्तमत की भावना व्यक्त हुई है। गुरु-महिमा, निरंजन राम, अनहदनाद आदि के साधक सन्त वेणी एक उच्च कोटि के योगी भी थे। इन्होंने आध्यात्मकी अनुभूति को प्रधान लक्ष्य माना है और मूर्ति-पूजा, बाह्याडम्बर आदिको फोकट' धर्म कहा है, जो लोग इनमें पडे रहते है वे ठग, वंचक तथा लम्पट है।

सन्त नामदेव

सन्त नामदेव का जन्म सन् १२७० मे सतारा जिले के नरसी बमनी ग्राम मे हुआ। ये महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त ज्ञानेश्वर के समकालीन थे। इन्होंने पण्ढरपुर के विट्ठल को अपना इष्टदेव मानकर साधना प्रारम्भ की। इनके विट्ठल निर्गुण ब्रह्म के रूप मे इनके हृदय में विराजमान थे और उसे ही ये सर्वव्यापी तथा अन्तर्यामी मानकर साधना करते थे। कबीरदास ने इनका भक्तो के रूप मे स्मरण किया है, जिसका वर्णन पहले किया गया है। इनके गुरु विशोबा खेचर थे। आदिग्रन्थ मे इनके ६२ पद संग्रहीत हैं।

सन्त नामदेव के सम्बन्ध में अनेक चमत्कारिक तथा अलौकिक बाते प्रसिद्ध हैं। जो इनकी आध्यात्मिक चिन्तना एवं साधना की सफलता की परिचायिका हैं। इनकी ख्याति पंजाब तक थी। महाराष्ट्र मे तो इनके अनुयायियों की संख्या आज भी बहुत है। इनकी प्रसिद्धि के ही कारण अनेक सन्तोने अपना नाम इन्ही के नामपर रख लिया है, जिससे प्राय. भ्रम होनेकी सम्भावना रहती है। सन्त नामदेव कबीर के आदर्श सन्त थे। कबीर पर इनकी वाणी का बहुत प्रभाव पडा था। इनका देहान्त ई० सन् १३५० मे हुआ था।

सन्त त्रिलोचन

सन्त त्रिलोचन नामदेव के समकालीन थे। इनका जन्म ई० सन् १२६७ मे हुआ था। सन्त रविदास ने इन्हे ज्ञान-प्राप्त सन्त माना है[2]। ये भी महाराष्ट्र के ही रहने वाले थे। आदिग्रन्थ मे इनके केवल चार पद संग्रहीत हैं। नामदेव और त्रिलोचन मे धार्मिक सत्सग की भी चर्चा मिलती है। सन्त त्रिलोचन अवस्था मे नामदेव से बडे थे, अतः त्रिलोचन ने नामदेव से पूछा—'हे नामदेव, तुम क्यो धन्धे मे लगे हो, रामनाम की ओर चित्त क्यों नही लगाते?' सन्त नामदेव ने उत्तर दिया—'हे त्रिलोचन, मुख द्वारा रामनाम का स्मरण करते रहो, किन्तु हाथ-पैर को सदा काम मे लगाये हुए चित्त को निरंजन मे लीन रखो[3]।' इस वार्ता से सन्त-

---

१. गुरुग्रन्थ साहब, पृष्ठ ११९२।

२. नामदेव कबीर त्रिलोचन सधना सेन तरे—सन्त रविदास और उनका काव्य, पृष्ठ ८१।

३. नामा माया मोहिया, कहै तिलोचन मीतु।
काहे छापे छाइलै, राम न लावहि चीतु।
कहै कबीर त्रिलोचना मुख ते राम सँमालि
हाथ पाउँ कर काम सभु, चीत निरजन नालि पद ७४०

मत के अनुसार आदर्श जीवन का सुन्दर चित्र प्रस्तुत हो जाता है। सन्त त्रिलोचन कबतक जीवित रहे, इसका पता नही लगता, फिर भी डॉ० बड़थ्वाल ने ओछड़े वाले हरिरामजी व्यास के इस कथन को समीचीन माना है कि त्रिलोचन का देहान्त स्वामी रामानन्द से पूर्व ही हो गया था और उस समय तक नामदेव भी दिवंगत हो गये थे[१]।

साहित्य और समीक्षा

मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य के प्रमुख सन्त कबीर के पूर्वकालीन जिन छः सन्तों का हमने परिचय दिया है और उनके बौद्धधर्म के साथ सम्बन्ध को बतलाया है, उनके अतिरिक्त भी अनेक सन्त रहे होंगे जो अपनी अनुभूतियो का स्वयं अनुभव कर प्रत्येक-बुद्धो की भाँति स्वान्त सुखाय ही धर्माचरण एवं ज्ञान-परिचर्या कर शान्त हो गये होंगे अथवा अपने संसर्ग मे आनेवाली जनता को अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियो के किंचित अभिव्यक्ति मात्र से ही सन्तोष कर परम निरंजन मे लवलीन हो गये होंगे। सम्प्रति जिन महाभाग सन्तों की वाणी के कुछ पदो को लोक-उद्धारक सिख-गुरुओं ने ग्रन्थसाहब मे संजोकर रखा है, वे ही हमारे लिए उन सन्तो के स्वरूप हैं। उनका हृदय, आचरण, भावना, पूजा, साधना और व्यक्तित्व सब कुछ उन्ही मे सन्निहित है। इन सन्तो मे से किसी भी सन्त का अपना अलग से लिखित या संकलित ग्रन्थ अथवा साहित्य प्राप्त नही हुआ है। उनके नाम पर कुछ सग्रह बने भी है, किन्तु वे उनके नही है, उनके तो सम्पूर्ण ज्ञान-गरिमा तथा तत्व-चिन्तन को ग्रन्थसाहब ने वचनामृत तुल्य सुरक्षित कर लिया है। यह हमारे लिए परम सौभाग्य की बात है, अन्यथा इन सन्तो के नाम अवशेष भी रहते, तो इनके स्वरूप का ज्ञान नही हो पाता।

ग्रन्थसाहब में सुरक्षित इन सन्तो का जो साहित्य है, वह पूर्णरूप से शुद्ध, अविकल एवं अपने मूल रूप मे है और यही इनकी प्रमुख विशेषता है। यह सुरक्षित साहित्य भारतीय सस्कृति एवं धर्म की अमूल्य थाती है, जिसमे इन सन्तों की एक दीर्घकालीन साधना की अनुभूति सम्पुटित है। यह उल्लेखनीय है कि इन सन्तो के वही पद संग्रहीत किये गये होंगे जो अत्यधिक प्रसिद्ध, प्रभावोत्पादक, दार्शनिक एव धार्मिक पक्षो के द्योतक तथा लोक-रुचि के अनुकूल होंगे। अतः ये पद बहुत मूल्यवान् होते हुए ऐतिहासिक भी है।

समाविष्ट बौद्धधर्म के तत्वों का विवेचन

पूर्वकालीन सन्तो पर बौद्धधर्म का प्रभाव किस अंश तक पड़ा है और इनकी वाणियो में उसका किस प्रकार दर्शन होता है, इसका विवेचन पहले किया जा चुका है। हम देखते है कि इन सन्तो का समय लगभग ई० सन् १२०० से प्रारम्भ होता है और लगभग डेढ सौ वर्षों मे इसकी अन्तिम अवधि समाप्त हो जाती है। इनमे जयदेव प्रथम और नामदेव तथा त्रिलोचन अन्तिम हैं। हम पहले कह आये है कि सिद्धों का समय ई० सन् १२०० तक था और उसके पश्चात् नाथो और सन्तो का युग आता है। यद्यपि नाथ सम्प्रदाय जालन्धरपा से ही आरम्भ

---

१ हिन्दी काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय पृष्ठ ३६।

माना जाता है, जो गोरखनाथ के समय में पूर्णता को प्राप्त हुआ और उसके पश्चात् सन्तों का प्रादुर्भाव हुआ। हम देखेंगे कि सन्त कबीर ने सिद्धों और नाथों का विरोध किया है[1], किन्तु उन्होंने सिद्धों और नाथमत को ही ग्रहण भी किया है। वास्तव में उनके पास तक सिद्धों और नाथों की वाणी प्रत्यक्ष रूप से नहीं पहुँची थी, किन्तु इन पूर्ववर्ती सन्तों के लिए ऐसा नहीं कहा जा सकता। इनके समय में अभी-अभी सिद्धों-नाथों का समय समाप्त हुआ था। बंगाल से लेकर कश्मीर तक और महाराष्ट्र से लेकर नेपाल तक बौद्धधर्म की छाप अबतक थी। उड़ीसा में जगन्नाथ बुद्धरूप माने जाते थे। जयदेव ने हरि को बुद्धशरीर ही कहा। वैष्णवों ने भगवान् बुद्ध को अपना एक अवतार मान लिया और बुद्धावतार का स्मरण कर सभी धार्मिक कार्य होने लगे। यह ऐसा समय था जब कि बौद्धधर्म एक नवीन रूप में परिवर्तित होने लगा था और उसकी देशना साधारण-जन में जो सदियों से व्याप्त थी, वह सन्तों की भावना बनकर सन्तवाणी में स्फुटित होने लगी। इसीलिए हम देखते हैं कि पूर्ववर्ती सन्तों में दोनों प्रकार की प्रवृत्ति है, वे शिव को भी मानते हैं, हरि, कृष्ण और राम को भी मानते हैं, किन्तु बुद्ध को प्रत्यक्ष रूप से अपना परम उपादेस्य-देव न मानते हुए भी अलख, निरंजन, शून्य, अन्तर्यामी, ऋद्धिपद, निर्वाण-स्वरूप, बिट्ठल, उद्धारक आदि रूपों में मानते हैं और हठयोग से साधना कर उस परमात्मा स्वरूप निरंजन में लवलीन हो जाना उनका परम लक्ष्य है। उस परमज्ञान स्वरूप परमात्मा को सिद्धों की ही भाँति सर्वव्यापी और सर्वगत मानते हैं[2]। ये सगुण के भी उपासक हैं और निर्गुण के भी, किन्तु इनकी प्रवृत्ति निर्गुण की ओर ही अधिक झुकी है। इनमें से कुछ मूर्ति-पूजा का खण्डन भी करते हैं और कुछ मूर्ति-पूजा में विश्वास कर निरंजन ब्रह्म की चिन्तना भी करते हैं। तीर्थ करने से शुद्धि में इन्हें विश्वास नहीं है ये सदाचार की शिक्षा देते हैं और अनित्य, दुःख तथा किसी रूप से अनात्म की भी चर्चा करते हैं, यद्यपि बौद्धों की मूल अनात्म-भावना से अपरिचित हैं। अपने को शून्य में मिला देना ही इनका परम उद्देश्य है और इस शून्य की प्राप्ति पवन-निरोध से उत्पन्न अनहदनाद से होती है। उसकी प्राप्ति परम सुख एवं परमानन्द की अवस्था है, जो साक्षात् निर्वाण है उस निर्वाण की प्राप्ति के लिए ही सन्यासी होना है, चित्त को राग, लोभ आदि कलुष से शुद्ध करना है, वह निर्वाण बाह्याडम्बरों से नहीं प्राप्त हो सकता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन सन्तों की प्रवृत्ति का कबीर पर प्रभाव पड़ा था, किन्तु कबीर के सन्तभाव का अभी पूर्ण परिपाक नहीं हुआ था, अतः इन सन्तों को सगुण और निर्गुण सम्प्रदायों के बीच कड़ी समझना चाहिए। किन्तु यह भी द्रष्टव्य है कि इनमें सगुणवादी और निर्गुवाणवादी दोनों से कुछ अन्तर है। डॉ० बड़थ्वाल का यह कथन सर्वथा समीचीन है कि ये सन्त न तो सगुणवादियों की भाँति परमात्मा की निर्गुण सत्ता की अवहेलना

---

१ सिध चौरासी, नाथ नौ बीचै सबै भुलान।
बीचै सबै भुलान भक्ति की मारग छूटी।
हीरा दिहिन है डारि लिहिन इक कौड़ी फूटी॥ —सन्तकाव्य, पृष्ठ ५२२।

२ सअल णिरन्तर बोहि ठिअ —दोहाकोश भूमिका पृष्ठ २७

कर उसकी प्रतिभासिक सगुण सत्ता को ही सब कुछ समझते है और न निर्गुणियों की भाँति मूर्ति-पूजा और अवतारवाद को समूल नष्ट ही कर देना चाहते है[1]। वे बाह्य कर्म-काण्ड को न मानते हुए भी प्रारम्भिक अवस्था मे उसकी उपयोगिता को स्वीकार करते है। इन सन्तो मे उपर्युक्त भावना होते हुए भी वे सभी प्रवृत्तियाँ विद्यमान है, जिनसे कि निर्गुण सन्तमत का उदय हुआ। आगे डॉ० बड़थ्वाल का कथन है कि इन सन्तो मे जातिपाँति के सब बन्धनो को तोड देने की प्रवृत्ति, अद्वैतवाद, भगवदनुराग, विरक्त और शान्त जीवन, बाह्य कर्मकाण्ड से ऊपर उठने की इच्छा सब विद्यमान थी। इस प्रकार इन सन्तो ने कबीर के लिए मार्ग प्रशस्त किया, जिससे इन प्रवृत्तियो को चरमावस्था तक ले जा सकना उनके लिए आसान हो गया[2]।

इन पूर्वकालीन सन्तो मे प्राय सभी सन्त निम्न जाति के थे। निम्न जाति के व्यक्तियो को भगवान् बुद्ध ने ही भिक्षु बनाना प्रारम्भ किया था और उन्हे अपने सघ मे समान अधिकार प्रदान किया था। यही नही, जातिभेद के मूल को ही उन्होने बौद्धसघ से उखाड़ फेंका था और नाई जाति के उपालि को विनय मे सर्वश्रेष्ठ (एतदग्र) की उपाधि से विभूषित किया था। किसी भी जाति, धर्म, वर्ण के व्यक्ति बुद्धधर्म मे दीक्षा लेकर उसी प्रकार एक हो जाते थे जैसे कि छोटी-बड़ी सभी नदियाँ समुद्र मे मिलकर एक हो जाती है और उनके जल के स्वाद मे कोई अन्तर नही रह जाता। इसी भावना का यह फल था कि सारी बौद्ध-परम्परा जातिभेद-विहीन रही और उसका ही प्रभाव इन सन्तो पर भी पडा। इस भावना से प्रेरित होकर निम्न जाति के लोग भी संन्यास ग्रहण करने लगे थे। इसीलिए बनिया, खटिक, कसाई, डोम, चमार, धुनिया, मेहतर सभी को साधना करने का अवसर प्राप्त हुआ।

इन पूर्वकलीन सन्तो मे लालदेद महिला-सन्त थी और वे घूम-घूमकर अपने धर्म का प्रचार करती थी। इनके नाम मात्र से बुद्धकालीन भिक्षुणियो का स्मरण हो आता है। सर्वप्रथम तथागत ने ही स्त्रियो को भिक्षुणी बनाया था और तभी से महिलाओ के लिए संन्यास का मार्ग प्रशस्त हुआ था। सिद्धकाल मे ये भिक्षुणियां योगिनी नाम से जानी जाती थी और घूम-घूमकर सहज भावना का प्रचार करती थीं। उड़ीसा के राजा इन्द्रभूति की बहिन लक्ष्मीकरा तक योगिनी बन गयी थी। ऐसे ही मणिभद्रा, मेखला और कनखला भी प्रसिद्ध सिद्ध-योगिनियाँ थी, इन्ही का यह प्रभाव था कि लालदेद जैसी महिलाओं ने इस समय भी संन्यास ग्रहणकर धर्म-प्रचार को ही अपना लक्ष्य बनाया।

इस प्रकार हमने देखा कि पूर्ववर्ती सन्तों की मूलभावना, साधना, आचार-व्यवहार आदि पर बौद्धधर्म की पूरी छाप पडी थी। हम कह सकते है कि वे हिन्दू और बौद्ध दोनो प्रवृत्तियो के मिश्रण थे। वे वैष्णव, शैव, शाक्त आदि के अनुयायी होते हुए भी अप्रत्यक्ष रूप से बौद्ध भी थे। उनकी वाणी मे उनके चिन्तन मे और उनके आचरण में अपने रूपान्तरित स्वरूप में बौद्धधम विद्यमान था

चौथा अध्याय

[अ] प्रमुख सन्त कबीर

तथा

बौद्धधर्म का समन्वय

कबीर का जीवन वृत्तान्त

कबीरदास सन्तमत के प्रमुख प्रवक्ता थे। वे एक युग-निर्माता एवं धर्म-प्रवर्तक थे। उनका जन्म उसी प्रकार इस देश में हुआ था, जिस प्रकार कि अन्य महापुरुषो का हुआ करता है। उनके जीवन का प्रमुख लक्ष्य तथा कार्य लोकोद्धार था, किन्तु ऐसे महापुरुष के जीवन वृत्तान्त के सम्बन्ध मे अनेक प्रकार के विवाद है। कबीरपन्थ के अनुयायी मानते हैं कि कबीर एक अजर-अमर अलौकिक पुरुष है। वे संसार मे प्राणियो (हंसो) के उद्धारार्थ समय-समय पर अवतरित हुआ करते है[1]। वास्तव मे कबीर एक महान् व्यक्तित्व थे। उन्होंने अपने उपदेशामृत से महान् लोक-कल्याण किया। आध्यात्म-ज्योति से प्रकाशमान् महापुरुषों का व्यक्तित्व साधारणजन से भिन्न तथा अचिन्त्य होता है, यही कारण है कि सन्त कबीर का जीवन वृत्तान्त अभी तक विवादग्रस्त बना हुआ है। प्रामाणिक साक्ष्यों के अभाव में विद्वानों ने उनके जीवन वृत्तान्त के सम्बन्ध मे अपने अनेक प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। कुछ विद्वान्[2] उनकी जन्मतिथि सम्वत् १४५५ मानते है, जैसा कि परम्परा से प्रचलित है और सम्प्रति कबीरपन्थी जन-समुदाय मे व्यवहृत है[3]। कुछ विद्वान् सम्वत् १४५६ कबीरदास का आविर्भाव-काल मानते है[4]। डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने सम्वत् १४२७ के आस-पास मानने का सुझाव दिया है[5] और परशुराम चतुर्वेदी ने १४२५ को ही कबीर की वास्तविक जन्मतिथि सिद्ध की है[6]। जैसा कि हम पहले कह आये है,[7] कबीर ने जयदेव और नामदेव को जागरूक सन्तो के रूप में स्मरण किया है,[8] अत ये दोनो सन्त कबीरदास के पूर्ववर्ती थे।

---

१. कबीर चरितबोध।
२ डॉ० रामकुमार वर्मा, सेन, भण्डारकर, मेकालिफ, हरिऔध, मिश्रबन्धु, डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव आदि।
३. चौदह सौ पचपन साल गये, चन्द्रवार एक ठाठ ठए।
जेठ सुदी बरसायत को पूरनमासी तिथि प्रगट भए॥
४ श्यामसुन्दर दास, रामचन्द्र शुक्ल, राहुल सांकृत्यायन आदि।
५ हिन्दी काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ५५।
६. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ७३३।
७. तीसरा अध्याय, पृष्ठ १२१।
८. "कलि जागे नामां जैदेव"। (कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २१६) तथा "सनक सनंदन जैदेव, नामा" (कबीर ग्रंथावली पृष्ठ ९९)।

इनमें जयदेव का समय बारहवी शताब्दी है और नामदेव का देहान्त सन् १३५० (विक्रमी सम्वत् १४०७) मे हुआ था[१]। स्वामी रामानन्द और सिकन्दर लोदी कबीर के समकालीन थे। इनमे रामानन्द का समय ई० सन् १२९९ (बि० सं० १३५६) से १४१० (वि० सं० १४६७) माना जाता है[२]। यह भी माना जाता है कि रामानन्द दीर्घजीवी थे[३]। सिकन्दर लोदी का समय ई० सन् १४८८ मे १५१७ है,[४] वह सन् १४९४ मे वाराणसी आया था और कबीर से उसकी भेंट हुई थी[५]। तात्पर्य यह कि कबीरदास का जन्म ई० सन् १३५० तथा देहान्त ई० सन् १४९४ के पश्चात् होना चाहिए। अत: पूर्व-परम्परा से माना गया समय ही उचित जान पडता है, इसमे किसी भी प्रकार की इतिहास-विरोधी बात नहीं आती। यदि हम पूर्व-परम्परा को ही मान लें, तो कबीरदास का जन्म ई० सन् १३९८ (वि० सं० १४५५) और देहावसान ई० सन् १५१८ (वि० सं० १५७५) होता है तथा वे १२० वर्ष की आयुवाले होते है, जो कबीर जैसे महात्मा के लिए अधिक नहीं है। परशुराम चतुर्वेदी और डॉ० बडथ्वाल की निश्चित तिथियाँ समीचीन नहीं। बिना किसी पुष्ट प्रमाण के एक महापुरुष के जन्म एवं देहावसान की तिथि की कल्पना कदापि उचित नहीं मानी जा सकती। अत. हमारा दृढ विश्वास है कि कबीर की जन्मतिथि विक्रमी सं० १४५५ और देहावसान काल १५७५ ही मानना युक्तिसंगत है।

कबीरदास के जन्मस्थान के सम्बन्ध मे भी विवाद है। धार्मिक परम्पराओ से कबीर का जन्म काशी में हुआ था, किन्तु कुछ लोगो ने इस पर सन्देह किया है। उनमे से कुछ का मत है कि कबीर मगहर मे उत्पन्न हुए थे और वहाँ से काशी आकर बस गये थे, फिर अन्तिम समय मे मगहर चले गये थे, जहाँ उनका देहावसान हुआ[६]। कुछ लोगो का कथन है कि कबीर साहब का जन्म काशी या काशी के पास न होकर आजमगढ जिले के बेलहरा ग्राम मे हुआ था[७]। किन्तु परशुराम चतुर्वेदी,[८] डॉ० रामकुमार वर्मा[९] आदि विद्वानो ने कबीर का जन्म काशी मे ही माना है, हम भी इसी पक्ष का प्रतिपादन करते है। कबीर चरितबोध में कहा गया है कि सत्यपुरुष का तेज काशी के लहर तालाब मे उतरा था ओर

---

१ तीसरा अध्याय।

२ रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, पृष्ठ ७१-७५, तथा हिन्दी काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ४१।

३ बहुत काल वपु धार के प्रनत जनम को पार दियो।
श्री रामानन्द रघुनाथ ज्यौं, दुतिय सेतु जगतारन कियो॥

४ इतिहास प्रवेश, पृष्ठ २९८। ५. सारनाथ का इतिहास, पृष्ठ १००।

६ डॉ० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल, डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, श्यामसुन्दर दास आदि।

७ बनारस डिस्ट्रिक्ट गजेटियर तथा विचार-विमर्श (पण्डित चन्द्रबली पाण्डेय द्वारा लिखित, पृष्ठ १३, १५)।

८ उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ १३९-१४५।

९ कबीर पृष्ठ १८

के अनुसार बालक कबीर काशी के निकट परइन के एक पत्ते पर लेटे हुए नीरू जुलाहे की स्त्री को मिले थे[१]। कबीरदास ने भी अपने को काशी का ही बतलाया है[२]। किन्तु केवल एक पद के कारण कबीर के जन्मस्थान-निर्धारण में सन्देह किया जाता है, वह पद है—

पहिले दरसन मगहर पाइओ,
पुनि कासी बसे आई[३]।

हम परशुराम चतुर्वेदी[४] के इस कथन से सहमत हैं कि इसका तात्पर्य केवल यही है कि कबीर पर्यटन करते हुए पहले मगहर गये थे और वहाँ उन्हें 'सत्य' का दर्शन मिला था, फिर वे काशी आ गए थे और सम्पूर्ण जीवन काशी में ही व्यतीत कर अन्तिम काल में मगहर चले गए थे। मगहर में ही उनका देहावसान हुआ था[५]। पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव का मत है[६] कि इस पद में पाठ-दोष आ गया है, इसे "पहिले दरसन कासी पायो पुनि मगहर बसे आई" होना चाहिए अथवा यहाँ 'काशी' का अर्थ लौकिक काशी नहीं, प्रत्युत उनकी काया में ही विद्यमान सर्वत्र सुलभ वास्तविक मुक्तिदायिनी काशी है, क्योंकि काशी तो कहीं भी सुलभ है,[७] इसीलिए उन्होंने "जस कासी तस मगहर ऊसर" माना था, किन्तु उक्त पद की पहली पंक्ति में कबीर ने कहा है—"तोरे भरोसे मगहर बसिओ मेरे मन की तपनि बुझाई", तात्पर्य कबीर का कथन है कि हे परमात्मा! आपके आश्रय से मैं मगहर में आकर बस गया हूँ, क्योंकि आपने मेरे मन के ताप को शान्त कर दिया, इस मगहर में ही मैंने पहले आपका दर्शन पाया था, फिर काशी में जा बसा था (इसीलिए तो फिर आपके भरोसे यहाँ मगहर में आकर बस गया हूँ), अतः यहाँ न तो पाठ-दोष है और न 'काया कासी' को ही लक्ष्य कर उक्त पद कहा गया है।

कबीरदास ने अपनी रचनाओं में अपने को 'जुलाहा' और 'कोरी' जाति का कहा है :—

---

१. अनुराग सागर, पृष्ठ ८४।
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १७३, "तूँ बांभन मैं कासी का जुलाहा चीन्हि न मोर गियाना" और भी "सकल जनम सिवपुरी गंवाया" (पृष्ठ १७६)। "बहुत बरस तपु किआ कासी, मरनु भइआ मगहर की बासी", "अब कहु राम कवन गति मोरी, तजीले बनारस मति भई थोरी" (गुरुग्रंथ साहब, पद १५)।
३. गुरुग्रंथ साहब, पद ३।
४. उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृष्ठ १४२।
५. मरनु भइआ मगहर की बासी (गुरुग्रंथ साहब, पद ३), मरती बार मगहर उठि आइआ (वही, पद ३), जौ कासी तन तजै कबीरा तौ रामै कौन निहोरा तथा किआ कासी, किआ मगहर ऊखरु राम रिदै जउ होई। —कबीर, हिज बायोग्राफी, पृष्ठ ४१।
६ कबीर साहित्य का पृष्ठ ३४६
७ मन मथुरा दिल द्वारका, काया कासी जानि

(१) हरि को नाम अम पद दाता कहै कबीरा कोरी[1]
(२) पाड़ बुनै कोली मैं बैठी म षूटा मैं गाडी[2] ।
(३) कहहि कबीर करम से जोरी, सूत कुसूत बिनै भल कोरी[3] ।
(४) सूतै सूत मिलाये कोरी[4] ।
(५) जाति जुलाहा मति कौ धीर[5] ।
(६) कहै कबीर जुलाहा[6] ।
(७) तू बांभन मै कासी का जुलाहा[7] ।
(८) दास जुलाहा नाम कबीरा[8] ।
(९) जाति जुलाहा नाम कबीरा[9] ।
(१०) कहै जुलाह कबीरा[10] ।
(११) जुलहै तनि बुनि पान न पावल[11] ।
(१२) जाति भया जुलाहा[12] ।
(१३) यूं हरि मिल्या जुलाहा[13] ।
(१४) जग जीतै जाइ जुलाहा[14] ।
(१५) कबीर जुलाहा भया पारषू[15] ।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि कबीर ऐसी जाति में उत्पन्न हुए थे, जो जुलाहा और कोरी दोनों ही मानी जाती थी, जिसका परम्परागत उद्यम सूत कातना तथा वस्त्र बुनना था। इस सम्बन्ध में दो मत नहीं है। कुछ विद्वानों[16] का कहना है कि वे जुलाहा तो थे, किन्तु मुसलमानी जुलाहा थे, इस बात की पुष्टि गुरु अमरदास, अनन्तदास, रज्जबजी, तुकाराम आदि ने की है और यही बात खजीनतुल असफिया, दबिस्ताने मजहिब, अनुरागसागर, कबीर कसौटी, डॉ० भण्डारकर, वेस्टकॉट आदि ने भी कही है[17]। सन्त रैदास और धन्ना ने भी कबीर को ऐसा जुलाहा बतलाया है कि जिनके कुल में ईद और बकरीद मनाई जाती थी

---

१. बानी, पद ३४६। तथा कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २०५।
२. बानी, पद १०।
३. बीजक, रमैनी २८।
४. कबीर चरित्रबोध, पृष्ठ ६।
५. बानी, पद १२४। कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १२८।
६. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १३१।
७. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १७३।
८. वही, पृष्ठ १८१।
९. कबीर, पृष्ठ ३१०।
१०. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १९५।
११. वही, पृष्ठ १०४।
१२. वही, पृष्ठ १८१।
१३. वही, पृष्ठ २२१।
१४. वही, पृष्ठ २२१।
१५. कबीर, पृष्ठ २९०।
१६ परशुराम चतुर्वेदी डॉ० त्रिगुणायत डॉ० रामकुमार वर्मा आदि।
१७ उत्तरी भारत की पृष्ठ १४६

और गाय का बध होता था तथा शेख एवं पीर का सम्मान होता था[1]। कुछ विद्वानों[2] ने यह माना है कि कबीर जुलाहा होते हुए भी हिन्दू थे, क्योंकि उनके संस्कार हिन्दू सदृश ही थे, राम राम की रट, नित्य नई कोरी गगरी में भोजन बनाना, चौका पोतवाना, उनकी इन सब बातों से उनकी अम्मा तंग आ गई थीं।[3] कुछ विद्वानों ने उन्हें आश्रम-भ्रष्ट जुगी जाति का रत्न बतलाया है और यह कहा है कि जुलाहा शब्द संस्कृत के 'जोला' से बना है[4]। इस प्रकार हम देखते हैं कि कुछ लोगों ने कबीर को हिन्दू कुल में उत्पन्न होकर मुसलमान दम्पति द्वारा पोष्य पुत्र माना है, तो कुछ ने मुसलमान दम्पति का ही औरस पुत्र माना है, इसीलिए कबीर के जन्म के सम्बन्ध में विभिन्न कथाएँ प्रचलित हैं। कबीरपन्थी परम्परा मानती है कि वे साधारण योनिशरीरी मानव न होकर शुद्ध ज्योति शरीरी थे। ज्योति के रूप में ही वे काशी के लहर तालाब में प्रगट हुए थे। अली नामक जुलाहा जिसका उपनाम नीरू था, उधर में ही अपनी नव-विवाहिता पत्नी के साथ जा रहा था, बालक कबीर को देख उठा लिया और किसी कुमारी या विधवा की फेंकी सन्तान मानकर घर ले जा प्रेमपूर्वक पालन-पोषण किया। दूसरा मत यह है कि स्वामी रामानन्द ने एक विधवा ब्राह्मणी को 'पुत्रवती' होने का आशीर्वाद दे दिया था, उसी के गर्भ से कबीर का जन्म हुआ था, जिन्हें वह लोकलज्जा के भय से लहर तालाब में फेंक आयी थी, जहाँ से नीरू और नीमा ने उन्हें पाया था[5]। हमारा अपना मत है कि कबीर साहब एक अद्भुत व्यक्तित्व थे। उनका आविर्भाव लोक के लिए ज्योतिस्वरूप ही था। ऐसी ज्योति कभी-कभी ही प्रकट होती है, किन्तु वे अपने माँ-बाप की ही सन्तान थे। विधवा ब्राह्मणी की सन्तान अथवा मुसलमान दम्पति का पोष्यपुत्र मात्र होना केवल श्रद्धावश माना गया है और ऐसे महापुरुष के प्रति व्यक्त यह श्रद्धा कोई अस्वाभाविक नहीं है। हम देखते हैं कि कबीर के कुल में एक ओर मुसलमानी रीति-रिवाज माने जाते थे, तो दूसरी ओर हिन्दू प्रथाएँ भी प्रचलित थी। उनके राम-राम रटने तथा कुलधर्म त्यागने से उनकी माँ प्रायः उनसे रुष्ट रहा करती थी और व्याकुल होकर रोया भी करती थीं[6]। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस सम्बन्ध में अपना विचार प्रकट करते हुए

---

१ जाकै ईदि बकरीदि कुल गऊ रे बधु करहि, मानीअहि सेख सहीद पीरा।
जाकै बाप वैसी करी पूत ऐसी करी, तिहूरे लोग परसिध कबीरा॥
—गुरुग्रंथ साहिब, राग आ० ३६।

२. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ४५।

३ नित उठि कोरी गगरी आनै लीपत जीउ गयो।
ताना बाना कछू न सूझै हरि रसि लपट्यो॥
हमरे कुल कउने रामु कह्यो॥

४. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी : 'कबीर', पृष्ठ १।

५. कबीर कसौटी तथा कबीर चरित्रबोध।

६ मुसि मुसि रोवै कबीर की माई, ए बारिक कैसे जीवहि रघुराई।
तनना बुनना सभु तजिओ कबीर हरि का नामु लिखि लिओ सरीर
—गुरुग्रंथ साहिब राग गूजरी २

लिखा है—'कबीरदास जिस जुलाहा वंश में पालित हुए थे, वह उस वयनजीवी नाथमतावलम्बी गृहस्थ-योगियों की जाति का मुसलमानी रूप था, जो सचमुच ही "ना हिन्दू ना मुसलमान" थी',[1] तथा "कबीरदास जिस जुलाहा जाति मे पालित हुए थे वह एकाध पुश्त पहले से योगी-जैसी किसी आश्रम-भ्रष्ट जाति से मुसलमान हुई थी या अभी होने की राह मे थी।" परशुराम चतुर्वेदी ने कबीर को "केवल जुलाहा और सम्भवत. इस्लामी धर्म के अनुयायी जुलाहे कुल का बालक" मानते हुए भी कहा है कि "हम तो यहाँ तक कहेंगे कि काशी एवं मगहर के साथ विशेष सम्बन्ध रखनेवाले कबीर साहब का कुल यदि क्रमशः सारनाथ एव कुशीनगर जैसे बौद्धतीर्थों के आस-पास निवास करनेवाले बौद्धो या उनके द्वारा प्रभावित हिन्दुओ मे से ही किसी का मुसलमानी रूप रहा हो तो इसमे कोई आश्चर्य की बात नही। हो सकता है कि उनके सूत कातने व बुनने की जीविका भी पूर्व समय से वैसे ही चली आ रही हो और उसका नाम भी इसी कारण कोरी अथवा किसी अन्य ऐसी वयनजीवी जाति का ही रहा हो[2]।" कबीर के वचनो तथा विद्वानों द्वारा व्यक्त विभिन्न मतों के अनुशीलन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि कबीर के पूर्वज कोलिय जाति-परम्परा के थे, इसीलिए कबीर ने अपने को 'कोरी' अथवा 'कोली' कहा है। ये दोनों शब्द 'कोलिय' के ही विकृत रूप है। जानपदयुग मे कोलियो का अपना एक जनपद था, जिसकी राजधानी देवदह थी और वहाँ गणतन्त्र शासनप्रणाली से सम्पूर्ण शासकीय कार्य सम्पादित होते थे। इसी कोलिय राजवंश की पुत्री महामाया थीं, जिनसे सिद्धार्थ गौतम का जन्म हुआ था। पालिग्रंथो मे इस कोलिय जाति का विस्तृत परिचय आया हुआ है[3]। कोलियो का मुख्य उद्यम खेती करना और वस्त्र बुनना था। हम देखते है कि महारानियाँ तक सूत कातती तथा वस्त्र बुनती थी। दक्षिणाविभंगसुत्त मे आया है कि भगवान् बुद्ध की मौसी महाप्रजापती गौतमी ने अपने काते-बुने वस्त्र को भगवान् को अर्पित करते हुए इस प्रकार कहा था—"भन्ते, यह अपना ही काता, अपना ही बुना, मेरा यह नया धुस्सा जोड़ा भगवान् को अर्पण है। भन्ते, भगवान् अनुकम्पा कर इसे स्वीकार करे[4]।" कालान्तर मे यह कोलिय जाति सम्पूर्ण देश मे फैल गयी थी और आज भी सम्पूर्ण भारत मे इस जाति के लोग विद्यमान हैं जो अपने को बुद्ध का वंशज बतलाते है और 'कोरी' नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि वे अछूत न होते हुए अछूत माने जाते है। बौद्धधर्म के प्रकाण्ड विद्वान् पूज्य भिक्षु धर्मरक्षितजी ने भी वर्तमान कोरी जाति को प्राचीन कोलियो की ही परम्परा माना है[5]। हम पहले कह आए है कि मध्ययुग मे यवन-आक्रमण से बौद्धो को बहुत कष्ट भोगना पड़ा और वे या तो इस देश से पलायन कर गये या यही हिन्दू धर्म मे घुल-मिल गये

---

१. कबीर, पृष्ठ ९।

२ उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ १५०।

३. बुद्धचर्या, पृष्ठ २३४-२३५। ४. बुद्धचर्या, पृष्ठ ७१।

५ कोलीराजपूत, वर्ष ६, अंक ११ मे प्रकाशित भिक्षुजी का अभिभाषण।

—सन् १९४७ अजमेर

अथवा मुसलमान हो गये। बौद्ध विद्वानो ने भी इसे माना है[१]। इन तथ्यो पर विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कबीर के पूर्वज कोलिय थे, जो मुसलमानी शासको के प्रभाव मे आकर मुसलमान हो गये थे। यही कारण है कि कबीर की वाणियों मे बौद्ध, हिन्दू और इस्लाम धर्मो के प्रभाव दीखते है। उनके माता-पिता की परम्परा से आया हुआ वही भावना-स्रोत अब अपना मार्ग मोड़ लिया था अथवा मोड रहा था, जो कि सिद्धो-नाथो से होता हुआ पहुँचा था और अब मुसलमानी प्रभाव से भयभीत होकर अपना रूप-परिवर्तन करने के लिए बाध्य था। सिकन्दर लोदी[२] द्वारा कबीर को दण्ड दिया जाना इसका ज्वलन्त दृष्टान्त है। कारण, कबीर तथा उनके परिवारवाले मुसलमान नामधारी होते हुए भी 'राम-राम की रट' लगानेवाले तथा हिन्दू-मुसलमान दोनो की अनेक धार्मिक भावनाओ पर प्रहार करनेवाले थे, जिससे उन्हे ठेस पहुँचती थी और इसीलिए कबीर की शिकायत सिकन्दर लोदी तक पहुँची थी। कबीर कोरी तो थे, किन्तु उनकी जाति 'जुलाहा' नाम से भी प्रसिद्ध थी और बुनकर जाति को ही जुलाहा कहा जाता था तथा इस समय भी इसका यही भाव है। अत कबीर की जाति कोरी ही थी, जिसे 'जुलाहा' नाम से भी पुकारा जाता था, इसीलिए कबीर ने अपने को 'जुलाहा' और 'कोरी' कहा है तथा इनमे भेद नही माना है।

हम पहले ही कह आए है कि कबीर के गुरु रामानन्द थे[3]। कबीरपन्थी परम्परा यही मानती है और विद्वानो ने भी इसे ही स्वीकार किया है[४]। केवल परशुराम चतुर्वेदी इस पक्ष मे नही है[५]। उनका कथन है कि सतगुरु ही कबीर के वास्तविक गुरु थे। शेख तकी का भी नाम लिया जाता है और पीताम्बर पीर का भी, किन्तु पीताम्बर पीर कबीरदास के लिए केवल आदरणीय पुरुष थे, जिनके पास जाने मे वे हज्ज या तीर्थयात्रा करना मानते थे,[६] और यदि शेख तकी गुरु होते तो उन्हे कबीर ऐसा न कहते—"घट-घट है अविनासी सुनहु तकी तुम शेख",[७] अतः कबीर के गुरु न तो पीताम्बर पीर थे और न शेख तकी ही। रामानन्द के सम्बन्ध मे कबीर ने स्वयं कहा—

(१) कासी मे हम प्रगट भये है रामानन्द चिताए[८]।

---

१. सारनाथ का इतिहास, पृष्ठ ९८।
२. अति अथाह जल गहिर गम्भीर, बाँधि जंजीर ठाढ़े है कबीर।
जल की तरंग उठ करिहै कबीर, हरि सुमरत तट बैठे है कबीर॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०३
३ तीसरा अध्याय।
४ डॉ० रामकुमार वर्मा, श्यामसुन्दर दास, डॉ० त्रिगुणायत, पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव, डॉ० बड़थ्वाल आदि।
५. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ १६१-६३।
६. हज्ज हमारी गोमती तीर, जहाँ बसहिं पीताम्बर पीर। —ग्रन्थ साहिब ४६२, ६४।
७ कबीर पदावली पृष्ठ २२
८ कबीर पदावली पृष्ठ २२

२) कबीर रामानन्द का सतगुरु मिले सहाय[1]
(३) भक्ती द्राविड़ ऊपजी लाये रामानन्द।
कबीर ने परगट करी सात दीप नवखंड ॥[2]
(४) जब गुरु मिलिया रामानन्द[3] ।

इन उद्धरणो से रामानन्द ही कबीर के गुरु प्रमाणित होते है। कबीरदास पढे-लिखे नही थे। उनके सम्बन्ध मे प्रसिद्ध है कि "मसि कागद छूओ नही, कलम गह्यो नहि हाथ"। साथ ही उन्होंने कोई विद्या नही पढी और न तो विशेष किसी वाद (मत) के ही जानकार थे, वे केवल हरिगुण के कथन-श्रवण मे ही मस्त रहते थे[4]। इसीलिए जनता निगुरा (बिना गुरु के) कबीर का सम्मान नही करती थी। उन्होंने पर्यटन करके भी गुरु की खोज की, किन्तु अन्त मे उन्हे काशी-निवासी स्वामी रामानन्द ही गुरु बनाने के योग्य मिले। उन दिनो रामानन्द की बडी प्रसिद्धि थी। कबीर उनके पास गये और शिष्यत्व की याचना की, किन्तु रामानन्द ने उनकी प्रार्थना स्वीकार न की। तब कबीर ने एक उपाय सोचा। वे प्रात ही पंचगंगा घाट पर चले गये और जब रामानन्द गंगा-स्नान कर लौटने लगे तब उनके मार्ग मे लेट रहे। रामानन्द ने कबीर को नहीं देखा। उनका पैर कबीर से टकरा गया। उनके मुख से 'राम, राम' शब्द निकल पड़ा। बस, कबीर की यही दीक्षा हुई। पीछे रामानन्द ने कबीर की भक्ति को देखकर उन्हे अपना शिष्य स्वीकार कर लिया[5]।

कबीर ने सतगुरु की जो महिमा गायी है और कहा है कि मैं अपने गुरु के लिए प्रतिदिन अनेक बार बलिहारी जाता हूँ, जिसने मुझे एक क्षण मे ही मनुष्य से देवतुल्य बना दिया,[6] उस सतगुरु की महिमा अनन्त है,[7] इससे रामानन्द को कबीर का गुरु स्वीकार करने मे कोई आपत्ति नही।

कबीर विवाहित सन्त थे। उनकी पत्नी का नाम 'लोई' था। इनके दो सन्तान थीं—कमाल नामक पुत्र और कमाली नामक पुत्री। कुछ लोग[8] कबीर को दो पत्नियो और और चार सन्तानो का भी वर्णन करते है, किन्तु यह यथार्थ नही है, जिस पद को[9] लेकर

---

१. कबीर साखी ग्रंथ, पृष्ठ १०७, दोहा ६।
२. वही, पृष्ठ १०७, दोहा १। ३. वही, दोहा ९।
४ बिदिआ न परउ बादु नहि जानउ, हरिगुन कथन सुन बउरानउ।
—गुरुग्रंथ साहिब, राग बिलावल, पद २।
५. कबीर पदावली, पृष्ठ २०-२१। ६ कबीर ग्रन्थावली, साखी २।
७. वही, साखी ३। ८. डॉ० त्रिगुणायत आदि।
९. भली सरी मुई मेरी पहिली बरी।
जुगु जुगु जीवउ मेरी अबकी धरी॥
कहु कबीर जब लहुरी आई, बड़ी का सुहाग टरिओ।
लहुरी संगि भई अब मेरे, जेठी अउर धरिओ॥
. साहिब राग आसा पद ३२

ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है कि पहली पत्नी की मृत्यु के उपरान्त कबीर ने दूसरी पत्नी को ग्रहण किया उसका केवल आध्यात्मिक अर्थ 'माया' और 'भक्ति' है। 'लोई' कबीर से रुष्ट रहा करती थी,[१] क्योंकि कबीर भक्ति मे लगे रहते थे और साधु-सन्तों को खिला-पिला देते थे, बच्चों के लिए भोजन जुट नही पाता था[२]। इसी कारण कबीर की माँ भी कबीर से असन्तुष्ट हो गयी थीं[3]। कबीर को अपने पुत्र कमाल से प्रसन्नता न थी, क्योंकि वह हरि-स्मरण न कर व्यवसाय मे ही लीन रहा करता था[४]। इस प्रकार कबीर अपने परिवार के साथ सूत कातने और वस्त्र बुनने का कार्य करते थोड़े में जीवन निर्वाह चलाते थे। हरि-भक्ति तथा सतगुरु की सेवा ही उनका प्रधान आध्यात्मिक कार्य था।

कबीर ने काशी मे मथुरा, जगन्नाथपुरी, राजस्थान, गुजरात आदि की यात्रा की। वे झूँसी तथा मानिकपुर भी गये और सब स्थानो मे सन्तो के साथ उन्होंने सत्संग किया। वे शिष्य मण्डली से दूर रहना चाहते थे, फिर भी राजा वीरसिंह बघेला, नवाब बिजली खाँ, सुरतगोपाल, धर्मदास, तत्वा, जीवा, जागूदास और भागूदास उनके प्रसिद्ध शिष्य थे। कबीर-दास के जीवनवृत्तान्त के साथ अनेक चमत्कारिक घटनाएँ जुडी हुई है, जिनका होना अस्वा-भाविक नहीं है।

कबीर यह नही मानते थे कि काशी-वास से मुक्ति प्राप्त होती है। अत: उन्होंने निश्चय कर लिया था कि "जो कासी तन तजै कबीरा, तौ रामहि कौन निहोरा" और अन्त मे ऊसर भूमि में स्थित मगहर चल ही पड़े—"सकल जनम सिवपुरी गँवाया, मरति बार मगहर उठि धाया", वही महान् सन्त कबीर की परमज्योति पवन मे मिल गयी। परम-काशी मे वे लीन हो गये। उस समय वहाँ हिन्दू और मुसलमान दोनो थे। दोनों अपनी-अपनी विधि से अपने श्रद्धेय की अन्त्येष्टि करना चाहते थे। जब कबीर की ओढी हुई चादर हटाई गयी तो शव के स्थान पर केवल पुष्प-राशि दिखाई दी। उसे दोनों ने विभाजित कर लिया और यह कबीर की अमरज्योति की अलौकिक देन थी।

कबीर के लगभग सवा दो सौ पद और ढाई सौ 'सलोक' गुरुग्रन्थ साहब मे संकलित है,[५] इनके अतिरिक्त बीजक, ग्रन्थावली, रमैणी, बानी आदि कबीर के अनेक ग्रन्थ है। यद्यपि कबीर ने अपने कुछ लिखा नही, उन्होंने "मसि कागद छूओ नहीं" कहा ही है, उनकी वाणियो का संग्रह उनके शिष्यों ने किया। मिश्रबन्धु उनके ७५ ग्रन्थ मानते है। नागरी प्रचारिणी सभा ने १३० ग्रन्थो के नामों का विवरण प्रकाशित किया है और डॉ० रामकुमार वर्मा ने ६१ ग्रन्थ गिनाये है[६]। इस प्रकार स्पष्ट है कि कबीर का साहित्य विशाल है। आगे हम कबीर के मुख्य एवं प्रामाणिक ग्रन्थो के आधार पर ही अपने विषय का अनुशीलन करेंगे।

---

१. गुरुग्रन्थ साहिब, राग गौड, पद ६। २. गुरुग्रन्थ साहिब, राग गूजरी, पद २।

३. वही, राग आसा, पद ३३।

४. बूड़ा वंसु कबीर का उपजिओ पूतु कमालु। —वही, सलोक ११५।

५ उत्तरी भारत की पृष्ठ १७८

६ हिन्दी की निर्गुण और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि पृष्ठ २८।

मत

कबीरदास की वाणियो का सैद्धान्तिक रूप से मनन करने पर जान पडता है कि उनका मत हिन्दू, बौद्ध, इस्लाम और सूफी धर्मो का समन्वय था। उन्होंने इन सभी धर्मो की उत्तम बातो को ग्रहण किया है, किन्तु किसी विशेष धर्म या मत का दुराग्रह नहीं किया है। उन्हे जो स्वयं अनुभूति हुई है उसे ही उन्होंने व्यक्त किया है। उन्होंने हिन्दूधर्म के राम, हरि, नारायण और मुकुन्द की उपासना की है और उसे अलख, निरञ्जन मानते हुए भी कर्ता माना है, इस्लाम की भाँति उस कर्ता को एक ज्योति मात्र माना है और उसी से जगत् की उत्पत्ति होती है। सूफी सन्तो की प्रेम-भावना का भी अनुसरण किया है और बौद्धधर्म के शून्यवाद, अहिंसा, मध्यममार्ग, सहजसमाधि आदि को ग्रहण किया है। इस प्रकार कबीर सारसंग्रही होते हुए भी इन धर्मो के अध्ययन से वंचित थे। उन्हे इन धर्मो के सम्बन्ध मे केवल दो ही सूत्रो से ज्ञान प्राप्त हो सका था—एक तो जनसमाज मे परम्परागत व्याप्त भावना तथा दूसरा सत्संग। उन्होंने बहुत पर्यटन किया और उस समय प्रसिद्धि प्राप्त प्रायः सभी विद्यमान साधु-सन्तो तथा विद्वानो मे धर्म-चर्चा की, इसीलिए विद्वान् मानते है कि कबीर सारसंग्रही मात्र थे, वे "ना हिन्दू ना मुसलमान" थे[१]। उन्होंने बाह्याडम्बरों, छः दर्शनों तथा छानबे पाखण्डो,[२] मूर्ति-पूजा, तीर्थ-यात्रा, गंगा-स्नान, वेद-कुरान आदि ग्रन्थों की प्रामाणिकता[३] आदि का निषेध कर कहा—"मेरे स्वयं विचार करते-करते मन-ही-मन सत्य का प्रकाश हो उठा और मुझे उसकी उपलब्धि हो गयी"[४]। मेरे धीरे-धीरे चिन्तन करते-करते ही उस निर्मल जल की प्राप्ति हो गई, जिसका वर्णन मैं अपने शब्दो मे करने की चेष्टा कर रहा हूँ"[५]। कबीर के इन दार्शनिक मतो तथा मान्यताओ का हम यहाँ दिग्दर्शन करेंगे, जिससे भली प्रकार ज्ञात हो जायेगा कि कबीर का वास्तविक मत क्या था। इससे हमे अपने पक्ष के प्रतिपादन मे सहायता मिलेगी और हम समझ सकेंगे कि कबीर ने बौद्धधर्म का किस प्रकार समन्वय अपने मत मे किया था।

प्रत्येक साधक परमानन्द निर्वाण अथवा परमतत्त्व का साक्षात्कार करना चाहता है और यही उसका परमलक्ष्य होता है। कबीर का परमतत्त्व अपनी अनुभूति मे अन्तर्निहित है, वह अनुभवगम्य है, उसे वेद, कुरान आदि ग्रन्थों तथा अन्धविश्वासों से नहीं जाना जा सकता[६]। यही कारण है कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश तक उसे नही जान सके,[७] वह वस्तुत जैसा हो सकता है, वैसा किसी भी को ज्ञात नही, सब अपनी-अपनी पहुँच के आधार पर ही कुछ कहा करते हैं[८]। जो जैसा उसे जानता है, उसी प्रकार उसका वर्णन करता है[९] और

---

१. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ १८४-१८५।
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ९९।
३ वही, पृष्ठ १०७।
४ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ९६।
५. आदिग्रन्थ, राग गउड़ी, पद २४।
६ कबीर पृष्ठ २४७।
७ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ २९६।
८ वही पृष्ठ १०३
९ रमैणी पृष्ठ २३०

वैसे ही उसे पाता भी है[1]। वह जैसा है वैसा उसे ही विदित है, वही केवल है ही, अन्य कुछ है ही नहीं[2]। उसे ही राम, रहीम, केशव, नारायण, गोविन्द, मुकुन्द, निर्वाण आदि नामों से जानते हैं, वह अनभूत, अविगत, अगम, अकल्प, अनुपम, निराला, अकथ, अगोचर है, वह वर्णनातीत है, उसकी शोभा देखकर ही उसे समझा जा सकता है,[3] उसका वर्णन वैसा ही है जैसा गूँगे का मिठाई के स्वाद का, किन्तु आत्मानुभूति मिठाई के स्वाद की भाँति आनन्दमय होती है[4]। उसका स्वरूप निर्गुण है। वह अलख निरञ्जन है, उसे कोई देख नहीं सकता, वह निर्भय, निराकार है, वह न शून्य है न स्थूल है, उसकी कोई रूपरेखा नहीं, वह न दृश्य है, न अदृश्य है, उसे न तो गुप्त कह सकते है और न प्रकट[5]। वही परमतत्व, शब्द, अनहद, सहज, अमृत, शिव, ब्रह्म भी कहा जाता है। ऐसा होते हुए भी वही सृष्टिकर्ता है, उसी ने कुम्हार की भाँति इसकी रचना कर स्वयं उसमें व्याप्त हो गया है[6]। वही गढनेवाला, सुधारनेवाला तथा नष्ट करनेवाला है[7]। उसने यह सारा संसार कहने-सुनने मात्र के लिए ही रचा है और वह इसी मे छिपा हुआ भी है, उसे कोई पहचान नहीं पाता। वह स्वयं आनन्दस्वरूप है[8]। इनसे स्पष्ट है कि कबीर का परमतत्व सर्वत्र व्याप्त है, उसे ज्ञानी ही अपने ज्ञान द्वारा अनुभव कर सकते है, उसे केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वह है, किन्तु अलख, निरंजन स्वभाव का है अतः अनिर्वचनीय है। आत्मा उसका एक अंशमात्र है, जो हरिस्वरूप पिण्ड से इस शरीर मे विद्यमान है, वह सर्वमय तथा निरन्तर है[9]। वह हरिमय होता हुआ भी न मनुष्य है और न देव, योगी, यति, अवधूत, माता, पुत्र, गृहस्थ, संन्यासी, राजा, रंक, ब्राह्मण, बढई, तपस्वी और शेख ही है। वह परमेश्वर का अंश-स्वरूप आत्मा उसी प्रकार नष्ट नहीं हो सकता, जिस प्रकार कि कागज पर पड़ा स्याही का चिह्न नहीं मिटता[10]। वह भ्रम तथा कर्म के बन्धन में पडकर बार-बार लोक मे चक्कर काटता है और माया उसे भुलाये रखती है। माया ही उसे बन्धन मे डालती है[11]। वह उसे विदैला बना देती है[12]। वह व्यक्ति के लिए डाइन की भाँति है[13]। काम, क्रोध, मोह, मद और मत्सर उस माया की सन्तान है। उसे नष्ट करने पर ही भ्रम और कर्म नष्ट होते है। इसके लिए आवश्यक है कि मन को एकाग्र किया जाय और सहजसमाधि द्वारा ही मन को एकाग्र किया जा सकता है। उस समाधि को प्राप्त करने के लिए 'सुरति' की भावना अपेक्षित है, जो 'सति' से जागृत होती है। उसके पश्चात् अनहद नाद सुनाई पडता है, जो 'रामनाम' का ही एक स्वरूप है। तात्पर्य

---

१. साखी, पृष्ठ ६। २. रमैणी, पृष्ठ २४१।
३ साखी, पृष्ठ १३। ४ साखी, पृष्ठ १३।
५ कबीर ग्रन्थावली, रमैणी ३, पृष्ठ २३०।
६. कबीर ग्रन्थावली, रमैणी ५, पृष्ठ २४०। ७ वही, पद २७३, पृष्ठ १८१।
८. कबीर ग्रन्थावली, रमैणी, पृष्ठ २२५। ९. आदिग्रन्थ, राग गौड़, पद ३।
१०. वही, पद ५।
११ गुरुग्रन्थ साहिब रागु भैरव- पद १३- पृष्ठ ११६१।
१२ वही रागु आसा पद १९, पृष्ठ ४८०। १३ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १६८

यह कि सति जो पवन-साधन (–प्राणायाम) की एक साधना है, उसके द्वारा वह परमसुख प्राप्त होता है, जो योग का परिणाम है[१]। इस साधना के लिए कुण्डलिनी योग का करना आवश्यक है। जब कुण्डलिनी योग की सिद्धि हो जाती है, तब सम्पूर्ण इच्छाएँ, वासनाएँ, अहंकार आदि जलकर भस्म हो जाते हैं[२]। उस अवस्था में परमतत्व का बोध होता है, जो न जाता है, न आता है, न जीता है और न मरता है[३]। मन को एकाग्र करने के अभ्यास को ही मनोमारण कहा जाता है। मन के शान्त हो जाने पर गोविन्द का ज्ञान प्राप्त होता है और वही मन 'राम' का रूप धारण कर लेता है[४]। तब उस मन को स्वतन्त्र किया जा सकता है,[५] क्योंकि वह सदा राम में ही लवलीन रहता है। इस परमपद को प्राप्त करने के लिए साधक को सती, सन्तोषी, सावधान, शब्दभेदी और सुविचारवान् होना अपेक्षित है, साथ ही सद्गुरु की कृपा भी होनी आवश्यक है[६]। इसे सहजशील की अवस्था कहते हैं। इस सहजावस्था में पहुँचा हुआ व्यक्ति ही भक्त, हरिजन, साधु सन्त और प्रत्यक्ष देवतुल्य कहा जाता है। वह सन्त निर्वैर, निर्भय, एकरस तथा एकभाव होता है[७]। उसकी दृष्टि सबके प्रति समान होती है[८]। इस प्रकार कबीर ने बाह्याडम्बरों, मिथ्याविश्वासों तथा परम्परागत आचारों में न पड़कर शुद्ध आचरण एवं चित्त की पवित्रता से परमतत्व के साक्षात्कार को सम्भव बतलाया[९]। उन्होंने स्वर्ग, नरक और साकेतवास आदि को नहीं माना। उनका कहना था कि अनजाने को ही स्वर्ग-नरक है, हरि को जाननेवाले को नहीं[१०]। ज्ञानियो ! यह समझ लो कि वह देश न जाने कैसा है, जो वहाँ गया, लौटकर नहीं आया[११]।

कबीर के समय में भारत में बौद्धधर्म की अवस्था

कबीर के समय में भारत में बौद्धधर्म की अवस्था का विस्तृत वर्णन उपलब्ध नहीं है, फिर भी हम प्रामाणिक ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर जानते हैं कि उत्तर भारत में बौद्धधर्म अपने नाम से अब जीवित न था, किन्तु उसका प्रभाव जनमानस पर पूर्णरूप से था। सिद्धों और नाथों का समय बीते बहुत दिन नहीं हुए थे, उनकी धार्मिक भावनाएँ किसी-न-किसी रूप में विद्यमान थीं। संवत् १२७६ में[१२] गाधिपुर के एक कायस्थ द्वारा श्रावस्ती में बौद्धविहार का निर्माण कराया गया था, सन् १३२१ में बर्मा के राजा ने बुद्धगया के मन्दिर का जीर्णोद्धार

---

१ गुरुग्रंथ साहिब, रागु सोरठि, पद १०, पृष्ठ ६५५।
२ कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ९०।
३ गुरुग्रंथ साहिब, रागु गउड़ी, पृष्ठ ३३३।
४. कबीर ग्रंथावली, साखी ८, पृष्ठ ५।
५. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १३६।
६. वही, साखी ३, पृष्ठ १०।
७. कबीर ग्रंथावली, साखी २, पृष्ठ ५१।
८ वही, पद ३६३, पृष्ठ २०९।
९. गुरुग्रन्थ साहिब, रागु विभास प्रभाती, पद ३, पृष्ठ १३४९।
१० बीजक पृष्ठ ७६
११ वही पृष्ठ १६५
१२ धर्मदूत वर्ष २१ अंक ५ पृष्ठ १५६

कराया था और १५वीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल (सन् १४३६) में बंगाल में बौद्धभिक्षु तथा बौद्धगृहस्थ थे[1]। ऐसे ही महाराष्ट्र में भी उस समय बौद्धों के होने के प्रमाण मिलते हैं। कन्हेरी की बौद्धगुहाओं में सन् १५३४ तक बौद्ध थे, जिन पर पुर्तगाली लोगों द्वारा अनेक अत्याचार किए गए थे[2]। मधेस, नेपाल, चटगाँव, आसाम, उड़ीसा आदि में बौद्ध पर्याप्त संख्या में थे और जिनकी परम्परा अभी भी चली आ रही है। विद्वानों ने सिद्ध किया है कि मधेस के थारू,[3] उड़ीसा और बंगाल के 'धर्ममंगल', धर्मठाकुर', 'धर्मसम्प्रदाय' आदि बौद्ध ही हैं[4]। जहाँ तक उत्तर भारत के मध्यदेश की बात है, वहाँ प्रत्यक्षत कबीर के समय में बौद्धधर्म नहीं रह गया था, यही कारण है कि कबीर की विचारधारा बौद्धधर्म से प्रभावित होते हुए भी उन्हें बौद्धधर्म का वास्तविक स्वरूप विदित न था, इसकी चर्चा हम आगे करेंगे। यवन-शासकों ने अनेक प्रकार से हिन्दू और बौद्धों को सताया था, फलत. जैसा कि हमने देखा हे बौद्धों का सर्वथा लोप-सा हो गया। बौद्धधर्म की यह दयनीय दशा न केवल भारत में ही हुई, प्रत्युत इससे पूर्व अरब, ईरान, अफगानिस्तान आदि में हो चुकी थी, वहाँ केवल बौद्ध नष्टावशेष मात्र बौद्धों के परिचायक बच रहे थे। भारत में बौद्धधर्म का स्वरूप बदलता गया और वह कई रूपों में होकर नामदेव, रामानन्द, कबीर आदि भक्तों के समय में निर्गुण भक्ति का स्वरूप ग्रहण कर लिया। उसका प्रभाव सगुण भक्ति पर भी पड़ा था और प्राय भारत की सभी धार्मिक विचारधारायें उससे किसी-न-किसी रूप में प्रभावित हुई थीं। बौद्धधर्म भारतीय धर्म था। यहीं की धरती पर और यहीं के अनुकूल वातावरण में उसका जन्म हुआ था, वह विकसित तथा दृढमूल बनकर एक दीर्घकाल तक अहिंसा, शान्ति, सदाचार आदि की धारा प्रवाहित करते हुए पुन' यहीं अपने प्रतिरूपों में समा गया था, किन्तु उसकी विस्तृत शाखायें भारत के ही प्रत्यान्त प्रदेशों में, समुद्री तथा पर्वतीय क्षेत्रों एवं निकटवर्ती देशों से आगे बढ़कर सम्पूर्ण पूर्वी एशिया में छा गयी थीं। जिस समय कबीर अपनी निर्गुण भक्ति का सन्देश दे रहे थे, उस समय लंका, बर्मा, चीन, जापान, तिब्बत, नेपाल, श्याम, कम्बोडिया आदि देशों में बौद्धधर्म अपने जीवन्त रूप में विद्यमान था, किन्तु कबीर के देश में वह केवल पाखण्डी माना जा रहा था[5]। बुद्ध असुर संहारक बन गये थे[6]। उसके विचार-पोषक तथा प्रचारक सिद्ध और नाथ भी माया में रत माने जाने लगे थे[7]।

कबीर की वाणियों में बौद्धविचार

कबीर ने बौद्धधर्म का अध्ययन नहीं किया था और न तो किसी बौद्धविद्वान् से उनका सत्संग ही हुआ था, किन्तु बौद्धविचारों से प्रभावित सन्तों की परम्परा तथा जनसमाज में

---

१. भक्तिमार्गी बौद्धधर्म, भूमिका, पृष्ठ ५। २. 'धर्मदूत', वर्ष २४, अंक ८-९, पृष्ठ २२५।
३. पुरातत्व निबन्धावली, पृष्ठ ११५।
४. भक्तिमार्गी बौद्धधर्म, नयी भूमिका, पृष्ठ ६-९।
५ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ २४० ६ बीजक पृष्ठ ६३
७ गुरुग्रंथ साहिब राग भैरउ १३ पृष्ठ ११६१।

व्याप्त बुद्धशिक्षा का प्रभाव उन पर पड़ा था। सन्त सत्संग की प्रशंसा करते थे और विशेषकर साधु-सत्संग की। इस भावना के परिणामस्वरूप कबीर ने एक जिज्ञासु रूप में तत्कालीन प्रसिद्ध विद्वानों का सत्संग किया था और उनसे धर्म को सीखा था। स्वामी रामानन्द का उन पर विशेष प्रभाव पड़ा था और सिद्ध-नाथ परम्परा से आई हुई विचारधारा का प्रत्यक्ष एवं गहरा प्रभाव रामानन्द तथा उनके पूर्ववर्ती सन्तो पर पड़ा था। साधु-समागम अथवा सत्पुरुष सत्सग बुद्धकाल से ही प्रशंसित था। सत्संग अड़तीस मंगलो में से एक माना जाता था[१]। संयुत्तनिकाय मे कहा गया है कि व्यक्ति को चाहिए कि वह सन्तो के साथ रहे और सन्तो की ही संगति करे, क्योकि सन्तो का सद्धर्म जानने से कल्याण होता है, हानि नही होती[२]। सन्तो की संगति करने से ज्ञान प्राप्त होता है, शोक नही होता, अपने लोगो मे शोभता है, स्वर्ग की प्राप्ति होती है, वह चिरकाल तक सुखी रहता है और सब दुःखो से मुक्त हो जाता है[३]। इसी प्रकार कबीर ने भी साधु-संगति की प्रशसा की है—

कबीर संगति साध की बेगि करीजै जाइ।
दुरमति दूरि गँवाइसी, देसी सुमति बताइ॥
कबीर संगति साध की, कदे न निरफल होइ।
चन्दन होसी बावना, नीव न कहसी कोइ॥
मथुरा जावै द्वारिका भावै जावै जगनाथ।
साध संगति हरि भगति बिन कछू न आवै हाथ॥[४]

कबीर ने साधु-संगति को ही वैकुण्ठ माना है—"साध संगति बैकुण्ठहि आहि"[५]। धर्मानन्द कौशाम्बी का मत है कि कबीर तथा उनके पूर्ववर्ती सन्तों ने बौद्धसाहित्य से ही सत्संगति की कल्पना की होगी[६]। किन्तु कबीर के लिए तो केवल इतना ही माना जा सकता है कि उन्होंने परम्परागत बौद्धविचारों को ही ग्रहण किया था, क्योंकि उन्हें बौद्धसाहित्य का प्रत्यक्ष रूप में ज्ञान नहीं था और उन्होंने बुद्ध के केवल विष्णुपुराण के असुर-संहारक रूप को ही सुन रखा था—

वे कर्ता नहि बौद्ध कहावें नहीं असुर को मारा।
ज्ञानहीन कर्ता भरमे माया जग संहारा॥[७]

---

१. कालेन धम्मसाकच्छा एतं मगलमुत्तमं। —महामंगल सुत्त ९।
२. सब्भिसुत्त १, ४, १।
३. वही '—
सब्भिरेव समासेथ, सब्भि कुब्बेथ संथवं।
सतं सद्धम्ममञ्ञाय सब्बदुक्खा पमुच्चति॥
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४९। ५. कबीर, पृष्ठ ३२२।
६. भारतीय संस्कृति और अहिंसा, पृष्ठ २०६।
७ बीजक पृष्ठ ६३

यही नहीं, कबीर ने बौद्धों को भी शाक्तों, जनो, चार्वाकों के साथ ही पाखण्डी कहा है, जिससे जान पडता है कि उन्हें बौद्धों के सम्बन्ध मे केवल नाममात्र की जानकारी थी और वह भी श्लाघ्य रूप मे नही—

केते बौध भये निकलंकी तिन भी अन्त न पाया।[1]
जैन बोध अरु साकत सैना, चारवाक चतुरंग बिहूना।[2]

इसी प्रकार तुकाराम ने तो बुद्ध को केवल गूँगा होने की भी कल्पना कर ली थी—"बौध्य अवतार मझिया अदृष्टा, मौन मुखें निष्ठा धरियेली"[3]। आचार्य धर्मानन्द कौशाम्बी का यह कथन सर्वथा ही समीचीन है कि साधु-सन्तो के वचनो मे बौद्धसाहित्य मे मिलनेवाले भूतदया, सब लोगो के साथ समता का व्यवहार तथा सन्त-संगति के गुण-वर्णन के जो उद्‌गार मिलते है, वे आये कहाँ से? इसका उत्तर यही है कि जनसाधारण मे बुद्धोपदेश के बीज समूल नष्ट नहीं हुए थे, किसी-न-किसी रूप मे वे बने हुए थे और इन साधु-सन्तों ने उन्ही को अनेक प्रकार से बढाया[4]। यद्यपि कबीर भगवान् बुद्ध के स्थविरवादी स्वरूप से परिचित न थे, किन्तु चौरासी सिद्धों को वे जानते थे, अर्थात् उनके समय तक चौरासी सिद्धो का इतिहास भूला नही था। राहुल सांकृत्यायन का मत है कि कबीर ने चौरासी सिद्धो का विरोध किया है, किन्तु वास्तव मे वे उन्ही के निर्गुण, योग और विचित्र ढंग को अपनाकर नाथ सम्प्रदाय से भिडे थे[5]। किन्तु इसमे वास्तविकता इतनी ही है कि कबीर ने अप्रत्यक्ष रूप मे ही सिद्धो से ग्रहण किया था, जो कि जन-साधारण द्वारा ही उन्हे प्राप्त हुआ था, इसीलिए उन्होंने सिद्धो को भी भ्रम में पडा ही कहा है—

धरती अरु असमान बिचि, दोइ तूंबड़ा अबध।
षट दरसन संसै पड़या, अरु चौरासी सिद्ध॥[6]

अब हम देखेंगे कि सिद्धों और नाथों की वाणी का प्रभाव किस प्रकार कबीर पर पड़ा था और उसे कबीर ने किस प्रकार ग्रहण किया है, अर्थात् कबीर के वचनों में सिद्ध-नाथो के वचन किस सीमा तक और किस रूप मे उनका विरोध किए जाने पर भी विद्यमान हैं। हम देखेंगे कि यह अंगीकृत स्वरूप अद्‌भुत तथा विस्मयकारी है, क्योंकि अज्ञात रूप से विरोधी साधकों की ही साधना एवं उपदेश ग्रहण किए गये हैं! कबीर जैसे महान् सन्त की यह विलक्षण विशेषता है, जो अन्यत्र उपलब्ध नही।

भगवान् बुद्ध ने कहा था कि जो मैंने स्वयं देखा है, उसे ही मै कह रहा हूँ—"यं मया साम दिट्ठं तमहं वदामि",[7] कबीर ने भी ठीक वही बात कही—"मैं कहता आँखिन की

---

१. कबीर, पृष्ठ ३२६। २. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २४०।
३. भारतीय संस्कृति और अहिंसा, पृष्ठ २०६।
४. भारतीय संस्कृति और अहिंसा, पृष्ठ २०६।
५. पुरातत्व निबन्धावली, पृष्ठ १६४। ६. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५४।
७ ।

देखी[१]। दोनों में कितनी समता है। ऐसे ही जाति-विरोधी बुद्ध ने कहा था 'जातिं मा पुच्छ चरणं पुच्छ'',[२] अर्थात् जाति मत पूछो, आचरण पूछो, कबीर ने भी उन्हीं शब्दों में कहा था—"जाति न पूछो साध की पूछि लीजिए ज्ञान",[३] "सन्तन जात न पूछो निरगुनियाँ"[४] इतना ही नहीं, भगवान् बुद्ध ने जातिभेद का विरोध करते हुए कहा था कि सोपाक चाण्डाल भी मातंग नाम से प्रसिद्ध ऋषि हो गया, इसमें जातिभेद या उसकी नीची जाति ने कुछ नहीं बिगाड़ा—

> न जच्चा वसलो होति न जच्चा होति ब्राह्मणो।
> कम्मुना वसलो होति कम्मुना होति ब्राह्मणो॥
> तदङ्मिनापि जानाथ यथा मेदं निदस्सनं।
> चण्डालपुत्तो सोपाको मातंगो इति विस्सुतो॥
> सो यसं परमं पत्तो मातंगो यं सुदुल्लभं।
> आगच्छुं तस्सुपट्ठानं खत्तिया ब्राह्मणा बहू॥[५]

इसी सोपाक को कबीर ने श्वपच ऋषि नाम से स्मरण किया और कहा कि भंगी की जाति होकर भी ऋषि हो गये थे—

"साधनमाँ रैदास सन्त है, सुपच ऋषि सो भँगियाँ"[६]।

श्वपच और सोपाक में कोई अन्तर नहीं है। दोनों का शाब्दिक अर्थ भी एक है और दृष्टान्त आदि में भी समानता है। अतः श्वपच की कथा पीछे के ग्रंथों में भले ही कुछ भिन्न दिखाई पड़े, किन्तु इसका मूलस्रोत पालि-साहित्य में ही उपलब्ध है और पूरी कथा जातक,[७] चरियापिटक[८] आदि ग्रन्थों में आयी हुई है।

भगवान् बुद्ध ने जाति-भेद का विरोध करते हुए ही कहा था—"माता की योनि से उत्पन्न होने के कारण मैं ब्राह्मण नहीं कहता",[९] "आश्वलायन! ब्राह्मणों की ब्राह्मणियाँ ऋतुमती एवं गर्भिणी होती, प्रसव करती, दूध पिलाती देखी जाती है, योनि से उत्पन्न होते हुए भी वे ऐसा कहते है—ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण है[१०]"। इसी को सिद्ध सरहपा ने इस प्रकार कहा—"ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से हुआ था, जब हुआ था, तब हुआ था, अब तो जैसे दूसरे होते हैं, ब्राह्मण भी उसी प्रकार होते हैं, तो ब्राह्मणत्व कहाँ रह गया[११]?" और फिर देखिए,

---

१. कबीर ग्रंथावली। २. संयुत्तनिकाय, १, ७, १, ९।
३. कबीर, पृष्ठ ३२४। ४. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २३१।
५. सुत्तनिपात, वसलसुत्त, गाथा संख्या २१-२३।
६. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३१। ७. मातंगजातक, ४९७।
८. चरियापिटक, मातंगचरिया २, ७।
९. मज्झिमनिकाय, २, ५, ८ तथा धम्मपद "न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि, योनिजं मत्तिसम्भवं।" —गाथा ३९६।
१०. मज्झिमनिकाय, २, ५, ३।
११. बौद्धगान वो दोहा 'धर्मदूत' वर्ष २६ अंक ११ पृष्ठ २२३

कबीर ने इसे ही किस प्रकार कहा है तुम कैसे ब्राह्मण हो मैं कैसे शूद्र हूँ रक्त में तो कोई भिन्नता नहीं

तुम कत बाभन हम कत सूद ?
हम कत लोहू तुम कत दूध ?

एक ज्योति से ही सब उत्पन्न है, इनमें कोई ब्राह्मण और कोई शूद्र नहीं है, उत्पन्न होते हुए भी सभी माँ के पेट से ही बाहर आते है, चाहे ब्राह्मण हो या शूद्र—

"जो तूँ बांभन बभनीं जाया,
तौ आन बाट ह्वै काहे न आया ?"[1]
"अष्ट कमल दोउ पदुमी आया,
छूत कहाँ तै उपजी ?"

बौद्धधर्म मे जातिभेद के लिए स्थान नही है। जो भी व्यक्ति प्रव्रजित होकर भिक्षुसंघ में सम्मिलित हो जाता है, वह अपनी जाति, गोत्र आदि को छोडकर शाक्यपुत्रीय श्रमण कहा जाता है। उदान मे कहा गया है—"भिक्षुओ! जैसे जितनी बडी-बडी नदियाँ है, जैसे कि गंगा, यमुना, अचिरवती, मही—सभी महासमुद्र मे गिरकर अपने पहले नाम और गोत्र को छोड देती है, सभी महासमुद्र के ही नाम मे जानी जाती है, वैसे ही क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र—चारो वर्ण के जो लोग इस धर्म-विनय (बौद्धधर्म) मे घर से बेघर होकर प्रव्रजित होते है, अपने पहले नाम और गोत्र को छोड सभी शाक्यपुत्रीय श्रमण (बौद्धभिक्षु) इस एक नाम से जाने जाते है[2]।" ऐसे ही कबीर ने कहा है कि जिस प्रकार नदी-नाले गगा से मिलकर गगा कहलाने लगते हैं, वैसे ही सब एक है, जाति और कुल का विचार व्यर्थ है—

जाति कुल ना लखै कोई सब भये भृंगी।
नदी नाले मिले गंगै कहलावैं गंगी।
दरियाव दरिया जा समाने संग मे संगी।[3]

भगवान् बुद्ध का कथन है कि मनुष्य का जन्म पाना कठिन है और मनुष्य का जीवित रहना भी कठिन है,[4] इसी को कबीर ने कहा है कि मनुष्य जन्म का आनन्द बार-बार नही मिलता—"बार बार नहीं पाइये, मनिषा जन्म की मौज[5]।" भगवान् बुद्ध ने इस शरीर को मिट्टी के घड़े के समान अनित्य कहा है,[6] तो कबीर ने भी वही बात कही है—

यहु तन काचा कुंभ है, लिया फिरै था साथि।
ढबका लगा फूटि गया, कछू न आया हाथि[7]।

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १०२।
२. उदान, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ७५।
३. कबीर, पृष्ठ ३२९।
४. धम्मपद, गाथा १८२।
५ कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २४।
६. कुम्भूपमं कायमिमं विदित्वा। —धम्मपद, गाथा ४०। सुत्तनिपात ३, ८।
७ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ २५

इस शरीर को भगवान बुद्ध ने पानी के बुलबुला के समान क्षणभंगुर कहा है[१]। कबीर ने ही उसी को इस प्रकार कहा है—"यह तन जल का बुदबुदा, बिनसत नाही बार[२]।"

भगवान् बुद्ध ने श्रोण भिक्षु को उपदेश देते हुए कहा था कि जब वीणा की ताँत न बहुत कसी, न ढीली होती और न टूटी होती है, तभी वीणा ठीक से बजती है[३]। इसी प्रकार कबीर ने कहा है—

कबीर जंत्र न बाजई, टूटि गये सब तार।
जंत्र बेचारा क्या करै, चले बजावणहार ॥[४]

तीर्थ-यात्रा, स्नान-शुद्धि आदि का विरोध करते हुए भगवान् बुद्ध ने कहा है—'बाहुका, अधिकक्क, गया, सुन्दरिका, सरस्वती, प्रयाग और वाहुमती नदियों मे काले कर्मवाला मूढ चाहे नित्य स्नान करे, किन्तु शुद्ध नही होता। सुन्दरिका, प्रयाग और बाहुलिका नदी क्या करेगी? वे पापकर्मी, बुरे कर्म करनेवाले दुष्ट नर को नही शुद्ध कर सकते, शुद्ध नर के लिए सदा ही फल्गु है, शुद्ध के लिए सदा ही उपोसथ (व्रत) है। गया जाकर क्या करेगा? क्षुद्र जलाशय भी तेरे लिए गया है[५]।" इसी बात को सिद्ध सरहपा ने इन शब्दों मे दुहराया है—

एथु से सरसइ सोवणाह, एथु से गंगासाअरू।
वाराणसि पआग एथु, सो चान्द-दिवाअरू ॥
खेत्त पिट्ठ उअपिट्ठ एथु, मइ भमिअ समिट्ठउ।
देहा सरिस तित्थ, मइ सुणउ ण दिट्ठउ ॥[६]

यही सरस्वती, सोमनाथ, गंगासागर, वाराणसी, प्रयाग, क्षेत्रपीठ और उपपीठ है। शरीर के समान कोई तीर्थ न तो देखा जाता है और न सुना ही जाता है। कबीर ने इसी बात को सिद्ध सरहपा के स्वर में मिलाकर कहा है—

जिस कारनि तटि तीरथि जाही, रतन पदारथ घट ही माही[७]।
तीरथ करि करि जग मुवा, डूंबै पाणी न्हाइ[८]।
कहै कबीर हूं खरा उदास, तीरथ बड़े कि हरि के दास[९]।
जप तप दीसै थोथरा, तीरथ व्रत बेसास[१०]।
मन मथुरा दिल द्वारिका, काया कासी जांनि[११]।
तीरथ में तो सब पानी है, होवै नही कछु अन्हाय देखा[१२]।

---

१ "यथा बुब्बुलकं पस्से"। —धम्मपद, गाथा १७०।
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ७२।
३. अंगुत्तरनिकाय, ६, ६, १।
४ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७४।
५ मज्झिमनिकाय, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ २७।
६ दोहाकोश, ९६, ९७।
७. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०२।
८ वही, पृष्ठ ३७।
९. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ९७।
१०. वही, पृष्ठ ४४।
११. वही, पृष्ठ ४४।
१२ कबीर पृष्ठ २६२

धम्मपद में कहा गया है कि जब मन गन्दा है तो शरीर को बाहर-बाहर धोने से क्या लाभ? जटा और मृगछाला भी क्या करेंगे[१]?

कबीर ने भी इसी को दुहराया है—"क्या जप क्या तप संजमों, क्या तीरथ ब्रत अस्नान"[२]?

भगवान् बुद्ध ने कहा है कि जिस पुरुष के सन्देह समाप्त नहीं हुए हैं, उसकी शुद्धि न नंगे रहने से, न जटा से, न कीचड़ लपेटने से, न उपवास करने से, न कड़ी भूमि पर सोने से, न धूल लपेटने से और न उकड़ूँ बैठने से होती है[३]। इसी भाव को सिद्ध सरहपा ने इस प्रकार व्यक्त किया है—"यदि नग्न रहने से मुक्ति हो, तो कुत्ते और सियार भी मुक्त हो जायेंगे। मोरपंख ग्रहण करने से यदि मोक्ष हो, तो मोर और चमर भी मुक्त हो जायेंगे। शिला चुगकर खाने से यदि ज्ञान हो जाये, तो करि और तुरंग भी ज्ञानी हो जायेंगे[४]।" कबीर ने भी यही बात इन शब्दों में दुहराई है—

> का नागे का बाँधे चाम, जौ नहिं चीन्हसि आतम राम।
> नागें फिरे जोग जे होई, बन का मृग मुकति गया कोई।
> मुंड मुंडाये जौ सिधि होई, स्वर्गहि भेड न पहुँची कोई।[५]

जब मृत्यु आती है तब न तो कोई साथ जाता है और न तो कोई रक्षा ही करता है, पुत्र, माता-पिता, भाई कोई भी सहायक नहीं होते[६]। भगवान् बुद्ध ने यह कहते हुए व्यक्ति को सदाचारी बनने की शिक्षा दी है। कबीर ने भी यही बात कहते हुए विरक्ति की ओर प्रेरित किया है—

> माता पिता बन्धु सुत तिरिया, संग नही कोई जाय सका रे।
> जब लग जीवै गुरु गुन लेगा, धन जोबन है दिन दस का रे।
> चौरासी जो उबरा चाहे, छोड कामिनी का चसका रे।[७]

सुत्तनिपात के ब्राह्मणधम्मियसुत्त[८] में कहा गया है कि प्राचीन काल के ब्राह्मण हिंसा नहीं करते थे, वे गाय आदि को मारकर यज्ञ का विधान नहीं करते थे, जब तक हिंसा नहीं हुई तब तक लोग सुखी थे, किन्तु पशुओं की हिंसा से ही नाना प्रकार के रोग उत्पन्न हो गये और उनमें वर्ण-संकरता आ गई। धम्मपद के अनुसार आर्य वही है, जो जीव-हिंसा नहीं करता[९]। कबीर ने भी कहा है कि ब्राह्मण बकरी, भेड आदि जीवों को मारते हैं, उनके हृदय में दया भी नहीं आती। वे पुण्य की भावना से स्नान कर तिलक लगाते हैं, किन्तु लोहू की धारा बहाते हैं। समाजों के बीच अपने को श्रेष्ठ-कुल का कहते हैं और सब लोग

---

१. धम्मपद, गाथा ३९४।
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२६।
३. धम्मपद, गाथा संख्या १४१।
४. दोहाकोश, चर्यागीति।
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३०।
६. धम्मपद, गाथा २८८-२८९।
७. कबीर पृष्ठ ३४८।
८. ब्राह्मणधम्मियसुत्त २ ७।
९. गाथा संख्या २७०

इनसे ही दीक्षा माँगते हैं, मुझे तो इस बात पर हँसी आती है, ये पाप काटने के लिए कथा सुनाते हैं, किन्तु नीच कर्म करवाते हैं। ये दोनों ही पाप में डूबते दीखते हैं, जिन्हें कि यमराज बाँह पकड़ कर खींचता है. कलियुग में तो ब्राह्मण निम्नकोटि के हो गए हैं, जो जीवों का वध करने में निपुण हैं—

साधो, पाँडे निपुन कसाई।
बकरी मारि भेंडि को धाये, दिल में दरद न आई॥
करि अस्नान तिलक दै बैठे, बिधि सों देवि पुजाई।
आतम मारि पलक में बिनसे, रुधिर नदी बहाई॥
अति पुनीत ऊँचे कुल कहिये, सभा माहि अधिकाई।
इनसे दिच्छा सब कोई माँगै, हँसि आवै मोहि भाई॥
पाप कटन का कथा सुनावैं, करम करावैं नीचा।
बूड़त दोउ परस्पर दीखे, गहे बाँहि जम खींचा॥
कहै कबीर सुनो भाई साधो, कलि में बाम्हन खोटे।[१]

भगवान् बुद्ध ने निर्वाण की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा है कि निर्वाण की ऐसी अवस्था है, जहाँ जल, पृथ्वी, अग्नि और वायु नहीं ठहरते, वहाँ न तो शुक्र और सूर्य ही प्रकाश करते हैं, वहाँ चन्द्रमा भी नहीं चमकता और वहाँ अन्धकार भी नहीं होता। जब भिक्षु अपने आप जान लेता है, तब रूप, अरूप, सुख और दुःख से मुक्त हो जाता है[२]—

यत्थ आपो च पठवी तेजो वायो न गाधति।
न तत्थ सुक्का जोतन्ति आदिच्चो नप्पकासति।
न तत्थ चन्दिमा भाति तमो तत्थ न विज्जति।
यदा च अत्तना वेदि मुनि सो तेन ब्राह्मणो।
अथ रूपा अरूपा च सुखदुक्खा पमुच्चति।[३]

इसी भाव को व्यक्त करते हुए सिद्ध सरहपा ने कहा है कि—हे मन! जहाँ वायु का सञ्चार नहीं है, सूर्य और चन्द्रमा जहाँ प्रवेश नहीं कर सकते, तू वहाँ बढ़कर विश्राम करो—

जहि मण पवन ण संचरइ, रवि ससि णाह पवेस।
तहि वढ चित्त विसाम करु, सरहे कहिअ उएस।[४]

कबीर ने भी इसी स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है—

जिहि वन सीह न सचरै, पंषि उड़े नहीं जाइ।
रैनि दिवस का गमि नहीं, तहाँ कबीर रह्या ल्यौ लाइ॥[५]

---

१. कबीर, पृष्ठ ३१८।
२. उदान, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ १४।
३. उदान, पालि, पृष्ठ ८-९।
४. दोहाकोश, पृष्ठ २०।
५. कबीर ग्रंथावली पृष्ठ १८

इन्हें मिलान करने पर स्पष्ट जान पडता है कि कबीर ने जिस परमपद का वर्णन करते हुए कहा है कि "जिस वन में सिंह का संचार नहीं है, वहाँ पक्षी नहीं उड़कर जा सकता, रात्रि और दिन की भी वहाँ पहुँच नहीं, उसी में कबीर लवलीन है।" यह बुद्धोक्त निर्वाण का ही वर्णन है और न केवल भावों में ही समानता है, प्रत्युत शब्द-योजना में भी समता है और सिद्ध सरहपा के वचनों का तो परिवर्तन मात्र जान पड़ता है।

धम्मपद में कहा गया है कि बहुत-से ग्रन्थों को पढकर भी यदि उसके अनुसार आचरण न करे तो वह व्यक्ति दूसरों की गौवें गिननेवाले ग्वाले की भाँति श्रामण्य का अधिकारी नहीं होता[1]। इसी से मिलते-जुलते भाव को सिद्ध सरहपा ने इस प्रकार कहा है—

पण्डिअ सअल सत्थ बक्खाणइ।
देहहि बुद्ध बसन्त न जाणइ॥[2]

अर्थात् पण्डित केवल शास्त्रों की ही चर्चा करते हैं, किन्तु वे अपने शरीर में विद्यमान 'बुद्ध' को नहीं जानते। कबीर ने तो मानों इसी को अपने शब्दों में कह डाला है कि पण्डित पढ-पढकर वेद की चर्चा करते हैं, किन्तु अपने ही भीतर रहनेवाले उस परमेश्वर को नहीं जानते हैं—

पढ़ि गढि पडित वेद बषांणैं, भीतरि हूती बसत न जांणैं।[3]

सिद्ध शवरपा ने निर्वाण को प्राप्त करने का उपाय बतलाते हुए कहा है कि गुरु के उपदेश के अनुसार मन रूपी बाण से निर्वाण को बेध दो अर्थात् अपने मन को निर्वाण की स्थिति में पहुँचा दो—

गुरुवाक् पुञ्छिआ, विन्ध्य निअमण बाणे।
एके सर सन्धाने विन्धह विन्धह पर णिवाणे॥[4]

कबीर ने इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहा है कि वास्तव में सतगुरु शूरवीर है। उन्होंने जो एक शब्द निकाला, उससे मेरे कलेजे में छेद हो गया और उस शब्द रूपी बाण के लगते ही मुझे सारे भेदों का ज्ञान प्राप्त हो गया—

सतगुरु साँचा सूरिवाँ, सबद जु बाह्या एक।
लागत ही मैं मिलि गया, पड्या कलेजै छेक॥[5]

इन दोनों के वचनों में कितनी समता है। दोनों का तात्पर्य गुरु का माहात्म्य बतलाना है। परमगुरु भगवान् बुद्ध ने यही बात कही थी कि मैंने जो मार्ग बतला दिया है, उस पर आरूढ होकर तुम दु:खों का अन्त कर दोगे। शल्य के सदृश दु:ख के निवारण-स्वरूप निर्वाण को जानकर मैंने उसका उपदेश किया है[6]। सिद्ध शबरपा और कबीर की वाणी के मूलस्रोत का इस बुद्धवचन से पूर्ण आभास मिलता है।

---

१. धम्मपद, गाथा १९।
२. दोहाकोश, पृष्ठ ३०।
३ कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १०२।
४. चर्यापद, पृष्ठ १३४।
५ कबीर ग्रथावली, पृष्ठ १।
६. एतं हि तुम्हे पटिपन्ना, दुक्खस्सन्तं करिस्सथ।
अक्खातो वे मया मग्गो — गाथा २७५

समरस की स्थिति का वर्णन करते हुए सिद्ध भुसुकपा ने कहा है कि जिस प्रकार जल के जल मे मिल जाने पर भेद नही किया जा सकता, वैसे ही जब मन समरस में लवलीन हो जाता है, तब वह आकाश-तुल्य हो जाता है—

जिमि जले पाणिआ टलिआ भेउ न जाय।
तिम मण रअणा समरसे गऊण समाऊ[१]॥

कबीर ने भी इसी का निर्देश करते हुए कहा है कि मै पहले चाहे किसी भी प्रकार का रहा होऊँ, किन्तु अब जीवन का फल प्राप्त कर मेरी दशा पहले से भिन्न हो गयी है, जैसे कि जल जल मे मिल जाने पर फिर वह नही निकल सकता, अर्थात् उसका भेद नहीं दिखलाया जा सकता। वैसे ही मै जल की भाँति ढरककर परमात्मा म मिल गया हूँ—

तब हम वैसे अब हम ऐसे, इहै जनम का लाहा।
ज्यूं जल मैं जल पैसि न निकसै, यूं ढुरि मिल्या जुलाहा॥[२]

इस समरस की अवस्था का वर्णन करते हुए सिद्ध कण्हपा ने कहा है कि जिस प्रकार नमक जल में मिलकर विलीन हो जाता है, वैसे ही चित्त गृहिणी (मुद्रा) के साथ जब लीन हो जाता है और उसकी वही स्थिति नित्य बनी रहती है, तो वह शीघ्र ही समरस अवस्था को प्राप्त हो जाता है—

जिमि लोण विलिज्जइ पाणिएहि तिम घरिणी लइ चित्त।
समरस जाइ तक्खणे, जइ पुणु ते सम णित्त[३]॥

कबीर ने भी इसी अवस्था का वर्णन करते हुए कहा है कि जब मेरा मन परमतत्व के साथ मिल गया, तो परमतत्व भी मेरे मन में मिल गया, जैसे कि नमक जल में और जल नमक में विलीन हो गया—

मन लागा उनमन सौं, उनमन मनहि बिलग।
लूंण बिलग पाणिया, पाणी लूंण बिलग[४]॥

यहाँ जिसे सिद्ध कण्हपा ने चित्त और गृहिणी कहा है, उसे ही कबीर ने मन और उन्मन नाम से पुकारा है। दोनों का भाव एक ही है।

भगवान् बुद्ध ने वेदादि ग्रन्थों की प्रामाणिकता को नही माना है[५]। उन्होंने कहा है कि किसी बात को इसलिए न मान लो कि वह ग्रन्थों मे लिखी है[६]। दीघनिकाय के तेविज्ज सुत्त मे त्रिवेद तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों के कर्त्ता-प्रवक्ता ऋषियों को भी ब्रह्मा की सलोकता के मार्ग

---

१. चर्यापद, पृष्ठ २०७। २. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २२१।
३ दोहाकोश, पृष्ठ ४६। ४ कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १३।
५ दीघनिकाय १ १३।
६ 'मा ३ २ ५

का अनभिज्ञ कहा गया है[१]। भदन्त धर्मकीर्ति ने भी तथागत की ही बात दुहराते हुए कहा है—"वेद को प्रमाण मानना, संसार के कर्त्ता को मानना, स्नान में पुण्य मानना, जाति का अभिमान करना और पाप को दूर करने के लिए शरीर को तपाना—ये मूर्खों के पाँच लक्षण हैं[२]। कबीर ने भी इसी का प्रतिपादन अपनी वाणियों में किया है। उनका कहना है कि 'वेद और कत्तेब (कुरान) परमतत्व को नहीं जानते हैं—"वेद कत्तेब की गम्म नाही[३]।" इसलिए "कबीर पढिबा दूरि करि, पुस्तक देइ बहाइ[४]", क्योंकि "पोथी पढि पढि जग मुवा, पण्डित भया न कोइ[५]"। कबीर ने धर्मकीर्ति के ही स्वर में स्वर मिलाकर गाया है—"जप तप दीसै थोथरा, तीरथ व्रत बेसास[६]"। अर्थात् जप, तप और तीर्थ-व्रत तुच्छ और व्यर्थ दिखाई देते है, शुद्धि की भावना से स्नान करना भी निरर्थक है[७]।

धम्मपद में कहा गया है कि जो बिना चित्त को परिशुद्ध किए ही संन्यास-वस्त्र (कापाय) धारण करता है, वह संयम और सत्य से हीन व्यक्ति उस वस्त्र का अधिकारी नही है[८]। वह केवल वेष धारण कर भीख माँगने मात्र से भिक्षु नहीं कहा जा सकता, किन्तु जो पाप और पुण्य को छोड ब्रह्मचारी बन, ज्ञान के साथ लोक में विचरण करता है, वही भिक्षु है[९]। कबीर ने भी इसी भाव को इस प्रकार प्रगट किया है—

कबीर सतगुर नाँ मिल्या, रही अधूरी सीष।
स्वाँग जती का पहरि करि, घरि घरि माँगै भीष॥[१०]

अर्थात् उसे परमपद की प्राप्ति नहीं हुई, उसकी शिक्षा पूर्ण नहीं हो पाई और वह सन्यासी का वेष बनाकर घर-घर भीख माँगता फिरता है, तो इससे उसका क्या भला होगा ? उसका यह संन्यास सार्थक नहीं।

सुत्तनिपात में कहा गया है कि सभी प्राणी मरण-धर्मा है, सभी मृत्यु के वश मे हैं, मृत्यु से न तो पिता पुत्र की रक्षा कर सकता है और न बन्धु बन्धुओं की रक्षा कर सकते हैं। सब लोगो के विलाप करते हुए ही मृत्यु पकड ले जाती है[११]। जीवन, रोग, काल, शरीर का त्याग और गति—ये पाँच जीव-लोक मे अनिमित्त हैं, ये जान नही पडते है[१२]। मृत्यु को

---

१. दीघनिकाय, १, १३।
२. वेदप्रामाण्यं कस्यचित् कर्तृवाद, स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेप.।
संतापारम्भ पापहानाय चेति, ध्वस्तप्रज्ञानां पञ्चलिंगानि जाड्ये॥
—प्रमाणवार्तिक १, ३४२
३. कबीर, पृष्ठ २४७।
४ कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३८।
५ वही, पृष्ठ ३९।
६. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४४।
७ "क्या तीरथ व्रत अस्नान ?" —वही, पृष्ठ १२६।
८. धम्मपद, गाथा ९।
९. वही, २६६-६७।
१०. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३।
११ सुत्तनिपात हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ १२७-१२९।
१२ „ भाग १ पृष्ठ २१५

हाथी, रथ, पदल सेना, मन्त्र अथवा धन से नहीं जीता जा सकता[१]। मनुष्यों का जीवन ही नश्वर तथा क्षणभंगुर है[२]। कबीर ने भी इसे ही व्यक्त करते हुए कहा है कि गर्व क्या करते हो, जब मृत्यु ने केश पकड़ रखा है और यह ज्ञात नहीं कि वह घर या बाहर कहाँ मार डालेगी—

कबीर कहा गरबियौ, काल गहै कर केस।
ना जाणौं कहा मारिसी, कै घरि कै परदेस ॥[३]

कबीर का भी कहना है कि जब मृत्यु पकडकर ले चलती है, तब न कोई बन्धु साथ देता है और न कोई भाई ही। हाथी-घोड़े भी ज्यों-के-त्यों बँधे रह जाते हैं। सभी को अपनी सारी धन-सम्पत्ति छोडकर ही जाना पडता है—

नां को बंध न भाई साथी, बाँधे रहे तुरंगम हाथी।
मैडी महल बावडी छाजा, छाडि गये सब भूपति राजा ॥[४]

भगवान् बुद्ध ने आत्म-निर्भर होकर[५] सदा कार्य मे तत्पर रहने की शिक्षा दी है[६] और कहा है कि केवल कथनी मे न लगकर कार्य करो, बहुत बोलने से कोई धर्मधर नहीं होता,[७] जो अनेक ग्रंथो का पाठ मात्र करता है, किन्तु उसके अनुसार आचरण नहीं करता,[८] वह परमपद को नहीं पा सकता। कबीर ने भी कहा है कि कथनी मात्र से क्या होगा, यदि कार्य रूप मे उसे परिणत नहीं किया जाता—"कथणी कथी तौ क्या भया, जे करणी ना ठहराइ"[९]।

पूर्वशैलीय और अपरशैलीय भिक्षुओ का मत था कि व्यक्ति का भाग्य उसके लिए पहले से ही नियत होता है और उसी के अनुसार उसे फल भोगना पड़ता है,[१०] इसी का प्रभाव कबीर पर भी पड़ा दीखता है। कबीर का कथन है कि भाग्य में जो नियत है, उसे भोगना ही पडेगा, उसमे किसी भी प्रकार से न्यूनाधिक नहीं हो सकता—

करम करीमां लिखि रह्या, अब कछू लिख्या न जाइ।
मासा घटै न तिल बढै, जौ कोटिक करै उपाइ[११] ॥

करम गति टारे नाहि टरी।
कहत कबीर सुनत भइ साधो, होनी हो के रही[१२] ॥

---

१. संयुत्तनिकाय, १, ३, ३, ५।
२. सुत्तनिपात, ३, ८, ३-४, और दीघनिकाय, २, ३।
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २१।
४. वही, पृष्ठ १२०।
५. "अत्तदीपा विहरथ अत्तसरणा अनञ्ञसरणा"।—महापरिनिब्बानसुत्त, पृष्ठ ६३।
६. धम्मपद, गाथा २८।
७. "न तावता धम्मधरो यावता बहुभासति"।—धम्मपद, गाथा २५९।
८. "बहुम्पि चे संहितं भासमानो, न तक्करो होति नरो पमत्तो"।—धम्मपद, गाथा १९।
९. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३८।
१० कथावत्थु ३ १३ ४।
११ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ ५८
१२ संतबानी संग्रह, भाग २ पृष्ठ ५६

भगवान् बुद्ध ने पूजा-पाठ का निषेध किया था। उन्होंने अपनी पूजा तक को सार्थक नहीं कहकर धर्म-आचरण की ओर सबको प्रेरित किया था[1]। उन्होंने यह भी कहा था कि मनुष्य भय के मारे पर्वत, वन, उद्यान, वृक्ष, चैत्य (चौरा) आदि को देवता मानकर उनकी शरण जाते हैं, किन्तु ये शरण मंगलदायक नहीं, ये शरण उत्तम नहीं, क्योंकि इन शरणों में जाकर सब दुःखों से छुटकारा नहीं मिलता[2]। किन्तु जो बुद्ध, धर्म और संघ की शरण जाता है और चार आर्यसत्यों की भावना करता है, वही सब दुःखों से मुक्त होता है[3]। कबीर ने भी इसी भाव को लक्ष्य करके कहा है कि परमतत्व न तो मन्दिर में है, न मसजिद में, न कावाशरीफ या कैलास में ही है, वह कर्म-काण्ड और योग-वैराग्य में भी नहीं है, वह तो अपने भीतर ही है, जो क्षणमात्र में खोजनेवाले को मिल जाता है—

ना मैं देवल ना मैं मसजिद, ना काबे कैलास में।
ना तो कौन क्रिया कर्म मे, नहीं योग वैराग में।
खोजी होय तो तुरतै मिलिहै पलभर की तालास में।[4]

जिन आर्यसत्यों की भावना करने के लिए तथागत ने बतलाया है, वे चार हैं—दुःख, दुःख-समुदय, दुःख निरोध और दुःख निरोध की ओर ले जानेवाला मार्ग। इनका परिचय पहले अध्याय में दिया जा चुका है। कबीर ने भी इनका उपदेश अपने ढंग से दिया है। कबीर का भी कथन है कि यह संसार दुःखों का घर है—"दुनिया भाडा दुख का, भरी मुहामुंह भूख"[5]। यह दुःख तृष्णा से उत्पन्न होता है, तृष्णा ही कर्म का कारण है, क्योंकि तृष्णा में ही पड़कर व्यक्ति कर्म करता है और फिर कर्म के फन्दे में पड़ा रहता है—

माता जगत भूत सुधि नाही, भ्रमि भूले नर आवैं जाही।
जानि बूझि चेतै नहिं अधा, करम जठर करम के फंधा[6]।

दुख संताप कलेस बहु पावै, सो न मिलै जे जरत बुझावै।
मोर तोर करि जरे अपारा, मृगतृष्णा झूठी संसारा[7]॥

माया मोह धन जोबना, इनि बंधे सब लोइ।
झूठै झूठ बियापिया, कबीर अलख न लखई कोय॥[8]

जिस तृष्णा के कारण दुःख उत्पन्न होते हैं, उसी तृष्णा के विनष्ट हो जाने पर सारे दुःखों का निरोध हो जाता है और तृष्णा के निरोध का मार्ग हरि-भक्ति है। हरि-भक्ति से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है—

---

१. "अप्यावटा तुम्हे आनन्द होथ तथागतस्स सरीरपूजाय"।
—महापरिनिब्बान सुत्त, पृष्ठ १४४।

२ धम्मपद, गाथा १८८, १८९। ३ धम्मपद, गाथा संख्या १९०-१९२।

४. कबीर, पृष्ठ २३०। ५ बानी, साखी १२, ४७।

६ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ २२७-२८। ७ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ २३३।

८ वही पृष्ठ २२९

हरि हिरदै एक ज्ञान उपाया तार्थे छूटि गई सब माया ।[1]
कहै कबीर हरि भगति बिन, मुकति नहीं रे मूल[2] ।

ज्यूं राम कहे ते रामै होई, दुःख कलेस घालै सब कोई ।
जन्म के किल्बिष जाहि बिलाई, भरम करम का कछु न बसाई ।[3]

यद्यपि कबीर ने प्रत्यक्षतः आर्यसत्यों का नाम नहीं लिया है, किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से उन्हें बतलाया है। दुःख-निरोध के मार्ग का ही नाम 'आर्य अष्टांगिक मार्ग' है। उसे ही मध्यममार्ग कहते हैं। तथागत ने काम-वासना में लिप्त रहने तथा शरीर को नानाप्रकार से तपाने के इन दोनों अन्तों को छोड़कर मध्यममार्ग का उपदेश दिया है[4]। कबीर ने भी "मधि निरन्तर बास"[5] अर्थात् मध्यममार्ग में ही निरन्तर रहने को कहा है—

भजूं तो को है भजन को, तजूं तो को है आन।
भजन तजन के मध्य में, सो कबीर मन मान ॥

अति का भला न बोलना, अति की भली न चूप।
अति का भला न बरसना, अति की भली न धूप ॥[6]

भगवान् बुद्ध ने आदित्तसुत्त में कहा है—"भिक्षुओ, सब जल रहा है। क्या जल रहा है? चक्षु जल रहा है, रूप जल रहा है, चक्षु-विज्ञान जल रहा है, चक्षु का संस्पर्श जल रहा है, सुख, दुःख, उपेक्षा, वेदनायें जल रही हैं। किससे जल रहा है? राग की आग से, द्वेष की आग से और मोह की आग से; जन्म से, जरा से, मृत्यु से, शोक से, परिदेव से, दुःख से, दौर्मनस्य से और उपायासों से—ऐसा मैं कहता हूँ[7]।" इसीलिए उन्होंने यह भी कहा है कि "जब नित्य जल रहा है तो हँसी कैसी? आनन्द कैसा[8]?" कबीर ने भी ठीक इसी बात को दुहराया है—

देखहु यह तन जरता है, घड़ी पहर बिलंबै रे भाई जरता है।
काहे कौं एता किया पसारा, यहु तन जरि बरि ह्वैहै छारा।
नव तन द्वादस लागी आगी, मुगध न चेतै नख सिख जागी।
काम क्रोध घट भरे बिकारा, आपहि आप जरै संसारा।[9]

पूर्वशैलीय भिक्षुओं की यह मान्यता थी कि साधक जब ध्यान को प्राप्त होता है तब उसे शब्द सुनाई देता है, क्योंकि भगवान् बुद्ध ने शब्द को ध्यान के लिए विघ्न बतलाया है, यदि वह सुने नहीं तो शब्द विघ्नकारी नहीं हो सकता[10]। हमारा अपना मत है कि ध्यान

१ बानी, पद १८७।
२ कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २४५।
३ वही, पृष्ठ २३६।
४ धम्मचक्कप्पवत्तन सुत्त।
५ कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ५४।
६ सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ३२।
७ संयुत्तनिकाय, ३४, १, ३, ६, हिन्दी अनुवाद, दूसरा भाग, पृष्ठ ४५८।
८ को नु हासो किमानन्दो, निच्चं पज्जलिते सति। —धम्मपद, गाथा १४६।
९ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ ११८
१० कथावत्थु ४ १८ ८

स[illegible]पत्ति के समय मे साधक के शब्द सुनने की भावना का ही विकास 'अनहद' के रूप मे हुआ है। कबीर ने इस अनहद शब्द का वर्णन करते हुए कहा है कि अनहद का बाजा बजता रहता है और उसे विरले ही सुन पाते हैं—

सुनता नही धुन की खबर, अनहद का बाजा बजता।[1]
गुड़िया कौ सबद अनाहद बोलै, खसम लियै कर डोरी डोलै।[2]

धम्मपद मे कहा गया है कि मन सभी प्रवृत्तियो का अगुआ है, मन उसका प्रधान है, वे मन से ही उत्पन्न होती है,[3] दूरगामी, एकाकी विचरण करनेवाले, निराकार, गुहाशायी स्वभाववाले मन का जो संयम करता है, वही सासारिक बन्धनो से मुक्त होता है,[4] व्यक्ति अपना स्वामी आप है, भला दूसरा कोई उसका स्वामी क्या होगा[5]? ऐसे मन का दमन करना उत्तम है, क्योकि दमन किया हुआ मन सुखदायक होता है[6]। कबीर ने भी मन को गोरख और गोविन्द कहा है, जो मन की रक्षा करता है, वह स्वय अपना स्वामी है। मन जल से सूक्ष्म, धुँआ से क्षीण, पवन के समान तीव्रगामी और चचल है—

मन गोरख मन गोविन्दौ, मन ही औघड होइ।
जे मन राखै जतन करि, तौ आपै करता सोइ॥
पाणी हो तै पातला, धूंवाँ ही तै क्षीण।
पवना बेगि उतावला, सो दोसत कबीरै कीन्ह॥[7]

यहाँ हमने ऐसे स्थलो को उद्धृत किया है, जो बौद्ध-साहित्य तथा कबीर-वाणी मे समान रूप से मिलते है। इनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि बौद्ध-विचारों का कबीर की वाणियो मे किस प्रकार समन्वय हुआ है और कबीर पर बौद्धधर्म का कितना प्रभाव पड़ा है। यहाँ हमने कुछ ही उद्धरण दिए है। बौद्ध-मन्तव्य कबीर-वाणियो मे भरे पडे है और जब तक जिन धार्मिक, दार्शनिक, चारित्रिक, पारिभाषिक, गूढार्थ, रहस्यात्मक, पारमार्थिक आदि बौद्ध-विचारो की छाप कबीर पर पड़ी हुई है, उन पर प्रकाश नही डाला जाता, तब तक कबीर पर पडे बौद्ध-प्रभाव को भली प्रकार नही जाना जा सकता। हम कह आये है कि कबीर पर सभी समसामयिक विचारधाराओं का कुछ-न-कुछ प्रभाव पडा था। उन्होने सन्त-समागम तथा परम्परागत धार्मिक विचारो से ही उन्हे ग्रहण किया था, उनका स्वय कथन है—

विद्या न पढ़ूँ बाद नहिं जानूं।
हरि गुन कथत सुनत बौरानूं॥[8]

स्पष्ट है कि कबीर ने धर्म-शास्त्रो का अध्ययन नही किया था और न 'मसि कागद' ही हाथ से छुआ था, वे तो 'हरि-गुण' कहने-सुनने मात्र से ही हरि-भक्ति मे उन्मत्त हो गए थे,

---

१. कबीर, पृष्ठ २६७।
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ११७।
३ धम्मपद, गाथा १।
४ धम्मपद, गाथा ३७।
५ वही गाथा १६०।
६ वही- गाथा ३५।
७ कबीर ग्रथावली पृष्ठ २९
८ वही पृष्ठ १३५

फिर भी बौद्ध-विचारों से अत्यधिक प्रभावित थे, जिसे कि वे प्रत्यक्षत बौद्ध-विचार नहीं जानते थे, क्योंकि उनके श्रुति-पथ में 'निष्कलंकी बौद्ध' भी परमतत्व के ज्ञाता न होने के रूप में ही प्रवेश पाये थे,[१] और ये निष्कलंकी बौद्ध तपस्वी रामचन्द्र, मुरलीधर कृष्ण, मत्स्य, कच्छप, वाराह और वामन की ही भाँति अवतार माने जानेवाले थे[२]। सिद्धों और गोरख-पन्थियों (नाथो) ने भी उस परमतत्व का अन्त नही पाया था[३]। इन सब विरोधी बातों को कबीर-वाणी मे पाते हुए भी हम कबीर पर बौद्धधर्म का गहरा प्रभाव पाते है। आगे के तथ्यो से इसकी और भी पुष्टि होगी। हम इन पर अलग-अलग विचार करेंगे।

बौद्धधर्म का शून्यवाद ही कबीर के निर्गुणवाद का आधार

भगवान् बुद्ध ने अनित्य, दुःख और अनात्म का उपदेश देते हुए बतलाया है कि विमुक्ति के तीन द्वार है, जिन्हे विमोक्षमुख कहते है—शून्यता, अनिमित्त और अप्रणिहित। इनकी समाधि भी शून्यता समाधि, अनिमित्त समाधि तथा अप्रणिहित समाधि ही कही जाती है और इनकी भावना भी शून्यतानुपश्यना, अनिमित्तानुपश्यना तथा अप्रणिहितानुपश्यना कहलाती है[४]। पटिसम्भिदामग्ग मे कहा गया है—"अनित्य के तौर पर मनस्कार करते हुए अधिमोक्ष बहुल अनिमित्त-विमोक्ष को प्राप्त होता है। अनात्म के तौर पर मनस्कार करते हुए ज्ञान-बहुल शून्यता-विमोक्ष को प्राप्त होता है"[५]। शून्यता की व्याख्या मे कहा गया है—"अनित्य की अनुपश्यना का ज्ञान नित्य के तौर पर अभिनिवेश (दृढग्राह) को छोडता है, इसलिए शून्यता विमोक्ष है, दुःख की अनुपश्यना का ज्ञान सुख के तौर पर अभिनिवेश को छोडता है, अनात्म की अनुपश्यना का ज्ञान आत्मा के तौर पर अभिनिवेश को छोड़ता है, इसलिए शून्यता विमोक्ष है[६]।" यह भी कहा गया है कि परमार्थ से सभी सत्यों का अनुभव करनेवाले, कर्त्ता, शान्त होनेवाले और शान्ति को जानेवाले के अभाव से ही शून्य कहा जाता है—

> दुक्खमेव हि न कोचि दुक्खितो,
> कारको न किरिया व विज्जति।
> अत्थि निब्बुति न निब्बुतो पुमा,
> मग्गमत्थि गमको न विज्जति॥[७]

अर्थात् दुःख ही है, कोई दुःख भोगनेवाला व्यक्ति नही है। कर्त्ता नही है, क्रिया ही है। निर्वाण है, निर्वाण को प्राप्त व्यक्ति नही है। मार्ग है, जानेवाला पथिक नहीं है। यह नैरात्म्य की भावना ही शून्यता की भावना है। आगे चलकर नागार्जुन के समय मे इस भावना का विकास हुआ और नागार्जुन ने इसकी व्याख्या अपने ढग से की। नागार्जुन के शून्यवाद

---

१. केते बौध भये निकलंकी, तिन भी अन्त न पाया। —कबीर, पृष्ठ ३२६।

२ कबीर, पृष्ठ ३२६। ३. वही, पृष्ठ ३२६।

४ दीघनिकाय, ३, १० और ३, ११।

५ पटिसम्भिदामग्ग २ अनुवाद के लिए विशुद्धिमार्ग भाग २ पृष्ठ २४९।

६ " भाग २ पृष्ठ २५० ७ वही पृष्ठ १२५

का परिचय पहले दिया जा चुका है। शून्यता की इसी भावना ने सिद्धों के समय में शून्य एवं निरंजन का रूप धारण कर लिया। सिद्ध सरहपा ने शून्यवाद का पर्याप्त प्रचार किया, जिसका प्रभाव नाथों और सन्तों पर परम्परानुसार पड़ा। सिद्ध सरहपा ने कहा कि परमपद शून्य और निरञ्जन है—

सुण्ण णिरंजण परमपउ, सुइणो अ माअ सहाव।
भावहु चित्त-सहावता, णउ णासिज्जइ जाव[१]॥

कबीर ने भी शून्य को ग्रहण किया और उसे अलख, निरंजन तथा शून्यतत्व माना। उन्होंने शून्य में समाधि लगाई और कहा कि शून्य में जल, पृथ्वी, आकाश आदि नहीं है और न तन, मन अथवा आत्मीयता ही है, वह तो शुद्ध शून्य ही है—

नहिं तहँ नीर नाव नहिं खेवट, ना गुन खैंचनहारा।
धरनी गगन कल्प कछु नाहीं, ना कछु वार न पारा॥
नहिं तन नहिं मन नहीं अपन पौ सुन्न में सुद्ध न पैहौ।[२]

नागार्जुन ने परमार्थ को शून्य, अशून्य से रहित बतलाया था[३] और सिद्ध गोरखनाथ ने भी वही बात कही[४]। इसका ही प्रभाव कबीर पर भी पड़ा और उन्होंने कहा कि परमतत्व शून्य है,[५] किन्तु वह रूप-स्वरूप से रहित है,[६] वह निर्गुण और सगुण से परे है,[७] वह गगन-मण्डल में रूप-रेख रहित है,[८] वह ऊपर, नीचे, बाहर, भीतर नहीं बतलाया जा सकता,[९] अर्थात् नागार्जुन के शब्दों में वह शून्य-अशून्य न होता हुआ भी उसे प्रज्ञप्ति के लिए शून्य कहा जाता है।

स्थविरवाद शून्य-समाधि अथवा शून्य-भावना को मानता हुआ भी परमपद निर्वाण को एक 'आयतन' (अवस्था) मानता है, जहाँ उत्पत्ति, लय, स्थिति, गति, अगति नहीं है,[१०]

---

१ दोहाकोश, भूमिका, पृष्ठ ३६। २. कबीर, पृष्ठ २५१।

३. शून्यमिति न वक्तव्यम्, अशून्यमिति वा भवेत्।
उभयं नोभयं चेति, प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते॥

४. बसती न सुन्यं न बसती अगम अगोचर ऐसा।
गगन सिषर महि बालक बोलै ताका नाँव धरहुगे कैसा॥ —गोरखबानी, पृष्ठ ।

५. सत से सत्त सुन्न कहलाई, सत्त भंडार याही के माँही।
नि:तत रचना ताहि रचाई, जो सबहिन ते न्यारा है। —कबीर, पृष्ठ २७७।

६ रूप सरूप कछू वहँ नाही, ठौर ठाँव कछु दीसै नाहीं।
अजर तूल कछु दृष्टि न आई, कैसे कहूँ सुमारा है॥ —कबीर, पृष्ठ २७७।

७. निर्गुण सर्गुण के परे, तहँ हमारा ध्यान है। —कबीर, पृष्ठ ३१७।

८. रेख रूप जेहि है नहीं, अधर धरो नहिं देह।
गगन मँडल के मध्ये, रहता पुरुष विदेह॥ —कबीर, पृष्ठ ३१७।

९ घर नहिं अधर न बाहर भीतर पिंड ब्रह्मांड कछु नाही। —कबीर पृष्ठ ३५५।

१० उदान हिन्दी अनुवाद पृष्ठ १०९

और महायान का शून्यवाद प्रतीत्यसमुत्पाद की भावना है जो शून्यता को देखता है वही चारो आर्यसत्यो को देखता है[१] तथा आर्यसत्यो का अनुभव या साक्षात्कार ही निर्वाण की अवस्था है, तात्पर्य यह कि इस अवस्था को शून्यता की भावना से ही प्राप्त किया जा सकता है। इसे कबीर ने निरजन, राम आदि नामो से पुकारा है। वह निरञ्जन घट-घट मे व्याप्त है[२]। महायान सूत्रालंकार मे भी तथागत को सर्वव्यापी कहा गया है[३]। सिद्ध सरहपा ने "सअलु णिरन्तर बोहि ठिअ"[४] कहकर इसी को प्रगट किया है। गोरखनाथ ने इसी अवस्था को स्पष्ट करते हुए कहा है—

उदै न अस्त राति न दिन, सरबे सचराचर भाव न भिन।
सोई निरंजन डाल न मूल, सब व्यापीक सुपम न अस्थूल[५]।

इस प्रकार स्पष्ट है कि विमोक्षमुख शून्य ने क्रमश विकसित होकर अलख, निरंजन, शून्य आदि नामो से व्यवहृत होकर ब्रह्म का रूप धारण कर लिया और कबीर ने "कहु कबीर जँह बसहु निरंजन तँह किछु आहि कि सुन्न" कहकर दोनो को मिला दिया, फिर भी शून्य अनिर्वचनीय बना रहा। कबीर ने इसे सहजशून्य भी कहा और तरुवर का रूपक देकर समझाया, जैसा कि सिद्धो ने समझाया है[६]। कबीर ने कहा है कि सहजशून्य एक वृक्ष की भाँति है, जो उसे देख पाते है, उन्ही का मै सेवक हूँ—

सहज सुंनि इकु बिरवा उपजि धरती जलहरु सोखिआ।
कहि कबीर हउ ताका सेवक जिनि यहु बिरवा देखिआ ॥[७]

कबीर ने समुद्र के रूपक मे भी इसे समझाया—

उदक समुंद सलिल की साखिआ नदी तरंग समावहिगे।
सुंनहि सुंनु मिलिआ समदरसी पवन रूप होई जावहिगे ॥[८]

बौद्धधर्म अनीश्वरवादी था। पीछे बुद्ध को निरन्तर विद्यमान माना गया और जैसा कि ऊपर कहा गया है, वे घट-घट मे व्याप्त मान लिए गये[९]। इस भावना ने ही नाथो को प्रभावित किया और सन्तो ने इसे अपने ढग से ग्रहण किया। राहुलजी का यह कथन समीचीन है कि पीछे के सन्त शून्यवाद से परिचित न थे, तो भी वे उसके प्रवाह में बहे बिना न रहे[१०]। उन पर सिद्धो का प्रभाव पड़ा, क्योकि सिद्धो ने शून्य का पर्याप्त प्रचार किया था। अब

१ माध्यमिक कारिका, २४, ३९-४०।
२ सब घटि अन्तरि तूं ही व्यापकु धरै सरूपै सोई। —कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १०५।
नांति सरूप बरण नही जाकै, घटि घटि रह्यौ समाई। —कबीर ग्रथावली, पृष्ठ १४९।
३ तद्गर्भासर्वदेहिनः। —महायान सूत्रालंकार, ९, ३७।
४. दोहाकोश, भूमिका, पृष्ठ २७।
५. गोरखबानी पृष्ठ ३९।
६ दोहाकोश, भूमिका, पृष्ठ ३५-३६।
७. सन्त कबीर, पृष्ठ १८१।
८ सन्त कबीर पृष्ठ १९२।
९ महायान. पृष्ठ १३१।
१० दोहाकोश भूमिका पृष्ठ ३६

अनीश्वरवादी शून्यवाद ब्रह्मतत्व मे समन्वित होकर कबीर का निर्गुणवाद बन गया जिसका मूल आधार बौद्धधर्म का शून्यवाद ही था।

विचार-स्वातन्त्र्य तथा समता में कबीर पर बौद्धधर्म की छाप

कबीर स्वतन्त्र विचारक तथा समता के समर्थक थे। वे किसी भी ग्रंथ को प्रमाण नही मानते थे और न किसी प्रकार की जातिगत विषमता को ही स्वीकार करते थे। पहले हम कह आये है कि कबीर ने ग्रंथ-पाठ, जप, तप, स्नान-शुद्धि आदि को व्यर्थ बतलाकर कहा कि ग्रंथो को बहा दो,[1] इससे ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता। पुस्तकीय ज्ञान परमपद तक नही पहुँचा सकता। ग्रंथो की तो वहाँ गति ही नही है।[2] यह विचार कबीर का अपना होते हुए भी पूर्व के सन्तो द्वारा सुप्रभावित था। कबीर से कई शताब्दियों पूर्व बुद्ध और उनके शिष्यो ने इस विचार-स्वातन्त्र्य का उपदेश दिया था और ग्रंथो को अपौरुषेय मानने का निषेध किया था। हम कह आये है कि भगवान् बुद्ध ने कालामो को उपदेश देते हुए कहा था कि किसी भी बात को इसलिए न मान लो कि वह ग्रन्थो मे लिखी है अथवा परम्परा से चली आ रही है, प्रत्युत तुम स्वयं अपनी बुद्धि से विचार करो, जब वह उचित लगे तो ग्रहण करो अन्यथा त्याग दो[3]। उन्होंने अपने उपदेश के सम्बन्ध मे भी यही बात कही—

तापाच् छेदाच् च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः।
परीक्ष्य मद्वचो ग्राह्यं भिक्षवो न तु गौरवात्[4]॥

अर्थात् जैसे पण्डितजन स्वर्ण को तपाकर, काटकर, कसौटी पर कसकर परखते है और फिर उसे ग्रहण करते है, वैसे ही भिक्षुओ! मेरे वचनो को परख कर ग्रहण करो, केवल मेरे गौरव का ध्यान रखकर ही उन्हे न ग्रहण कर लो।

मज्झिमनिकाय के अलगद्दूपमसुत्त[5] मे तथागत ने कहा है कि कोई-कोई अनाड़ी भिक्षु ग्रथो को धारण करते है, किन्तु उनके अर्थ को प्रज्ञा से परखते नही है और न परखने के कारण उनका वास्तविक आशय नहीं समझते है, वे या तो बड़ा बनने के लिए ग्रंथों का पाठ करते है या लाभ कमाने के लिए, जो उनके लिए अहितकर होता है, अत· "भिक्षुओ! मै बेडे की भाँति निस्तार पाने के लिए तुम्हे धर्म का उपदेश करता हूँ, पकड़कर रखने के लिए नही।" तात्पर्य यह कि भगवान् बुद्ध ने जो कुछ उपदेश दिया है, उसे स्वतन्त्र बुद्धि से परखकर ही ग्रहण करने का आदेश भी दिया है और यदि केवल उन वचनों को ग्रंथो के रूप मे ग्रहण करना है, तो कबीर का कहना बुद्ध-वचन का ही दुहराना है—"कबीर पढिवा दूरि करि, पुस्तक देइ बहाइ[6]।" गोरखनाथ ने भी इसी बुद्ध-वाणी को व्यक्त करते हुए कहा था कि वेद और

---

१ कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३८। २ कबीर, पृष्ठ २४७।
३ अंगुत्तरनिकाय, ३, २, ५। ४. तत्वसंग्रह टीका, पृष्ठ १२ पर उद्धृत।
५. मज्झिमनिकाय १ ३ २ हिन्दी अनुवाद पृष्ठ ८४—९१।
६ कबीर ग्रथावली पृष्ठ ८

पुस्तकीय धर्मों से परमतत्व का ज्ञान नही हो सकता तथा न उन ग्रन्थों में परमपद को पढ़ा ही जा सकता है, उसे तो बिरले योगी ही जानते हैं—

"वेद कतेब न खाणीं वाणीं[१]।"
बेदे न सास्त्रे कतेबे न कुराणे पुस्तके न बंच्या जाई।
ते पद जानां बिरला जोगी और दुनी सब धंधे लाई।।[२]

कबीर ने अपने पूर्ववर्ती सिद्धो, नाथो तथा सन्तो से प्रभावित होकर ही कटु-सत्य कह दिया और उन ग्रंथो में से कुछ भी ग्रहण नही किया, जिन्हें कि विद्वानो ने लिखा था—

पंडित मुल्ला जो लिखि दीया।
छाँडि चले हम कछू न लीया।।[३]

उन्होंने अन्य साधको को भी समझाया कि वेदादि ग्रंथो को त्याग दो, क्योंकि ये मनुष्य-कृत तथा भ्रम मे डालनेवाले है—

वेद कितेब छाँडि देउ पाडे, ई सब मन के भरमा।
कहहिं कबीर सुनहु हो पाडे, ई तुम्हरे है करमा।।[४]

कबीर ने अनुभव एवं ज्ञान की बात भी समझाते हुए कहा कि मैंने अनेक विद्वानो को ग्रंथ-पाठ करते हुए देखा है, किन्तु किसी ने भी परमात्मा को नही जाना—

बहुतक देखे पीर औलिया पढ़ैं किताब कुराना।
करै मुरीद कबर बतलावै उनहूँ खुदा न जाना।।[५]

सबसे पहले जब निराकार, निर्गुण ब्रह्म रहा तब न तो पाप-पुण्य ही थे और न वेद, पुराण, कुरान आदि ग्रंथ ही—

नहिं तब पाप पुन्न नहिं वेद पुराना।
नहिं तब भये कतेब कुराना।।[६]

इसलिए कबीर का कथन है कि मै जिस मत को कह रहा हूँ वह "बेद कुराना ना लिखी"[७] और मेरी बात "लिखा लिखी की है नही, देखा देखि की बात[८]।" पुस्तको का ज्ञान तो तीतर के ज्ञान जैसा होता है अथवा अंधे के हाथी के ज्ञान जैसा—

पंडित केरी पोथियाँ, ज्यो तीतर को ज्ञान।
औरन सगुन बतावही, अपना फंदा न जान[९]।।
ज्यो अँधरे को हाथिया, सब काहू को ज्ञान।
अपनी अपनी कहत हैं, का को धरिये ध्यान[१०]।।

---

१. गोरखबानी, पृष्ठ २।
२ वही, पृष्ठ ३।
३. कबीर, पृष्ठ ३००।
४. वही, पृष्ठ ३१८।
५ कबीर, पृष्ठ ३२७।
६. वही, पृष्ठ २८०।
७. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ३७।
८. वही, पृष्ठ ४४।
९ वही पृष्ठ ६३।
१० वही पृष्ठ ४४

क्योंकि चारों वेदों को पढकर भी परमात्मा का पा सकना कठिन है वेदपाठी तो उन्ही वेदों में फँसकर उलझे रहते हैं—

चारिउँ वेद पढाइ करि, हरि सूँ न लाया हेत ;
बालि कबीरा ले गया, पंडित ढूँढै खेत[1] ॥
उरझि पुरझि करि मरि रह्या, चारिउं वेदां माहिं[2] ।

अतः कबीर ने भगवान् बुद्ध की भाँति ग्रंथों के विश्वास को त्याग कर उन्हे पढना छोड दिया[3] । यही नही, उन्होने वेद-पुराणो को पढना, गुनना और श्रवण करना भी त्याग दिया[4] तथा स्वतन्त्र चिन्तन का आश्रय ग्रहण किया ।

कबीर जन्मगत विषमता के विरोधी तथा समता के समर्थक थे । उनका कथन था कि सभी एक ही ज्योति से उत्पन्न है तो इनमे कौन ब्राह्मण और कौन शूद्र है[5] ? सबके भीतर एक ही रूप विद्यमान है, दूसरा रूप नही है, ब्राह्मण और शूद्र दोनों के शरीर मे एक ही चर्म और रुधिर है[6] । ऐसे ही न तो कोई हिन्दू है और न मुसलमान, सभी हंस है, इनमे किसी भी प्रकार का भेद नही है—

बाम्हन छत्री न सूद वैसवा, मुगल पठान न सैयद सेखवा ।
आदि ज्योति नहिं गौर गनेसवा, ब्रह्मा विष्नु महेस न सेसवा ॥
जोगी न जंगम मुनि दुरवेसवा, आदि न अन्त न काल कलेसवा ।
दास कबीर ले आये सँदेसवा, सार शब्द गहि चलौ वहि देसवा[7] ॥

कबीर ने हिन्दू और मुसलमान दोनो को ही समान दृष्टि से देखा है और कहा है कि जिसमें सत्यनिष्ठा है, वही हिन्दू है और वही मुसलमान है[8] । यहाँ कोई हिन्दू और कोई तुर्क नही है[9] । साथ ही कबीर ने कहा कि हमने हिन्दू और तुर्कों को भली प्रकार देखा भी है, उन्होने अपना मार्ग छोड़ दिया है[10] । हिन्दू छूआछूत मानते है, घडे तक को छूने नही देते, किन्तु वेश्या के पैरों-तले सोते हैं । ऐसे ही मुसलमान के देवता मुर्गा-मुर्गी खाते हैं और वे घर मे ही चाचा की कन्या से विवाह करते है, इनमे हिन्दुत्व और तुर्कत्व कहाँ रह गया है[11] ? हिन्दू राम को अपना मानते है और मुसलमान रहीम को । वे दोनों परस्पर लडते-

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३६ । २ वही, पृष्ठ ३६ ।
३ "कबीर पढिबा दूरि करि" । —कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३८ ।
४ का पढिये का गुनिये, का बेद पुराना सुनिये । —कबीर पदावली, पृष्ठ २४ ।
५ एक ज्योति थैं सब उत्पन्ना, को बाभन को सूदा ? —कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १०६ ।
६. साधो ! एक रूप सब माहीं ।
एकै त्वचा रुधिर पुनि एकै विप्र सूद्र के मांही ॥ —कबीर, पृष्ठ २५४ ।
७ कबीर, पृष्ठ ३५२ ।
८ सो हिन्दू सो मुसलमान, जिसका दुरस रहे इमान । —कबीर, पृष्ठ २९३ ।
९ हिन्दू तुरक न कोई —कबीर पृष्ठ ३१३
१० कबीर पृष्ठ ३५९ ११ वही पृष्ठ ३५८

झगडते हैं। किन्तु इसके मर्म को दोनों ने ही नहीं जाना है। एक पृथ्वी पर रहते हुए न तो कोई हिन्दू है और न कोई मुसलमान। महादेव, मुहम्मद, ब्रह्मा और आदम में कोई भेद नहीं है। इनका अन्तर उसी प्रकार है जिस प्रकार कि एक ही मिट्टी के अनेक प्रकार के बर्तन बनते हैं। वे दोनों भूले हुए हैं, किसी ने भी 'राम' को नहीं प्राप्त किया है, व्यर्थ ही वाद-विवाद में जन्म गँवा रहे हैं[२]।

पहले हम कह आए हैं कि कबीर जातिगत विषमता को नहीं मानते थे[३] और जाति-पाँति के विरोधी थे। उन्होंने भगवान् बुद्ध की ही भाँति जातिभेद की निन्दा की तथा जन्मगत अभिमान को दूर करने का प्रयत्न किया। सिद्धों और नाथों ने भी यही कार्य किया था, किन्तु कबीर और उनके समय में बहुत अन्तर था। पहले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र की ही विषमता थी, किन्तु अब इनके अतिरिक्त हिन्दू और मुसलमान की भी हो गई थी और दोनों धर्म के लिए 'ईश्वर' के नाम पर लड़ा करते थे। कबीर ने दोनों के ईश्वर को एक बतला, उसे घट-घट में व्याप्त दिखलाकर समता स्थापित करने का प्रयत्न किया। भगवान् बुद्ध ने कर्म को ही प्रधान बतलाकर कहा था कि कोई भी व्यक्ति जन्म से नीच या ऊँच नहीं होता, प्रत्युत कर्म से ही उनमें व्यावसायिक विभिन्नता आती है, जैसे कि कृषक, शिल्पी, वणिक्, सेवक—ये सब अपने द्वारा किए जानेवाले कर्म से ही भिन्न-भिन्न नामों से पुकारे जाते हैं। संसार कर्म से चलता है, प्रजा कर्म से चलती है। चालू रथ का पहिया जैसे धुरे के सहारे चलता है, वैसे ही प्राणी कर्म से बँधे हैं[४]। तथागत ने जातिभेद की तुच्छता इस उपमा से स्पष्ट की है—जैसे कोई राजा अनेक जाति के सौ व्यक्तियों को एकत्र कर किसी भी वृक्ष की लकडी को घिसकर आग उत्पन्न करने के लिए कहे और सभी आग उत्पन्न करें। उनमें से किसी भी आग में विभिन्नता न होगी, चाहे आग किसी भी जाति या किसी भी लकडी द्वारा उत्पन्न की जाय, वैसे ही किसी भी कुल से उत्पन्न हुए व्यक्ति में किसी भी प्रकार की जन्मगत विभिन्नता नहीं है। सब मनुष्य समान हैं[५]। इसीलिए किसी से उसकी जाति मत पूछो, कर्म पूछो,[६] जातिभेद तो बनावटी है[७]। नीच कुलवाले भी धीर मुनि होते हैं[८]। कबीर ने भी यह कहकर भगवान् बुद्ध की ही वाणी को दुहराया—"सन्तन जात न पूछो निरगुनियाँ",[९] क्योंकि सन्त हो जाने पर इनकी कोई जाति नहीं रह जाती, ये सभी नदियों के समुद्र में

---

१. वही, पृष्ठ २२७। २ कबीर, पृष्ठ २५९।
३. देखिए . कबीर की वाणियों में बौद्धविचार।
४. सुत्तनिपात, वासेट्ठसुत्त ३५, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ १३९।
५ मज्झिमनिकाय, अस्सलायण सुत्त २, ५, ३, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ३८८।
६. संयुत्तनिकाय, ७, १, ९, हिन्दी अनुवाद, प्रथम भाग, पृष्ठ १३४।
७ जातिभेद और बुद्ध, पृष्ठ ७।
८ संयुत्तनिकाय, प्रथम भाग, ७, १, ९, पृष्ठ १३५।
९ कबीर, पृष्ठ २३१।

मिलकर एक ही जान की भाँति एक हो जाते हैं, ज्ञानी के लिए कोई जातिभेद नहीं है[1]। हमने पहले बतलाया है कि इसी दृष्टान्त से भगवान् बुद्ध ने जातिभेद की निस्सारता बतलाई है और सिद्धो आदि ने भी। इस प्रकार स्पष्ट है कि कबीर के विचार-स्वातन्त्र्य तथा समता की भावना पर बौद्धधर्म का प्रभाव पड़ा था। जिस प्रकार भगवान् बुद्ध ने जात्याभिमानी ब्राह्मणो को फटकारा था, उसी प्रकार कबीर ने भी उन्हे फटकारा और कहा—"यदि तुम अपने को जन्म से ही ऊँच मानते हो तो तुम जन्म लेते समय दूसरे मार्ग से क्यों नही उत्पन्न हुए[2]। ब्राह्मणो की धमनियों मे दूध बहता नही देखा गया, प्रत्युत शूद्र और ब्राह्मण के शरीर मे समान ही रक्त प्रवाहित है। हम तो सभी को एक समान समझते है, लकडी मे विद्यमान आग की भाँति सभी मे एक परमात्मा व्याप्त है[3]। और सभी एक समान है[4]। कबीर का यह भी कहना है कि यदि सृष्टिकर्त्ता को जन्मगत भेद अपेक्षित होता तो उत्पन्न होने के समय ही ब्राह्मणों के ललाटों पर तीन रेखाएं बना देता तथा माता के पेट से ही ब्राह्मण जनेऊ पहनकर बाहर आते एव मुसलमानों का सुन्नत भी पहले ही हुआ रहता[5]।

कबीर की उलटबासियाँ सिद्धों की देन

कबीर की वाणियो मे जो उलटबासियाँ मिलती है, उनका मूलस्रोत बौद्धसाहित्य है। यद्यपि कुछ विद्वानों ने वैदिक साहित्य से भी उनकी परम्परा बतलाई है,[6] किन्तु कबीर की उलटबासियाँ सिद्धो की देन हैं, जो भगवान् बुद्ध की वाणियो मे भी मिलती है। इन उलटबासियो का प्रभाव सिद्धो के समय में बढा और उसके पश्चात् नाथों तथा सन्तों ने उसे अपने उपदेश का एक अंग बना लिया। हम देखते है कि भगवान् बुद्ध ने कबीर की उलटबासियो के समान ही अपने उपदेशों मे अनेक स्थलों पर गाथाएँ कही है तथा कही-कहीं गद्य में भी उलटबासियों की भाषा का प्रयोग किया है। धम्मपद मे कहा गया है—

अस्सद्धो अकतञ्ञू च सन्धिच्छेदो च यो नरो।
हतावकासो वन्तासो स वे उत्तम पोरिसो[7]॥

इसका शाब्दिक अर्थ है—"जो श्रद्धाहीन, अकृतज्ञ, सेंध मारनेवाला, अवकाशहीन, निराश है, वही उत्तम पुरुष है।" किन्तु इसका वास्तविक अर्थ है—"जो अन्धश्रद्धा से रहित है, अकृत (निर्वाण) को जाननेवाला है, संसार की सन्धि का छेदन करनेवाला है और उत्पत्ति रहित है तथा जिसने सारी तृष्णा को वमन (त्याग) कर दिया है, वही उत्तम पुरुष है।"

---

१. वही, पृष्ठ २३९।
२. आदिग्रन्थ, रागु गौड़ी, पद ७।
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १०५। ४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३९।
५. वही, पृष्ठ १०५।
६ कबीर साहित्य का अध्ययन पृष्ठ २५१ तथा कबीर साहित्य की परख पृष्ठ १५३।
७ धम्मपद गाथा ९७

वनं छिन्दथ मा रुक्खं वनतो जायती भयं
छेत्वा वनञ्च वनथञ्च, निब्बना होथ भिक्खवो ॥[1]

इसका भी शाब्दिक अर्थ है—भिक्षुओ, वन को काटो, किन्तु वृक्ष को मत काटो वन से भय उत्पन्न होता है। झाड को काटकर वन रहित हो जाओ। इसका वास्तविक अर्थ है—"भिक्षुओ, तृष्णा को काटो किन्तु शरीर को मत नष्ट करो। तृष्णा और अकुशल चैतसिकों को काटकर (नष्टकर) तृष्णा-रहित हो जाओ।"

मातरं पितरं हन्त्वा, राजानो द्वे च खत्तिये।
रट्ठं सानुचरं हन्त्वा, अनीघो याति ब्राह्मणो ॥[2]

इसका शाब्दिक अर्थ है—"माता, पिता, दो क्षत्रिय राजाओं तथा अनुचरों के साथ सम्पूर्ण राष्ट्र की हत्या करके ब्राह्मण निष्पाप हो जाता है।" इसका वास्तविक अर्थ इस प्रकार है—"तृष्णा (माता), अहंकार (पिता), शाश्वत और उच्छेद दृष्टि (दो क्षत्रिय राजा) तथा संसार की आसक्तियों (अनुचरों के साथ सारा राष्ट्र) को नष्ट कर क्षीणाश्रव (ब्राह्मण) दुःख-रहित हो जाते हैं।" ऐसे ही इस गाथा का अर्थ जानना चाहिए—

मातरं पितरं हन्त्वा, राजानो द्वे च सोत्थिये।
वेय्यग्घपञ्चमं हन्त्वा, अनीघो याति ब्राह्मणो[3] ॥

यहाँ शाश्वत और उच्छेद दृष्टियों को ही दो श्रोत्रिय राजा कहा गया है और पाँच नीवरणों को व्याघ्र।

छेत्वा नन्दिं वरत्तञ्च, सन्दामं सहनुक्कमं।
उक्खित्तपलिघं बुद्धं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं[4] ॥

इसका शाब्दिक अर्थ है—"नद्धा, रस्सी, पगहे और जावे को काटकर तथा जूये को फेंक जो बुद्ध हुआ है उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।" किन्तु वास्तविक अर्थ है—"क्रोध (नद्धा), तृष्णा (रस्सी), छ प्रकार की दृष्टियों (पगहे) और अनुशय (जावे) को नष्टकर तथा अविद्या (जूये) हटाकर जो बुद्ध हुआ है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।"

उक्त ये सभी गाथाएँ उलटबासियाँ ही हैं। इसी प्रकार मज्झिमनिकाय के वम्मिकसुत्त में पन्द्रह उलटबासियों का उत्तर दिया गया है[5]। त्रिपिटक में ऐसे उपदेशों की संख्या यद्यपि बहुत नहीं है, किन्तु हम उन्हीं का विकसित रूप सिद्धों एवं नाथों में पाते हैं, जिन्हें सन्तों ने अपनाया। बुद्धकाल में इन उलटबासियों का प्रचार बहुत कम था, इनका प्रचार सिद्धों के समय में ही बढ़ा। राहुलजी ने इसका आरम्भ सरहपा से ही माना है[6], किन्तु वास्तविकता

---

१. वही, गाथा २८३। २. वही, गाथा २९४।
३. धम्मपद, गाथा २९५। ४. वही, गाथा ३९८।
५. मज्झिमनिकाय १ २ ३ · हिन्दी अनुवाद पृष्ठ ९३-९४।
६. दोहाकोष भूमिका पृष्ठ २४

इतनी ही है कि बुद्धोपदिष्ट उलटवासियों का प्रचलन सिद्धों के समय में हुआ और इन्हीं का प्रभाव नाथों तथा सन्तों पर पड़ा। यही कारण है कि सिद्धों की अनेक उलटवासियाँ उन्हीं शब्दों एवं रूपों में कबीर की वाणी में भी मिलती हैं। दोहाकोशगीति में सरहपा ने कहा है कि बँधा हुआ दसों दिशाओं में दौड़ता है और छूट जाने पर निश्चल खड़ा रहता है—

बद्धो धावइ दस दिसहि,
मुक्को णिच्चलट्ठाअ[1]।

कबीर ने इसे ही इस प्रकार कहा है—

आछै रहै ठौर नहिं छाड़ै,
दस दिसिही फिर आवै[2]।

सिद्ध ढेण्ढणपा की भी उलटवासियाँ कबीर-वाणी में अक्षरशः मिलती हैं। ढेण्ढणपा ने कहा है—

बदल बिआअल गविया बाँझे।
पिटा दुहिये ए तिन साँझे[3]॥

कबीर ने इसी को ऐसे कहा है—

बैल बिआइ गाइ भई बाँझ,
बछरा दूहै तीन्यूं साँझ[4]।

ऐसे ही ढेण्ढणपा ने कहा है—

निति निति सिआला सिहे सम जूझअ।
ढेण्ढणपाएर गीत बिरले बूझअ[5]॥

इसी उलटवासी को कबीर ने ऐसे कहा है—

नित उठि स्याल स्यंघ सूँ जूझै।
कहै कबीर कोई बिरला बूझै[6]॥

गोरखनाथ की उलटवासियाँ भी कबीर-वाणी में मिलती हैं। एक पद में गोरखनाथ ने कहा है—

डूंगरि मंछा जलि सुसा पाणी मैं दौं लागा[7]।

कबीर ने भी इसी भाव को व्यक्त करते हुए इस प्रकार कहा है—

समंदर लागी आगि, नदियाँ जलि कोइला भई।
देखि कबीरा जागि, मंछी रूषां चढि गई[8]॥

गोरखनाथ और कबीर की उलटवासियों में अनेक ऐसी हैं, जो एक-दूसरे से पूर्ण प्रभावित हैं। तात्पर्य यह कि गोरखनाथ द्वारा व्यक्त भाव ही उन्हीं शब्दों में कुछ विपर्यय के साथ कबीर-वाणी में मिलते हैं। हम यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं:—

---

१. दोहाकोशगीति, २६।
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १४०।
३. चर्यापद, पृष्ठ १६०।
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ११३।
५. चर्यापद पृष्ठ १६०।
६. कबीर ग्रंथावली पृष्ठ ११३।
७. पृष्ठ ११२
८. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२

गोरखनाथ

सहज पलाण पवन करि घोड़ा, लै लगाम चित चबका ।[१]

कबीर—

कबीर तुरी पलाणिया, चावक लीया हाथि ।[२]

गोरखनाथ—

मन मकडी का ताग ज्यूं, उलटि अपूठौ आंणि ।[३]

कबीर—

ताकू केरे सूत ज्यूं, उलटि अपूठा आणि ।[४]

गोरखनाथ—

चंद विहूंणां चांदिणां तहां देष्या श्री गोरष राइ ।[५]

कबीर—

देख्या चंद बिहूंणां चादिणा, तहाँ अलख निरंजन राइ ।[६]

गोरखनाथ—

उनमनी तांती बाजन लागी, यहि बिधि तृष्णां षांडी ।[७]

कबीर—

सुषमन तंती बाजन लागी, इहि बिधि त्रिष्णां षांडी ।[८]

गोरखनाथ—

तत बेली लो तत बेली लो, अवधू गोरषनाथ जांणीं ।
बेलडियां द्वै लागी अवधू, गगन पहूँती झाला ।
काटत बेली कूंपल मेल्ही, सींचतडां कुमलाये ।[९]

कबीर—

रामगुन बेलड़ी रे अवधू गोरषनाथि जांणी ।
बेलड़िया द्वै अणी पहूंती, गगन पहूंती सैली ।
काटत बेली कूपले मेल्ही, खींचताड़ी कुमिलाणी ।[१०]

इस प्रकार सिद्धो और नाथो की वाणियों मे आई हुई उलटवासियो का कबीर की उलटवासियो के साथ तुलनात्मक ढंग से विचार करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि कबीर की उलटवासियां सिद्धो की देन है। डॉ० भरतसिंह उपाध्याय का कथन है कि वस्तुत: सहजयानी

---

१. गोरखबानी, पृष्ठ १०३ ।
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २९ ।
३. गोरखबानी, पृष्ठ ७४ ।
४. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २८ ।
५. गोरखबानी, पृष्ठ ५८ ।
६. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १३ ।
७ गोरखबानी पृष्ठ १०६ ।
८ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ १५४
९ पृष्ठ १०६
१० कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४२ ।

बौद्ध इस प्रकार की उलटवासियो का प्रयोग अधिकता से किया करते थे और कबीर ने इन्हें उन्ही की परम्परा से सुनकर रुचिपूर्वक प्रयोग किया था[१]। यह यथार्थ है कि बुद्धकाल में उलटवासियों का जो प्रवचन हुआ था, उसका बाहुल्य सिद्धकाल मे हुआ और नाथो तथा सन्तों पर उसी का प्रभाव पडा, किन्तु कबीर की भाषा सिद्धो की भाषा से कुछ दूर होती हुई भी उलटवासियो मे समता दीखती है और जैसा कि ऊपर दिए गए उदाहरणो से प्रगट है कि अनेक सिद्धों की उलटवासियाँ अपने मूल स्वरूप मे ही कबीर-वाणी मे विद्यमान है, अतः कबीर की उलटवासियाँ सिद्धो की ही देन मानी जायेगी।

सत्तनाम पालिभाषा के सच्चनाम का रूपान्तर

कबीर ने सत्तनाम को परमपद प्राप्ति का साधन माना है और इसे औषधि कहा है। जो व्यक्ति इस औषधि का सेवन करता है तथा कुपथ्य से परहेज करता है, उसकी सारी वेदनाएँ नष्ट हो जाती है। कबीर का यह भी कथन है कि इस सत्तनाम को सतगुरु ने बतलाया है—

सत्त नाम निज औषधी, सतगुरु दई बताय।
औषधि खाय रुपथ रहि, ता की वेदन जाय[२]॥

यह सत्तनाम सबसे 'न्यारा' है,[३] जो इस पर विश्वास करता है, वही परमतत्व को प्राप्त कर सकता है,[४] यह सत्तनाम हृदय मे रहता है,[५] वह उसी मृग के समान उसमें लवलीन हो जाता है, जैसे कि मृग व्याधा के गीत सुनने में लवलीन होकर अपना तन-मन भी उसे सौप देता है[६]। इसलिए सत्तनाम का स्मरण करो[७]। सत्तनाम की लूट मची है, उसे लूटना चाहिए अन्यथा मृत्यु के पश्चात् पश्चात्ताप करना पडेगा—

लूटि सकै तो लूटि ले, सत्तनाम की लूटि।
पाछे फिरि पछताहुगे, प्रान जाहिं जब छूटि[८]॥

---

१. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, दूसरा भाग, पृष्ठ १०६१।
२. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ५।
३ सत्तनाम है सब तै न्यारा। —कबीर, पृष्ठ २७९।
४ सत्त गहे सतगुरु को चीन्हे, सत्तनाम विस्वासा।
कहै कबीर साधन हितकारी, हम साधन के दासा॥ —कबीर, पृष्ठ २३२।
५ सत्तनाम के पटतरे, देवे को कछु नाहिं। —सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ २।
६ ऐसा कोई ना मिला, सत्तनाम का मीत।
तन मन सौपै मिरग ज्यों, सुनै बधिक का गीत॥—सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ३।
७ 'तहाँ सुमिर सतनाम'। —वही, पृष्ठ ५।
८ सन्तबानी सग्रह, भाग १ पृष्ठ ६

अत सब झूठ त्याग कर केवल सत्तनाम का गुणगान करो उसी से मुक्ति प्राप्त होगी[1]। कबीर का मन तो सत्तनाम में ही रम रहा है[2]।

कबीर ने जिसे सत्तनाम कहा है और सतगुरु से प्राप्त महौषधि माना है, जिसका स्मरण करना परमावश्यक है क्योंकि उसी के स्मरण से परमपद की प्राप्ति होगी, वह सत्त-नाम पालिभाषा के 'सच्चनाम' का रूपान्तर है। पालिभाषा में सच्चनाम का प्रयोग भगवान् बुद्ध के लिए हुआ है। अंगुत्तरनिकाय के चार सूत्रों की गाथाओं में बार-बार सच्चनाम को दुहराया गया है और कहा गया है—"अक्खाता सच्चनामेन उभयत्थ सुखावहा"[3]। अर्थात् सच्चनाम (सत्यनाम) ने इन्हें दोनों लोक के लिए सुखदायक कहा है। ऐसे ही बुद्ध के लिए पालिग्रंथों में सच्चनिक्कमो[4] (सत्यवादी), सच्चसह्वयो[5] (सत्यनाम वाले), सच्चवादी[6] (सत्यवादी) आदि अनेक शब्दों का व्यवहार हुआ है। मज्झिमनिकाय के इसिगिलि सुत्त में 'सत्यनाम' से एक प्रत्येक-बुद्ध का भी उल्लेख मिलता है[7]। इससे स्पष्ट है कि 'सच्चनाम' वाले भगवान् बुद्ध ही कबीर के सत्तनाम हो गये हैं। शान्तिभिक्षु का यह कथन समीचीन है कि "निर्गुण मत के राम को यदि तथागत के कार्यों के रूप से मिलाएँ तो बात कुछ अधिक समझ में आती है। हृदय के भीतर छिपे राम वस्तुत धनुर्धारी और रावणसंहारी राम नहीं हैं, बल्कि वे तथागत हैं, जिनके बारे में कहा गया है कि उनके तीन काय हैं, वे घट-घट में हैं[8]।" डॉ० भरतसिंह उपाध्याय का भी यही मत है कि "सन्त साधना का 'सत्तनाम' पालि सच्चनाम ही है, जो तथागत का एकनाम है[9]।" कबीर का सत्तनाम सतगुरु से प्राप्त परम-पद का साधक है, जो इसमें लवलीन होता है, वह सारी पीड़ाओं से छूट जाता है। यही

---

१. एकै वचन वचन नहिं दूजा, तुम मोसे मद छुड़ाये रे।
कहै कबीर सुनो भइ साधो, सत्तनाम गुन गाये रे॥
—सन्तबानी संग्रह, भाग २, पृष्ठ २।

२ सुरत लगी सत नाम की आशा, कहै कबीर दासन के दासा। —कबीर, पृष्ठ २८३।

३ इच्चेते अट्ठधम्मा सद्धस्स घरमेसिनो।
अक्खाता सच्चनामेन उभयत्थ सुखावहा॥
—अंगुत्तरनिकाय ८, ६, ४, ८, ६, ५; ८, ८, ४ तथा ८, ८, ५।

४ सीतिभूतो दमप्पत्तो विनिमा सच्चनिक्कमो। —सुत्तनिपात, सभियसुत्त, गाथा ३२।

५. तमोनुदो बुद्धो समन्तचक्खु, लोकन्तगू सब्बभवातिवत्तो।
अनासवो सब्बदुक्खप्पहीनो, सच्चह्वयो ब्रह्मे उपासितो मे॥
—सुत्तनिपात, परायणसुत्त, गाथा १०।

६. सच्चवादिवचनं अनञ्ञथा। —थेरीगाथा, अम्बपाली, गाथा २५२-२७०। यहाँ १९ गाथाओं में "सच्चवादी" कहा गया है।

७ उपोसथो सुन्दरो सच्चनामो। —मज्झिमनिकाय, ३, २, ६।

८ महायान पृष्ठ १३१।

९ बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन भाग २ पृष्ठ १०६१

बात सुत्तनिपात में पिंगिय ने कही है—"बुद्ध सर्वदर्शी हैं, सारे संसार के ज्ञाता हैं, मैंने उन्हीं सत्यनाम (सच्चनाम) की उपासना की है[१]।" सिद्ध सरहपा ने बुद्ध के संयोग से ही परमपद की प्राप्ति बतलाई है[२] और यह भी कहा है कि वे बुद्ध सदा इस शरीर में ही निवास करते हैं[३]। सिद्ध तिलोपा ने उसी बुद्ध को निरंजन बतलाया है[४]। आगे चलकर कबीर ने उसी बुद्ध को अनेक नामों से पुकारा है, उन्हें राम भी कहा है,[५] सत्तनाम भी कहा है, निरंजन भी कहा है, सर्वव्यापी भी माना है और उसे ही त्राता भी कहा है[६]। इस प्रकार हम देखते हैं कि सच्चनाम वाले बुद्ध ही कबीर के सत्तनाम हैं और यह सच्चनाम पालि-साहित्य से ही कबीर तक पहुँचा है। परशुराम चतुर्वेदी ने 'सन्त' शब्द का परिचय देते हुए 'सत्य' शब्द को वैदिक परम्परागत बतलाया है;[७] किन्तु प्राचीन ग्रंथ में 'सत्य' का व्यवहार ईश्वर के लिए नहीं हुआ है, वस्तुतः इसका प्रयोग सर्वप्रथम बुद्ध के लिए हुआ और उनके अनेक नामों में 'सत्यनाम' भी एक नाम हो गया तथा उसी का प्रभाव कबीर पर पड़ा।

कबीर की गुरुभक्ति सिद्धों और नाथों की परम्परा

गुरु का माहात्म्य प्राचीनकाल से माना जाता है, किन्तु बुद्धकाल में इसका महत्व बढ़ा जब कि भगवान् बुद्ध को मार्गोपदेष्टा, शास्ता, आचार्य, कल्याणमित्र आदि माना जाने लगा। उन शास्ता के बतलाए गए मार्ग पर चलकर ही निर्वाण को प्राप्त किया जा सकता है। वे केवल मार्गोपदेष्टा हैं[८]। बिना उनकी शरण में आए निर्वाण की प्राप्ति सम्भव नहीं[९]। वे सर्वोत्तम कल्याणमित्र भी हैं, उन्हीं के सम्पर्क में आकर उत्पत्ति-स्वभाव वाले प्राणी उत्पत्ति से छुटकारा पाते हैं[१०]। इसीलिए असंख्य सुर, असुर, नर, नारी, तिर्यक् उनकी शरण जाते हैं और उन्हें अपना शास्ता मानते हैं। वे गद्गद् होकर बोल उठते हैं—"सब्बे तं सरणं यन्ति, त्वं नो सत्था अनुत्तरो" हम सब आपकी शरण जाते हैं, आप हमारे सर्वोत्तम गुरु हैं[११]।

---

१ "सच्चह्वयो ब्रह्मे उपासितो मे।" —सुत्तनिपात, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ २३९।

२ बुद्ध संयोग परमपउ, एहु से मोक्ख सहाव। —दोहाकोशगीति १५२।

३ पण्डिअ सअल सत्थ बक्खाणइ।
देहहिं बुद्ध वसन्त ण जाणइ॥ —हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ १०।

४ हँउ जग हँउ बुद्ध हँउ णिरंजन। —हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ १७४।

५ लूटि सकै तौ लूटियौ, राम नाम है लूटि। —कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ७।

६. रामनाम संसार मैं सारा, राम नाम भौ तारनहारा।
—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २२८।

७. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ३-८।

८. धम्मपद, गाथा २७६। ९. वही, गाथा १८८-१९२।

१०. संयुत्तनिकाय, ३, २, ८ तथा विशुद्धिमार्ग, भाग १, पृष्ठ ९३।

११ सुत्तनिपात हिन्दी अनुवाद पृष्ठ ३५

भगवान् बुद्ध ने गुरु के भी कर्तव्य बतलाए हैं और शिष्य के भी,[१] कल्याणमित्र के लक्षण भी बतलाए हैं[२] और यह भी कहा है कि इनकी सम्मानपूर्वक सेवा करनी चाहिए। गुरु-माहात्म्य की अनेक कथाएँ बौद्धग्रंथों में मिलती हैं। सारिपुत्र द्वारा अपने गुरु के लिए किए सम्मान एवं भक्ति की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की गयी है। बतलाया गया कि सारिपुत्र को सर्वप्रथम आयुष्मान् अश्वजित् के दर्शन एवं वार्ता के समय ही धर्म-चक्षु उत्पन्न हो गया था,[३] अतः वे उन्हें अपना प्रथम गुरु मानते थे और जिस दिशा में अश्वजित् रहते थे, उस दिशा में कभी भी पैर करके नहीं सोते थे[४]। गुरु-माहात्म्य पीछे और भी बढ़ा। सिद्धों ने कहा कि बिना गुरु-दीक्षा के ज्ञान नहीं हो सकता और न शरीर के भीतर स्थित बुद्ध ही दृष्टिगोचर हो सकते हैं[५]। भव-सागर को पार करने के लिए सतगुरु के वचन रूपी पतवार को ग्रहण करना होगा[६]। गोरखनाथ ने गुरु-माहात्म्य बतलाते हुए कहा है कि गुरुहीन पृथ्वी प्रलय में चली जाती है[७]। जो गुरु ग्रहण नहीं करता वह भ्रम में पड़कर अवगुण धारण कर लेता है[८]। जो गुरु को खोजकर उसे ग्रहण कर लेता है, वह अमर हो जाता है[९]। आवागमन का निरोध तथा निर्वाण की प्राप्ति गुरुमुख से ही सम्भव है[१०]। गुरु निर्वाण-समाधि की रक्षा करता है,[११] इसलिए गोरखनाथ ने घोषणा करके कहा—"गुरु धारण करो, बिना गुरु के न रहो। हे भाई, बिना गुरु के ज्ञान नहीं प्राप्त होता[१२]।" जो गुरुमुख हो जाता है वही अविगत (निर्वाण) का सुख प्राप्त करता है[१३]। कबीर पर इन्हीं सिद्धों और नाथों की गुरुभक्ति का प्रभाव पड़ा था। कबीर ने भी गुरु-माहात्म्य को उसी प्रकार और उन्हीं शब्दों में व्यक्त किया, जिस प्रकार सिद्धों और नाथों ने किया था। कबीर ने भी कहा—"गुरु बिन चेला ज्ञान न लहै[१४]", गुरु की अनन्त महिमा है, उसके अनन्त उपकार हैं, जिसने कि भीतरी नेत्र को खोल दिया

---

१. विनयपिटक, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ १००।
२. अंगुत्तरनिकाय, ७, ४, ६ तथा विशुद्धिमार्ग, भाग १, पृष्ठ ९३।
३ विनयपिटक, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ९८-९९।
४. धम्मपदट्ठकथा।
५. हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ १०-११।
६. सद्गुरु बअणे धर पतवाल। —सरहपा, हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ १८।
७. निगुरी पिरथी परलै जाती। —गोरखबानी, पृष्ठ ५०।
८. निगुरा भ्रमैं औगुण गहै। —गोरखबानी, पृष्ठ ५१।
९. गोरखबानी, पृष्ठ ५२।
१०. प्यंडे परचांनैं गुरुमुषि जोइ।
बाहुडि आवा गवन न होइ॥ —गोरखबानी, पृष्ठ ५७।
११. गुरु राषै निरवाण समाधि। —गोरखबानी, पृष्ठ ७४।
१२. गुरु कीजै गहिला निगुरा न रहिला।
गुर बिन ग्यांन न पायला रे भाईला॥ —गोरखबानी, पृष्ठ १२८।
१३ गुरुमुष अविगत का सुष लहै ॥ " " पृष्ठ १९७
१४ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२८।

और निर्वाण को दिखला दिया[1] गुरु और गोविन्द (ईश्वर) दोनों ही एक है,[2] फिर भी गुरु गोविन्द से बड़ा है, क्योंकि उसने ही गोविन्द को बतलाया है, अत: पहले गुरु को ही प्रणाम करूँगा, उसे ही धन्यवाद है[3]। ऐसे गुरु का गुण लिखने के लिए यदि मै पृथ्वी को कागज बनाऊँ, सम्पूर्ण वनो को लेखनी और सातो समुद्रो को स्याही बनाऊं, तो भी लिख सकना सम्भव नही है[4]। गुरु कुम्हार के समान है और शिष्य घडे के समान, वह उसे कुम्हार की भाँति गढ़कर ठोक-ठाँक करके ठीक कर देता है,[5] गुरु सेवा से ही परमपद को पाया जा सकता है,[6] वे लोग अन्धे है, जो गुरु को कुछ और ही समझते हैं, क्योकि ईश्वर के रुष्ट हो जाने पर गुरु के पास स्थान मिल सकता है, किन्तु गुरु के रुष्ट होने पर संसार मे कही भी स्थान नहीं मिल सकता[7]। यह जीव अधम है, कुटिल है, वह कभी भी विश्वास नही करता, किन्तु गुरु उसके दोषो पर ध्यान न देकर उसकी सहायता करता है[8]। वह जब प्रसन्न होकर प्रेम-वर्षा करता है तब सारा अंग प्रेम-विह्वल हो जाता है, भीग जाता है और आत्मा मे भक्ति लहरा उठती है[9]। गुरु के मिलने पर ज्ञान-कपाल खुल जाता है और फिर व्यक्ति बार-बार जन्म लेने से छूट जाता है,[10] बिना सतगुरु के उपदेश से अन्त नहीं प्राप्त हो सकता,[11] इसलिए जिस प्रकार हो सके गुरु की वन्दना करे, सेवा करे, गुरु के गुणो की सीमा नही, अतः हे गुरुदेव ! आपको मेरा बार-बार प्रणाम है—

जन कबीर बन्दन करै, केहि बिधि कीजै सेव।
वारपार की गम नही, नमो नमो गुरुदेव[12] ॥

इस प्रकार स्पष्ट है कि भगवान् बुद्ध को परमगुरु अथवा शास्ता मानकर उनकी शरण जाने की परम्परा प्रचलित हुई और यह भावना जागृत हुई कि जो गुरु बुद्ध की शरण जाते हैं, वे कदापि दु ख मे नही पडते है,[13] धर्म और संघ की शरण जाने से पूर्व बुद्ध की शरण जाना आनुपूर्विक है; जो बुद्ध को देखता है वह धर्म को भी देखता है, महायान ने गुरु के माहात्म्य को और भी बढा दिया, क्योकि तब भगवान् बुद्ध का महापरिनिर्वाण हो गया था, अत. बुद्ध,

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १।
२. गुरु गोविन्द तौ एक है। —कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३।
३. गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पाँय।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोविन्द दियो बताय ॥ —संतबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ २।
४. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ २।
५. वही, पृष्ठ २।
६. वही, पृष्ठ २।
७. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ २।
८. वही, पृष्ठ ३।
९. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४।
१०. वही, पृष्ठ २०५।
११. वही, पृष्ठ २१२।
१२. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ३।
१३ ये केचि बुद्धं सरणं गतासे न ते गमिस्सन्ति अपायभूमिं।
पहाय मानुस देह देवकाय परिपूरस्सन्ति

धर्म, संघ की शरण जाने से पूर्व गुरु की शरण जाना आवश्यक हो गया। तिब्बत मे आज भी उसी की परम्परा 'लामा' की शरण जाना है, 'लामा' शब्द का अर्थ भी गुरु ही है। महायानी भिक्षुओ, सिद्धों और फिर नाथों ने इस गुरु-माहात्म्य पर अधिक जोर दिया और उन्ही की परम्परा से प्रभावित होकर कबीर ने परमपद की प्राप्ति मे सहायक गुरु को ईश्वर से भी बड़ा माना तथा गुरु-गुण-गान करते हुए कहा—

गुरू बड़े गोविन्द ते, मन मे देखु विचार।
हरि सुमिरै सो बार है, गुरु सुमिरै सो पार॥
गुरू मिला तब जानिये, मिटै मोह तन ताप।
हर्ष सोक व्यापै नही, तब गुरु आपै आप[1]॥

कबीर की सहजसमाधि सिद्धों के सहजयान से उद्भूत

कबीर ने सहजसमाधि की बहुत प्रशंसा की है और इसे सबसे उत्तम बतलाया है, क्योकि सुख-दुःख से रहित परम सुखदायक यह समाधि है[2]। जो इस समाधि को प्राप्त कर लेता है, वह अपनी आँखो से अलख को देख लेता है और जो गुरु इसे सिखलाता है वह सर्वोत्तम पूज्य एव महान् है[3]। इस समाधि की प्राप्ति के लिए न शरीर को तप आदि से तपाने की आवश्यकता है और न तो कामवासना मे लिप्त होकर ही समय व्यतीत करने की। यह समाधि स्वाभाविक और मधुर है, जो इसे पा लेता है, वही इसके मीठास को जानता है[4]। इस समाधि के लिए गृह-त्याग करना आवश्यक नहीं है, इसे स्त्री-बच्चो के साथ रहते हुए भी पाया जा सकता है, केवल उनमें आसक्ति नही होनी चाहिए। वास्तव मे सब लोग सहजसमाधि का नाम तो जानते है, किन्तु यथार्थ रूप से इसे पहचानते नही है, सहजसमाधि तो वही है, जो सहज में ही हरि की प्राप्ति हो जाय, अर्थात् सहज जीवनयापन करते हुए राम मे लीन हो जाना ही सहजसमाधि है—

सहज सहज सब ही कहै, सहज न चीन्है कोइ।
जिन सहजै हरि जी मिलै, सहज कहीजै सोइ[5]॥

सहजसमाधि के लिए न किसी बाह्याडम्बर की आवश्यकता है और न ग्रथों के पठन-पाठन की, वह सहजसाधना से स्वतः ही प्राप्त हो जाती है[6]। सहजसमाधि के लिए विषय-

---

१. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ २।

२. सन्तो सहज समाधि भली।
सुख दुख के इक परे परम सुख तेहि मे रहा समाई। —कबीर, पृष्ठ २६२।

३. भाई कोई सतगुरु सन्त कहावै।
प्राण पूज्य किरियाते न्यारा, सहज समाधि सिखावै॥ —कबीर, पृष्ठ २६७।

४ मीठा सो जो सहजें पावा।
अति कलेस थै करू कहावा॥ —कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २३२।

५ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ४२

६ वही पृष्ठ १७७

वासना का त्याग, पाँचों इन्द्रियों का संयम तथा सन्तान, धन, पत्नी और आसक्ति से मन को हटाकर केवल 'राम' मे लगाना अनिवार्य है और जो ऐसा करता है, वही सहज को जानता और समझता है[१]। बाहरी वेशभूषा, मुद्रा, भस्म, झोली-मंत्रा, बटुआ, कंथा, अधारी, खपरा, सिंगी आदि को न धारण कर दृढ होकर राम मे लवलीन होना चाहिए[२]। रामनाम की साधना ही सहजसमाधि है। इसके लिए किसी भी अनुष्ठान की आवश्यकता नही है—

आँख न मूंदौ कान न रूधौ, तनिक कष्ट नहिं धारौं।
खुले नैनि पहिचानौ हंसि हंसि, सुन्दर रूप निहारौ॥

इस सहजसमाधि की अवस्था को प्राप्त कर साधक सहजसुख को पा लेता है और वह न तो स्वयं किसी से डरता है और न किसी को डराता है[३]। यह ब्रह्मज्ञान रूप है, इसे पाकर कोटि कल्पों तक सुख में विश्राम किया जा सकता है—

अब मै पाइबौ रे पाइबौ ब्रह्म गियान,
सहज समाधें सुख मै रहिबौ, कोटि कलप विश्राम[४]।

जब राम मे मन लीन हो जाता है, आसक्ति हट जाती है, तब चित्त एकाग्र हो जाता है, उस समय मन भोग की ओर से योग में लग जाता है और फिर दोनों लोक सार्थक हो जाते है। यही साधक की साधना की चरमावस्था है—

एक जुगति एकै मिलै, किवा जोग कि भोग।
इन दून्यूं फल पाइये, राम नाम सिद्ध जोग[५]॥

कबीर की यह सहजसमाधि सहजयानी सिद्धो और सन्तों की देन है। सिद्धो के समय मे 'सहज' शब्द का इतना प्रचार हो गया था कि प्राय: सहज-भावना उत्तम और सरल मानी जाती थी। सिद्ध भी यह मानते थे कि घर-बार छोड़कर साधु होना व्यर्थ है, वाह्याडम्बर, ग्रंथ-पाठ, स्नान-शुद्धि, तीर्थ-यात्रा आदि से ज्ञान की प्राप्ति नही होती, प्रत्युत खाते-पीते, सुख-पूर्वक विहार करते चित्त के समरस होने पर सहजसमाधि प्राप्त होती है[६]। गोरखनाथ ने भी सहज-जीवन मे यही बात कही है—"हँसना, खेलना और मस्त रहना चाहिए, किन्तु काम और क्रोध का साथ नही करना चाहिए। ऐसे ही हँसना, खेलना और गीत गाना चाहिए, किन्तु अपने चित्त की दृढ़तापूर्वक रक्षा करनी चाहिए। साथ ही अहर्निश ध्यान लगाना तथा ब्रह्मज्ञान की चर्चा करनी चाहिए। जो हँसता, खेलता है, अपने को कुत्सित नही करता, सो वह निश्चय ही सदानाथ के साथ रहता है[७]।" उनका यह भी कथन है कि एकाकी रहकर

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४१-४२।
२. वही, पृष्ठ १५८-१५९।
३. वही, पृष्ठ ९३।
४. वही, पृष्ठ ८९।
५. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ८९।
६. हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ ६ और ८।
७. हसिबा खेलिबा रहिबा रंग, काम क्रोध न करिबा संग।
हसिबा खेलिबा गाइबा गीत, दिढ करि राखि आपना चीत।
हसिबा खेलिबा धरिबा ध्यान, अहनिस कथिबा ब्रह्म गियान।
हसै खलै न करै मन भग ते निहचल सदा नाथ कै सग , पृष्ठ ३-४

सहजसमाधि मे लगना चाहिए, क्योंकि एकाकी रहनेवाला ही सिद्ध है, जो दो एक साथ विहरते है, वे साधु है, चार-पाँच होने पर कुटुम्ब और दस-बीस होने पर सेना की संज्ञा हो जाती[1]। अतः गोरखनाथ ने अपने शिष्यो को समझाया है कि तुम्हे एकाकी रहकर सहज-समाधि मे सदा लीन रहना चाहिए[2]।

सिद्धों और नाथो की परम्परा से सहजसमाधि की जो प्रवृत्ति कबीर के समय तक पहुँची थी, उससे ही कबीर सहजसमाधि की भावना प्रभावित हुई थी। कबीर ने सहज शब्द को वही से ग्रहण किया। राहुलजी का यह कथन समीचीन है कि यद्यपि कबीर के समय तक एक भी सहजयानी नही रह गया, फिर भी इन्ही से कबीर तक सहज शब्द पहुँचा था,[3] जिस प्रकार सिद्ध सरह ध्यान और प्रव्रज्या से रहित गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए सहज जीवन की प्रशंसा करते हैं[4] वैसे ही कबीर साधु वेष से रहित भार्या सहित घर मे रहकर जीवन-साधना मे लीन थे[5]। इस प्रकार स्पष्ट है कि सिद्ध और कबीर आसक्ति को त्याग कर सहज जीवनयापन करने का उपदेश देते थे। गोरखनाथ की भाँति सरहपा भी यही कहते थे—"जगत् सहज आनन्द से भरा हुआ है, अत. नाचो, गाओ, भली प्रकार विलास करो,[6] किन्तु विषयों मे रमण करते हुए उनमे लिप्त न हो, जैसे कि पानी निकालते हुए पानी को न छूये[7]।" कबीर का ब्रह्मज्ञान यही है कि सहजसमाधि मे सुखपूर्वक कोटि कल्पो तक विश्राम प्राप्त होता है,[8] सिद्ध सहज शून्य की प्राप्ति को निर्वाण का लाभ मानते है अर्थात् सहज-जीवन से ही मुक्ति-लाभ इसी जीवन मे हो सकता है और गोरखनाथ इस सहजसमाधि से निश्चल होकर नाथ (ब्रह्म) के साथ रमण करने की बात कहते है,[9] इस प्रकार सहज-समाधि मे प्राप्त राम मे लवलीन होने का सुख, ब्रह्म और नाथ के साथ रमण करने की अनुभूति तथा निर्वाण-सुख का अनुभव एक ही हैं और यह भावना एक ही मूलस्रोत से उद्भूत

---

१. एकाकी सिध नाउं दोइ रमति ते साधवा।
चारि-पांच कुटुम्ब नाउ दस-बीस ते लसकरा॥ —गोरखबानी, पृष्ठ ६१।

२ बैठा खटपट ऊभा उपाधि।
गोरख कहै पूता सहज समाधि॥ —गोरखबानी, पृष्ठ ७०।

३. दोहाकोश की भूमिका, पृष्ठ २७।

४. झाणहीन पव्वज्जें अहिअउ।
गही वसन्ते भाज्जें सहिअउ॥ —सरह, दोहाकोश १८।

५. दोहाकोश, भूमिका, पृष्ठ २८।

६. जइ जग पूरिअ सहजाणन्दे।
णाच्चहु गाअहु बिलसहु चंगे॥ —सरह, दोहाकोश १३६।

७. विसअ रमन्त ण विसअहिं लिप्पइ।
उअअ हरन्त ण पाणी च्छुप्पइ॥ —वही, ७१।

८. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ८९।

९ ते निहचल सदा नाथ कै संग , पृष्ठ ४

है और वह मूलस्रोत है बौद्धधर्म, जिसका प्रवाह सहजसमाधि के रूप में सिद्धों और नाथों से होता हुआ कबीर तक पहुँचा था, जिसे अपनाकर कबीर ने बढ़ाया और उसी में लवलीन होकर भक्तिपूर्वक गाया—

साधो ! सहज समाधि भली ।
गुरु प्रताप जा दिन से जागी, दिन दिन अधिक चली ।

जँह जँह डोलौं सो परिकरमा, जो कछु करौं सो सेवा
जब सोवौं तब करौं दण्डवत, पूजौं और न देवा ।।

कहौं सो नाम सुनौं सो सुमिरन, खावँ पियौं सो पूजा ।
गिरह उजाड़ एक सम लेखौं, भाव मिटावौं दूजा ।

आँख न मूँदौं कान न रूँधौं, तनिक कष्ट नहिं धारौं ।
खुले नैन पहिचानौं हँसि हँसि, सुन्दर रूप निहारौं ।।

सबद निरन्तर से मन लागा, मलिन वासना त्यागी
ऊठत बैठत कबहुँ न छूटै, ऐसी तारी लागी ।।

कह कबीर यह उनमुनि रहनी, सो परगट करि गाई ।
दुख सुख से कोइ परे परमपद, तेहि पद रहा समाई[१] ।।

कबीर का हठयोग बौद्धयोग से प्राप्त

हठयोग का मूलबीज यद्यपि बुद्ध-वचन में मिलता है, किन्तु इसका विकास सिद्धों के काल में हुआ और नाथ-परम्परा में यह एक पन्थ का रूप धारण कर हठयोग-पद्धति नाम से प्रचलित हो गया। कबीर ने भी इसी हठयोग को ईश्वर की प्राप्ति का एक साधन माना[२]। राहुलजी का कथन है कि सन्तों की साधना में चन्द्र-सूर्य या इडा-पिंगला की जो साधना आती है, उसका वर्णन सरहपा से पहले नहीं मिलता, यह सम्भवतः सरहपा की ही सूझ और अभ्यास का परिणाम है,[३] किन्तु हम देखते हैं कि हठयोग नाम प्राचीन होते हुए भी इसकी मूलभूत क्रियाएँ एवं साधनाएँ बुद्धकाल में भी थीं और भगवान् बुद्ध ने इस साधना की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। यह साधना 'आनापानसति' (प्राणायाम) की भावना में आती है, जिसके सम्बन्ध में तथागत ने कहा है—"भिक्षुओ ! आनापान-स्मृति-समाधि-भावना करने पर, बढ़ाने पर शान्त, उत्तम, असेचनक सुख विहार है, वह उत्पन्न हुए, उत्पन्न हुए बुरे अकुशल धर्मों को बिलकुल अन्तर्ध्यान कर देती है[४]।" इस भावना को करनेवाला साधक एकान्त स्थान, अरण्य या वृक्ष के नीचे जा पालथी मारकर काया को सीधा करके स्मृति को सामने कर बैठता है। वह स्मृति के साथ ही श्वास लेता तथा छोड़ता है, छोटे, बड़े, लम्बे आदि श्वासों को

१. सन्तबानी संग्रह, भाग २, पृष्ठ १३-१४।
२ कबीर पदावली भूमिका पृष्ठ ५१। ३ दोहाकोश भूमिका पृष्ठ ३२।
४ विशुद्धिमार्ग भाग १ पृष्ठ २४० तथा संयुत्तनिकाय ५२ १ १

स्मृति बनाए रखता है। वह सम्पूर्ण काया का प्रतिसंवेदन करते हुए श्वास लेता और छोडता है। ऐसे ही काय-संस्कार, प्रीति, सुख, चित्त, अनित्य, विराग, निरोध, प्रतिनि.सर्ग की भावना करते हुए श्वास लेता और छोडता है[१]। इस प्रकार करते हुए वह अपने चित्त को नासिका के अग्रभाग मे लगाता है और स्मृति को वहीं बनाए रहता है, वह काया मे काया को ही देखता हुआ विहार करता है। भगवान् ने आश्वास-प्रश्वास को ही काया मे दूसरी काया कहा है[२]। फिर क्रमशः वेदना, चित्त और धर्म का मनन करता हुआ विहार करता है। ऐसे भावना करते हुए उसके बोध्यंग पूर्ण होते है और विद्या तथा मुक्तिसुख का अनुभव इसी काया और इसी जीवन मे कर लेता है[३]। जो इसकी भावना करते है, वे अमृत का उपभोग करते है और जो इसकी भावना नहीं करते, वे अमृत का उपभोग नही करते[४]। इसी आनापानसति की भावना का सिद्धो ने अपने ढंग से वर्णन किया और इसकी साधना को भी रूपको मे बतलाया। आश्वास (साँस लेना) और प्रश्वास (साँस छोडना) को दक्षिण-वाम अथवा इडा और पिंगला कहा। इन्हे ही गंगा-यमुना नाम से भी पुकारा और सुषुम्ना की भी कल्पना कर गंगा-यमुना-सरस्वती की स्थापना इस शरीर मे ही करके त्रिवेणी संगम का भी निर्माण किया। नाद, विन्दु, अनाहतनाद आदि की कल्पना की और इस शरीर मे ही अमृत-लाभ का उपदेश दिया। सिद्ध-साहित्य मे इसका विस्तारपूर्वक वर्णन उपलब्ध है। नाथपन्थ ने तो इस हठयोग को दृढता से ग्रहण किया और इसका प्रबल प्रचार किया। हठयोग कहते ही है अंगो और श्वास पर अधिकार प्राप्त कर मन मे एकाग्रता ला उसे परमपद मे लीन कर देने को, जिसे कबीर ने राम मे लवलीन कर देना माना है। स्थविरवादी बौद्धधर्म मे आश्वास-प्रश्वास का मनन करना और उसे चित्त की एकाग्रता का निमित्त बनाकर विमुक्ति प्राप्त करना ही ध्येय है, आश्वास-प्रश्वास को रोककर अथवा उलटा पवन चलाकर षटचक्र द्वारा ऊपर चढाना नही। कबीर ने घट-घट मे व्याप्त राम को घट से ही खोजना उत्तम समझा है और इस शरीर के भीतर ही हठयोग-साधना से आत्म-प्रकाश का वर्णन किया है—

> उलटि पवन षटचक्र निवासी, तीरथराज गंगतट बासी।
> गगन मंडल रवि ससि दोइ तारा, उलटी कूँची लागि किवारा।
> कहै कबीर भई उजियारी, पंच मारि एक रसो निनारी[५]।

सिद्ध सरहपा ने भी हठयोग के चन्द्र-सूर्य के सम्बन्ध मे यही बात कही है—

> चन्द सुज्ज घसि घालइ घोट्टइ।
> सो अणुत्तर एत्थु पअट्टइ[६]॥

अध-उद्ध मामावरें पइसरेइ चन्द सुज्ज वेइ पहिहरइ
बंचिज्जइ कालहुतणउ गइ, वे विआर समरस करेइ[1] ॥

जब सूर्य चन्द्र से मिल जाता है तब अमृत की वर्षा होने लगती है—

अवधू गगन मण्डल घर कीजै ।
अमृत झरैं सदा सुख उपजै, बंकनालि रस पीजै[2] ॥

जिस प्रकार बौद्धयोग चित्त को राग, द्वेष, मोह आदि कलुष से निर्मल एवं स्वच्छ कर परमसुख निर्वाण को प्राप्त करने का साधन है, ऐसे ही कबीर का हठयोग मन को विकार-रहित कर राम से मिलाने का उपाय है, इसीलिए कबीर ने कहा है—

जे मन नहिं तजै विकारा, तो क्यूं तिरिये भौ पारा ।
जब मन छाड़ै कुटिलाई, तब आइ मिले राम राई ।
ससिहर सूर मिलावा, तब अनहद बेन बजावा ।
जब अनहद बाजा बाजै, तब साईं संगि विराजै ।
चित्त चंचल निहचल कीजै, तब राम रसाइन पीजै ।
जब राम रसाइन पीया, तब काल मिट्या जन जीया[3] ।

जिस प्रकार बौद्धयोगी इसी काया में काया को देखता हुआ अमृत-लाभ करता है, विद्या और विमुक्ति का साक्षात्कार करता है, उसी प्रकार कबीर भी इसी शरीर में सभी तीर्थों का दर्शन करते हैं, उनकी काशी, कमलापति और बैकुण्ठवासी इसी काया में हैं—

काया मधे कोटि तीरथ, काया मधे कासी ।
काया मधे कवलापति, काया मधे बैकुण्ठवासी[4] ॥

गोरखनाथ ने भी वही बात कही है—

पथि चले चलि पवना तूटै नाद बिंद अरु बाई ।
घट ही भींतरि अठसठि तीरथ कहा भ्रमै रे भाई ॥[5]

इस प्रकार स्पष्ट है कि बौद्धयोग से आयी आनापानस्मृति-भावना की आश्वास-प्रश्वास की साधना पीछे हठयोग का रूप ले ली और उसे सिद्धों तथा नाथों ने अपनी शैली एवं साधना-पद्धति का रूप प्रदान किया । उन्होंने कल्पित नामों से तत्व का निरूपण कर हठयोग की साधना प्रचारित की । कबीर ने भी उसी परम्परा से प्रभावित होकर उसी हठयोग को परमपद की प्राप्ति का एक उत्तम साधन माना । अतः कबीर का हठयोग बौद्ध-योग की ही देन है ।

अवधूत बौद्धधर्म के धुतांगधारी योगियों की प्रवृत्ति

कबीर ने अपने निर्गुण उपदेशों में 'अवधू' या 'अवधूत' को सम्बोधन कर अपने भा व्यक्त किए है । यद्यपि उन्होंने सन्त, साधु, योगी, भाई आदि शब्दों का भी प्रयोग किया है

---

१. दोहाकोश, पृष्ठ १४ । २. कबीर पदावली, पृष्ठ ४३ ।
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४६ । ४ वही, पृष्ठ १४५ ।
५ गोरखबानी पृष्ठ ५५

किन्तु अवधू या अवधूत शब्द का भी प्रयोग विशेष ज्ञानी के लिए किया है। कबीर ने अवधूतो को फटकारा भी है और कहा है "ग्यान बिना फोकट अवधूत",[1] जो अपने को अवधूत कहता है किन्तु ज्ञान प्राप्त नही किया है तो उसका अवधूत होना व्यर्थ है। अवधूत तो गोरखनाथ जैसा ज्ञानी है, जिसने राम के माहात्म्य को भली प्रकार जान लिया है[2]। तात्पर्य यह कि अवधूत वही है, जो ज्ञान-प्राप्त है और जिसे परमपद की अनुभूति हो गयी है। यह अवधू या अवधूत कौन है? विश्वनाथ सिंह का कथन है कि "बधू जाके न होइ सो अवधू कहावै[3]"। अर्थात् वधू (पत्नी) के साथ न रहनेवाला ही अवधू है, किन्तु डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस मत का खण्डन करते हुए कहा है—"साधारणत: जागतिक द्वन्द्वो से अतीत, मानापमान-विवर्जित, पहुँचे हुए योगी को अवधूत कहा जाता है। यह शब्द मुख्यतया तान्त्रिको, सहजयानियों और योगियो का है। सहजयान और वज्रयान नामक बौद्ध तान्त्रिक लोगो मे 'अवधूतीवृत्ति' नामक एक विशेष प्रकार की यौगिकवृत्ति का उल्लेख मिलता है[4]।" आगे उन्होने यह भी कहा है कि सहजावस्था को प्राप्त करने पर ही साधक अवधूत होता है[5]। अन्त में उनका मत है कि कबीरदास का अवधूत नाथपन्थी सिद्धयोगी है[6]। डॉ० त्रिगुणायत ने नाथपन्थी योगियो को शैव अवधूत तथा वैष्णव-साधुओं को सुधारवादी सन्त अवधूत माना है[7]। इन विद्वानो के विचारो का भली प्रकार मनन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि अवधूत के मूलस्रोत को जानने के लिए हमे और भी अतीत की ओर जाना होगा। ज्ञानी गोरख को जिस मूलस्रोत से ज्ञानधारा प्राप्त हुई थी, वास्तव में वही अवधूत का भी उद्गम-स्थल है और यह अवधूत बुद्धकालीन धुतागधारी योगियो की प्रवृत्ति की ही देन है। यथार्थत. धुतधारी योगी ही अवधू या अवधूत बन गये हैं।

भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं को धुतांगों के पालन करने का उपदेश दिया था। ये धुताग तेरह हैं—पाशुकूलिक, त्रैचीवरिक, पिण्डपातिक, सापदानचारिक, एकासनिक, पात्रपिण्डिक, खलुपच्छाभत्तिक, आरण्यक, वृक्षमूलिक, अभ्यवकाशिक, श्मशानिक, यथासस्थरिक और नैसाद्यक[8]। अगुत्तरनिकाय में दस धुतांगो का वर्णन आया है[9] और अट्ठकथा मे कहा गया है कि इन्ही मे तेरह धुताग सम्मिलित है[10]। धुतांग शब्द को व्याख्या करते हुए आचार्य बुद्धघोष ने कहा है—"ये सभी (धुतांग) ग्रहण करने से क्लेशो को नष्ट कर देने के कारण धुत (परिशुद्ध) भिक्षु के अग हैं या क्लेशो को धुन डालने से धुत नाम से कहा जानेवाला ज्ञानांग हैं, इसलिए ये धुताग है[11]।" मिलिन्दप्रश्न मे धुताग पालन के अट्ठाइस गुण बतलाए गये हैं,

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १२८।

२. राम गुन बेलड़ी रे, अवधू गोरखनाथि जाणी। —कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४२।

३. पाखण्डखण्डिनी टीका, पृष्ठ २५५।

४. कबीर, पृष्ठ २४।

५ वही, पृष्ठ २५।

६. वही, पृष्ठ ३०।

७. हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृष्ठ ३४२।

८. विशुद्धिमार्ग, भाग १, पृष्ठ ६०।

९ अंगुत्तरनिकाय, ५, ४, १-१०।

१०. विशुद्धिमार्ग, भाग १, पृष्ठ ६० (टिप्पणी)।

११. वही. पृष्ठ ६१।

जिनमें कहा गया है कि धुतांगधारी के राग, द्वेष, मोह, अभिमान, अकुशल चित्त, सन्देह, अकर्मण्यता, असन्तोष आदि अकुशल धर्म दूर हो जाते हैं, वह आत्म-संयमी, सहनशील और निर्भय हो जाता है। धुतांगधारी के पुण्य अतुल्य और अनन्त होते हैं। वह सभी दु:खों का अन्त कर निर्वाण को प्राप्त कर लेता है[1]। जो व्यक्ति इन धुतांगों का पालन करते हैं, उनके भी तीस गुण होते हैं, जिनसे युक्त हो धुतधारी सभी आश्रवों को नष्टकर परमसुख निर्वाण का लाभ कर लेता है[2]। इसीलिए कहा गया है कि भगवान् के धर्म-नगर के धुतांगधारी अक्षदर्शी (हाकिम) हैं[3]। वे सदा धर्म-नगर में ही निवास करते हैं[4]। भगवान् बुद्ध के शिष्यों में महाकाश्यप धुतवादियों में श्रेष्ठ थे[5]। वक्कुल केवल धुत थे, धुतवादी नहीं थे, उपनन्द न धुत थे और न धुतवादी ही, किन्तु महाकाश्यप दोनों ही थे[6]। तात्पर्य यह कि जिसने अपने पापों को धो डाला है, जो ज्ञान प्राप्त कर परमज्ञानी हो गया है, वह धुत है और जो उसका प्रवचन भी करता है, वह धुतवादी भी है, जो इन गुणों से रहित है, वह न धुत है और न धुतवादी ही। भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों को धुतों के पालन की स्वतन्त्रता दे रखी थी, जो चाहते थे इनका पालन करते थे और जो नहीं चाहते थे, वे अन्य गुणधर्मों का पालन कर ज्ञान प्राप्त करते थे[7]। इसीलिए देवदत्त के यह कहने पर कि भिक्षु जीवन भर आरण्यक रहे, पिण्डपातिक रहे, पांशुकूलिक रहे और वृक्षमूलिक रहे, अर्थात् वे तेरह धुतांगों में से इन चार धुतांगों का अनिवार्य रूप से पालन करें; भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया था कि चाहे कोई भिक्षु इनका पालन करे या अन्य नियमों के अनुसार आचरण करे, हमने उनके अनुकूल नियमों को बतला दिया है, यह उनकी इच्छा पर है कि वे किसका पालन करें और किसका नहीं[8]। इसका फल यह हुआ कि भिक्षु बौद्धसाधना-पद्धति के विभिन्न मार्गों को अपनाकर अर्हत्व के साक्षात्कार का प्रयत्न करने लगे, फिर भी धुतों की प्रशंसा होती ही थी

---

१. मिलिन्दप्रश्न, हिन्दी अनुवाद, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४२०-४२१।

२. वही, पृष्ठ ४४४। ३. वही, पृष्ठ ४२२।

४. वीतरागा वीतदोसा वीतमोहा अनासवा।
वीततण्हा अनादाना धम्मनगरे वसन्ति ते॥
आरञ्ञका धुतधरा झायिनो लूखचीवरा।
विवेकाभिरता धीरा धम्मनगरे वसन्ति ते॥
—मिलिन्द पञ्हो (बम्बई विश्वविद्यालय प्रकाशन), पृष्ठ ३२४।

५. एतदग्गं भिक्खवे मम सावकानं भिक्खूनं धुतवादानं यदिदं महाकस्सपो।
—एतदग्गपालि, अंगुत्तरनिकाय।

और भी कहा है—
यावता बुद्धखेत्तम्हि ठपयित्वा महामुनिं।
धुतगणे विसिट्ठोहं सदिसो मे न विज्जति॥ —थेरगाथा, गाथा संख्या १०७८।

६ मनोरथपूरणी एतदग्गवग्ग। ७ बुद्धचर्या पृष्ठ ४०४।

८ वही पृष्ठ ४०३।

और धुत तथा धुतवादी ज्ञानी समझे ही जाते थे, इसीलिए भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के लगभग ४०० वर्षों के पश्चात् भी भदन्त नागसेन के समय (ई० पूर्व १५०) में धुतों तथा धुतवादियों का बहुत प्रचार था और वे जनसमाज द्वारा सम्मानित थे। जनता में उनके प्रति यहाँ तक श्रद्धा थी कि वह उन्हे देवताओ और मनुष्यो का पूज्य मानती थी और यह भी विश्वास रखती थी कि उन्होने श्रमण-जीवन की सार्थकता को प्राप्त कर लिया है[1]। धुत-धारियो के प्रति जनता का यह आदरभाव पीछे भी बना रहा, किन्तु बौद्धधर्म मे होनेवाले अनेक परिवर्तनो एवं विकासो के साथ धुतों का भी परिवर्तन हुआ और धीरे-धीरे धुतधारी तेरह धुतांगों में से कुछ ही का आचरण करने लगे, वह भी केवल नाममात्र के लिए, फिर भी हम इतना जानते हैं कि सिद्ध गोरखनाथ के समय में भी धुतों का महत्व माना जाता था। गोरखनाथ ने कहा है कि जो व्यक्ति धुतों से अपने को धो डाला है अर्थात् धुतों के पालन से जिसने अपने कलुष को बहा दिया है, जो भिक्षावृत्ति से भोजन करता है, जिसे किसी प्रकार का मानसिक कष्ट नही है, जो इसी शरीर का मनन करता हुआ समय व्यतीत करता है, वह अवधूत निर्वाण-लोक मे विहार करता है—

धूतारा ते जे धूतै आप। भिष्या भोजन नही संताप।।
अहूठ पटण मै भिष्या करै। ते अवधू सिवपुरी संचरै[2]।।

यहाँ गोरखनाथ ने पिण्डपातिकांग धुतधारी का वर्णन किया है और उसे ही अवधूत कहा है। विशुद्धिमार्ग मे पिण्डपातिकांग की व्याख्या करते हुए बतलाया गया है—"भिक्षा कहे जानेवाले अन्न के पिण्डों का पतन (पात) ही पिण्डपात है। दूसरो से दिए पिण्डो का पात्र में गिरना कहा गया है। उस पिण्डपात को खोजता है, घर-घर जाकर तलाशता है, इसलिए पिण्डपात है। अथवा पिण्ड (भिक्षा) के लिए पतना इसका व्रत है, इसलिए यह पिण्डपाती है। पतना का अर्थ है घूमना। पिण्डपाती ही पिण्डपातिक है। पिण्डपातिक का अंग पिण्डपातिकांग है[3]।" इससे स्पष्ट है कि गोरखनाथ ने जिसे अवधूत कहा है, वह वास्तव मे पिण्डपातिकांग धुतांग को धारण करनेवाला योगी ही है। डॉ० बडथ्वाल ने 'धुत' शब्द का अर्थ धूर्त किया है और इसका एकमात्र कारण है धुतांग की ओर ध्यान न देना।

सिद्धों ने ललना, रसना और अवधूति नाम से क्रमशः इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियो को पुकारा है और हठयोग की साधना मे अवधूति-क्रिया का एक महत्वपूर्ण स्थान है। इन्हे ही कबीर ने गंगा-यमुना और सरस्वती भी कहा है। सिद्ध सरहपा ने इन्हीं के भीतर से बिन्दु को झरना बतलाया है—

लला लेहु पवन की करिनी सो घर भीतर अंध,
नाद बिन्दु अन्ध धर्म अनास्रव है।
ललना सहित रसना अवधूति के भीतर से,
बिन्दु झरै सोई अतिअचरज के लिए पी[4]।।

---

१. मिलिन्दप्रश्न, पृष्ठ ४४४।
२. गोरखबानी पृष्ठ १६।
३. विशुद्धिमार्ग भाग १ पृष्ठ ६१।
४. दोहाकोश, पृष्ठ १३७

तात्पर्य यह कि अवधूति-क्रिया का प्रचलन कबीर के समय मे भी था। कबीर केवल अवधूति-क्रिया मात्र से अवधूत को ज्ञानी नही मान सकते और न अवधूत को इतना सम्मान प्रदान कर सकते, जितना कि उन्होने गोरखनाथ के प्रति अपने उद्‌गार मे व्यक्त किया है। जैसा कि हमने पहले कहा है, धुत शब्द से ही अवधूत और अवधू बने है। बुद्धकाल मे धुतागधारियों के लिए धुत शब्द प्रचलित था और धुतवादी योगी गोरखनाथ के समय तक सम्मानित थे। गोरखनाथ ने उन्ही धुतवादियो को अवधूत के रूप मे ग्रहण किया और नाथ-पन्थ के लिए यह शब्द अपना-सा जान पडने लगा, फिर भी कबीर ने नाथपन्थियो को अवधूत न कहकर योगी ही कहा है—

> जोगी गोरख गोरख करै।
> हिन्दू राम नाम उच्चरै॥
> मुसलमान कहै एक खुदाइ।
> कबीरा कौ स्वामी घटि घटि रह्यौ समाइ[1]॥

इस प्रकार स्पष्ट है कि कबीर का अवधूत नाथपंथी न था और न उसे वे नाथपंथ से सम्बन्धित मानते ही थे, वह ज्ञानी स्वरूप था तथा वह उन्हे बौद्ध-परम्परा से प्राप्त हुआ था, जो वस्तुतः बौद्धधर्म के धुतांगधारियो की ही प्रवृत्ति की देन थी, इसलिए कबीर ने भी गाया था—"अवधू ह्वै करि यह तन धूतौ[2]।" अर्थात् अवधूत होकर इस शरीर के कलुप को धो डालूँगा।

सुरति शब्द सति और निरति शब्द विरति के ही रूप

कबीर ने सुरति और निरति शब्दो का अधिक प्रयोग किया है और कहा है कि सुरति तथा निरति दोनो की समानता से ही ज्ञानी सुख प्राप्त करते हैं,[3] जब सुरति निरति में प्रवेश करती है और निरति शब्द से मिल जाती है, इस प्रकार तब सुरति निरति के संयोग से स्वयम्भू का द्वार खुल जाता है अर्थात् परमपद की प्राप्ति होती है[4]। सुरति कुएँ से पानी निकालनेवाली ढेकुली के समान है[5]। सुरति प्राप्त होने पर त्रिवेणी मे स्नान कर सकते है[6]। सुरति और निरति अमृत-घूँट है, इन्हे जो पी लेता है, वह अमर हो जाता है और इन्हें गुरु द्वारा ही पीया जा सकता है, इस घूँट को ब्रह्मा, विष्णु और स्वयंभू ने नहीं पिया, जिससे व्यर्थ ही उनका जीवन व्यतीत हो गया—

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २००। २. वही, पृष्ठ २१७।

३. सुरत निरत का बेल नहायन, करै खेत निर्वानी।
दोनों थार बराबर परसै, जेवै मुनि और ज्ञानी॥ —कबीर, पृष्ठ २८३।

४. सुरति समाँणी निरति मै, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खूले स्यंभू दुवार॥ —कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४।

५ सुरति ढीकुली लेजल्यौ मन नित ढोलन हार। —वही पृष्ठ १८।

६ त्रिवेणी मनाह न्हवाइये सुरति मिले जो हाथ रे —वही पृष्ठ ८८

गुरु मोहि घुँटिया अजर पियाई।
जब से गुरु मोहिं घुँटिया पियाई, भई सुचित मेटी दुचिताई।
नाम-औषधी अधर-कटोरी, पियत अघाय कुमित गई मोरी॥
ब्रह्मा विस्नु पिये नहिं पाये, खोजत संभू जन्म गँवाये।
सुरत निरत करि पियैं जो कोई, कहै कबीर अमर होय सोई[1]॥

सुरति राग है तो निरति वीणा का तार है, दोनों के मिलने से ही शून्य मे शब्द उत्पन्न होता है[2]। इस प्रकार सुरति, निरति और शब्द—ये तीन हैं, किन्तु जब सुरति-निरति मिल जाती है, तब वे सम्मिलित रूप से अर्थात् एक होकर शब्द मे लीन हो जाती हैं[3]।

इन उद्धरणो से प्रगट है कि सुरति और निरति सन्त-साधना के पारिभाषिक शब्द है, जिनके सिद्ध होने पर सन्त परमपद को प्राप्त कर लेता है। यह ऐसी साधना है, जिसको सिद्धि ब्रह्मा, विष्णु और स्वयम्भू को भी नहीं हो पायी और वे अमृत-बूँट पीकर अमर नही हो सके। इन्ही के माध्यम से अमृत-रस प्राप्त किया जा सकता है। ये कूप से जल निकालने के लिए ढेकुली के समान साधन है। ये दोनों परस्पर मिलकर ही लक्ष्य की पूर्ति करा सकते है। ऐसे महत्वपूर्ण एवं सन्त-साहित्य के अति-परिचित शब्दो के सम्बन्ध में विद्वानो के अनेक मत है। डॉ० बड़थ्वाल का कथन है कि सुरति शब्द स्मृति[4] और निरति शब्द नृत्य[5] से बने है। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने सुरति का अर्थ प्रेम बतलाया है और निरति का वैराग्य[6]। डॉ० रामकुमार वर्मा ने सुरति-निरति को सूरते इलहामियाँ का रूपान्तर माना है[7]। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सुरति को अन्तर्मुखी वृत्ति तथा निरति को बाहरी प्रवृत्ति कहा है[8]। डॉ० सम्पूर्णानन्द ने सुरति को स्रोत शब्द से निकला हुआ बतलाया है[9]। परशुराम चतुर्वेदी ने इसे शब्दोमुख चित्त कहा है[10]। सन्त गुलाल साहब ने सुरति को मन का पर्यायवाची शब्द माना है[11]। राधास्वामी सम्प्रदाय के साधु इसे जीव का वाचक मानते है[12]। डॉ० धर्मवीर भारती ने सुरति को साधना मे चित्त को प्रवर्तित करनेवाला तथा निरति को निरालम्ब अवस्था कहा है यह भी माना है कि सुरति का प्रयोग नाथ-योगियो के शब्द-सुरति-

---

१. कबीर, पृष्ठ ३३५।
२. ग्रह चंद्र तपन जोत बरत है, सुरत राग निरत तार बाजे।
नौबतिया घुरत है रैन दिन सुन्न मे, कहै कबीर पिउ गगन गाजै॥ —कबीर, पृष्ठ २४३।
३. शब्द सुरति और निरति ये कहिबे को है तीन।
निरति लौटि सुरतहिं मिली, सुरति शब्द मे लीन॥ —वही, पृष्ठ २४३।
४. हिन्दी काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ४१८।
५. वही, पृष्ठ २७०। ६. कबीर, पृष्ठ २४४।
७. कबीर साहित्य की परख, पृष्ठ २५१। ८. कबीर, पृष्ठ २४३-२४४।
९. 'विद्यापीठ', त्रैमासिक पत्रिका, भाग २, पृष्ठ १३५।
१०. कबीर साहित्य की परख, पृष्ठ २५३। ११. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ४१८।
१२ कल्याण के योगांक म 'सुरतियोग' शीर्षक लेख से उद्धृत

प्रयोग के अर्थ मे हुआ है[1] । डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ने सुरति को पिण्डस्थ व्यष्टयात्मा और निरति को समष्टयात्मा के रूप मे प्रयुक्त माना है[2] । ऐसे ही साम्प्रदायिक रूप से अनेक प्रकार से सुरति-निरति की व्याख्या की गयी है, किन्तु डॉ० भरतसिंह उपाध्याय का यह मत सर्वथा ही समीचीन है कि बौद्ध-साधना के 'स्मृति' और 'विरति' शब्द ही सुरति तथा निरति में निरूपित है[3] । स्मृति को पालि भाषा में 'सति' कहते है और विरति को 'विरति' ही । हम यहाँ इन पर क्रमशः विचार करेंगे ।

बौद्ध-साधना मे स्मृति (सति) का एक प्रधान स्थान है । बिना स्मृति के कोई भी कार्य नहीं किया जा सकता, इसलिए स्मृति सर्वत्र बलवान् होनी चाहिए । स्मृति ही साधक की रक्षा करती है । वह व्यञ्जनो मे नमक-तेल के समान, सम्पूर्ण कामों की देखभाल करनेवाले अमात्य के समान सर्वत्र होनी चाहिए, क्योकि चित्त स्मृति का प्रतिशरण है और स्मृति उसकी रक्षा करने मे लगी रहनेवाली है । बिना स्मृति के चित्त को पकड़ा और दबाया नही जा सकता[4] । मिलिन्दप्रश्न मे स्मृति की पहचान बतलाते हुए कहा गया है कि बराबर स्मरण रखना और स्वीकार करना स्मृति की पहचान है । स्मृति ही बराबर स्मरण दिलाती रहती है कि यह कुशल है, यह अकुशल है, यह दोषयुक्त है, यह निर्दोष है, यह अच्छा है, यह बुरा है, यह कृष्ण है, यह शुक्ल है । इसी प्रकार स्मृति चार स्मृतिप्रस्थान, चार सम्यक् प्रधान, चार ऋद्धिपाद, पाँच इन्द्रिय, पाँच बल, सात बोध्यंग, आर्य अष्टांगिक मार्ग, शमथ, विदर्शना, विद्या, विमुक्ति आदि सेवनीय तथा असेवनीय धर्मों को बतलाती और स्मरण दिलाती है । इसीलिए भगवान् ने कहा है—"भिक्षुओ ! मैं स्मृति को सब धर्मों को सिद्ध करनेवाली बतलाता हूँ[5] ।" स्मृति के जागृत रहने पर ही साधक ज्ञान प्राप्त कर सकता है[6] । वह भोजन के पश्चात् अरण्य, शून्यागार या वृक्ष के नीचे जाकर पालथी मार शरीर को सीधाकर, स्मृति को सामने उपस्थित कर ध्यान करता है[7] । वह स्मृति के प्रस्थानों मे भिड़ता है, जो सत्वों की विशुद्धि के लिए, शोक, कष्ट के विनाश के लिए, दुःख-दौर्मनस्य के त्याग के लिए, न्याय (सत्य) और निर्वाण की प्राप्ति तथा साक्षात्कार के लिए अद्वितीय (एकायन) मार्ग है । वह काया में कायानुपश्यी, वेदनाओ मे वेदनानुपश्यी, चित्त मे चित्तानुपश्यी तथा धर्मों मे धर्मानुपश्यी हो स्मृति और सम्प्रजन्य से युक्त लोभ एवं दौर्मनस्य को हटाकर विहरता है । उसे सदा स्मृति बनी रहती है कि वह छोटा साँस ले रहा है या बड़ा । छोटा साँस छोड रहा

---

१. सिद्ध साहित्य, पृष्ठ ४१०-४११ ।
२. हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृष्ठ ५३३ ।
३. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, दूसरा भाग, पृष्ठ १०९१ ।
४. विशुद्धिमार्ग, भाग १, पृष्ठ १२२ ।
५. मिलिन्दप्रश्न, हिन्दी, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४५-४६ ।
६. मज्झिमनिकाय, २, ४, ५ ; १, ३, ८ ; १, ४, ६ आदि ।
७ दीघनिकाय, २ ९

है या बड़ा। उठते-बैठते, सोते-जागते, टहलते, खड़े रहते उसकी स्मृति बनी रहती है। पेशाब-पाखाना करने भी स्मृति उपस्थित रहती है, संघाटी, पात्र, चीवर धारण करने मे भी, बोलते, चुप रहते भी उसकी स्मृति बनी रहती है, वह अपने पूरे शरीर की स्थिति का पैर के तलवे से लेकर ऊपर केश-मस्तक से नीचे तक मनन करता है। शरीर की रचना का भी मनन करता है और पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि से निर्मित शरीर की स्थिति को देखते हुए इसके अन्तिम परिणाम को देखता है। उसकी स्मृति बनी रहती है कि किस प्रकार यह शरीर मृत्यु के पश्चात् विकृत होकर श्मशान मे सड-गल या भस्म हो जाता है। इसी प्रकार सुख, दु ख और उपेक्षा वेदनाओ के प्रति उसकी स्मृति उपस्थित रहती है, चित्त की विभिन्न दशाओ का वह मनन करता है और कामच्छन्द, व्यापाद, स्त्यानमृद्ध, औद्धत्यकौकृत्य तथा विचिकित्सा—इन भीतरी धर्मो का मनन करता है। उसकी स्मृति बराबर विद्यमान रहती है, वह तृष्णा आदि से विरक्त (विरति प्राप्त) हो विहरता है। लोक मे कुछ भी 'मैं' और 'मेरा' नही समझता और ऐसे ही भावना करते थोडे ही समय में विशुद्धि को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है[१]।

बौद्ध-साधना में स्मृति का क्या स्थान है, इससे भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है। स्मृति को रक्षक भी कहा गया है। भगवान् ने कहा है—"लोक मे जितनी धाराएँ है, स्मृति उनका निवारण है। इसे धाराओ का आवरण बताता हूँ[२]।" स्मृतिमान् ही ध्यान-भावना करके आसक्ति त्याग देते है[३]। स्मृतिमान् के यश बढते है,[४] अत सदा स्मृति और सम्प्रजन्य से युक्त होकर विहरना चाहिए[५]। स्मृतिमान् संसार रूपी बाढ को पार कर जाता है[६]। भगवान् बुद्ध ने स्मृति के साथ विहरने को ही आत्मद्वीप (अत्तदीपो) होकर विहरना बतलाया है[७]। महापरिनिर्वाण की रात्रि मे भी तथागत ने आनन्द को स्मृति में ही नियुक्त करते हुए कहा—"सति आनन्द, उपट्ठपितब्बा"[८] अर्थात् आनन्द ! स्मृति सदा उपस्थित रखनी चाहिए। इस प्रकार स्मृति की व्यापकता एव साधकों के लिए इसकी प्रधानता प्रगट है। बौद्ध-साधना मे यदि स्मृति नही तो साधना नही, यदि स्मृति नही तो भिक्षु नही, यदि स्मृति नहीं तो कुशल गुणधर्म नही और यदि स्मृति उपस्थित है और साधक साधना-मार्ग मे भिड़ा है, तो निश्चय ही अमृत-लाभ कर लेगा। 'अमुट्ठस्सति' (अमुषितस्मृति = न खोई हुई स्मृति) ही बुद्धत्व, अर्हत्व या श्रामण्य-फल प्राप्त कर सकता है। भगवान् ने कहा है कि स्मृति से युक्त हो,

---

१. दीघनिकाय, २, ९, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ १९०-१९८।

२ यानि सोतानि लोकस्मिं, सति तेसं निवारणं।
सोतानं संवरं ब्रूमि, पञ्ञायेते पिधिय्यरे॥
—सुत्तनिपात, ५६, हिन्दी, पृष्ठ २१६-१७।

३. धम्मपद, गाथा ९१। ४. वही, गाथा २४।

५. इतिवुत्तक, २, २, १०।

६ ——— सतिमा ओघं तरति दुत्तरं। —सुत्तनिपात ९ हिन्दी पृष्ठ ३५

७ पृष्ठ ६२ ६५ ८ पृष्ठ १४४

साँस छोड़ने पर जो अन्तिम साँस का लेना-छोड़ना होता है वह भी विदित होकर निरुद्ध (लय) होता है, अविदित होकर नही[१]।

विरति का अर्थ है विरत रहना, अर्थात् जितने भी प्रकार के अकुशल धर्म हैं, उन सबसे रहित रहने को ही विरति कहते हैं। कर्म और द्वार के अनुसार शरीर और वाणी से विरमना ही विरति है। यह तीन प्रकार की होती है—सम्प्राप्त विरति, समादान विरति और समुच्छेद विरति। अपने पद, जाति, सम्मान आदि का ध्यान करके तत्काल पापकर्मों से विरत हो जाना ही सम्प्राप्त विरति है। अकुशल कर्मों को न करने के लिए संकल्प करना समादान विरति है और आर्यमार्ग से युक्त विरति समुच्छेद विरति है, क्योंकि ज्ञानप्राप्त व्यक्ति को जीवहिंसा आदि के लिए चित्त मात्र भी उत्पन्न नहीं होता[२]। विशुद्धिमार्ग मे काय-दुश्चरित से विरति, वाक्-दुश्चरित से विरति और मिथ्या आजीव से विरति—ये तीन प्रकार की विरति बतलाई गयी है[३]। सुत्तनिपात के महामंगल सुत्त में अड़तीस मंगलो मे से पापों से विरति (आरति विरति पापा) एक मंगल बतलाया गया है[४]। यह विरति सदा स्मृति से ही पूर्ण होती है। यदि स्मृति उपस्थित नही तो विरति सम्भव नही। स्मृति से ही कुशल, अकुशल आदि धर्मों को जानकर अकुशल को छोड़ते और कुशल को ग्रहण करते है और दोनों के मेल से ही भावना पूर्ण होती है, इसीलिए साधक के लिए स्मृति और विरति दोनों ही अत्यन्त अपेक्षित है। यद्यपि बुद्ध-वाणी मे सर्वत्र एक साथ 'सति-सम्पजञ्ञ' (स्मृति और सम्प्रजन्य) आये है, किन्तु विरति इन दोनों मे ही निहित है; क्योंकि "जागरो चस्स भिक्खवे ! भिक्खु विहरेय्य सतो सम्पजानो समाहितो[५]।" भिक्षु को एकाग्रचित्त हो स्मृति और सम्प्रजन्य से युक्त हो विहरना चाहिए और ऐसे विरहने पर विरति से युक्त होना आवश्यक है ही, बिना विरति से युक्त हुए वह एकाग्रचित्त, स्मृतिमान् और सम्प्रजन्य-युक्त नही हो सकता। कबीर की सुरति और निरति ऐसी ही है, बिना सुरति के निरति और बिना निरति के सुरति सम्भव नही है और इन दोनों के वियुक्त होने पर ज्ञान प्राप्त नही हो सकता। जब सुरति और निरति परस्पर मिल जाती है, जैसे कि तार और राग मिलकर लय उत्पन्न करते है, वैसे ही इनके संयोग से परमपद की प्राप्ति होती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सम्यक् स्मृति (सम्मासति) ही 'सुरति' है और सम्यक् विरति (सम्माविरति) 'निरति'। सिद्धो और नाथो ने भी सुरति तथा निरति शब्दों का प्रयोग किया है। मत्स्येन्द्रनाथ ने तो यहाँ तक कहा है कि योगी को सुरति और निरति मे निर्भय होकर रहना चाहिए—

अवधू सुरति मुषि बैठे सुरति मुषि चलै।
सुरति मुषि बोलै सुरति मुषि मिलै॥
सुरति निरति मैं नृभै रहै।
ऐसा विचार मछिन्द्र कहै[१]

उन्होंने यह भी कहा है कि सुरति अनाहत शब्द मे ही लगी रहती है और निरति निरालम्ब होने के कारण उससे मिल जाती है और जब सहज की प्राप्ति होती है, तब इन दोनों की कोई आवश्यकता नही रह जाती[1]। भला परमपद की प्राप्ति के पश्चात् सुरति-निरति की क्या आवश्यकता और उनकी तब पहुँच ही कैसी ?

आर्य अष्टांगिक मार्ग मे सम्यक्-स्मृति के पश्चात् सम्यक्-समाधि होती है और इन दोनों की गणना समाधि में ही होती है, क्योंकि शील, समाधि और प्रज्ञा के विभाग के अनुसार दोनों ही समाधि स्कन्ध से सम्बन्धित है। इनकी भावना के पश्चात् ही निर्वाण का साक्षात्कार होता है। जो परमशान्त है, श्रेष्ठ है, सभी संस्कारो का शमन स्वरूप है, सभी चित्तमलो का त्याग स्वरूप है, तृष्णाक्षय स्वरूप है, विराग और निरोध स्वरूप है, उसके साक्षात्कार से साधक के सभी आश्रवो का क्षय हो जाता है[2]। इस प्रकार सुरति और निरति के संयोग से स्वयम्भू का द्वार खुल जाता है। बौद्धधर्म मे स्वयम्भू[3] भगवान् बुद्ध का ही नाम है और निर्वाण को 'शिव'[4] भी कहते है। तात्पर्य यह कि सुरति-निरति के संयोग से साधक निर्वाण-नगर के द्वार को खोलकर शिवपुरी मे संचरण करनेवाला हो जाता है और सुरति-निरति, सति-विरति अथवा सति-सम्पजञ्ञ का यही प्रयोजन है, इसीलिए यह भावना है, यह त्याग है, यह ब्रह्मचर्य-पालन है, इसी में सन्त-जीवन का साफल्य है। इसे प्राप्तकर साधक जन्म-मृत्यु के पाश से छूट जाता है[5]।

कबीर की शैली सिद्धों की शैली का अनुकरण

कबीरदास की वाणियों की शैली सिद्धो की शैली का अनुकरण है। यद्यपि कबीर के समय मे सिद्ध नही थे, किन्तु सिद्धों द्वारा व्यक्त वाणी का जनसाधारण मे प्रचार था और साधु-सन्तो पर तो सिद्धों और नाथों की वाणियो का अत्यधिक प्रभाव था; यही कारण है कि सिद्धो एव नाथो द्वारा व्यक्त भाव कबीर के पदो मे प्राय. ज्यों-के-त्यों मिलते है। जिस प्रकार सिद्धो ने वेदादि ग्रंथों को प्रमाण नहीं माना था, अन्धविश्वास एवं अन्धानुकरण को त्याज्य कहा था, नानाप्रकार के मतवादो, धार्मिक अनुष्ठानो, पूजा-पाठ, तीर्थयात्रा आदि को स्वीकार नहीं किया था, रहस्यात्मक भाषा एवं शैली मे उलटवासियों द्वारा अपनी अनुभूतियो एव मन्तव्यों को व्यक्त किया था और निर्भय होकर लोक-व्यवहार का बहुत विचार न करते हुए बुद्धिवादी शिक्षा दी जाती थी, जात्याभिमान को तुच्छ बतला कर जन्मगत ऊँच-नीच की भावना का विरोध किया था, चित्त की पवित्रता मे ही निर्वाण की प्राप्ति बतलाया था,

---

१. वही, पृष्ठ १९६। २. बुद्धवचन, पृष्ठ ५०-५१।

३ सयम्भू सम्मासम्बुद्धो, वरपञ्ञो च नायको। —अभिधानप्पदीपिका, गाथा ४।

४. असंखतं सिव-ममतं सुदुद्दसं,
परायणं सरण-मनीतिक तथा। —अभिधानप्पदीपिका, गाथा ७।

५. जाप मरै अजपा मरे. अनहद हू मरि जाइ।
सुरत समानी शब्द में ताहि काल नहि खाइ संग्रह भाग १ पृष्ठ ८७

भार्या-सहित रहते हुए भी सहजावस्था की प्राप्ति का साधन निर्दिष्ट किया था, राग, द्वेष, मोह, माया, तृष्णा आदि कलुषों से रहित होकर परमपद की प्राप्ति सम्भव कहा था और इन्हीं कलुषों के कारण कर्म-बन्धन में पड़कर जन्मजन्मान्तर में दुःख भोगने तथा भ्रमण करने का उपदेश देते हुए मुक्ति का पवित्र सन्देश दिया था, जनता को बहकानेवाले प्रव्रजितों से सावधान रहने के लिए सतर्क करते हुए समय का सदुपयोग ही परम कर्तव्य बतलाया था, जिससे कि पीछे पश्चात्ताप न करना पड़े, साथ ही बाह्य देवी-देवताओं आदि के फेर में न पड़कर अपने भीतर सदा निवास करनेवाले तथा घट-घट व्यापी बोधि (ज्ञान) की ही आराधना करने की ओर प्रवृत्त किया था, उसी प्रकार कबीर ने भी अपने प्राप्त ज्ञान को जन-साधारण के लिए सुलभ किया। उक्त बातों में कबीर की शैली वही थी, जो सिद्धों की थी। हम पहले देख चुके हैं कि सिद्धों की वाणियों का कबीर की वाणी से कितनी समता है और किस प्रकार कबीर पर सिद्धों का प्रभाव पड़ा था। सिद्धों ने अपने प्रवचन की जिस शैली को अपनाया था, प्रायः कबीर ने भी उसी शैली में प्रवचन किया था अथवा अपने उद्‌गार व्यक्त किए थे। सिद्धों ने ब्राह्मण, शैव, जैन, बौद्ध आदि पाखण्डों (मतवादों) का खण्डन किया था और उनके मतों का निरसन कर अपने पक्ष का प्रतिपादन किया था, वैसे ही कबीर ने भी उन्हीं की शैली में कहा—

आलम दुनीं सबै फिरि खोजी, हरि बिन सकल अयाना।
छह दरसन छ्यानवै पाषंड, आकुल किनहूं न जानां॥
जप तप संजम पूजा अरचा, जोतिग जग बौरानां।
कागद लिखि लिखि जगत भुलानां, मनही मन न समानां॥
कहै कबीर जोगी अरु जंगम, ए सब झूठी आसा।
गुर प्रसादि रटौ चात्रिग ज्यूँ, निहचै भगति निवासा[1]॥

कबीर ने विभिन्न मतवादों का उसी प्रकार खण्डन किया, जैसा कि सिद्धों ने किया था—

अस भूले षट दरसन भाई, पाखंड भेष रहे लपटाई।
जैन बौध अरु साकत सैनां, चारवाक चतुरंग बिहूना।
जैन जीव की सुधि न जानै, पाती तोरि देहुरै आनै[2]।

सिद्धों ने कहा था कि भस्म लपेटने से कोई साधु नहीं होता और न तो वेश बनाकर घूमने से,[3] भगवान् बुद्ध ने भी यही कहा था कि जटा धारण करने और मृगछाला ओढ़ने से क्या लाभ है, जब कि भीतर ही कलुष भरे हुए हैं,[4] इसे ही कबीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा—

क्या ह्वै तेरे न्हाई धोई, आतम राम न चीन्हा।
क्या घट ऊपरि मंजन कीयै, भीतरि मैल अपारा।

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ९९।   २. वही, पृष्ठ २४०।
३. अइरिएहिं उद्दूलिअ च्छारें, सीससु वाहिअ ए जड भारें। —सरहपा, दोहाकोश, पृष्ठ २
४ धम्मपद गाथा ३९४

राम नाम बिन नरक न छूटै जे धोवै सौ बारा
का नट भेष भगवा बस्तर, भसम लगवै लोई।
ज्यूं दादुर सुरसुरी जल भीतरि, हरि बिन मुकति न होई।[१]

सिद्ध सरहपा ने कहा था कि ब्राह्मण कुछ जानते नहीं हैं, यों ही चारो वेदों का पठन-पाठन करते हैं, जल, मिट्टी, कुश लेकर मन्त्र पढते और अग्नि-हवन करते हैं, व्यर्थ में हवन कर धूँए से आँखों को पीडित करते हैं[२]। कबीर ने भी इसी शैली में ब्राह्मणो का रहस्यभेदन किया और स्पष्ट रूप से कह दिया कि ब्राह्मण संसार भर का गुरु बनता फिरे, किन्तु वह साधु का तो गुरु तो नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो चारो वेदो मे ही उलझकर मर रहा है—

ब्राह्मण गुरू जगत का, साधू का गुरु नाहि।
उरझि पुरझि करि मरि रह्या, चारिउं वेदा माहि[३]॥

सिद्धो की भाँति कबीर ने भी पत्थर-पूजा, सिर मुंडाकर संन्यास ग्रहण करना आदि को निरर्थक कहा—

पाहन कूं का पूजिए, जे जनम न देई जाब।
आंधा नर आसामुषी, यौं ही खोवै आब[४]॥

मूँड़ मुँडाए हरि मिलै, सब कोई लेइ मुँड़ाय।
बार-बार के मूँड़ते, भेड़ न बैकुंठ जाय[५]॥

पाहन पूजे हरि मिलै, तो मैं पुजौं पहार।
ता ते ये चाकी भली, पीसि खाय संसार[६]॥

सिद्धों ने गंगा-स्नान आदि करने की निन्दा करते हुए इसी शरीर मे वाराणसी, प्रयाग आदि की स्थापना भगवान् बुद्ध की भाँति ही की थी[७] और गोरखनाथ ने भी घट मे ही सब तीर्थो को माना था[८] और यह भी कहा था—"अवधू मन चगा तौ कठौती ही गंगा",[९] कबीर ने भी इन्ही सिद्धों की शैली मे कहा—

तीरथ मे तो सब पानी है, होवे नही कछु अन्हाय देखा।
प्रतिमा सकल तो जड है भाई, बोले नही बोलाय देखा॥
पुरान कोरान सबै बात है, या घट का परदा खोल देखा।
अनुभव की बात कबीर करै, यह सब है झूठी पोल देखा॥[१०]

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २०४।
२. दोहाकोश, पृष्ठ २।
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३६।
४. वही, पृष्ठ ४४।
५. कबीरबानी, पृष्ठ ३६।
६. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ६२।
७. दोहाकोश, पृष्ठ २२।
८. घट ही भीतरि अठसठि तीरथ, कहां भ्रमै रे भाई। —गोरखबानी, पृष्ठ ५५।
९ गोरखबानी पृष्ठ ५३
१० कबीर पृष्ठ २६२

कबीर ने ऊँचे स्वर में समझाते हुए कहा

जा कारनि तटि तारथ जाही।
रतन पदारथ घट ही माही[1]॥
आतम ज्ञान बिना जग झूठा,
क्या मथुरा क्या कासी[2]॥

इस प्रकार कबीर ने सिद्धो की ही भाँति कड़े और खुले शब्दों मे रूढियो, मिथ्या-विश्वासो, मान्यताओ के अन्धानुकरण, मतवादों के पाखण्डों आदि का रहस्य-भेदन किया है और "का नंगे का बावे चाम, जौ नहिं चीन्हसि आतमराम"[3] कहकर राममय होकर गाया है—

हम सब माहि सकल हम मांही।
हम थै और दूसरा नाही[4]॥

सिद्ध सरहपा ने भी यही कहा है कि बुद्ध सर्वत्र निरन्तर है[5] और जो इस भेद को जानता है "सो परमेसर परमगुरु"[6] है। सिद्ध तिलोपा[7] ने भी इसी का स्मरण दिलाया है तथा गोरखनाथ को तो आत्मा मे ही परमात्मा, जल मे चन्द्रमा के दिखलाई देने की भाँति जान पड़ा है—

आतमा मधे प्रमातमा दीसै।
ज्यौं जल मधे चंदा[8]॥

यही नहीं, योगी तो सबमे एक ही परमात्मा का दर्शन करते है, उनके लिए किसी भी प्रकार का भेद नहीं दीखता—

"सब घटि नाथ एकै करि जाणी[9]।"

कबीर ने इन्हीं सिद्धो की शैली मे सर्वव्यापी ईश्वर को बतलाते हुए कहा—

"व्यापक ब्रह्म सबनि मैं एकै, को पंडित को जोगी[10]।"
"साहेब हममे साहेब तुममें, जैसे प्राना बीज में।
मत कर बन्दा गुमान दिल मे, खोज देख ले तन मे[11]।"

सिद्ध सरहपा ने गाया कि पण्डित शास्त्रो की चर्चा करते है, 'बुद्ध, बुद्ध' कहते है, किन्तु वे यथार्थतः निज घट-व्यापी 'बुद्ध' को नहीं पहचानते,[12] बुद्ध के रहस्य को जानना सरल नही,[13] बोधि तुम्हारे पास ही है, उसे खोजने के लिए दूर जाना उचित

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०२।
२. कबीर, पृष्ठ २६३।
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १३०।
४. वही, पृष्ठ २००।
५. दोहाकोश, पृष्ठ ७६।
६. वही, पृष्ठ ३४।
७. हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ १७४।
८. गोरखबानी, पृष्ठ ४४।
९. वही, पृष्ठ २३८।
१०. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १५०।
११. कबीर, पृष्ठ २८६।
१२. दोहाकोश, पृष्ठ ६५।
१३ वही, पृष्ठ ११९

नही।[1] इसी को कबीर ने दुहराते हुए इसी शैली से कहा—"वह तो तेरे ही पास है और सब साँसो मे है, उसे खोजने पर तुरन्त पा जाओगे,[2] किन्तु "सब घट-अन्तर व्यापक"[3] राम को कोई पहचान नही पाता है, उसे पहचानना कठिन है—

राम नाम सब कोइ कहै, नाम न चीन्है कोय।[4]

दशरथ सुत तिहुं लोक बखाना।

राम नाम का मरम है आना[5]॥

इस प्रकार हमने देखा कि कबीर ने सिद्धो के स्वर मे मिलाकर धार्मिक, सामाजिक, नैतिक व्यावहारिक आदि बाते कही है। राहुलजी ने कबीर को सिद्ध सरहपा की भाँति क्रान्तिकारी और सामाजिक विद्रोही कहा है,[6] किन्तु इसे विद्रोह कहना कबीर जैसे ज्ञानी सन्त के लिए न्यायसंगत नही है। कबीर ने अपने समय के सभी धर्म-शास्त्रो का ज्ञान सत्संग एव धर्म-चर्चा से अर्जित किया था और परम्परागत अनुश्रुतियो से भी बहुत-कुछ सीखा था, जन-मानस पर बौद्धधर्म की छाप अभी भी विचारो के रूप मे विद्यमान थी। कबीर ने उन्हे ही ग्रहण कर बुद्धि-स्वातन्त्र्य से सन्तपरम्परा के अनुसार उनका प्रवचन किया, उनके गीत गाये एव उनसे ही जन-मानस को अपनी ओर आकर्षित किया। वस्तुत. कबीर अप्रत्यक्ष रूप से सिद्धो की शैली के ऋणी है। सिद्धो की शैली के अनुकरण की छाप स्पष्टत. कबीर की वाणी मे दिखाई देती है, जैसा कि हमने ऊपर देखा है।

बौद्धधर्म के विभिन्न तत्वों का कबीर-साहित्य में अनुशीलन

कबीर-साहित्य मे बौद्धधर्म के मध्यममार्ग, चार आर्यसत्य, निर्वाण, स्वयम्भू, शिव, परमपद, शून्य, अनित्य, सत्यनाम, अशुभ, क्षणिक, सहज, हठयोग, शील, सत्य, अहिंसा, मैत्री, करुणा, सन्तोष, दान, गुरु (शास्ता), स्मृति, विरति, विश्वास, समता (समदृष्टि), कर्तव्य-परायणता, अनासक्ति, क्षमा, तितिक्षा, धैर्य, विनय, विवेक, सादा जीवन, कर्म-फल मे विश्वास, बुद्धि-स्वातन्त्र्य आदि स्वीकारात्मक तथा जातिभेद-विरोध, कर्म-काण्ड का निषेध, कनक-कामिनी का त्याग, तृष्णा-विनाश, मादक-द्रव्यो के सेवन से विरति, अन्धविश्वास का परित्याग, वेष-धारण मात्र से ज्ञानप्राप्ति की भावना का विरोध, मतवादो एवं पाखण्डों से दूर रहना, तीर्थ-यात्रा, पूजा-पाठ, मूर्तिपूजा आदि का बहिष्कार आदि निषेधात्मक अनेक तत्व आये हुए है, जो बौद्धधर्म के सार है और वे ही कबीर के प्रमुख उपदेश भी है। इन तत्वो मे से अधिकांश का यथास्थान वर्णन किया जा चुका है, जिन तत्वों पर अब तक प्रकाश नही डाला गया है, उन पर हम विचार करेंगे।

---

१. निअहि बोहि मा जाहु रे लंक। —दोहाकोश, पृष्ठ ३५८।

२. कबीर, पृष्ठ २३०।

३. सब घटि अंतरि तूहीं व्यापक, धरै सरूपै सोई। —कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १०५।

४ सन्तबानी संग्रह भाग १ पृष्ठ ४ ५ बीजक सबद १०९

६. दोहाकोश, भूमिका, पृष्ठ २६

हंस

कबीर ने जीवों को हंस कहा है और वे हंसों के उद्धारार्थ ही संसार में आए थे—ऐसा उनके अनुयायी मानते हैं। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है कि कबीर ने शुद्ध और मुक्त जीवात्मा को ही हंस कहा है, जिसे धर्मदास के शिष्य और टीकाकारों ने साधु या सिद्ध माना है,[1] किन्तु डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन समीचीन नहीं है। वास्तव में कबीर ने जीव के लिए ही हंसा या हंस शब्द का प्रयोग किया है—

(१) कुल करनी के कारने, हंसा गया वियोग।
तब क्या कुल की लाज है, चार पाँव का होय[2]॥

(२) हंसा करो नाम नौकरी।
नाम बिदेही निसि दिन सुमिरै, नहिं भूलै छिन घरी[3]॥

(३) जाहु हंस पच्छिम दिसा, खिरकी खुलवाबो[4]।

(४) कहै कबीर स्वामी सुख सागर, हंसहि हंस मिलावहिंगे[5]।

(५) चल हंसा वा देश, जहाँ पिया बसै चितचोर[6]।

(६) हंसा करो पुरातन बात।
कौन देश से आया हंसा, उतरना कौन घाट।
कहाँ हंसा विश्राम किया है, कहाँ लगाए आस॥
अबही हंसा चेत सबेरा, चलो हमारे साथ।
संसय सोक वहाँ नहि व्यापै, नही काल कै त्रास[7]॥

यह हंस शब्द सिद्ध-काल में जीव के लिए व्यवहृत था। सबसे पहले सिद्ध सरहपा के साहित्य में यह मिलता है। दोहाकोश के दूसरे ही पद में प्राणियों के लिए हंस शब्द का प्रयोग किया गया है—

कज्जे विरहिअ हुअवह होमे, अक्खि उहाविअ कडुये धूमे।
एकदण्डि त्रिदण्डी भअवाँ बेसे, विणुआ होइअइ हंसा उएसें[8]॥

ऐसे ही २४वें चर्यापद में भी मन के लिए हंस शब्द का प्रयोग हुआ है[9]। गोरखनाथ ने भी हंस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है—

सोहं बाई हंसा रूपी प्यडै बहै[10]।

---

१. कबीर, पृष्ठ २७।
२. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ११।
३. वही, भाग २, पृष्ठ २।
४. वही, पृष्ठ २।
५. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १३७।
६. कबीर, पृष्ठ २७७।
७ कबीर पृष्ठ २४०
८ दोहाकोश पृष्ठ २
९ सिद्ध-साहित्य पृष्ठ ४५२
१० पृष्ठ ९९

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि इस शब्द कबीर का अपना नहीं है प्रत्युत इसे उन्होंने बौद्धसिद्धों एवं नाथों से ग्रहण किया है।

शील

बौद्धधर्म मे शील का बहुत माहात्म्य बतलाया गया है। शील ही बौद्धधर्म का आधार है, शील कल्याणकर है, लोक मे शील से बढकर कुछ नही है[1]। शील पर ही प्रतिष्ठित होकर सभी साधनाएँ सफल हो सकती है। विशुद्धिमार्ग के शील-निर्देश मे इसकी विस्तृत व्याख्या की गई है[2] और कहा गया है कि "शील सब सम्पत्ति का मूल है[3]।" कबीर ने भी शील का उपदेश दिया है। उन्होने कहा है कि शीलवान् सबसे बडा है, शील सब रत्नो की खान है। तीनो लोको की सम्पत्ति शील मे सन्निहित है—

सीलवन्त सब तें बड़ा, सर्व रतन की खानि।
तीन लोक की सम्पदा, रही सील मे आनि[4]॥

शील-पालन सदा कल्याणकारी होता है—"सीलं किरेव कल्याणं, सीलं लोके अनुत्तर",[5] वह लोक मे सर्वोत्तम है, उसका जरा-पर्यन्त पालन करना चाहिए—"सीलं याव-जरा साधु[6]"—ऐसा भगवान् बुद्ध ने कहा है और कबीर ने भी इसे ही दुहराया है—"भर जोबन मे सीलवँत, बिरला होय तो होय",[7] जो प्रिय से मिलना चाहे तो उसे शील रूपी सिन्दूर को ग्रहण करना ही होगा—

सील सिन्दूर भराइ कै, यो पिय का सुख लेइ[8]।

जो शीलवान् होता है वह प्रिय को पाता ही है, साथ ही वह दृढ, ज्ञानी, उदार, लज्जावान्, छल-रहित और कोमल हृदयवाला भी होता है[9]। जो शील, सन्तोष और समदृष्टि से पूर्ण होता है, उसके सभी क्लेश दूर हो जाते है—

सील सन्तोष सदा समदृष्टि, रहनि गहनि मे पूरा।
ताके दरस परस भय भाजै, होइ कलेस सब दूरा[10]॥

---

१ सीलं किरेव कल्याणं, सीलं लोके अनुत्तरं। —जातक, भाग १, पृष्ठ ४८४।
२. विशुद्धिमार्ग, भाग १, पृष्ठ १-५९। ३. वही, पृष्ठ ५९।
४. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ५०। ५. जातक, १, ९, पृष्ठ ४८४।
६. संयुत्तनिकाय, १, ६, १। ७. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ५०।
८. वही, पृष्ठ २०।
९. सीलवंत दृढ ज्ञान मत, अति उदार चित होय।
लज्यावान् अति निहछला, कोमल हिरदा सोय॥ —वही, पृष्ठ २७।
१०. कबीर, पृष्ठ २७३

पचशील

कबीर ने शील के माहात्म्य को बतलाते हुए बौद्धधर्म के पञ्चशील का भी उपदेश दिया है। बौद्धधर्म मे पञ्चशील का बहुत बड़ा महत्व है। बौद्ध उसे ही कहते है, जो पञ्चशील का पालन करे। प्रारम्भ में किसी भी व्यक्ति को बौद्धधर्म ग्रहण करते समय त्रिशरण सहित पंचशील ग्रहण करना पडता है। 'पंचशील' सदा परिपालनीय पाँच नियमो का नाम है, जिन्हे सभी गृहस्थ पालन करने का सदा प्रयत्न करते है। भिक्षुओ के लिए २२७ नियम है और श्रामणेरों के लिए १० तथा उपोसथ के दिन गृहस्थ भी ८ शीलों का पालन करते है। जिन्हे क्रमश उपसम्पदाशील, प्रव्रज्याशील और अष्टशील कहते है। पंचशील ये हैं—(१) जीवहिंसा न करना, (२) चोरी न करना, (३) काम-भोगो मे मिथ्याचार (व्यभिचार) न करना, (४) असत्यभाषण न करना और (५) मादक-द्रव्यो का सेवन न करना। कबीर ने भी इन आदर्श नियमों के पालन करने का उपदेश दिया है—

[१]

साधो ! पाडे निपुन कसाई।
बकरी मारि भेड़ि को धाये, दिल मे दरद न आई ॥
आतम मारि पलक मे बिनसे, रुधिर की नदी बहाई।
गाय बधै सो तुरक कहावै, यह क्या इनसे छोटे[१]।
जीवहि मारि जीव प्रतिपारैं, देखत जनम आपनौ हारैं[२]।
मुरगी मुल्ला से कहै, जिबह करत है मोहि।
साहिब लेखा मागसी, संकट परिहै तोहि[३] ॥
कहता हौ कहि जात हौ, कहा जो मान हमार।
जाका गर तुम काटिहौ, सो फिर काटि तुम्हार[४] ॥
हिन्दू के दाया नही, मिहर तुरुक के नाहि।
कहै कबीर दोनो गये, लख चौरासी माहि[५] ॥
हिन्दु की दया मेहर तुरकन की दोनो घर से भागी।
वह करै जिवह वाँ झटका मारे आग दोऊ घर लागी[६] ॥

[२]

जूआ चोरी मुखबिरी, ब्याज घूस पर नार।
जो चाहै दीदार को, एती वस्तु निवार[७] ॥

---

१. कबीर, पृष्ठ ३१८।
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २४०।
३. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ६१।
४. वही, पृष्ठ ६१।
५ वही पृष्ठ ६१
६ कबीर पष्ठ ३२७।
७ सतबानी सग्रह भाग १ पृष्ठ ६४

[३]

पर नारी राता फिरैं, चोरी बिढ़ता खाहिं।
दिवस चारि सरसा रहै, अन्ति समूला जाहिं॥
पर नारी कै राचणैं, औगुण है गुण नांहि।
खार समंद मै मंछला, केता बहि बहि जाहिं॥
पर नारी को राचणौं, जिमी ल्हसण की खानि।
खूणैं बैसि रखाइए, परगट होइ दिवानि[1]॥
पर नारी पैनी छुरी, मति कोइ लावो अंग।
रावन के दस सिर गए, पर नारी के संग[2]॥

[४]

साच बराबर तप नही, झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदे साच है, ता हिरदे गुरु आप[3]॥

[५]

औगुन कहौं सराब का, ज्ञानवंत मुनि लेय।
मानुष से पसुआ करै, द्रव्य गाँठि को देय॥
अमल अहारी आतमा, कबहुँ न पावै पारि।
कहै कबीर पुकारि कै, त्यागौ ताहि विचारि[4]॥

त्रिलक्षण

बौद्धधर्म मे अनित्य, दुःख और अनात्म त्रिलक्षण कहलाते हैं और ये बौद्धधर्म के मुख्य सिद्धान्त हैं। सभी संस्कार अनित्य है, दुःख है और आत्मा रहित है[5]—ऐसी बौद्धधर्म की मान्यता है। कबीर ने भी अनित्य और दुःख को ग्रहण किया है, किन्तु उन्होंने आत्मा और ईश्वर को माना है, जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है। अतः कबीर ने अनात्मा को न मानकर केवल अनित्य और दुःख को ही स्वीकार किया है और यह भावना उन्हे सिद्धो एवं नाथों से प्राप्त हुई थी। अनित्य के प्रति व्यक्त उनकी भावना बड़ी ही मार्मिक है—

मात पिता बन्धू सुत तिरिया, संग नहीं कोइ जाय सका रे।
जब लग जीवै गुरु गुन लेगा, धन जोबन है दिन दस का रे[6]॥

पानी केरा बुदबुदा, अस मानुष की जाति।
देखत ही छिपि जायगी, ज्यों तारा परभाति॥
काल्ह करै सो आज करु, आज करै सो अब्ब।
पल में परलै होयगी, बहुरि करैगा कब्ब॥

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३९।
२. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ५८।
३. वही, पृष्ठ ४९।
४. वही पृष्ठ ६१।
५ धम्मपद, गाथा २७७-२७९
६ कबीर पृष्ठ ३४८

कबीर थोडा जीवना माँडै बहुत मडान
सबहि उभा म लगि रहा, राव रक सुल्तान[१] ॥

यह तन काँचा कुम्भ है, लिये फिरै का साथ।
टपका लागा फूटिया, कछु नहिं आया हाथ[२] ॥

इक दिन ऐसा होयगा, कोउ काहू का नाहिं।
घर की नारी को कहै, तन की नारी जाहिं[3] ॥

जो ऊगै सो अत्थवै, फूलै सो कुम्हिलाय।
जो चुनिये सो ढहि परै, जामै सो मरि जाय[४] ॥

इसी प्रकार दुःख की भावना को प्रगट करते हुए कबीर ने सम्पूर्ण संसार को दुःख का घर कहा है—

दुनिया भांडा दुख का, भरो मुहामुंह भूख[५]।
देह धरे का दंड है, सब काहू को होय।
ज्ञानी भुगतै ज्ञान करि, मूरख भुगतै रोय[६] ॥

चित्त

बौद्धधर्म मे मन, चित्त, विज्ञान—ये सब एक ही के पर्याय है। चित्त क्षणिक है, चंचल हैं, इसे रोकना कठिन है, इसका निवारण करना भी दुष्कर है, फिर भी बुद्धिमान् उसे सीधा कर डालते है[७]। चित्त जहाँ चाहे झट चला जानेवाला है, इसका दमन करना चाहिए, दमन किया हुआ चित्त सुखदायक होता है,[८] इसे समझना आसान नही, यह अत्यन्त चालाक है,[९] दूरगामी और अकेले विचरण करनेवाला है। यह निराकार और गुहाशायी है[१०]। यह सभी प्रवृत्तियो का अगुआ है, चित्त ही उनका प्रधान है, सभी प्रवृत्तियाँ चित्त से ही उत्पन्न होती है[११]। कबीर ने भी मन को ऐसा ही माना है। उनका कहना है कि मन की इच्छा के अनुसार न चलो, मन पर संयम करो,[१२] मन समुद्र की तरंग की भाँति दौड़ लगानेवाला है, यदि मन संयमित हो जाय तो सहज में ही समुद्र के हीरा की भाँति सुख की प्राप्ति हो जाय—

---

१. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ९।
२. वही, पृष्ठ १०।
३. वही, पृष्ठ ११।
४. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ १३।
५. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २५।
६. कबीर, पृष्ठ ३४९।
७. धम्मपद, गाथा ३३।
८. धम्मपद, गाथा ३५।
९. वही, गाथा ३६।
१०. वही, गाथा ३७।
११. वही, गाथा १।
१२. मन के मते न चालिये, मन के मते अनेक।
जो मन पर असवार है सो साधू कोइ एक।

सग्रह, भाग १, पृष्ठ ५५

जतो लहर समुद्र की वेती मन को दौर
सहजै हीरा नीपजै, जो मन आवै ठौर[1] ॥

मन सभी बातों को जानता है और जानते हुए भी दोष करता है[2]। मन ही गोविन्द है, यदि मन की रक्षा की जाय तो व्यक्ति स्वयं परमात्मा हो जाय,[3] यह मन पक्षी की भाँति है, जो आकाश में ऊँची उड़ान भरा करता है, वह वहीं से माया के फन्दे मे गिरकर फँसा करता है,[4] इसलिए मन को अपने वश मे करके भक्ति मे लगाओ[5]।

कनक-कामिनी

बौद्धधर्म मे भिक्षुओं के लिए कनक और कामिनी दोनों का ही त्याग उत्तम बतलाया गया है। भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओ की साधना मे इन्हे बाधक कहा है। इन्हे मल माना है—

"कोई-कोई श्रमण ब्राह्मण राग-द्वेष से लिप्त हो,
अविद्या से ढँके पुरुष प्रिय वस्तुओं को पसन्द करनेवाले,
सुरा और कच्ची शराब पीते है, मैथुन का सेवन करते है,
वे अज्ञानी चाँदी और सोने का सेवन करते है,
भगवान् बुद्ध ने इन्हे उपक्लेश कहा है।
वे घोर करसी को बढाते है और आवागमन मे पडते है[6]।"

इसीलिए कामिनी का साथ करनेवाला भिक्षु पाराजिका माना जाता है, वह भिक्षु-संघ में रहने योग्य नही रहता[7] और सोना-चाँदी ग्रहण करनेवाले भिक्षु को नैसर्गिक प्रायश्चित्त का दोष लगाता है[8]। कबीर ने भी कनक और कामिनी को इसी दृष्टि से देखा है। वे सोना और स्त्री को आग की लपट मानते है, जो इन्हे देखता है वह देखते ही जल उठता है और छूने पर तो परेशान (पैमाल) ही हो जाता है—

एक कनक अरु कामिनी, दोऊ अगनि की झाल।
देखे हीं तन प्रजलै, परस्यां ह्वै पैमाल[9] ॥

कनक और कामिनी दुर्गम घाटी है,[10] नारी की छाया पड़ने से सर्प अन्धा हो जाता है, फिर उनकी कौन गति होगी, जो सदा ही नारी के साथ रहते है[11]। कनक और कामिनी

---

१. वही, पृष्ठ ५५।
२. मन जाणै सब बात, जाणत ही औगुण करे। —कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २८।
३. मन गोरख मन गोविन्दौ, मन ही औघड़ होइ।
जे मन राखै जतन करि, तौ आपै करता सोइ ॥ —कबीर ग्रथावली, पृष्ठ २९।
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३०।
५. सन्तबानी सग्रह, भाग १, पृष्ठ ५५।
६ विनयपिटक, पृष्ठ ५४९।
७. वही, पृष्ठ ८।
८ वही पृष्ठ १९
९. कबीर ग्रथावली पृष्ठ ४०
१० सन्तबानी सग्रह, भाग १ पृष्ठ ५८
११ वही पृष्ठ ५८

विष-फल सदृश हैं,[१] इन्हें देखते ही विष चढने लगता है और चखने पर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है[२]। नारी पुरुष की स्त्री है और वही पुरुष स्त्री से उत्पन्न उसका पुत्र है, इसी ज्ञान की बात का विचार कर अवधूत लोग स्त्री का त्याग कर देते हैं[३]। यही बात गोरखनाथ ने भी कही है—

जिन जननी संसार दिखाया, ताकौ ले सूते खोले[४]।
कनक कामनी त्यागे दोइ, जो जोगेस्वर निरभै होइ[५]।

तात्पर्य सन्त कबीर कनक और कामिनी में आसक्ति से दूर रहने का उपदेश देते थे। वे स्वयं विवाहित थे और जीविका के लिए अर्थोपार्जन भी करते थे; किन्तु घर-गृहस्थी में रहते हुए भी अनासक्त जीवन व्यतीत करने के प्रशंसक थे। उनकी यह भावना बुद्धवचन तथा सिद्धों एवं नाथो के सम्मिलित प्रभाव की देन है, जो उन तक परम्परा से पहुँची थी।

अवतारवाद

बौद्धधर्म अनीश्वरवादी धर्म है, जब ईश्वर ही नही तो फिर अवतार किसका होगा? तात्पर्य बौद्धधर्म मे अवतारवाद के लिए अवकाश नही है। कबीर ने भी निराकार ईश्वर को मानते हुए भी अवतारवाद को नही माना है और स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि अपने ही निर्मित देवो की लोग पूजा करते है, किन्तु पूर्ण अखण्डित ब्रह्म को नही जानते, दस अवतार अपने नही है, क्योकि दस अवतारो को भी अपने कर्म का फल भोगना पडा है[६]। उस ब्रह्म ने न तो दशरथ के घर अवतार लिया, न लका के रावण को सताया। ईश्वर कभी कुक्षि में अवतरित नहीं होता, न तो यशोदा ने उसे गोद मे लेकर खेलाया, न वह ग्वालो के साथ घूमा, न गोवर्धन को हाथ से धारण किया, न वामन होकर बलि को छला, न पृथ्वी और वेदो का उद्धार किया, वह न गण्डक शालिग्राम और मत्स्य, कच्छप, कूर्म होकर जल में ही रहा, वह इनसे अगम्य है। अवतारवाद तो काल्पनिक व्यवहार मात्र है, जिसमे कि संसार फँसा है, किन्तु वास्तविक ब्रह्म को नही जानता[७]। कबीर ने अवतारवाद को न मानते हुए ईश्वर को अपना पिता माना है और अपने को पुत्र कहा है[८]। ज्ञानी भिक्षु भी बुद्ध-पुत्र कहलाते है और न केवल भिक्षु ही भिक्षुणियाँ भी, ज्ञानी पुरुष और महिलाएँ भी। भगवान् बुद्ध ने स्वयं सारिपुत्र को अपना औरस-पुत्र कहा था, उन्हे अपने मुख से उत्पन्न बतलाया था—'भिक्षुओ! जिसको ठीक से कहते हुए कहना होता है कि यह मुख से उत्पन्न, धर्म से उत्पन्न, धर्म-निर्मित, धर्म-दायाद, न आमिष दायाद, भगवान् का औरस-पुत्र है, तो ठीक से कहते हुए सारिपुत्र के

---

१ वही, पृष्ठ ५९। २. वही, पृष्ठ ५९।
३. वही, पृष्ठ ५९। ४. गोरखबानी, पृष्ठ १४४।
५. वही, पृष्ठ ३५।
६. दस औतार निरंजन कहिये, सो अपना ना होई।
यह तो अपनी करनी भोगैं कर्ता औरहि कोई॥ —कबीर पृष्ठ २४०।
७ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ २४३ ८ सन्तबानी संग्रह, भाग १ पृष्ठ २४

लिए ही कहना होगा[१]। सुन्दरी नामक भिक्षुणी ने भी सिंहनाद करते हुए कहा था—"मैं भगवान् के मुख से उत्पन्न, औरस-पुत्री हूँ, मैं कृतकृत्य और चित्त-मल रहित (अर्हत्) हूँ[२]।" इस प्रकार ज्ञानी बौद्ध प्रव्रजित तथा गृहस्थ श्रावक-श्राविकाओं के पिता भगवान् बुद्ध हैं। हमने पहले देखा है कि सत्यनाम वाले बुद्ध ही कबीर के सत्तनामधारी सद्गुरु हो गये हैं और बौद्ध-परम्परा में पिता संज्ञक बुद्ध ही कबीर के अवतारवाद से मुक्त पूर्ण ब्रह्म स्वरूप पिता भी बन गये हैं, किन्तु सीता-पति राम या दसों अवतारों में से कोई भी जगत् का कर्त्ता अथवा ईश्वर नहीं है—

समुँद पाटि लंका गयो, सीता को भरतार।
ताहि अगस्त अचै गयो, इनमें को करतार[३]॥

जो लोग 'सोहं सोहं' कहकर जप करते हैं और वास्तविक सत्य को नहीं जानते हैं, वे मिथ्या-दृष्टि में ही पड़कर अपना जीवन व्यर्थ में ही व्यतीत कर देते हैं[४]।

निर्वाण

बौद्धधर्म के निर्वाण का वर्णन पहले किया जा चुका है। वह परमसुख, अनन्त और अपार है, वह न इस लोक में है, न परलोक में, वह अनिर्वचनीय अवस्था है। कबीर ने भी निर्वाण की व्याख्या करते हुए कहा है कि पद-निर्वाण एक ऐसी अवस्था है, जहाँ न शब्द है, न स्वाद है, न शोभा है, वहाँ माता, पिता और मोह भी नहीं है, वहाँ सासु, श्वसुर और साला भी नहीं हैं, न वहाँ दिन है, न कोई शोक करनेवाला है, न वहाँ पक्षी, जीव-जन्तु, न देवी-देवता ही है, न वहाँ वृद्ध है और न शब्द, गीत आदि ही है। वहाँ जाति-पाँति और कुलभेद भी नहीं है तथा न वहाँ छूत-अछूत या पवित्र होने की ही भावना है, वहाँ तो पद-निर्वाण ही है, अन्य कुछ नहीं है[५]। वह अनन्त और अपार है[६]। वह मुक्तिपुर का देश है, जो तीनों लोकों के बाहर है[७]। भगवान् बुद्ध ने कहा है कि जब निर्वाण की प्राप्ति होती है, तब प्रदीप के बुझने की भाँति वे धीर व्यक्ति शान्त हो जाते हैं,[८] वे तृष्णा से सर्वथा मुक्त और पुनर्जन्म-रहित हो जाते हैं, उनके पुराने कर्म क्षीण हो जाते हैं तथा वे नये कर्म सञ्चित नहीं करते[९]। कबीर ने भी इन्हीं शब्दों में निर्वाण-प्राप्त व्यक्ति की अवस्था का वर्णन करते

---

१. मज्झिमनिकाय, ३, २, १; हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ४६७-४६८।
२. ओरसा मुखतो जाता कतकिच्चा अनासवा।—थेरीगाथा, गाथा ३३६।
३. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ २३।
४. सोहं सोहं जपि मुआ, मिथ्या जनम गँवाय।—सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ४।
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २४३।
६. पद निरबान अनन्त अपारा।—कबीर, पृष्ठ २७६।
७. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ८।
८ निब्बन्ति धीरा यथायं पदीपो।—सुत्तनिपात, पृष्ठ ४६-४७।
९ वही, पृष्ठ ४६-४७

हुए कहा है कि जब १ प्राप्त हो जाता है तब वह व्यक्ति शोक-हर्ष और सासारिक प्रपंचो से मुक्त होकर दीपक की भाँति शान्त चित्तवाला हो जाता है—

आतम अनुभव जब भयो, तब नहिं हर्ष विषाद ।
चित्त दीप सम ह्वै रह्यो, तजि करि वाद-विवाद ॥[१]

भगवान् बुद्ध ने कहा है कि जैसे तेल और बत्ती के सहारे तेल का प्रदीप जलता है, किन्तु तेल-बत्ती के समाप्त होने पर प्रदीप निराहार हो बुझ जाता है, इसी प्रकार भिक्षु राग, द्वेष, मोह के समाप्त हो जाने पर निर्वाण को प्राप्त हो जाता है[२]। कबीर ने भी यही बात कही है कि जब तक दीपक मे बत्ती है और तेल विद्यमान है, तब तक निर्भय होकर जप करो और जब तेल घट जायेगा तो बत्ती बुझ जायेगी, तब तुम दिन-रात सुखपूर्वक सोना अर्थात् जब तुम्हारे सम्पूर्ण कलुष समाप्त हो जायेगे, तब तुम परमपद निर्वाण मे लीन हो जाओगे। वही निर्वाण की अवस्था होगी—

कबीर निर्भय नाम जपु, जब लगि दीवा बाति ।
तेल घटै बाती बुझै, तब सोवो दिन राति[३] ॥

गुणधर्म

मनुष्य मे दया, सत्य, अहिंसा, शील, दान, धैर्य, समदृष्टि, सन्तोष, क्षमा आदि गुणधर्म होने चाहिए और उसे काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मान, तृष्णा, आशा आदि का परित्याग कर परमपद प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। इनका बौद्धधर्म मे महत्वपूर्ण स्थान है। वास्तव मे यही सद्धर्म है, जो सदाचार है वही धर्म का मूल है। कबीर ने भी इन गुणधर्मो का आचरण परमकर्तव्य के रूप मे माना है। उन्होंने कहा है कि जो शीलवान्, सन्तोषी और समदृष्टि रखनेवाला है, उसके सभी क्लेश दूर हो जाते है,[४] दान देने पर कभी घटता नही है, जैसे नदी का जल नही घटता[५]। शील-पालन से तीनो लोक की सम्पत्ति प्राप्त होती है[६]। व्यक्ति को क्षमाशील होना चाहिए[७]। पृथ्वी की भाँति सहनशील भी होना चाहिए[८]। सन्तोष सबसे बडा धन है[९]। काम, क्रोध और लोभ मे लगे रहनेवाले से कभी भक्ति नही हो सकती[१०]। काम, क्रोध, मद और लोभ जब तक बने रहते हैं, तब तक मूर्ख और बुद्धिमान् मे कोई अन्तर नहीं होता[११]। मोह के कारण सब कुछ अन्धेरा-सा हो जाता है और यथार्थ वस्तु नही सूझ पड़ती[१२]। माया, आशा और तृष्णा व्यक्ति को फँसाये रहती है, इनसे छूट कर ही निर्वाण को प्राप्त किया जा सकता है[१३]। इसलिए शील, सत्य और सन्तोष

---

१ सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ४४। २. मज्झिमनिकाय, ३, ४, १०।
३ सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ७। ४. कबीर, पृष्ठ २७३।
५ सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ५०। ६. वही, पृष्ठ ५०।
७ वही, पृष्ठ ५०। ८. वही, पृष्ठ ५०।
९ वही, पृष्ठ ५१। १०. वही, पृष्ठ ५३।
११ सन्तबानी संग्रह भाग १ पृष्ठ ५३ १२ वही पृष्ठ ५४।
१३ वही, पृष्ठ ५७

रूपी ढाल से युक्त होकर नाम रूपी तलवार से सन्नद्ध हो काम, क्रोध, मद और लोभ से लड़ने के लिए संग्राम-भूमि मे डट जाओ। शूर-वीर ही ऐसी लडाई लड़ते है, कायर नही[१]।

बौद्धधर्म मे भी यही बात कही गयी है कि सन्तोष परमधन है,[२] पृथ्वी के समान क्षमाशील एवं सहनशील बने,[३] क्षमा और सहनशीलता परमतप है,[४] राग, द्वेष, मोह, मान, क्रोध, आमर्ष मे पडा हुआ व्यक्ति अन्धे के समान होता है, उसे अर्थ, धर्म कुछ भी नही सूझता है[५]। तृष्णा के पीछे पडे प्राणी बंधे खरगोश की भाँति चक्कर काटते है, इसलिए मुक्ति चाहनेवाला व्यक्ति तृष्णा को दूर करे[६]। जिसने तृष्णा का त्याग कर दिया है, वही अन्तिम शरीरधारी कहलाता है[७]। तृष्णा का क्षय सारे दु खो को जीत लेता है[८]। जिसमे सत्य, धर्म, अहिंसा, संयम और दम (इन्द्रिय-दमन) है, वह आर्य (श्रेष्ठ) है, वह अमर है[९]। शीलवान् विद्वान् से भी श्रेष्ठ होता है,[१०] शील कल्याणकारी और सर्वोत्तम गुण है[११]। प्रज्ञा रूपी हथियार से मार से युद्ध करो[१२] और विजय प्राप्त करो,[१३] सत्य बोलो, क्रोध न करो,[१४] शरीर से संयमशील हो अहिंसा धर्म का पालन करते हुए शोक-रहित अच्युत-पद (निर्वाण) प्राप्त होता है[१५]। इसलिए सुचरित धर्म का आचरण करे, दुराचरण न करे। धर्मचारी इस लोक और परलोक दोनों मे सुखपूर्वक रहता है[१६]।

उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि बुद्ध द्वारा निर्दिष्ट गुणधर्म अथवा सद्धर्म के परिपालनीय कर्तव्य कबीर-वाणी मे भी समान रूप से पाये जाते है। समदृष्टि भी दोनो की समान ही है। कबीर सबको समान जानकर सदाचार-पालन की शिक्षा देते है और भगवान् बुद्ध भी कहते है "सब्बत्थ समानो हुत्वा" अर्थात् सर्वत्र समदृष्टि रखकर ही ज्ञान की प्राप्ति सम्भव है[१७]। इसीलिए उन्होने महालोमहंसचर्या मे कहा है—"सब्बेसं समको होमि दयकोपो न विज्जति" अर्थात् मैं सबके लिए समान था, किसी पर दया अथवा किसी पर क्रोध—इस प्रकार के विभिन्न भाव मेरे हृदय मे नही थे[१८]।

वेश

हम पहले कह आये है कि बौद्धधर्म वेश-धारण मात्र से ज्ञान की प्राप्ति नही मानता। वेश धारण की सार्थकता इसी मे है कि चित्तमलो का परित्याग हो जाय,[१९] जटा, गोत्र और

१. वही, भाग २, पृष्ठ २६।
२ 'सन्तुट्ठी परमं धनं'।—धम्मपद, गाथा २०४।
३. धम्मपद, गाथा ९५।
४. वही, गाथा १८४।
५. इतिवुत्तक, १–६।
६. धम्मपद, गाथा ३४३।
७. वही, गाथा ३५२।
८ वही, गाथा ३५४।
९. जातक, १६६।
१०. वही, गाथा ९१।
११. वही, ८६।
१२. धम्मपद, गाथा ४०।
१३. वही, गाथा १०४।
१४ धम्मपद, गाथा २२४।
१५. वही, गाथा २२५।
१६. वही, गाथा १९६।
१७ चरियापिटक, पृष्ठ ३६।
१८. चरियापिटक, उपेक्खापारमिता, गाथा ३
१९ धम्मपद गाथा ९१०।

जन्म से कोई ब्राह्मण नहीं होता, ब्राह्मण तो वही है, जिसमें सत्य और धर्म है और जिसमें ये गुण हैं, वही पवित्र है,[१] यदि चित्त राग, द्वेष, मोह के मल से अपवित्र है तो ये जटाएँ और ये मृगछाला क्या करेंगे[२] ? ऊपरी रूप-रंग मनुष्यों की पहचान नहीं है, दुष्ट लोग तो बड़े संयम का भड़क दिखाकर विचरण किया करते हैं, वे नकली मिट्टी के बने भड़कदार कुण्डल के समान अथवा लोहे के बने सोने का पानी चढ़ाये हुए के समान वेश बनाकर विचरण करते हैं, जो भीतर से मैले और बाहर से चमकदार होते हैं[३]। सिद्ध सरहपा ने इन वेशधारियों की बड़ी निन्दा की है और कहा है कि ब्राह्मण, पाशुपत, जैन, बौद्ध जितने भी केवल वेश बनाकर घूमनेवाले हैं, वे संसार में बहते-भटकते हैं, ज्ञानप्राप्ति के लिए तो आत्मस्वभाव का जानना परमावश्यक है[४]। कबीरदास ने इसी बात को दुहराया है। उन्होंने कहा है कि नंगा रहने, सिर मुडाने, सिर के बाल नोंचने, मौन धारण करने, जटाधारी होने कान छेदाकर मन्जूषा पहनने, भस्म अथवा धूल लपेटने आदि से कभी परमपद की प्राप्ति सम्भव नहीं है[५]। तिलक धारण करने, माला जपने,[६] लाल रंग से रँगा वस्त्र धारण करने,[७] ग्रंथ-पाठ करने,[८] छापा लगाने[९] आदि से भी हरि का दर्शन नहीं होता, हरि-दर्शन के लिए मन को ही संयमित करने की आवश्यकता है, उसे ही रँगने से हरि मिलेंगे—

मन ना रँगाये रँगाये जोगी कपड़ा।
आसन मारि मन्दिर मे बैठे, ब्रह्म छाड़ि पूजन लागे पथरा॥
कनवा फड़ाय जटवा बढ़ौले, दाढी बढाय जोगी होइ गैले बकरा।
जंगल जाय जोगी धुनिया रमौले, काम जराय जोगी होय गैले हिजरा॥
मथवा मुँड़ाय जोगी कपडा रँगौले, गीता बाँच के होय गैले लबरा।
कहहि कबीर सुनो भाई साधो, जम दरवजवा बाँधल जैबे पकडा[१०]॥

इसलिए कबीर ने घोषणा की है कि वेश-धारण के फेर मे न पडकर मन को ही अपने वश में करना व्यक्ति का परमकर्तव्य है—

कबीर माला मनहिं की, और संसारी भेख।
माला फेरे हरि मिलै, तो गले रहट के देख[११]॥
माला पहरै मनमुषी, ताथै कछू न होइ।
मन माला कौ फेरतां, जुग उजियारा सोइ[१२]॥

---

१. वही, गाथा ३९३।
२. वही, ३९४।
३. संयुत्तनिकाय, भाग १, पृष्ठ ७५।
४. दोहाकोश, पृष्ठ ८-९।
५. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १३०-१३१।
६ वही, पृष्ठ १३१।
७. कबीर, पृष्ठ २६७।
८. वही, पृष्ठ २७१।
९. कबीर ग्रंथावली. पृष्ठ ४६।
१०. कबीर, पृष्ठ २७१-२७२।
११ सन्तबानी सग्रह भाग १ पृष्ठ ६
१२ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ ४५

श्राद्ध

बौद्धधर्म में मृत व्यक्ति के निमित्त पुण्य-कर्म करके उसे पुण्यांश प्रदान करने का नियम है। जब कोई व्यक्ति मर जाता है, तब भिक्षु-संघ को भोजन-दान आदि देकर उससे अर्जित पुण्य को "इदं नो ञातीनं होतु, सुखिता होन्तु ञातयो"[1] (यह पुण्य हमारे भाई-बन्धु के लिए हो, इससे हमारे भाई-बन्धु सुखी हों) कहकर अर्पित करते हैं, किन्तु उसे अन्न, जल, वस्त्र, पिण्ड आदि नहीं प्रदान करते, क्योंकि प्रेत्य व्यक्ति पुण्य तो प्राप्त कर सकता है, किन्तु पिण्ड-दान आदि नहीं, इसीलिए बौद्धधर्म में "श्राद्ध" नाम की क्रिया नहीं है, केवल पुण्यानुमोदन का ही विधान है। कबीर ने भी पिण्डदान, श्राद्ध आदि की निन्दा की है और कहा है कि यह विचित्र लोक-व्यवहार है कि मृत व्यक्ति को जला देने के पश्चात् उसके प्रति स्नेह प्रगट करते हैं, जीवित पितृ को मारते-पीटते हैं, किन्तु मर जाने पर गंगा में प्रवाहित करते हैं, जीते समय उसे अन्न नहीं देते, किन्तु मर जाने के पश्चात् पिण्डदान करते हैं, जीवित पितृ को दोषी ठहराते हैं, किन्तु मरने पर उसके लिए श्राद्ध करते हैं। यह भी कितनी आश्चर्यजनक बात है कि पिण्डदान को तो यहीं कौवे खा जाते हैं, फिर पितृ उसे कहाँ से पाते हैं[2]? संयुत्त-निकाय में कहा गया है कि इसी प्रकार ब्रह्मा के निमित्त दी गई आहुति भी ब्रह्मा को नहीं प्राप्त होती, पितृ-जन की बात तो दूर की है—

"हे ब्राह्मणि ! यहाँ से ब्रह्मलोक दूर है,
जिसके लिए प्रति दिन आहुति दे रही हो।
हे ब्राह्मणि ! ब्रह्मा का यह भोजन भी नहीं है,
ब्रह्म-मार्ग को बिना जाने क्या भटक रही है[3]।"

इसी प्रकार कबीर बौद्ध-मान्यता की ही भाँति श्राद्ध में विश्वास नहीं रखते।

कृषि

भगवान् बुद्ध भी अपने को कृषक मानते थे, किन्तु उनकी कृषि अमृत-फल उत्पन्न करनेवाली थी। कृषि भारद्वाज ने भगवान् बुद्ध से कहा—"श्रमण ! मैं जोतता और बोता हूँ। मैं जोत-बोकर खाता हूँ। श्रमण ! आप भी जोतें और बोएँ। आप भी जोत-बोकर खायें।"

तब भगवान् बुद्ध ने कहा—"ब्राह्मण ! मैं भी जोत-बोकर खाता हूँ।"

"आपकी कृषि क्या है ?" कृषि भारद्वाज ने पूछा।

भगवान् ने उत्तर देते हुए कहा—"श्रद्धा मेरा बीज है, तप वृष्टि है, प्रज्ञा मेरा जुआट और हल है, लज्जा हरिस है, मन की जोत है, स्मृति फाल और छेकुनी है, सत्य की निराई करता हूँ, निर्वाण-प्राप्ति मेरा विश्राम है, उत्साह मेरा बैल है, . ..मेरी कृषि अमृत-फल देनेवाली है, इस खेती से सब दुःखों से मुक्ति प्राप्त हो जाती है[4]।"

---

१. खुद्दकपाठ, पृष्ठ १२। २. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २०७।

३. संयुत्तनिकाय, भाग १, पृष्ठ ११७।

४. सुत्तनिपात पृष्ठ १५-१७ और संयुत्तनिकाय भाग १ पृष्ठ १३८।

इसी प्रकार कबीर ने भी अपने को कृषक कहा है और उन्होंने भी हल चला कर परमपद-फल वाली कृषि की है—

सत्त नाम हल जोतिया, सुमिरन बीज जमाय।
खण्ड ब्रह्माण्ड सूखा पड़ै, भक्ति बीज नहिं जाय[1] ॥
सुमिरन का हल जोतिए, बीजा नाम जमाय।
खण्ड ब्रह्माण्ड सूखा पड़ै, तहू न निस्फल जाय[2] ॥

भगवान् बुद्ध ने श्रद्धा को बीज कहा है, किन्तु कबीर ने 'स्मरण' और 'नाम' को, हल भी 'सत्तनाम' तथा 'स्मरण' है, किन्तु तथागत का हल 'प्रज्ञा' (ज्ञान) है। इतना अन्तर होते हुए भी दोनों कृषक हैं, दोनों हल जोतते हैं। दोनों की ही कृषि निष्फल नहीं होती, उससे अमृत-फल निर्वाण की प्राप्ति होती है, चाहे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सूखा ही क्यों न पड़े—यह कृषि कभी सूखती नहीं।

भाषा

भगवान् बुद्ध ने लोकभाषा पालि में उपदेश दिया था और छान्दस् (वैदिक) भाषा में बुद्ध-वचनों को करने का निषेध किया था—"भिक्षुओ ! बुद्ध-वचन को छान्दस् में नहीं करना चाहिए, जो करे उसे दुष्कृत का दोष लगेगा, भिक्षुओ ! अपनी भाषा (सकायनिरुत्ति) में बुद्ध-वचन सीखने की अनुमति देता हूँ[3]।" कबीर ने भी संस्कृत भाषा का विरोध किया। वे भी लोक-भाषा के ही पक्ष में थे। उनका कहना था कि संस्कृत भाषा पढ़ लेने मात्र से कोई ज्ञानी नहीं होता—

संसकिरत भाषा पढ़ि लीन्हा, ज्ञानी लोक कहो री।
आसा तृस्ना में वहि गयो सजनी, काम के ताप सहो री ॥
मान मनीकी मटुकी सिर पर, नाहक बोझ मरो री।
मटुकी पटक मिलो पीतम से, साहेब कबीर कहो री[4] ॥

संस्कृत तो कूँए के जल की भाँति स्थिर एवं गतिहीन है, किन्तु लोक-भाषा बहता हुआ जल है। लोक-भाषा से ही सद्गुरु का परिचय मिल सकता है, क्योंकि लोक-भाषा सद्गुरु के साथ है और इसी में गम्भीर एवं अथाह सत्य-मत भी है, अतः संस्कृत को छोड़कर लोक भाषा को अपनाने से ही सत्य-ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है—

संस्किरत है कूप जल, भाषा बहता नीर।
भाषा सतगुरु सहित है, सत मत गहिर गँभीर[5] ॥

भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं को भाषा के दुराग्रह से रोका था और ऐसी लोक-भाषा के व्यवहार करने का उपदेश दिया था, जिसे सब लोग समझ सकें[6] और कबीर ने भी लोक

---

१. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ १४। २. वही, पृष्ठ ७।
३. विनयपिटक, पृष्ठ ४४५। ४. कबीर, पृष्ठ २८४।
५. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ६३। ६. मज्झिमनिकाय, पृष्ठ ५७०।

भाषा को ही अपनाने की प्रशंसा की, जिस कूप-जल सदृश मृत-भाषा को अपनाकर पण्डित अभिमान करते हैं, उस संस्कृत भाषा से भला कैसे सद्गुरु का परिचय प्राप्त हो सकता है और जब सद्गुरु से ही भेंट नहीं हुई तो फिर सत्य का दर्शन कैसे सम्भव हो सकता है ?

उपसंहार

कबीर समन्वयवादी एवं सारग्राही थे। उन्होंने बौद्धधर्म से प्रभावित होकर उसके मूलतत्त्वों एवं आदर्शों को ग्रहण किया और सन्तमत में बौद्धधर्म का एक सुन्दर समन्वय कर लोक-कल्याण के लिए एक प्रशस्त मार्ग प्रस्तुत कर दिया। उन्होंने बौद्धधर्म के शील, निर्वाण, समाधि, ज्ञान, स्मृति, अशुभ, अनित्य, दुःख, कर्म-फल के विश्वास, पाप-पुण्य, प्राणायाम, अनासक्ति-योग, क्षणभंगुरता आदि का अपने शब्दों में वर्णन किया और 'सत्यनाम' वाले बुद्ध को ही निराकार सत्तनाम माना। कबीर के समय में उत्तर भारत में बौद्ध न थे, किन्तु बौद्ध-धर्म का आदर्श जन-मानस में व्याप्त था, उसे ही कबीर ने अपनाया। यदि बौद्ध पण्डितों या भिक्षुओं से उनकी भेंट हुई होती तो सम्भव था कि वे ज्ञानी गोरखनाथ की भाँति—जो कि चौरासी सिद्धों में से एक थे—बुद्ध और बौद्धधर्म के प्रशंसक हो गये होते, किन्तु उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से बौद्धधर्म से परिचित न होते हुए भी, अप्रत्यक्ष रूप से उसी के आदर्श को सम-न्वयात्मक-प्रवृत्ति से ग्रहण किया था। डॉ० भरतसिंह उपाध्याय ने कबीर की इस प्रवृत्ति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि भारत में बौद्ध-साधना के अन्तिम उत्तराधिकारी सन्त अज्ञात रूप से विस्मृत बौद्ध-साधना को ही वाणी दे रहे थे, जब उन्होंने गाया है—"या काया की कौन बड़ाई", "हम को उढ़ावौ चदरिया", "रहना नहिं देस बिराना है", "मन रहना रे हुसियार एक दिन चुरवा आवेगा" आदि[1]। उन्होंने भी स्वीकार किया है कि कबीर साहब का "साँसो साँसा नाम जाप" बौद्ध-साधना आनापानसति का ही रूपान्तर था और "मन रे जागत रहिये भाई" बौद्धधर्म के जागरूक रहकर स्मृति और सम्प्रजन्य से युक्त होकर विहरने का ही आदर्श था[2]। भगवान् बुद्ध ने उट्ठानसुत्त में कहा है—"जागो, बैठो, सोने से तुम्हें क्या लाभ ? दुःख रूपी तीर लगे रोगियों को नींद कैसी[3] ? कबीर ने कहा है कि कुशल-कार्यों के करने में विलम्ब न करो, जो कल करना है, उसे आज ही कर डालो[4] और यही बात तथागत ने भी कही है—"अज्जेव किच्चं आतप्पं, को जञ्ञा मरणं सुवे"[5] जिस कार्य को करना है उसे आज ही कर डालो, कौन जाने कि कल मृत्यु हो जाय। अतः भूत, भविष्य की चिन्ता छोड़कर वर्तमान में ही जुट जाओ[6]। इस प्रकार बुद्ध-वाणी का आदर्श ही कबीर-वाणी में परिलक्षित है। तथागत को यथावादी तथाकारी अर्थात् कथनी और करनी में समान होने के कारण ही 'तथागत' कहा जाता है[7] कबीर ने भी कथनी और करनी में समता का उपदेश दिया

है[१]। ऐसे ही भगवान् बुद्ध की भाँति कबीर ने निद्रा,[२] परनिन्दा,[३] रसतृष्णा,[४] सादा जीवन,[५] उदारता,[६] गार्हस्थ्य धर्म,[७] समदृष्टि,[८] विश्वास[९] आदि के सम्बन्ध में समान भाव व्यक्त किए हैं। भगवान् बुद्ध ने आलस्य, प्रमाद, उत्साह-हीनता, असंयम, निद्रा और तन्द्रा को सर्वथा ही त्यागने को कहा है[१०]। पर-निन्दा[११] और रस-तृष्णा[१२] को अनुचित बतलाया है, सादा जीवन,[१३] उदारता,[१४] समता[१५] और उत्तम गार्हस्थ्य-जीवन[१६] की प्रशंसा की है। विश्वास को उन्होंने सबसे बड़ा सम्बन्धी कहा है;[१७] भगवान् बुद्ध ने तीर्थ-व्रत, नदी-स्नान आदि से पुण्य होने की भावना का विरोध किया है[१८]। गोरखनाथ ने ६८ तीर्थों को इस शरीर में ही स्थापना की है[१९]। कबीर ने साधु के चरणों में ही ६८ तीर्थों तथा करोड़ों गया तथा काशी की कल्पना की है[२०]। इस प्रकार कबीर-वाणी में बौद्धधर्म के प्राय सभी आदर्शों का समन्वय स्पष्ट रूप से पाया जाता है।

---

१. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ४७।
२. वही, पृष्ठ ५६।
३. वही, पृष्ठ ६०।
४. वही, पृष्ठ ६०।
५. वही, पृष्ठ ६२।
६. वही, पृष्ठ ४९।
७. वही, पृष्ठ ४६।
८. वही, पृष्ठ ३३।
९ वही, पृष्ठ २१।
१०. संयुत्तनिकाय, भाग १, पृष्ठ ४५।
११ धम्मपद, गाथा ५० तथा २५२-२५३।
१२ धम्मपद, गाथा ७-८।
१३. सुत्तनिपात, पृष्ठ २९।
१४. संयुत्तनिकाय, भाग १, पृष्ठ २०।
१५. सुत्तनिपात, पृष्ठ १३०-१४१।
१६. सुत्तनिपात, पृष्ठ ३७, ७९।
१७. आरोग्य-परमा लाभा, सन्तुट्ठी परमं धनं।
विस्सासपरमा ञाती, निब्बानं परमं सुखं॥ —धम्मपद, गाथा २०४।
१८. मज्झिमनिकाय, पृष्ठ २६।
१९. घट ही भीतरि अठसठि तीरथ, कहाँ भ्रमै रे भाई। —गोरखबानी, पृष्ठ ५५।
२०. अठसठ तीरथ साध के चरनन, कोटि गया औ कासी।
संग्रह भाग २ पृष्ठ १६

[आ] कबीर के समसामयिक सन्त और उन पर बौद्धधर्म का प्रभाव
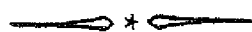
तत्कालीन धार्मिक परिस्थिति

मध्ययुग में उत्तरी भारत की धार्मिक परिस्थिति बहुत ही विषम थी। शताब्दियो से भारत पर होनेवाले यवन-आक्रमण एवं लूट-पाठ से जन-जीवन में निराशावाद का प्राबल्य हो चला था। सामूहिक रूप से धर्म-परिवर्तन करने के लिए जनता को विवश किया जाता था। हिन्दू राजाओं की पारस्परिक फूट एवं असहयोग के कारण सभी शक्तियाँ छिन्न-भिन्न हो गयी थी। धार्मिक या राजनैतिक संगठन नही रह गया था। हिन्दू मुसलमान शासकों द्वारा अनेक प्रकार से पीड़ित किए जा रहे थे। उनसे विशेष शुल्क लिया जाता था। उनकी मान-मर्यादा एवं कुल-मर्यादा अरक्षित थी। हिन्दू ललनाओं को बलात्कारपूर्वक विधर्मी बना लिया जाता था। धार्मिक वातावरण अशान्त हो गया था। अपने धर्म को सत्य-धर्म समझनेवाले बुद्धन ब्राह्मण की भाँति मार डाले जाते थे। कहते है कि लखनऊ के बुद्धन नामक ब्राह्मण को सिकन्दर लोदी ने इसलिए जीवित जला दिया था कि उसने कहा था कि उसका धर्म भी इस्लाम के समान सच्चा धर्म है[1]। कबीर जैसे सन्त को भी इन अन्धविश्वासी एवं क्रूर शासको के कोप का भाजन होना पड़ा था[2]। हिन्दुओं के सहस्रो मन्दिर तोड़ डाले गये थे और उनकी धन-सम्पत्ति एवं सोने-चाँदी की मूर्तियाँ लूट ली गई थी। डॉ० ईश्वरीप्रसाद ने इस काल की धार्मिक परिस्थिति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"तुर्कों का शासन धर्म से अधिक अनुशासित होता था। बादशाह सीजर और पोप के मिश्रित रूप में हुआ करते थे। मूर्ति-पूजा खण्डन, बलात् धर्म-परिवर्तन आदि मुसलमानी राज्य के आदर्श थे। अपनी सम्पत्ति की रक्षा के लिए हिन्दुओ को जजिया भी देना पडता था। हिन्दुओं के धार्मिक उत्सव बन्द थे। कुछ बादशाहों ने नये मन्दिरों का निर्माण तथा पुरानों की मरम्मत भी रोक दी थी। जिन बादशाहों ने उलमाओं की नीति का समर्थन किया उनकी प्रशंसा की गयी, अलाउद्दीन और मुहम्मद तुगलक ने उनका विरोध किया था, किन्तु उलमाओ ने उन्हे चैन से नहीं रहने

---

१. भारत में मुस्लिम शासन डॉ० ईश्वरी प्रसाद।

२ सल्तनत ऑफ़ देहली पृष्ठ ४५८।

दिया। सिकन्दर लोदी के समय म तो हिन्दुओं पर अत्याचार करने का आन्दोलन-सा चल गया था। लोदी ने समस्त मन्दिरों को तुडवा देने की आज्ञा दे रखी थी। मुसलमानी शासन मे योग्यता की पूछ न थी, बादशाह की इच्छा प्रधान थी। उच्चपदों पर मुसलमान ही रखे जाते थे, अधिकाश जमीन भी उन्ही के हाथ में थी। हिन्दू श्रमिको की भाँति रहते थे, फलत: हिन्दू निर्धनता एवं संघर्षों का जीवन बिताते थे, उनका जीवनस्तर बहुत नीचा हो गया था। उन्हे ऊँचे पद कभी नहीं मिलते थे और उधर शासकवर्ग मे विलासिता का पूरा पोषण हुआ। इस प्रकार १४वीं शताब्दी के अन्त तक शक्ति और पौरुष का ह्रास हो गया था। हिन्दुओं को दबाकर और कभी ५० प्रतिशत तक कर लेकर आनन्दोपभोग करना उनका काम हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दुओं की प्रतिभा कुण्ठित हो गयी। फिर भी रामानन्द, कबीर जैसे वैष्णव भक्त इसी काल मे हुए[1]।" जयचन्द्र विद्यालंकार ने तत्कालीन धार्मिक परिस्थिति का वर्णन करते हुए कहा है कि उस समय जनसाधारण मे मूर्तिपूजा जडपूजा के रूप मे प्रचलित थी, हिन्दुओ के प्राय. सभी पन्थो मे कोई-न-कोई विषयी या घोर रूप चल चुके थे। अलौकिक और असाधारण सिद्धियाँ ऊँचे जीवन का चिह्न मानी जाने लगी थी। पौराणिक धर्म मे अर्थहीन क्रियाकलाप बहुत बढ गया था। हिन्दू धर्म-कर्म मे व्रतो तथा अनुष्ठानो की सख्या कल्पनातीत हो गयी थी[2]। डॉ० त्रिगुणायत का कथन है कि मध्ययुगीन भारत मे धर्मों की त्रिवेणी प्रवाहमान थी। उस त्रिवेणी की तीन धाराएँ थी—(१) हिन्दूधर्म, (२) बौद्ध, जैन आदि अन्य भारतीय धर्म-पद्धतियाँ और (३) इस्लाम धर्म[3]। किन्तु हम इस बात से पूर्णत: सहमत नही है, क्योकि इस्लाम धर्म का तो मुसलमान शासको द्वारा प्रचार-कार्य चल ही रहा था और हिन्दूधर्म उनके अत्याचारों का केन्द्र-विन्दु बना हुआ था, जैन भी हिन्दुओं से भिन्न नही थे, किन्तु उस समय उत्तर भारत मे बौद्धधर्म तो केवल अपने आदर्श मात्र को छोड गया था, जैसा कि पहले हमने देखा है। बौद्धधर्म की भस्म पर ही सन्तमत का प्रादुर्भाव हुआ था। इस समय उसके विचार-मात्र जनसमाज मे थे, किन्तु वे बौद्ध नाम से नहीं जाने जाते थे। तथागत सम्यक् सम्बुद्ध को भूलकर जनता पौराणिक बुद्ध से ही परिचित थी, जिनका उसके लिए अवतारा से अधिक महत्व नहीं था। डॉ० त्रिगुणायत का यह कथन सर्वथा ही भ्रामक है कि बुद्ध ने कहा था कि "गृहस्थाश्रम में मोक्ष-प्राप्ति कभी भी नही होती",[4] बौद्धग्रंथो मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सद्धर्म के आचरण से स्त्री-पुरुष सभी निर्वाण प्राप्त कर सकते है। निर्वाण-प्राप्ति के लिए गृहस्थ, प्रव्रजित या स्त्री-पुरुष का कोई भेद नही है[5]। साधु-सन्तों और वैरागियों की बाढ भी केवल बौद्धधर्म की देन न थी, सिद्धो ने

१ मध्ययुगीन भारत, पृष्ठ ५०२-५१४, "रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव" के पृष्ठ २८-२९ से उद्धृत।
२. इतिहास प्रवेश, पृष्ठ ६६-६७।
३. हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक भूमि, पृष्ठ ६७।
४. वही, पृष्ठ ८३।
५ संयुत्तनिकाय भाग १ हिन्दी अनुवाद पृष्ठ ३२ २० गाथा २२५ ३८३ और १४२ यस्स एतादिस यान इत्थिया पुरिसस्स वा सव एतन यानेन निब्बानस्सेव सन्तिके

तो साधु होना व्यर्थ घोषित किया था और जहाँ कहीं भी रहकर ज्ञान की प्राप्ति की जा सकती थी क्योंकि बोधि (ज्ञान) सर्वत्र निरन्तर स्थित है[1] भारतीय साधु-सन्तों की बाढ़ तो भारतीय ही श्रमण-संस्कृति की देन थी, जिसका प्रभाव मध्ययुगीन भारत में शैव, शाक्त, वैष्णव, सन्त आदि निर्गुण-सगुण रूपों में विद्यमान था। अब बौद्ध-भिक्षुओं का समय बीत चुका था, बौद्ध-भिक्षु नाममात्र के लिए भी न थे, फिर उनके कारण साधु-सन्तों की बाढ़ कहाँ से आती ? हाँ, उनके विचार जनमानस में परम्परागत विद्यमान थे। सगुण, निर्गुण, शैव, वैष्णव, नाथपन्थी आदि प्रायः सभी इन विचारों से प्रभावित थे, यहाँ तक कि सूफी मत भी उनसे अछूता न रह पाया था। एक समय बौद्धधर्म राजाश्रय पाकर फला-फूला था और पड़ोसी राष्ट्रों में उसके सन्देश-वाहक गये थे और उन्होंने वहाँ उसका प्रचार किया था, किन्तु कबीरदास के समय में तो केवल असुर-संहारक बुद्ध ही जन-मानस में व्याप्त थे। इस प्रकार कबीर के समय में उत्तर भारत की धार्मिक विचारधारा अनेक प्रकार के प्रभावों से समन्वित थी और उसका प्रभाव तत्कालीन सभी धार्मिक व्यक्तियों पर पड़ना स्वाभाविक था। उसी प्रभाव के फलस्वरूप रामानन्द आदि सन्तों की साधना-पद्धति, जीवन-आदर्श, भक्ति-स्वरूप एवं मुक्ति समन्वयात्मक-प्रवृत्ति से समन्वित है, जिसमें प्रधान रूप से शान्त-रस प्रवाहमान है, विनय, संयम, प्रेरणा, उद्बोधन, शरणागति, भक्ति, वैराग्य, मुक्ति आदि सन्त-सुलभ गुणधर्म विद्यमान है और मध्ययुगीन भारतीय सन्तों की यह सबसे बड़ी देन है। इन्हीं पूर्ववर्ती सन्तों की विचार-सरणी का प्रभाव कबीर पर पड़ा था, जिसे कि उन्होंने एक व्यवस्थित रूप दिया था तथा भारतीय जन-जीवन में एक सांस्कृतिक एवं धार्मिक चेतना को जागृत किया था, जो अत्याचारी, अन्यायी तथा धर्म-विद्वेषी शासकों के उत्पीडन सहने में समर्थ थी। ये सन्त मध्ययुगीन भारतीय धर्म एवं संस्कृति के आधार-स्तम्भ थे, जिनके बल पर धर्म का प्रासाद झंझावात तथा अशनिपात को भी सहने में सक्षम हो सका।

सेन नाई

कबीर के समसामयिक सन्तों में सेन नाई, स्वामी रामानन्द, राघवानन्द, पीपा, रैदास, धन्ना, मीराबाई, झालीरानी और कमाल के नाम उल्लेखनीय हैं। इन सन्तों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक सन्त हुए, किन्तु वे मूक-साधक की भाँति साधना-रत हो धर्म-रस की अनुभूति में अपने जीवन को व्यतीत कर सदा के लिए प्रज्वलित प्रदीप की भाँति बुझ गये। उनके चरित्र, भक्ति, साधना और त्याग की स्मृति कुछ दिनों तक जन-मानस में रही और धीरे-धीरे विस्मृति में विलीन हो गयी। जिन सन्तों के नाम, जीवन-चरित्र, साधना, वाणी आदि के सम्बन्ध में सन्तपरम्परा में कुछ तत्व सुरक्षित बच गये हैं, वे हमें पूर्वजों की संचित-निधि के रूप में प्राप्त हुए हैं, इन्हीं सन्तों में सेन नाई भी एक थे। वे स्वामी रामानन्द के शिष्य थे[2]। उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा से वे बान्धवगढ के राजाराम नामक नरेश के सेवक थे[3]। किन्तु महाराष्ट्रीय सन्तों की परम्परा के अनुसार वे बीदर नरेश की सेवा में नियुक्त

---

१. दोहाकोश, भूमिका, पृष्ठ २७।
२. आदिग्रंथ, रागु धनासरी, पद १।
३ पष्ठ ५२६

ज्ञानेश्वर के समकालीन थे[1]। इनके सम्बन्ध मे दोनो परम्पराएँ मानती है कि ये राजा की सेवा मे थे और इनकी भक्ति को देखकर राजा इनसे प्रभावित होकर इनका शिष्य हो गया था। दोनो ही अनुश्रुतियो से ज्ञात होता है कि ये सन्तों की सेवा मे लगे रहने के कारण राजा की सेवा मे विलम्ब से गये, तब तक इनकी अनुपस्थिति में स्वयं भगवान् इनका रूप धारण कर राजा की सेवा कर गए। रहस्य प्रगट होने पर राजा इनका शिष्य हो गया था[2]। इन तथ्यों पर विचार करते हुए विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि सेन रामानन्द के ही शिष्य थे और नाई जाति के थे[3]। मराठी भाषा के अभंग इन्ही के है। आदिग्रन्थ मे इनका जो पद संकलित है, उससे भी स्पष्ट है कि ये रामानन्द के ही शिष्य थे। सेन का शेष जीवनवृत्तान्त अज्ञात है। डॉ० ग्रियर्सन ने इनके सेन-पन्थ की भी चर्चा की है, किन्तु उसका इस समय कुछ पता नही चलता[4]।

स्वामी रामानन्द

स्वामी रामानन्द का जन्म सन् १२९९ (वि० सं० १३५६) मे प्रयाग में हुआ था। इनकी माता का नाम सुशीला और पिता का नाम पुण्यसदन था[5]। बचपन मे वे पढने के लिए काशी भेजे गये थे और वहीं उन्होंने राघवानन्द से शिष्यत्व ग्रहण कर लिया था। पीछे संन्यास ग्रहण कर वे काशी के ही पंचगंगा घाट पर एक गुहा मे रहने लगे थे। वे अपने समय के बडे प्रसिद्ध सन्त थे। उन्होने भारतीय योग, भक्ति, साधना एवं निर्गुण भक्ति-धारा को एक नई दिशा दी। उनके मतावलम्बी रामानन्दी अथवा रामावत् सम्प्रदाय के कहे जाते है और उनमें कुछ अवधूत तथा कुछ वैरागी कहलाते हैं। आबू और जूनागढ की पहाड़ियो पर उनके चरण-चिह्न मिलते हैं। जूनागढ में उनकी एक गुफा भी है[6]। स्वामी रामानन्द ने सम्पूर्ण भारतवर्ष का पर्यटन किया था। वे तीर्थयात्रा करते हुए गंगासागर, बदरिकाश्रम, रामेश्वरम्, द्वारका, मिथिला आदि स्थानों में भी गये थे[7]। इस पर्यटन से उनके विचार मे परिवर्तन आ गए थे और उन्होने राघवानन्द के मठ को छोड़कर स्वयं अपने विचारो के प्रचार में समय व्यतीत किया। परम्परागत सम्प्रदाय वालों का कहना है कि जब रामानन्द तीर्थयात्रा से आये तब अन्य सन्तो ने उनके साथ भोजन करने मे आपत्ति की, तब वे उनसे अलग होकर धर्म-प्रचार मे लग गए, किन्तु डॉ० बद्रीनारायण श्रीवास्तव का कथन ही समीचीन है कि रामानन्द ने तीर्थों का भ्रमण करके ही अपने दृष्टिकोण को युगधर्म के अनुकूल बना लिया

---

१. मराठी का भक्ति-साहित्य, पृष्ठ ९७।
२. मराठी का भक्त-साहित्य, पृष्ठ ९८ तथा रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, पृष्ठ १७७।
३. रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, पृष्ठ १७७।
४. उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृष्ठ २३३।
५. रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, पृष्ठ ७७।
६. हिन्दीकाव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय. पृष्ठ ३७।
७ रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव पृष्ठ ८४

था[१]। रामानन्द द्वारा लिखे १७ ग्रन्थो के नाम लिए जाते है,[२] किन्तु इनमे से श्री वैष्णव-मताब्जभास्कर और श्रीरामार्चनपद्धति ही प्रामाणिक माने जाते है[३]। इनका लिखा एक पद आदिग्रन्थ मे संग्रहीत है[४]। इसके अतिरिक्त हनुमान स्तुति, शिवरामाष्टक और रज्जबदास के सर्वाङ्गी ग्रन्थ से संकलित पद भी मिले हैं, किन्तु इनकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे अनेक मत है[५]। डॉ० त्रिगुणायत का कथन है कि "रामानन्द ज्ञान, भक्ति, योग एवं वैराग्य—इन चारो के मिलनविन्दु थे। उनकी इस समन्वय-प्रवृत्ति ने सभी परवर्ती सन्तों को प्रभावित किया है[६]।" हम पहले देख चुके है कि सन्त कबीर ने स्वामी रामानन्द को ही अपना गुरु माना था और उनके समसामयिक सन्तों ने भी उनसे ही शिष्यत्व ग्रहण किया था। स्वामी रामानन्द के शिष्यो की विचारधाराएँ प्राय निर्गुण थीं। उन्होंने राम की भक्ति एवं अनन्य शरणागति को प्रधान रूप से ग्रहण किया था। डॉ० श्रीवास्तव का यह कथन वस्तुतः सत्य है कि रामानन्द को पाकर राम-भक्ति-लता समूचे भारतवर्ष की ऊर्वरा भूमि मे बहुत ही पल्लवित हुई[७]। स्वामी रामानन्द का देहावसान सन् १४१० (वि० सं० १४६७) मे वैशाख शुक्ल तृतीया को माना जाता है[८]।

राघवानन्द

राघवानन्द स्वामी रामानन्द के गुरु थे[९]। वे काशी मे रहते थे। उन्हीं के पास रामानन्द की शिक्षा हुई थी और उन्होने इन्हीं से दीक्षा भी ग्रहण की थी। अगस्त संहिता, नाभादास-कृत "भक्तमाल, भविष्य-पुराण आदि ग्रन्थो से यह बात प्रमाणित है और आधुनिक सभी विद्वान् इससे सहमत है[१०]। राघवानन्द स्वामी हर्यानन्द के शिष्य थे, जो रामानुज परम्परा के थे[११]।

राघवानन्द का लिखा एक ग्रन्थ मिला है, जिसका नाम "सिद्धान्त पंचमात्रा" है। डॉ० बड़थ्वाल ने इस ग्रन्थ के आधार पर अनुमान किया है कि इनका साधना-मार्ग योग और प्रेम का समन्वित रूप था[१२]। परशुराम चतुर्वेदी का कथन है कि "उक्त ग्रन्थ की योग-सम्बन्धी बाते

---

१. वही, पृष्ठ ८५। २. वही, पृष्ठ १००।

३. वही, पृष्ठ १५४। ४. वही, पृष्ठ १३९।

५. रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, पृष्ठ १५४।

६. हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृष्ठ २४।

७. रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, पृष्ठ ९८।

८. वही, पृष्ठ ९६।

९. वही, पृष्ठ ८१।

१०. रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, पृष्ठ ८०-८१।

११ वही पृष्ठ ८२

१२ योग प्रवाह, पृष्ठ ८

अधिकतर हठयोग-प्रणाली का अनुसरण करती है और उसमें वैष्णवधर्म द्वारा स्वीकृत माला, तिलक, सुमिरनी जैसे विषयो का भी पूरा समावेश है, जिससे सिद्ध है कि उस काल का वातावरण नाथयोगी-सम्प्रदाय के सिद्धातो एव साधनाओ द्वारा भी बहुत कुछ प्रभावित रहा[1]।" डॉ० बदरीनारायण श्रीवास्तव ने "सिद्धान्त पंचमात्रा" को राघवानन्द की कृति होने मे सन्देह किया है,[2] किन्तु ग्रन्थ ने वर्णित विषयो एवं नाथयोगी-सम्प्रदाय के प्रभाव से प्रभावित होने के कारण इसे राघवानन्द की कृति मानने मे कोई आपत्ति नही, क्योकि राघवानन्द रामानन्द के गुरु थे और रामानन्द के शिष्य सन्तो ने सिद्ध तथा नाथयोगी परम्परा से प्रभावित भक्ति का स्रोत प्रवाहित किया था। हम यह भी जानते है कि राघवानन्द काशी के एक बडे योगी थे। उन्होने अपने योग-बल से ही रामानन्द को मृत्यु से बचाया था तथा उन्हे भी योग की शिक्षा दी थी[3]।

पीपा

सन्त पीपा राजस्थान के गांगरौनगढ के राजा थे। इनके समय के सम्बन्ध मे मतभेद है। मैकालिफ तथा डॉ० फर्कुहर ने इनकी जन्मतिथि वि० सं० १४८२ मानी है, परशुराम चतुर्वेदी ने इनका समय सं० १४६५ से १४७५ के लगभग माना है[4], किन्तु जनरल कनिंघम ने गागरौन राज्य की वंशावली के अनुसार पीपा का समय सं० १४१७ से १४४२ के बीच माना है[5]। इसे ही डॉ० बड़थ्वाल[6], डॉ० श्रीवास्तव[7] आदि विद्वानो ने भी स्वीकार किया है। हम भी इसी तिथि के पक्ष मे है।

सन्त पीपा स्वामी रामानन्द के शिष्य थे। इनके सम्बन्ध मे अनेक चमत्कारिक घटनायें प्रचलित है। इन्होने अपना राजसिहासन त्याग कर अपनी छोटी रानी सीतादेवी के साथ संन्यास ग्रहण कर लिया था। इन्होंने रामानन्दजी के साथ द्वारिका की यात्रा भी की थी और वहाँ कुछ दिनो तक निवास किया था। वहाँ से लौटते समय पठानों ने इन्हे तथा इनकी रानी को कष्ट दिया था और रानी को छीन लेना चाहा था, किन्तु सफल नही हो पाये थे। ये परमभक्त और भक्तों की सेवा करने वाले थे।

इनका एक पद आदिग्रन्थ मे संग्रहीत है। कहते है कि "पीपाजी की बानी" नाम से एक ग्रन्थ काशी से प्रकाशित हुआ था, जो अब उपलब्ध नही है।

---

१. उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृष्ठ २२३।
२. रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दीसाहित्य पर उसका प्रभाव, पृष्ठ ८२-८३।
३. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ३७।
४. उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृष्ठ २२३।
५. आर्कियालाजिकल सर्वे रिपोर्ट, भाग २, पृष्ठ २९५-९७।
६ हिन्दी-काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय पृष्ठ ४०।
७ तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव पृष्ठ १८२

रैदास

सन्त रैदास का वास्तविक नाम "रविदास" था[1], किन्तु नाभादास[2] और मीराबाई[3] ने इन्हें रैदास नाम से ही स्मरण किया है। इनका जन्म वाराणसी के पास मडुआडीह नामक ग्राम में हुआ था[4]। इनके पिता का नाम रघू और माता का नाम करमा था[5]। ये चमार जाति के रत्न थे। रैदास ने स्वयं स्वीकार किया है कि "मेरी जाति चमार नाम से विख्यात है"[6]। उन्होंने अपने को "रैदास चमइया"[7] तथा अपने कुल को ढोर ढोने वाली ढेढ जाति का बतलाया है[8]। सन्तकबीर की भांति ये भी विवाहित थे। इनकी पत्नी का नाम लोना था[9]। ये भी अनपढ़ थे। इन्होंने सत्संग से ही ज्ञानार्जन किया था। ये भी स्वामी रामानन्द के शिष्य थे और कबीर के समसामयिक थे। ये बचपन से ही भक्ति में संलग्न रहा करते थे और भक्ति करने के साथ अपने पैतृक-व्यवसाय को भी करते थे। कहते हैं कि सन्त रैदास जूते बनाते और बेचकर जीविका चलाते थे। कभी-कभी प्रेमपूर्वक अपने बनाये हुए जूतों को सन्तों को भी पहनाकर प्रसन्नता का अनुभव करते थे। इनके ज्ञान और योग की बड़ी ख्याति थी। उच्च वर्ण के लोग भी इन्हें प्रणाम करते थे और इनका शिष्यत्व ग्रहण करते थे। मीराबाई[10] और झालीरानी[11] भी इन्हीं को अपना दीक्षा-गुरु मानती थी। सन्त रैदास चित्तौड़ की रानी झाली के निमन्त्रण पर चित्तौड़ गये थे और सिकन्दर लोदी के आमन्त्रण पर दिल्ली भी[12]। इनके सम्बन्ध में अनेक चमत्कारिक बातें प्रचलित हैं।

रैदास के जीवन-काल के सम्बन्ध में भी मतैक्य नहीं है, किन्तु हम डॉ० त्रिगुणायत के मत से सहमत हैं कि रैदास का जन्म माघी पूर्णिमा, रविवार सं० १४७१ को हुआ था और देहावसान १२६ वर्ष की आयु में सं० १५९७ में[13]। रैदास की कुछ रचनायें ग्रन्थ साहब में संकलित हैं और उनके पदों के अनेक संकलन भी प्रकाशित हुए हैं। इनमें "रैदासजी की बानी" तथा "सन्त रविदास और उनका काव्य" नामक संग्रह उत्तम हैं। प्रथम संग्रह में

---

१. रविदास ढुवन्ता ढोरनी तितिनी तिआगी भाइआ। —गुरु ग्रन्थ साहिब, राग आसार।
२. सन्देह ग्रन्थि खण्डन विपुन, बाणी विमल रैदास की। —भक्तमाल, पृष्ठ ४५२।
३. गुरु मिल्या रैदास जी दीन्हीं ज्ञान की गुटको। —मीराबाई की पदावली, पृष्ठ १०।
४. सन्त रविदास और उनका काव्य, पृष्ठ ७१। ५. वही, पृष्ठ ७३।
६. ऐसी मेरी जाति विख्यात चमारं।
हृदय राम गोविन्द गुन सारं।—रैदासजी की बानी, पृष्ठ २१।
नीचे से प्रभु ऊंच कियो है, कह रविदास चमार। —रैदासजी की बानी, पृष्ठ ४३।
७ वही, पृष्ठ ४०। ८. गुरु ग्रन्थ साहब, पृष्ठ ६९८।
९. सन्त रविदास और उनका काव्य, पृष्ठ ७३-७४।
१०. मीराबाई की पदावली, पृष्ठ १५९।
११ सन्त रविदास और उनका काव्य पृष्ठ ७८। १२ वही पृष्ठ ७८।
१३ हिन्दी की निगुण और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि पृष्ठ ३२ ३३।

रैदास द्वारा रचित ८७ साखी हैं और द्वितीय में साखियाँ और पद तथा प्रह्लाद-चरित्र हैं 'सन्तबानी संग्रह में भी इनके पद संग्रहीत हैं।

धन्ना

सन्त धन्ना जाट जाति के थे। ये राजस्थान के टाक जनपद के अन्तर्गत धुअन नामक ग्राम के निवासी थे। बचपन में ही इन्होंने भक्ति में मन लगाया। ये कबीर के समसामयिक तथा रामानन्द के शिष्य थे। इनकी जन्म-तिथि सं० १४७२ विक्रमी (ई० सन् १४१५) मानी जाती है[1]। ये विवाहित तथा कृषि-कर्म से जीवन-यापन करनेवाले सन्त थे। सन्तों की सेवा में अधिक समय व्यतीत करते थे। इनके सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि एक बार इन्होंने खेत में बोने के लिए रखे गेहूँ के बीज को सन्तों को खिला दिया और पिता के भय से बिना बीज के ही खेत में हल चला आये, किन्तु बिना बीज बोये ही पौधे उगे और अच्छी फसल हुई। यह घटना भक्तमाल और उसकी टीका में बहुत ही सुन्दर ढंग से वर्णित है[2]। इस प्रकार की अनेक चमत्कारिक घटनाये इनके सम्बन्ध में प्रसिद्ध है। इनके केवल चार पद आदिग्रन्थ में संगृहीत है, जिनसे धन्ना के भक्तिभाव और सिद्धान्त पर प्रकाश पड़ता है।

मीराबाई

मीराबाई सन्त रैदास की शिष्या थी। इनका जन्म राजस्थान के कुडकी नामक ग्राम मे सन् १४९८ ई० में हुआ था। इनके पिता रत्नसिंह थे। ये उनकी इकलौती सन्तान थी। बचपन से ही ये श्रीकृष्ण की भक्ति मे लीन रहा करती थीं। अनुश्रुति है कि एक बार एक साधु इनके यहाँ आया था। उसके पास गिरिधर की एक सुन्दर मूर्ति थी। उसे देखते ही मीरा ने उसकी ओर आकर्षित होकर माँगा, किन्तु साधु ने उसे दिया नहीं और वहाँ से चलता बना। मीरा ने मूर्ति न पाने के दुःख में खाना-पीना छोड़ दिया। कहते है कि साधु ने स्वप्न मे देखा कि भगवान् उससे कह रहे है कि मूर्ति को मीरा को दे दे। वह साधु फिर वापस आया और उसे मीरा को प्रदान कर दिया। तब से मीरा भक्तिपूर्वक उस मूर्ति की पूजा करती थी। यह भी प्रसिद्ध है कि किसी कन्या का विवाह था। मीरा और उनकी माँ बारात को खिड़की से देख रही थी। मीरा ने वर को देखकर माँ से पूछा "मेरा वर कौन है?" माँ ने मुस्कराते हुए श्रीकृष्ण की मूर्ति की ओर संकेत कर दिया। बस, तब से मीरा श्रीकृष्ण को ही अपना सब कुछ मानने लगी।

मीरा का विवाह सन् १५१६ ई० में मेवाड़ के प्रसिद्ध महाराणा साँगा के ज्येष्ठ पुत्र कुँवर भोजराज के साथ हुआ, किन्तु सन् १५१८ के आसपास ही भोजराज का देहान्त हो गया और मीरा विधवा हो गयीं। उन्होंने अब पूर्ण विरक्ति के साथ भक्तिमय जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ किया। वे सत्संग एवं संकीर्तन में निमग्न रहने लगी। कभी-कभी पैर में घुँघरू

---

१ तथा हिन्दी-साहित्य पर उसका प्रभाव पृष्ठ १७९

२ धन्य धन्ना के भगति की बिनहि बीज अंकुर भयो पृष्ठ ५२१

मिकर भी कृष्ण भक्ति के आवेश में नाचती थीं। उन्होंने रैदास से दीक्षा ली और साधु-सन्तों का स्वागत-सत्कार करना अपना कर्तव्य बना लिया। उनके परिवार वाले ऐसा नहीं चाहते थे कि सन्तों के सामने एक उच्च कुल की बहू लोकलाज छोड़कर वार्तालाप करे या उनके साथ कृष्ण के आगे नाचे। फलतः उन्होंने मीरा को अनेक प्रकार से सताया। विष तक दिया, किन्तु मीरा का कुछ बिगड़ा नही। मीरा ने मेवाड़ छोड़कर पर्यटन किया। वे वृन्दावन और द्वारिका गयी। वृन्दावन में चैतन्य सम्प्रदायी श्री जीवगोस्वामी से मिली और धार्मिक चर्चा की। उनका अन्तिम समय द्वारिका में व्यतीत हुआ और वहीं सन् १५४६ में श्री रणछोड़जी की मूर्ति में समा गयी[1]।

मीराबाई ने अनेक ग्रन्थों की रचनायें की थीं। इनके ग्रन्थों में से नरसीजी रो माहेरो, गीतगोविन्द की टीका, रागगोविन्द, सोरठ के पद, मीराबाई का मलार गर्वागीत और फुटकर पद के नाम उल्लेखनीय है।

झालीरानी

झाली रानी सन्त रैदास की शिष्या थीं। ये चित्तौड के महाराणा साँगा की धर्मपत्नी थी। इन्होंने काशी में जाकर रैदास से शिष्यत्व ग्रहण किया था और उन्हे अपने यहाँ आने का निमन्त्रण भी दिया था। जब रैदास चित्तौड़ पहुँचे तब कुछ ब्राह्मण उनसे शास्त्रार्थ करने आये। वे यह नही पसन्द करते थे कि एक रानी चमार सन्त की शिष्या बने। कहते हैं कि सिंहासन पर शालिग्राम की मूर्ति रख दी गयी और उसे अपने पास बुलाने में हार-जीत मानी गयी। ब्राह्मण मन्त्र-पाठ करते ही रह गये, किन्तु मूर्ति हिली तक नहीं, किन्तु जब रैदास ने भक्तिपूर्वक गाया—"पतित पावन नाम कीजिये प्रकट आजु", तब मूर्ति उनके पास आ गयी और ब्राह्मणो ने अपनी हार मान ली। इस घटना से झाली रानी की भक्ति रैदास के प्रति अत्यधिक दृढ हो गयी। वे सन्त रैदास के बतलाये हुए भक्ति-मार्ग का अनुसरण करने लगी और सदा भक्ति में ही तल्लीन रहने लगी।

कमाल

सन्त कमाल कबीर के औरस पुत्र थे और उन्ही के शिष्य भी थे। इनके जीवन के सम्बन्ध में बहुत ही कम जानकारी है। बोधसागर[2] के अनुसार कबीर की आज्ञा से कमाल धर्म-प्रचारार्थ अहमदाबाद गये थे। दादू दयाल की गुरु-परम्परा में ये ऊपर पाँचवीं पीढी में माने जाते है[3]। इनकी रचनाओं से यह भी प्रगट होता है कि इन्होंने पण्ढरपुर की यात्रा की थी। इन्होंने स्वयं कहा है कि जिस प्रकार दक्षिण भारत में सन्त नामदेव हुए उसी प्रकार उत्तर में कबीर का पुत्र कमाल प्रसिद्ध है। इन्होंने "हम यवन तुम तो हिन्दू" कहकर अपने को मुसलमान होना बतलाया है।

---

१. मीराबाई की पदावली, पृष्ठ २७।
२ चले कमाल तब सीस नवाई अहमदाबाद तब पहुँचे जाई। —बोधसागर पृष्ठ १५१५
३ उत्तरी भारत की सन्त पृष्ठ २४६

ऐसा जान पड़ता है कि प्रारम्भ मे कमाल की कबीर साहब से बनती न थी और कबीर इनसे असन्तुष्ट रहा करते थे। कबीर चाहते थे कि कमाल हरि-भक्ति मे लगे, किन्तु वे जीविकोपार्जन मे ही अधिक समय व्यतीत करते थे। एक बार किसी सेठ या राजा के प्राप्त धन को ग्रहण कर लेने के कारण कबीर को कहना पड़ा था—

"नाम साहब का बेचकर, घर लाया धन माल।
बूडा बंस कबीर का, जनमा पूत कमाल॥"

सन्त कमाल की जन्म तथा मृत्यु-तिथि के जानने के लिए कोई साधन नही है। इनकी समाधि कड़ा-मानिकपुर, झूँसी और मगहर मे बतलाई जाती है। परशुराम चतुर्वेदी का मत है कि मगहर की समाधि, जो कबीर साहब के रौजे के पास स्थित है, इन्हीं की है[1]।

इनकी साधना

कबीर के समसामयिक सन्त निर्गुण विचारधारा के अनुसार निर्गुण परमात्मा के भक्त थे। सेन नाई तो एक आदर्श हजाम थे, उनकी साधना अद्भुत भक्ति से ओत-प्रोत थी। उन्होने अपने एक मराठी अभंग में अपनी आदर्श-भक्ति का परिचय देते हुए कहा है—"हम पतली हजामत बनायेंगे, विवेक का दर्पण दिखायेंगे, वैराग्य का चिमटा हिलायेंगे, भावार्थ की बगल साफ करेंगे, शान्ति के जल से सिर भिगायेंगे, अभिमान की चोटी दबायेंगे, काम-क्रोध के नाखून काटेंगे और चारो वर्णो की सेवा करेंगे"[2]। सेन की यह दार्शनिक हजामत उनकी साधना की परिचायिका है। वे निर्गुण, निरंजन कमलापति की भक्ति और आरती मे ही लगे रहते थे। स्वामी रामानन्द निवृत्ति-मार्ग के उपदेष्टा और साधक थे। "राम" नाम की भक्ति इन्होंने ही प्रारम्भ की। वे भी निराकार ब्रह्म के उपासक थे। उन्होने मूर्ति-पूजा, स्नान-शुद्धि आदि को व्यर्थ और निरर्थक माना। वे एक निर्गुण ब्रह्म और सतगुरु को मानते थे और इसी भाव से ब्रह्म की भावना मे लीन रहते थे। योग आदि मे हठयोग को भी मानते थे और इसे उन्होने राघवानन्द से सीखा था। राघवानन्द साधनामार्ग के योग और प्रेम के समन्वित रूप थे[3]। हठयोग की साधना को मानते थे और सिद्धों तथा नाथो की साधना से प्रभावित थे[4]। सन्त पीपा, रैदास और धन्ना भी निर्गुण साधक थे। ये भी कबीर की भाँति सत्यनाम और हरि का स्मरण करके परमपद की प्राप्ति मानते थे। कबीर ने "सन्तनि में रविदास सन्त है" कहकर सन्त रैदास को परम सन्त माना है और इन्हे सन्त मत का सच्चा प्रचारक बतलाया है[5]। रैदास अष्टाग-साधना के प्रचारक थे। इस अष्टाग-साधना के सदन, सेवा, सन्त, नाम, ध्यान, प्रणति, प्रेम और विलय ये आठ अंग थे। इन पर चलकर ही परमपद की प्राप्ति हो

---

१. वही, पृष्ठ २५१।
२. मराठी का भक्ति-साहित्य, पृष्ठ ९७।
३. योग प्रवाह, पृष्ठ ८।
४ उत्तरी भारत की सन्त पृष्ठ २२३
५ उत्तरी भारत की सन्त पृष्ठ २४५

सकती है। हम आगे देखेंगे कि रैदास की अष्टांग साधना बौद्धधर्म के आर्य अष्टांगिक मार्ग से प्रभावित और उसी का रूपान्तर है अष्टांगिक मार्ग की सम्यक समाधि रैदास की सहज समाधि है—

गुरु की सारि, ज्ञान का अच्छर।
बिसरै तौ सहज समाधि लगाऊं[1]।

मीराबाई और झाली रानी रैदास की शिष्यायें थीं और इनपर रैदास की साधना-पद्धति का गहरा प्रभाव पड़ा था। कमाल सन्त कबीर के औरस पुत्र ही थे। उनकी साधना कबीर से बहुत भिन्न न थी। कबीर की भांति उनका भी कथन था—

"काहे कू जंगल जाता बच्चा, अपना दिल रखो रे सच्चा।"
राजा रंक दोनो बराबर जैसे गंगाजल पानी।
मान करो कोई भूपर मारो, दोनों मीठा बानी॥
सुख से बैठो अपने महेल मो, राम भजन नही अच्छा है।
अन्तर भीतर भई भरपूर, देखूं सब ही उजाला है॥[2]

ये सबमे एक ज्योति ही मानते हैं और राम-भक्ति ही सब साधनाओं से श्रेष्ठ मानते हैं। इस प्रकार हमने देखा कि कबीर के समसामयिक सन्तो की साधना-पद्धति कबीर मे समानता रखती है। ये सभी कबीर को भांति निर्गुण उपासक सन्त थे।

सिद्धान्त

कबीर के समसामयिक इन सन्तों के सिद्धान्त भी बहुत कुछ कबीर के समान ही हैं। सेन नाई ने निरंजन परमात्मा की उपासना की है। "तुम्ही निरंजन कमलापाती" कहकर उन्होने भगवान् को अलखनिरंजन माना है और यह भी स्वीकार किया है कि राम की वास्तविक भक्ति रामानन्द जानते है जो पूर्ण ब्रह्म को बतलाते है, गोविन्द की मूर्ति ही परमानन्द-दायिनी है, उसे ही हृदय मे रखना चाहिए, किन्तु हा, मूर्ति साकार नहीं, निराकार, निरंजन और अलख है। उनका गुरुग्रन्थ साहब मे संगृहीत पद इसी भाव का द्योतक है—

उत्तम दियरा निरमल वाती, तुम्हो निरंजन कमलापाती।
राम भगति रामानन्दु जानै, पूरन परमानन्द बखानै।
मदनमूरति मय तमी गुविन्दै, सैन भणय भजु परमानन्दै॥[3]

इनकी दार्शनिक हजामत के सम्बन्ध मे लिखा जा चुका है। ये वेद-शास्त्रों को न मानते थे। ग्रन्थ-प्रमाण तथा ब्रह्मा, विष्णु, महेश को कबीर की भाँति ही अस्वीकार कर निर्गु

१. सन्त रविदास और उनका काव्य, पृष्ठ २१६।
२ उत्तरी भारत की सन्त परम्परा के पृष्ठ २५१ से उद्धृत—"श्री सन्तगाथा" का पद।
३ गुरुग्रन्थ साहब

ब्रह्म के उपासक थे। इन्होंने कबीर और रैदास को सच्चा भक्त माना है और उन्हीं के सिद्धान्तों के अनुसार अनुसरण करने का प्रयत्न किया है—

वेदहि झूठा शास्त्रहि झूठा, भक्त कहा से पछानी।
ज्या ज्या ब्रह्मा तू ही झूठा, झूठी साके न मानी।।
गरुड़ चढ़े जब बिष्णु आया, साच भक्त मेरे दो ही।
धन्य कबीरा धन्य रोहिदास, गावे सेना न्हावी।।[१]

स्वामी रामानन्द के सिद्धान्तो का प्रभाव प्राय सभी निर्गुण सन्तों पर थोड़ा-बहुत पड़ा था। कबीर और उनके समसामयिक प्राय. सभी सन्त किसी-न-किसी रूप मे रामानन्द से प्रभावित या उनके शिष्य थे। स्वामी रामानन्द सर्वत्रव्यापी ईश्वर को मानते थे। उनका वह ब्रह्म केवल एक है, जो सतगुरु की कृपा से प्राप्त होता है, वेद, स्मृति मे नही, अपने "घट" में ही उस ब्रह्म का दर्शन होता है। उस गुरु की बलिहारी है जिसकी कृपा से उस ब्रह्म का परिचय प्राप्त होता है—

कहाँ जाइए हो घरि लागो रंग, मेरो चंचल मन भयो अपंग।
जहाँ जाइए तहँ जल पषान, पूरि रहे हरि सब समान।
वेद स्मृति सब मेल्हे जेइ, जहाँ जाइए हरि इहाँ न होइ।
एक बार मन भयो उमंग, घसि चोआ चन्दन चारि अंग।
पूजत चाली छाई छाई, सो ब्रह्म बतायो गुरु आप माई।
सतगुरु मैं बलिहारी तोर, सकल विकल भ्रम जारे मोर।
रामानन्द रमै एक ब्रह्म, गुर कै एक सबद कोटि कोटि क्रम्म।[२]

स्वामी रामानन्द ने स्मरण, भजन और साधु-सत्संग से आभ्यान्तरिक कलुष को धोने का मार्ग निर्दिष्ट किया है[३]।

राघवानन्द नाथो के हठयोग से प्रभावित थे। उन्होंने अवधूत-वेष धारण किया था। "गुरु प्रकारी" नामक ग्रन्थ मे लिखा है—

श्री अवधूत वेष को धारे, राघवानन्द सोई।
तिनके रामानन्द जग जाने, कलि कल्यान मई।।[४]

इससे स्पष्ट है कि राघवानन्द सिद्ध-नाथो से प्रभावित सिद्धान्त के अनुगामी थे और निर्गुण भक्ति का प्रभाव उनपर पूर्व सन्तों का पड़ा था।

---

१ मराठी का भक्ति साहित्य, पृष्ठ ९८।
२ आदिग्रन्थ, रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, पृष्ठ १३९-४० से उद्धृत।
३. सुमिरन भजन साधकी संगति अन्तरि मन मैल न धोयो रे।
हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय पृष्ठ ३९
४ योगप्रवाह पृष्ठ २३

पीपा इस काया में ही सब कुछ मानते थे। भगवान् बुद्ध ने कहा था— मैं इसी व्याम (चार हाथ) मात्र संज्ञा-विज्ञान सहित वाले शरीर से लोक को भी प्रज्ञप्त करता हूँ, लोक के समुदय (उत्पत्ति), लोक के निरोध और लोक के निरोध की ओर ले जाने वाली प्रतिपदा (मार्ग) को भी[1]।" उसी प्रकार पीपा भी इस शरीर में ही इष्टदेव, देवालय, धूप, दीप, नैवेद्य आदि पूज्य एवं पूजा-सामग्री को विद्यमान मानते थे।

वे यह मानते थे कि सत्यगवेषी को यहीं सारी वस्तुयें प्राप्त हो जाती है, किन्तु उन्हे प्राप्त करने के लिए सतगुरु का आश्रय आवश्यक है। पीपा की वाणी मे बौद्धधर्म के अनात्मवाद की भी झलक मिलती है। उनका कथन है कि जब व्यक्ति उत्पन्न होता है तब इस शरीर मे बाहर से कुछ आता नही है और मरते समय न तो यहाँ से बाहर कुछ जाता ही है—"ना कछु आइबो ना कछु जाइबो[2]।" यही बात बौद्धधर्म के प्रसिद्ध ग्रन्थ विशुद्धिमार्ग मे कही गयी है—

"दुःख ही उत्पन्न होता है, दुःख ही रहता है और दुःख ही नाश होत है। दुःख के अतिरिक्त दूसरा नहीं उत्पन्न होता और न दुःख के अतिरिक्त दूसरा निरुद्ध होता है[3]।"

भाव यह है कि यह शरीर दुःखमय है। उत्पन्न होते समय दुःख मात्र ही उत्पन्न होता है और मरते समय भी दुःख ही शान्त होता है, अन्य कोई जीव या सत्व आता या जाता नही है। और भी वहीं कहा है—

"न चितो गच्छति किञ्चि,
पटिसन्धि च जायति।[4]

अर्थात् मरते समय इस शरीर से निकल कर कोई आत्मा या जीव जाता नहीं है, किन्तु बिना कुछ गये ही पुनर्जन्म होता है।

इस प्रकार पीपा ने बाह्य-शुद्धि का निषेध और नैरात्म्यवाद, सतगुरु-सेवा तथा परमतत्व को स्वीकार किया है। सिद्धों और नाथों के समान ही शरीर में सभी तीर्थों की स्थापना की है। घट को ही उन्होने मठ माना है। सिद्धो के "सअलु निरन्तर बोहि ठिअ"[5], "नियरे बोधि ना जाहु रे लंक"[6], "देहहि बुद्ध बसन्त न जाणइ"[7], "देहा सरिस तित्थ, मइ सुणउ ण दिट्ठउ[8]" कथन के सदृश ही पीपा ने काया मे तीर्थ, मन्दिर, परमतत्व एवं सर्वव्यापी निर्गुण राम को माना है और इसी मे परमतत्व का साक्षात्कार सम्भव बतलाया है। सिद्धो की भाँति गुरु-महिमा उन्होने स्वीकार की है और शास्ता की भाँति सतगुरु को मार्गोपदेष्टा माना है—

---

१. विशुद्धिमार्ग भाग १, पृष्ठ १८२। २. सन्तबानी संग्रह भाग २, पृष्ठ २७।
३. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृष्ठ १९८। ४. वही, पृष्ठ २०७।
५ सिद्ध सरहपा, दोहाकोश, भूमिका, पृष्ठ २७।
६ दोहाकोश पृष्ठ ३५९। ७ वही पृष्ठ ६५।
८ वही, पष्ठ २२

काया देवा काया देवल काया जगम जाती
काया धूप दीप नैबदा, काया पूजों पाती ।।
काया बहु खँड खोजते, नव निद्धी पाई ।
ना कछु आइबो ना कछु जाइबो राम की दुहाई ।।
जो ब्रह्मंडे सोई पिंडे, जो खोजै सो पावै ।
पीपा प्रनवै परमतत्व ही, सतगुरु होय लखावै ।।[१]

सन्त रैदास निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे। वे निर्गुण ब्रह्म को ही सर्वश्रेष्ठ मानते थे[२]। वे उस ब्रह्म को राम, हरि, माधव, गोविन्द, मुकुन्द, मुरारि आदि नामो से पुकारते थे, किन्तु उसे दशरथ-पुत्र राम अथवा गोकुल के नायक कृष्ण से भिन्न मानते थे। सासारिक लोग जिसे "राम, राम" या "कृष्ण, कृष्ण" कहकर पुकारते है, वह राम या कृष्ण रैदास के नहीं है[३]। उनका राम तो अलख है, निरंजन है, निराकार है, निर्गुण है, अगोचर और निर्विकार है[४], उसका कही स्थान नही है, वाणी से उसे बतला सकना सम्भव नही है[५]। वह घट-घट मे विद्यमान है[६]। उसका कोई रूप-रंग नहीं है[७]। कनक-कुण्डल, सूत-वस्त्र, जल-तरंग तथा पत्थर-प्रतिमा मे जिस प्रकार एक ही तत्व है, उसी प्रकार ब्रह्म और आत्मा मे अन्तर नही है[८]। तथागत के समान रैदास ने भी मनुष्य-जीवन दुर्लभ बतलाया है। धम्मपद मे भगवान् बुद्ध ने कहा है—"किच्छो मनुस्सपटिलाभो[९]" और रैदास ने इसी को इस प्रकार दुहराया है—"मनुषावतार दुर्लभ"[१०]। कर्म-फल को मानते हुए रैदास ने कहा है कि व्यक्ति जैसा कर्म करता है, वैसा फल भोगता है[११]। वह आवागमन[१२] और स्वर्ग-नरक[१३] का चक्कर काटता है। बाह्याडम्बरों को त्याग कर संसार तथा शरीर को अनित्य एवं अशुभ समझ कर[१४] निर्गुण राम की

---

१. सन्तबानी संग्रह, भाग २, पृष्ठ २६-२७।
२. निरगुन को गुन देखौ आई।
   देही सहित कबीर सिधाई।। —रैदासजी की बानी पृष्ठ ३३।
३. सन्त रविदास और उनका काव्य, पृष्ठ १००।
४. वही, पृष्ठ ११८।
५. वही, पृष्ठ १०१।
६. सब घट अन्तर राम निरन्तर, मै देखन नहिं जाना।
   —सन्त रविदास और उनका काव्य, पृष्ठ १०१।
७. अवरण वरण रूप नहिं जाकै—वही, पृष्ठ १०१।
८. वही, पृष्ठ ११८।
९. धम्मपद गाथा १८२।
१०. सन्त रविदास और उनका काव्य, पृष्ठ ११३।
११. जो कुछ बोया लूनिये सोई।
   ता में फेर फार कस होई।। —वही, पृष्ठ १९३।
१२ वही पृष्ठ १०८
१३ वही पृष्ठ १३५
१४ वही, पृष्ठ १२५ १३४

क्ति करने से ही परमपद की प्राप्ति हो सकती है[1]। जीवन की मुक्ति निर्वाण मात्र है[2]। दास ने जप, तप[3], स्नान-शुद्धि[4], मूर्ति-पूजा[5] आदि को व्यर्थ कहा है। इनसे परमपद निर्वाण की प्राप्ति नही हो सकती। रैदास ने शून्य, सहज-समाधि, सुरति, निर्वाण, सतगुरु, हठयोग आदि को माना है और परमपद प्राप्त करने के लिए अष्टाग-साधना के मार्ग का निर्देश किया , जिसका संकेत पहले किया जा चुका है। बौद्धधर्म के आर्य अष्टागिक मार्ग के शील, समाधि और प्रज्ञा तीन स्कन्धो मे विभक्त होने की भाँति यह भी तीन अंगों मे विभक्त है—(१) बाह्य अंग, (२) आभ्यान्तरिक अंग, (३) अन्तिम अवस्था। "सन्त रविदास और उनका काव्य[6]" के लेखको ने अष्टांग-साधना को निम्नलिखित प्रकार से माना है—

१. सदन २. सेवा ३. सन्त	बाह्यांग
४. नाम ५. ध्यान ६. प्रणति	आभ्यान्तरिक अंग
७. प्रेम ८. विलय	अन्तिम अवस्था

किन्तु परशुराम चतुर्वेदी ने सदन को गृह कहा है और विलय को समाधि[7]। रैदास मानते थे कि परमपद की प्राप्ति के लिए गृह-त्यागकर संन्यासी बनने की आवश्यकता नही है, उसे सदन मे रहकर ही प्राप्त किया जा सकता है, गृहस्थ-जीवन मे रहते हुए भी आसक्ति नही होनी चाहिए। सन्तों की संगति और उनकी सेवा भक्त का परम कर्तव्य है। वास्तव में सन्त की सेवा से ही सत्संग प्रारम्भ होता है, इस प्रकार अष्टाग साधना के ये तीन बाह्यांग है नाम-स्मरण के महत्व को बतलाते हुए रैदास ने कहा है—"कलि केवल नाम अधारा[8]।" नाम-स्मरण के साथ ही हरि का ध्यान, प्रणति अथवा भक्ति भी आवश्यक है, इसीलिए सन्त रैदास ने कहा है—

> हृदय सुमिरन करौं नैन अवलोकना, स्रवनौं हरिकथा पूरि राखूं।
> मन मधुकर करौ चरनन चित्त धरौं, राम रसायन रसना चाखूं॥
> साधु संगति बिना भाव नहिं उपजै, भाव बिन भगति नहिं होय तेरी।
> ऐसा ध्यान धरौं बनवारी, मन पवन दृढ सुषमन नारी॥[9]

---

१. सन्त रविदास और उनका काव्य, पृष्ठ १२४।
२. वही, पृष्ठ ९६।
३. वही, पृष्ठ ११९।
४. वही, पृष्ठ १०८।
५. वही, पृष्ठ ११५।
६. वही, पृष्ठ २०७।
७. उत्तरी भारत की सन्तपरपरा, पृष्ठ २४५
८ सन्त रविदास और उनका काव्य पृष्ठ १०८
९. वही, पृष्ठ २१२

अष्टांग साधना का सातवाँ अंग प्रेम है। इसकी पूर्ति के लिए तन, मन देकर लगने पर ही 'राम रसायन' का रसास्वाद लिया जा सकता है[1]। जब भक्त प्रेम की पूर्णता को प्राप्त कर लेता है तब विलय, अथवा समाधि की प्राप्ति होती है। यह सहजावस्था अथवा सहज-समाधि ही है, रैदास ने इसे ही बतलाते हुए कहा है—

गुरु की सारि ज्ञान का अच्छर।
बिसरै तौ सहज समाधि लगाऊँ॥[2]

यह सहज-समाधि की अवस्था ही परमानन्द की अवस्था है, इसी को प्राप्त करने के लिए अष्टांग साधना की आवश्यकता है। इसे प्राप्त कर इस साधना का परम लक्ष्य पूर्ण हो जाता है। वास्तव में अष्टांग-साधना रैदास की ही साधना की देन है, किन्तु इस पर परम्परागत बौद्ध-साधना के आर्य अष्टांगिक मार्ग का प्रभाव पड़ा है और उसी प्रभाव से इस साधना का भी विभाजन आदि हुआ है। आर्य अष्टांगिक मार्ग का विभाजन इस प्रकार हुआ है—

१. सम्यक् दृष्टि २. सम्यक् संकल्प	प्रज्ञा
३. सम्यक् वाणी ४. सम्यक् कर्मान्त ५. सम्यक् आजीविका	शील
६. सम्यक् व्यायाम ७. सम्यक् स्मृति ८. सम्यक् समाधि	समाधि

अष्टांग साधना के बाह्यांग शील के ही अंग हैं और आभ्यान्तरिक अंग प्रज्ञा के, क्योंकि संयमपूर्वक घर-गृहस्थी में रहकर भक्ति करना, सेवा-सत्संग में लगना—ये सब शील के ही अंग हैं तथा ज्ञान (प्रज्ञा) द्वारा ही नामस्मरण, ध्यान एवं प्रणति को जानकर तद्नुरूप लीन होना सम्भव है, अतः ये प्रज्ञा के अंग हैं और प्रेम एवं विलय की पूर्णता स्मृति (सुरति) तथा सहज-समाधि से ही सम्भव है, अतः ये अन्तिम अंग हैं। इस प्रकार अष्टांग-साधना को भी शील, समाधि और प्रज्ञा के अनुसार तीन स्कन्धों में विभक्त किया जा सकता है और अष्टांगिक मार्ग का भी निरूपण इस साधना में सम्भव है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि रैदास ने आर्य अष्टांगिक मार्ग का ही उपदेश दिया है, प्रत्युत इससे केवल इतना ही समझना चाहिए कि रैदास की साधना पर सन्त-परम्परा द्वारा आनीत बौद्ध साधना का प्रभाव पड़ा था और रैदास को अष्टांग-साधना के विचार बौद्धधर्म से ही अप्रत्यक्ष रूप में प्राप्त हुए थे। इन दोनों साधनाओं का अन्तिम लक्ष्य निर्वाण-पद की प्राप्ति है। भगवान् बुद्ध ने कहा था—"निब्बानं परमं सुखं[3]"

---

१. तन मन देय न अन्तर राखै, राम रसायन रसना चाखै। —वही, पृष्ठ २१६।
२. सन्त रविदास और उनका काव्य, पृष्ठ २१६।
३. धम्मपद गाथा २०३

और रैदास ने भी इसी भाव को व्यक्त करते हुए गाया था—"जीवन मुक्ति सदा निरवाण[1]" और "संसा सकल निवारं[2] ।" शून्य-विमोक्ष से विमुक्त होने के समान ही रैदास ने भी "सहज सुन्न मे रह्यो बिलाई[3]" कहा है । और इस प्रकार बौद्धधर्म से प्रभावित रैदास की साधना का अन्तिम फल भी बौद्ध-साधना से प्राप्त परम-सुख शान्त निर्विकार, आदि-अन्त रहित, परमपद निर्वाण ही है जो सहज शून्य, सत्य और जीवन-मुक्ति-स्वरूप है[4] ।

धन्ना उसी गोविन्द में मन लगाने का उपदेश देते थे, जिसमे मन लगाकर छीपी जाति के नामदेव लखपती हो गये, जुलाहा जाति के कबीर महाज्ञानी हो गये, मरे हुए पशुओ को ढोनेवाली जाति के रैदास ने हरि का दर्शन पा लिया, सेन नाई परमभक्त हो गये और स्वयं धन्ना को भी प्रत्यक्ष उस गोस्वामी के दर्शन हुए[5] । धन्ना आवागमन तथा पुनर्जन्म को मानते थे[6] । गुरु-सेवा, सत्संग और सन्त-समागम से ही परम-पुरुष को जाना जा सकता है, वह ब्रह्म दयालु है, माता के पेट में उसी से जीव की रक्षा होती है, वह पूर्ण और परमानन्द है, अत. धन्ना ने उस गोपाल की भक्ति करते हुए अपने लिए प्रार्थना की है—"हे गोपाल, मैं तेरी आरती करता हूँ, तू अपने भक्तों के मनोरथ पूर्ण किया करता है, अत मैं भी अपने लिये तुझसे भोजन-सामग्री (सीधा), दाल, घी, जूते, वस्त्र, अन्न, दूध देने वाली गाय, भैंस और तेज घोडी तथा स्वस्थ एवं सुन्दर पत्नी माँगता हूँ[7] ।"

मीराबाई गिरधर नागर की भक्ति में तल्लीन रहने वाली महिला सन्त थीं, उनके गिरधर नागर पूर्ण ब्रह्म[8], निरंजन[9], रामनाम से अभिहित[10], अन्तर्यामी[11] और अविनासी[12] हैं। परमपद[13] की प्राप्ति के लिए सतगुरु-सेवा[14], साधु-संगति[15], हरिस्मरण[16], आदि आवश्यक है, इसके लिए शील-पालन[17], सन्तोष[18], आदि गुणधर्म भी अपेक्षित है। स्नान-शुद्धि[19], तीर्थ-यात्रा[20], संन्यास-ग्रहण निरर्थक है, अतः संसार-सागर को पारकर परमपद को प्राप्त करने के

---

१. सन्त रविदास और उनका काव्य, पृष्ठ ९६ । २. वही, पृष्ठ ११९ ।
३. वही, पृष्ठ २१ । ४. वही, पृष्ठ ११८ ।
५. सन्त काव्य, पृष्ठ २२९ ।
६ भ्रमत फिरत बहु जनम बिलाने, तनु मनु धनु नहीं धीरे ।
—वही, पृष्ठ २२९ ।
७ सन्त काव्य, पृष्ठ २३० । ८. मीराबाई की पदावली, पृष्ठ २४४ ।
९ वही, पृष्ठ २४४ । १०. वही, पृष्ठ २४१ ।
११ वही, पृष्ठ १२७ । १२. वही, पृष्ठ १३० ।
१३. वही, पृष्ठ १४७ । १४ वही, पृष्ठ १३४ ।
१५. वही, पृष्ठ १५९ । १६. वही, पृष्ठ १५१ ।
१७. मीराबाई की पदावली, पृष्ठ १०९, १५८, २४४ ।
१८. वही, पृष्ठ २४४ । १९. वही, पृष्ठ १०८ ।
२० वही पृष्ठ १११ १४१ १५९ ।

लिए सिद्धों की भाँति खाते-पीते साधु-सत्संग करते हरि-स्मरण करना चाहिए[१] गंगा-यमुना में स्नान करने से कुछ नहीं होगा, क्योंकि—

अठसठ तीरथ सन्तो ने चरणे।
कोटि कासी ने कोटि गंग रे॥[२]

वेष-धारण से भी मुक्ति सम्भव नही—

कहाँ भया था भगवा पहरयां।
घर तज लया संन्यासो॥[३]

रामनाम का स्मरण बिना किये मुक्ति नही मिलेगी और चौरासी का चक्कर लगा रहेगा[४]। नरक-कुंड[५] और अमरापुर[६] का आवागमन नहीं छूटेगा। जो हरि के रंग मे रंग जाता है वह अन्त मे परम ज्योति मे मिल जाता है[७]। इन बातों का ज्ञान गुरु से ही होता है जो गुरु-सहित होना है, वही अमृत-पान करता है, गुरु-रहित (निगुरा) तो प्यासा ही चला जाता है[८]।

मीरा ने अनाहत नाद[९], आत्मा को हंस[१०], शरीर को अनित्य-अशुभ[११], पूर्वकृत पुण्य[१२], कर्म-फल[१३], आवागमन[१४], स्वर्ग-नरक[१५], उच्चकुलीनता का निषेध[१६], ब्रह्म को सगुण[१७] तथा निर्गुण दोनो ही मानते हुए योगी[१८], अवतारी-पुरुष[१९] तथा अविनासी[२०] माना है। इस प्रकार मीरा के भगवान् कबीर के गगन-गुफा में रहने वाले निर्गुण ब्रह्म की भाँति दूर स्थित ऊँचे महल के रहने वाले है[२१], वही मीरा के प्रियतम है जो गगन-मण्डल मे सेज बिछाकर सोने वाले हैं[२२], उनके पास पहुँचने का मार्ग विघ्नों से परिपूर्ण है[२३], वे दूर होते हुए भी पास है, वे मीरा के हृदय में निवास करते हैं[२४], मीरा उन्हे अपने नयनों मे बसाना चाहती हैं, जहाँ

---

१. वही, पृष्ठ १५९।
२. वही, पृष्ठ १११।
३. वही, पृष्ठ १५९।
४. वही, पृष्ठ १४७।
५. वही, पृष्ठ १११।
६. वही, पृष्ठ २४३।
७. मीराबाई की पदावली, पृष्ठ ११६।
८. वही, पृष्ठ २४६।
९. वही, पृष्ठ २४४।
१०. वही, पृष्ठ १५८।
११ वही, पृष्ठ १५९।
१२. वही, पृष्ठ १०८।
१३ वही, पृष्ठ १५७।
१४ वही, पृष्ठ १४७।
१५. वही, पृष्ठ १११, २४३।
१६. वही, पृष्ठ १४२, १४३।
१७. वही, पृष्ठ १०२।
१८. वही, पृष्ठ १३६।
१९. वही, पृष्ठ १०२, "नन्द जसोदा पुन्न री प्रगटया प्रभु अविनासी।"
२०. वही, पृष्ठ १०२।
२१ मीराबाई की पदावली, पृष्ठ २४६।
२२ गगन मण्डल में सेज पिया की केहि विधि मिलना होइ।
२३ वही पृष्ठ २४५
२४ मीराबाई की शब्दावली, पृष्ठ १०

"त्रिकुटी" के झरोके से वे झाँका करेंगी तथा "सुन्न" महल मे सुख की सेज बिछायेंगी, उस भगवान् का कोई रूप-रंग नही है। मीरा के गिरधर नागर योगी स्वरूप भी है, जिनकी गति अद्भुत है—

> तेरो मरम नहि पायो रे जोगी।
> आसण माडि गुफा मे बैठो ध्यान हरी को लगायो।[१]
> गल बिच सेली हाथ हाजरियो, अंग भभूति रमायो।
> मीरा के प्रभु हरि अविनासी भाग लिख्यो सो ही पायो॥[२]

डॉक्टर श्रीकृष्णलाल का यह कथन समीचीन है कि "मीरा के गिरधर नागर का जो योगी स्वरूप है उस पर स्पष्टतः नाथ-सम्प्रदाय के योगियो का प्रभाव दिखई देता है। राजस्थान मे नाथ सम्प्रदाय के योगियों का पर्याप्त प्रभाव था। डॉ० बडथ्वाल का अनुमान है कि प्रसिद्ध योगी करपटनाथ राजपूताने के निवासी थे, उसके पश्चात् सिद्ध धूँधलीमल और गरीबनाथ राजस्थान के प्रसिद्ध योगी हुए है जिनका उल्लेख नैणसी की ख्यात मे मिलता है। ऐसा जान पडता है कि मेवाड मे आने से पहले मीरा इन योगियो से प्रभावित हो चुकी थी। ये योगी भगवान् को योगी के रूप में देखते थे[३]।" योगी की पूर्व परम्परा पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने यह भी लिखा है कि "महायान में योगी बुद्ध के स्थान पर बोधिसत्व की प्रतिष्ठा की गयी, परन्तु वज्रयानी बौद्धों तथा सिद्धो ने और उन्हीं के प्रभाव मे नाथो ने अपने भगवान् को योगी के रूप मे स्वीकार किया[४]।"

इस प्रकार मीरा के राम निर्गुण ब्रह्म भी है, सगुण रूप भगवान् श्रीकृष्ण भी है और योगी स्वरूप भी हैं। मीरा के 'योगी' के प्रति पद्मावती 'शबनम' ने लिखा है—"सम्भव है .. प्राप्त सामग्री की मनोवैज्ञानिक विवेचना तथाकथित मीरा के पदो मे प्राय सर्वत्र प्राप्त किसी योगी विशेष के प्रति गहरे व्यक्तिगत दाम्पत्य सम्बन्ध को व्यक्त करने वाले अन्तःस्रोत का स्पष्टीकरण कर सके[५]।" किन्तु श्री परशुराम चतुर्वेदी के विचारों से हम भी सहमत है कि "इससे मीरा का अपने गिरधर नागर को एक साधारण-सा नश्वर व्यक्ति मान बैठना सूचित नही होता, प्रत्युत उनकी आसक्ति की प्रगाढ़ता व्यक्त होती है। मीरा के लिए वह सदा उसी रूप मे उपास्य है जो "जोगिया चतुर सुजाण सजणी, ध्यावै संकर सेस" द्वारा प्रकट किया गया है[६]।" शबनमजी की सम्भावना सर्वथा ही भ्रामक हैं, क्योकि मीरा ने कृष्ण को ही योगी और अपने को उनकी पूर्व जन्म की गोपिका माना है—

> धूतारा जोगी एक बेरिया मुख बोल रे।
> रास रच्यो बंसी बट जमुना ता दिन कीनी कोल रे।
> पुरब जनम की मैं हूँ गोपिका अधबिच पड गयो झोल रे॥[७]

---

१ मीराबाई, पृष्ठ १२७।
२ मीरांबाई की पदावली, पृष्ठ १५७।
३. मीराबाई, पृष्ठ १२९।
४. वही, पृष्ठ १२८।
५ मीरा एक अध्ययन पृष्ठ १२६
६ मीराबाई की पदावली पृष्ठ २२८।
७ मीरा वृहद् पद-संग्रह पृष्ठ २९९

यही नहीं, योगी के रूप में भगवान् को प्राप्त करने के लिए उन्होंने स्वयं योगिनी बन जाना उचित समझा है—

जोगण होइ मैं वण-वण हेरूँ तेरा न पाया भेस,
जोगिया के कहज्यो जी आदेस।
माला मुद्रा मेखलाँ रे, बाला खप्पर लूंगी हाथ,
जोगिण होइ जग ढूंढ सूं रे म्हारा रावलिया री साथ॥[1]

झालीरानी रैदास के सिद्धान्त से ही प्रभावित थी, और कमाल कबीर के आत्मज ही थे। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने कमाल के सिद्धान्तो के सम्बन्ध मे लिखा है—"इनकी विचार-धारा का भी मूलस्रोत कबीर साहब के ही निर्मल जलाशय से लगा हुआ था। ये बाह्य विडम्बनाओ से सदा दूर रहते रहे और उन्हीं की भाँति एक शुद्ध निष्कपट तथा स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने का उपदेश भी देते रहे। ये उन्ही की भाँति खरी-चुटीली बातो के कहने में भी निपुण है, किन्तु अपने आचरण मे ये सदा नम्रभाव के व्यवहार करते जान पड़ते है[2]।" सन्त कमाल का कथन था कि तीर्थ-व्रत से कोई लाभ नही है, सासारिक आसक्ति छोडकर रामनाम का स्मरण करने से ही परमपद की प्राप्ति होगी, अत जहां व्यक्ति रहे वही बैठकर सत्य को पहचानने का प्रयत्न करे—

राम सुमरो राम सुमरो, राम सुमरो भाई।
कनक कान्ता तजकर बाबा, अपनी बादशाही॥
देस बदेस तीरथ बरतये, कछु नही काम।
बैठा जगा मुख से ध्यावो, अखिल राजाराम॥
कहे कमाल इतना वचन, पुरानो का सार।
झूठा सच्चा आपनो दिलमो, आपही आप पछाननहार॥[3]

बौद्ध-विचारों का समन्वय

कबीर के समसामयिक सन्तो की वाणियों मे बौद्ध-विचारों का अद्भुत समन्वय पाया जाता है। इन सन्तों पर बौद्धधर्म का प्रभाव किसी न किसी रूप से अवश्य पडा था। ये बौद्धधर्म से अपरिचित होते हुए भी बौद्ध-विचारों के अनेक अंशो के अनुगामी, प्रचारक तथा प्रवक्ता थे। कुछ भ्रमणशील सन्तों पर गुजरात, बंगाल, आसाम आदि प्रदेशो के बौद्धों का प्रभाव पडना भी असम्भव न था, किन्तु प्रत्यक्षत इसका प्रमाण उपलब्ध नही है। सन्त-परम्परा से प्राप्त विचारो का प्रभाव इन पर था ही और उन्हीं द्वारा प्रायः इन पर बौद्ध-विचारो का प्रभाव पडा जान पड़ता है। अब हम इन सन्तों के उन विचारो पर प्रकाश डालेंगे जो बौद्धधर्म से प्रभावित है अथवा जिनके द्वारा बौद्धधर्म की किसी मान्यता को प्रकट किया गया है

सन्त सेन नाई निरंजन ब्रह्म को मानते थे और निरंजन ब्रह्म सिद्धों तथा नाथों की देन थी। "वेदहि झूठा, शास्त्रहि झूठा" कहकर उन्होंने ग्रन्थ-प्रमाण का निषेध किया है। यह बौद्धधर्म का प्रमुख सिद्धान्त है। बौद्धधर्म ग्रन्थों की प्रामाणिकता पर विश्वास नहीं करता[1]। इस सम्बन्ध में पहले पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है।

स्वामी रामानन्द सिद्धों के 'सर्वत्र निरन्तर व्याप्त बोधि" की विचार-धारा से प्रभावित होकर "हरि को सर्वत्र व्याप्त" मानते थे। ग्रन्थ-प्रमाण का निषेध, गुरु-सेवा से ज्ञान-प्राप्ति, सतगुरु को मार्गोपदेष्टा मानना आदि सिद्धों के प्रभाव का द्योतक है। धुतांगधारी बौद्ध-योगियों की प्रवृत्ति का भी प्रभाव रामानन्द पर पड़ा था और उसी प्रभाव से उन्होंने अवधूत वेष धारण किया था। स्वामी राघवानन्द पर बौद्ध-प्रभाव पड़ने की ओर संकेत किया जा चुका है।

सन्त पीपा इस शरीर में ही ज्ञान की प्राप्ति मानते थे और बौद्धधर्म की यह भावना सिद्धों से उन्हें प्राप्त हुई थी। उनकी वाणी में प्राप्त बौद्धधर्म के नैरात्म्यवाद के प्रभाव से ऐसा विदित होता है कि सन्त पीपा को अपनी गुजरात-यात्रा में किसी बौद्ध-विचारधारा से प्रभावित सन्त या विद्वान् से सत्संग करने का अवसर प्राप्त हुआ था, तभी उन्होंने गाया है—" ना कछु आइबो, ना कछु जाइबो"। पीपा की इस विचारधारा का बौद्ध-विचार होना स्पष्ट रूप से प्रकट है। सतगुरु, घटघट व्यापी ब्रह्म आदि की भावना भी बौद्धधर्म से ही उन्हें प्राप्त हुई थी।

सन्त रैदास की वाणियों में बौद्ध-विचारों का पर्याप्त समन्वय मिलता है और यह समन्वय-वृत्ति सिद्धों तथा नाथों की परम्परा से इन तक पहुँची थी। पहले हमने बतलाया है कि रैदास की अष्टांग साधना बौद्धधर्म के आर्य अष्टांगिक मार्ग का ही प्रतिरूप है। निर्वाण, सहज-शून्य, सहज समाधि, वज्र, हठयोग, उल्टी साधना, अनित्य, अशुभ आदि की भावना, परमतत्व आदि रैदास पर बौद्ध-प्रभाव के द्योतक हैं। रैदास का सहज-शून्य बौद्धधर्म का निर्वाण ही है। ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् प्रदीपवत् शान्त हो जाना ही निर्वाण है, उस अवस्था में 'ईश्वर' और 'आत्मा' दोनों ही नहीं होते, वह दोनों से रहित सहज शून्य नाम से अभिहित होता है—

पहले ज्ञान का किया चादना पाछे दिवा बुझाई।
शून्य सहज में दोऊ त्यागे, राम कहुं न खुदाई॥[2]

बौद्धधर्म कार्य-कारण के सिद्धान्त को मानता है, जिसे प्रतीत्य-समुत्पाद कहते हैं[3]। सन्त रैदास ने भी प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त को माना है। उनका कथन है कि फल के लिए ही वृक्ष पुष्पित होता है, किन्तु जब फल उत्पन्न हो जाता है, तब पुष्प नष्ट हो जाता है, ऐसे ही ज्ञान-प्राप्ति के लिए कर्म किया जाता है, किन्तु ज्ञान के उत्पन्न होते ही कर्म नष्ट हो जाता है—

फल कारन फूलै बनराय, उपजै फल तब पहुप बिलाय।
ज्ञानहि कारन कर्म कराय, उपजै ज्ञान तो कर्म नसाय॥[4]

---

१ अंगुत्तर निकाय, कालाम सुत्त।
२- सन्त रविदास और उनका काव्य पृष्ठ ९६।
३ देखिये पहला अध्याय पृष्ठ ३८
४ वही पृष्ठ १

बौद्धधर्म के अनुसार कुशल-कर्मो का संचय उसी समय तक करते हैं जब तक कि ज्ञान की प्राप्ति नही हो जाती, जब ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब पुण्य-पाप दोनो से रहित हो व्यक्ति अर्हत् हो जाता है। उसके कर्म केवल "अहोसि कर्म" होते है, उनका कोई फल नही होता और उस अवस्था के प्राप्त होने पर कर्म को नष्ट हुआ ही कहा जाता है, उसे प्राप्त व्यक्ति "कृतकरणीय", "क्षीण-आस्रव" और मुक्त हो जाता है। उदान मे कहा गया है कि जो व्यक्ति इस तथ्य को जान लेता है, जिसे इस धर्म का पूर्ण बोध हो जाता है, उसकी सारी कांक्षाये मिट जाती हैं, क्योंकि वह हेतु के साथ धर्म को जान लिया होता है[1]। जिस प्रकार घी के लिए दही को मथते है, उसी प्रकार निर्वाण की प्राप्ति के लिए कर्म भी करते है, किन्तु जब निर्वाण का साक्षात्कार हो जाता है तब कुशल-अकुशल कर्म समाप्त हो जाते है। रैदास ने इसी भाव को प्रकट करते हुए गाया है—

घृत कारण दधि मथै सुआन।
जीवन मुक्ति सदा निरवाण॥[2]

डॉ० धर्मवीर भारती ने रैदास की वाणी मे बौद्ध वज्रयान के तत्व को भी पाया है और उन्होने लिखा है—"सन्त वज्र के या मणि के उस अर्थ को तो भूल चुके थे किन्तु सहज-पद्धति के साथ चित्त को मणि अथवा हीरा बनने की प्रक्रिया उनकी परम्परा मे अवशिष्ट रह गयी थी[3]।" सन्त रैदास ने इसी पद्धति का अनुसरण किया था—

पीवत डाल फूल फल अमृत,
सहज भई मति हीरा।[4]

पहले हम बतला आये है कि हठयोग बौद्धयोग की देन है और रैदास ने हठयोग के पवन-निरोध, सुष्मना नाडी, अनाहत शब्द आदि की भावना पर बल दिया है, इससे स्पष्ट है कि उन्हे बौद्ध-स्रोत से ही यह भावना प्राप्त हुई थी—

ऐसा ध्यान धरौं बनवारी, मन-पवन दृढ सुषमन नारी।
सो जप जपूं जो बहुरि न जपना, सो तप तपूं जो बहुरि न तपना॥
सो गुरु करूँ जो बहुरि न करना, ऐसो मरूँ जो बहुरि न मरना।
उलटी गंग जमन मे लाऊँ, बिन ही जल मज्जन ह्वै पाऊँ॥
लोचन भरि भरि बिम्ब निहारौ, जोति विचारि न और विचारौ।
पिंड परै जिव जस घर जाता, शब्द अतीत अनाहद राता॥[5]

---

१. उदान, हिन्दी, पृष्ठ २, ३।
२ सन्त रविदास और उनका काव्य, पृष्ठ ९६।
३ सिद्ध साहित्य पृष्ठ ३६२
४ रैदासजी की बानी पृष्ठ १९
५ सन्त रविदास और उनका काव्य, पृष्ठ ११९

ऐसे ही रैदास-वाणी मे अलख निरंजन[१], शून्य[२], सहजशून्य[३], सत्यनाम (सच्चनाम)[४], घट-घट व्यापी ब्रह्म[५], निर्गुण तत्व[६], तप-तीर्थ-स्नान[७] की निस्सारता, आवागमन[८] अवधूत[९], मूर्ति-पूजा की व्यर्थता[१०], सुरति (स्मृति)[११], शील[१२], अनित्य-अशुभ[१३], परमपद[१४], निर्वाण[१५], सन्यास तथा वेष धारण की निरर्थकता[१६], गुरु महिमा[१७], सत्संग से परमपद की प्राप्ति[१८], सतगुरु[१९], नाम-महिमा[२०], जन्मजात श्रेष्ठपन (जातीयता) का निषेध[२१], ग्रन्थ प्रमाण का बहिष्कार[२२], आदि बौद्ध-तत्व, साधना एवं विचारों के समन्वय पाये जाते हैं। "सुन्न मण्डल में मेरा बास[२३]", "कह रैदास निरंजन ध्याऊं[२४], "कहत रैदास सहज सुन्न सत[२५]", "आदि अन्त अनन्त परमपद[२६]", "का जप तप विधि-पूजा[२७]", "नाद बिन्द मे सब ही थाके[२८]", तीरथ ब्रत न करूं अन्देसा[२९]", "बिन सहज सिद्ध न होय[३०]", आदि रैदास-वचन बौद्ध-विचारों की समन्वयात्मक-प्रवृत्ति के ही परिचायक है।

सन्त धन्ना के विचारो मे साधु-संगति[३१], गुरुसेवा[३२], आवागमन[३३], खसम-भावना[३४], जन्मगत ऊंच-नीच की मान्यता का निषेध[३५], मुक्ति[३६], आदि जो सन्तमत की मूलभावना पाई जाती है, वह सब बौद्धधर्म से प्रभावित है, इनका मूल-स्रोत बौद्धधर्म ही है।

---

१ वही, पृष्ठ ९८. १००।
२. वही, पृष्ठ ९८, ९९।
३. वही, पृष्ठ ९६, ११४, १२०, १२४।
४. वही, पृष्ठ १००।
५. वही, पृष्ठ १००, १०१।
६. वही, पृष्ठ १०१, ११८, १२४, १२५।
७. वही, पृष्ठ १०३।
८. वही, पृष्ठ १०८।
९. वही, पृष्ठ ११४।
१० वही, पृष्ठ ११५।
११. वही, पृष्ठ ११५, १२४।
१२. वही, पृष्ठ ११६।
१३. वही, पृष्ठ ११६, १२५, १३४।
१४ वही, पृष्ठ ९७, ११९, १२७।
१५. सन्त रविदास और उनका काव्य, पृष्ठ ९६।
१६. वही, पृष्ठ १२०।
१७. वही, पृष्ठ १२७।
१८. वही, पृष्ठ १२७।
१९. वही, पृष्ठ १२८।
२०. वही, पृष्ठ १३०।
२१. वही, पृष्ठ १३२।
२२. वही, पृष्ठ ९८।
२३. वही, पृष्ठ १२०।
२४. वही, पृष्ठ १२०।
२५ वही, पृष्ठ ११८।
२६. वही, पृष्ठ ११९।
२७. सन्त रविदास और उनका काव्य, पृष्ठ ११९।
२८. वही, पृष्ठ ११७।
२९. वही, पृष्ठ ११७।
३०. वही, पृष्ठ ११४।
३१. सन्त काव्य, पृष्ठ २२९।
३२ गिआन प्रवेस गुरहि धनु दीआ—वही, पृष्ठ २२९।
३३. भ्रमत फिरत बहु जनम बिलाने।
तनु मनु धनु नही धीरे॥—वही, पृष्ट २२९।
३४ देइ अहारु अगनि महि राखै।
ऐसा खसम हमारा॥—वही पृष्ठ २३०।
३५ वही पृष्ठ २२९ पद १
३६ त्रिपति अघान मुक्ति भए—वही पृष्ठ २२९

मीरा पर बौद्ध-प्रभाव की ओर पहले संकेत किया जा चुका है। उनपर सिद्धो और नाथो का प्रभाव पड़ा था तथा सन्त रैदास से भी उन्हे बौद्ध-विचार प्राप्त हुए थे। इसीलिए उन्होने अपने गुरु रैदास के प्रति कृतज्ञता प्रकट की है[1]। बौद्धधर्म मे शील धर्म का आधार है, शील पर प्रतिष्ठित होकर ही ध्यान और भावना कर निर्वाण की प्राप्ति सम्भव है[2]। मीराबाई ने भी शील को प्रधान गुणधर्म माना है। शील ही आधार है। वे शील का घुंघरू पहन कर नाचना चाहती है[3], शील, सन्तोष, निरत के आभूषणो से अपने को अलकृत करती है[4], शील, सन्तोष और समता उनके घट मे सदा विद्यमान रहता है[5], शील ही उनका हथियार है[6], शील तथा सन्तोष उनके शृंगार है[7], वे शील और सन्तोष रूपी केसर घोलकर अपने गिरधर से होली खेलती है[8], शील के साथ व्रत को भी उन्होने अपना शृंगार बनाया है[9], वे न चोरी करती है, न जीवों को सताती है[10], न मिथ्याचार और कुकर्म करती है[11], असत्य भाषण तथा मादक-द्रव्यो के सेवन की तो बात ही नही, इस प्रकार बौद्ध-धर्म के पंचशील का पालन मीरा के जीवन का परम कर्तव्य है, इसी से परमपद की प्राप्ति होगी। बाह्य वेशभूषा से ज्ञान की प्राप्ति नही होती, उसके लिए आभ्यान्तरिक शुद्धि आवश्यक है, तीर्थ-यात्रा, स्नानशुद्धि आदि कर्म-काण्डो से भी चित्त-पारिशुद्धि सम्भव नहीं—ऐसी बौद्धधर्म की मान्यता है। मीरा ने भी वेष धारण आदि को व्यर्थ बतलाया है[12], स्नान-शुद्धि, काशी-करवट, तीर्थ-यात्रा आदि का निषेध कर सन्तो के सत्संग मे ही ६८ तीर्थो एवं गंगा-यमुना आदि को माना है[13]। साधु-संगति, गुरु-सेवा और सतगुरु-भजन मे लवलीन रहने वाली मीरा पर बौद्ध-विचारों का प्रभाव स्पष्ट रूप से प्रकट है। सिद्धो तथा नाथो के शून्य[14], सुरति, निरति[15], हठयोग[16], अनाहत नाद[17], परमपद[18], निर्गुण ब्रह्म[19] आदि की भावना ही मीरा की भक्ति में समाविष्ट है। मीरा गगन-मण्डल मे प्रीतम की शय्या मानती है और शून्य महल मे उससे मिलना चाहती है, उन्होंने उसकी तल्लीनता मे गाया है—

गगन मण्डल पै सेज पिया की,
किस विध मिलना होय[20]।

---

१. गुरु मिलिया रैदासजी, दीन्ही ज्ञान की गुटकी।—मीराबाई की शब्दावली, पृष्ठ २१।
२. विशुद्धिमार्ग, भाग १, पृष्ठ १।
३. मीराबाई की पदावली, पृष्ठ १५८।
४ मीराबाई की शब्दावली, पृष्ठ ११, ३३।
५. वही, पृष्ठ २०।
६ वही, पृष्ठ ३३।
७. वही, पृष्ठ ३३।
८. वही, पृष्ठ ३३।
९. वही, पृष्ठ ५२।
१० वही, पृष्ठ ५४।
११. वही, पृष्ठ ३२, ५४।
१२ मीराबाई की पदावली, पृष्ठ १५९।
१३. मीराबाई की शब्दावली, पृष्ठ ५४, १, २, ६, ३०।
१४. वही, पृष्ठ २६।
१५. वही, पृष्ठ ९, ११, २२, २४, २६, २७।
१६ वही, पृष्ठ १०, ३७।
१७. वही, पृष्ठ ३७।
१८ मीराबाई की पदावली, पृष्ठ १४७।
१९ मीराबाई की शब्दावली पृष्ठ १० २७
२० वही पृष्ठ ४

ऊँची अटरिया लाल किवड़िया,
निरगुन सेज बिछी ।[1]
सेज सुखमणा मीरा सोवे,
सुभ है आज घरी ।[2]

मीरा मन मानी सुरत सैल असमानी ।
जब-जब सुरत लगे वा घर की, पल-पल नैनन पानी ॥[3]

त्रिकुटी महल मे बना है झरोखा,
तहा से झाँकी लगाऊँ री ।
सुन्न महल में सुरत जमाऊँ,
सुख की सेज बिछाऊँ री ॥[4]

परमपद को पति स्वरूप मानने की भावना बौद्धधर्म के निर्वाण के शून्य-स्वरूप की देन है। हम इस ओर संकेत कर चुके है कि शून्य स्वरूप निर्वाण ही खसम कहलाता था और सिद्ध खसम स्वरूप होने को ही निर्वाण की प्राप्ति मानते थे, वही पीछे विकृत होकर पति-स्वरूप हो गया। मीरा ने अपने प्रियतम गिरधर नागर को जो शून्य-महल-वासी माना है, जो निर्गुण है, आकाश अर्थात् शून्य में स्थित है, उससे मिलने के लिए मीरा प्रत्येक सम्भव प्रयत्न करती है, वह खसम स्वरूप परमपद भी बौद्ध-प्रभाव का ही द्योतक है। मीरा का अमरलोक, वैकुंठ, मोक्ष, परमपद, सर्वव्यापी एवं लोकनाथ (जगत् स्वामी), अविनासी हरि, तारक राम, अन्तर्यामी ब्रह्म आदि भी बौद्ध-विचारो से प्रभावित ही है। जिस प्रकार बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी तथागत को ही माता-पिता मानते है, उसी प्रकार मीरा के गिरधर नागर भी उनके पति, माता, पिता, भाई और बहिन है—

गिरधर कंथ गिरधर धनि म्हाँरे, मात पिता वोइ भाई ।
थें थांरे मैं म्हांरे राणाजी, यूं कहे मीरा बाई ॥[5]

मीरा का पुनर्जन्मवाद, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, मोक्ष, समता, क्षणभंगुरता आदि भी बौद्ध-विचारों के समन्वय से प्रभावित है। बौद्धधर्म मे कर्म की गति को अचिन्त्य माना जाता है, मीरा ने भी सन्त कबीर[6] के ही स्वर मे स्वर मिलाते हुए कर्म की गति को अपरिहार्य माना है—

"करम गति टारे नाहिं टरे।"[7]

इस प्रकार हम देखते है कि मीरा की वाणी मे बौद्ध-विचारों का अद्भुत ढंग से समन्वय हुआ है।

झाली रानी और कमाल भी सन्त-परम्परा द्वारा प्राप्त बौद्ध-विचारो से प्रभावित थे। हम पहले कह आये है कि झाली रानी सन्त रैदास की शिष्या थी और कमाल सन्त कबीर के पुत्र थे, अतः इन दोनो पर रैदास और कबीर के प्रभाव पडे थे तथा इन्हे अपने गुरुओं से ही साधना-पद्धति एव विचार प्राप्त हुए थे

पाँचवाँ अध्याय

सिख गुरुओं पर बौद्ध-प्रभाव

सिक्खधर्म के आदिगुरु नानक देव

जीवन-वृत्तान्त

सिखों के आदिगुरु नानक देव का जन्म १५ अप्रैल सन् १४६९ ई० (तदनुसार वैशाख शुक्ल ३, सम्वत् १५२६ विक्रमी) को लाहौर (पश्चिमी पाकिस्तान) से ३० मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित तिलवंडी नामक ग्राम में हुआ था, जो अब "नानकाना साहब" नाम से प्रसिद्ध है और सिखों का एक प्रसिद्ध तीर्थस्थान है। गुरु नानक के जन्म-सम्वत् के सम्बन्ध में सभी एकमत हैं, किन्तु जन्म-मास के विषय में मतभेद है। "इतिहास गुरु खालसा" के लेखक श्री गोविन्दसिंह ने गुरु नानक की जन्म-तिथि कार्तिक पूर्णिमा मानी है[1], उन्होंने उनकी जन्म-कुंडली भी प्रस्तुत की है[2], बाबा छज्जूसिंह भी इसी पक्ष में हैं[3], सम्प्रति सिख धर्मावलम्बी कार्तिक पूर्णिमा को ही नानक-जयन्ती मनाते हैं और शासन की ओर से भी इसी दिन सार्वजनिक अवकाश रहता है, किन्तु अधिकांश विद्वानों ने वैशाख शुक्ल ३ को ही नानक-जन्मदिवस स्वीकार किया है[4]. डॉ० जयराम मिश्र का यह कथन समीचीन है कि गुरु नानक की जन्म-तिथि वैशाख शुक्ल ३ ही है, किन्तु सुविधा के लिए उसे कार्तिक पूर्णिमा को मनाया जाता है[5]।

गुरु नानक के पिता का नाम कालूचन्द तथा माता का नाम तृप्तादेवी था। उनके पिता अपने ग्राम के पटवारी थे और कृषि तथा व्यापार भी करते थे। वे खत्री जाति के थे। गुरु नानक से बड़ी उनकी एक बहिन भी थी, जिसका नाम नानकी था।

गुरु नानक बचपन से ही शान्त स्वभाव वाले बालक थे वे अन्य बच्चों की भाँति खेल-कूद में समय न व्यतीत कर आत्म-चिन्तन एवं मनन में लीन रहा करते थे। उनके असाधारण व्यक्तित्व एवं विलक्षण स्वभाव को देखकर सबको आश्चर्य होता था। उनके मुखमण्डल पर एक अद्भुत ज्योति जगमगाती रहती थी। उनको स्पर्श करने मात्र से आनन्द का संचार हो जाता था।

जब गुरु नानक सात वर्ष के हुए तब उन्हें पढ़ने के लिए पाठशाला भेजा गया, किन्तु वहाँ उनका मन नहीं लगा। जब अध्यापक ने पूछा—"पढ़ क्यों नहीं रहे हो ?" तो उन्होंने अध्यापक को ही उपदेश दिया—"मोह को जलाकर उसे घिसकर स्याही बनाओ, बुद्धि को ही

---

१. इतिहास गुरु खालसा, पृष्ठ ७८। २. वही, पृष्ठ ८०।
३ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डॉ० रामकुमार वर्मा, पृष्ठ २८३।
४ डॉ० ~~[illegible]~~मिश्र परशुराम चतुर्वेदी डॉ० रामकुमार वर्मा डॉ० त्रिगुणायत आदि।
५. पृष्ठ ८१५

श्रेष्ठ कागज बनाओ और चित्त को लेखक। गुरु से पूछकर विचार पूर्वक लिखो। नाम लिखो, नाम की स्तुति लिखो और साथ ही यह भी लिखो कि उस परमात्मा का न तो अन्त है और न सीमा है[1]।" इसे सुनकर अध्यापक ने कहा—"तुम्हारी जो इच्छा हो सो करो।" अब गुरु नानक ने पढना-लिखना छोडकर मनन, ध्यान एवं सत्संग में मन लगाया।

गुरु नानक के जीवन के सम्बन्ध मे ऐसी अनेक अद्भुत बाते उनकी जन्म साखियो म लिखी हुई है, जिन्हे सर्वांशतः स्वीकार करना शक्य नही है। यद्यपि साखियाँ कहती है कि गुरु नानक पढे-लिखे नहीं थे, किन्तु अन्तर्साक्ष्य के आधार पर यह प्रमाणित हो जाता है कि वे पढे-लिखे थे और उन्होंने फारसी का भी अध्ययन किया था। उनकी वाणी मे फारसी शब्दा स पूर्ण पद भी आये हुए है, जिनसे ज्ञात होता है कि गुरु नानक फारसी पढे थे। यथा—

यक अरज गुफतम पेसि तो दर गास कुन करतार।
हका कबीर करीम तू बे ऐब परवदगार॥
दुनीआ मुकामे फानी तहकीक दिल दानी।
मम सर मूइ अजराईल गिरफतह दिल हेचि न दानी॥[2]

गुरु नानक के पिता अपने बालक की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति को देखकर चिन्तित रहा करते थे। वे चाहते थे कि नानक गृह-कार्यो मे लगे और घर-गृहस्थी सम्हाले, अत उन्होंने नानक को विभिन्न कार्यों मे लगाने का प्रयत्न किया किन्तु नानक का मन केवल साधु सत्संग एवं भक्ति मे ही रमा रहता था। भैस चराने जाकर उन्होने खेत चरा दिया, दूकानदारी करने के लिए जाकर रुपये साधुओ के भोजन निमित्त व्यय कर दिये, यही नही यज्ञोपवीत धारण करने को भी अस्वीकार कर दिया, पुरोहित के समझाने पर उसे ही उपदेश देते हुए कहा—"दया कपास हो, सन्तोष सूत हो, संयम गाँठ हो और उस जनेऊ की सत्य ही पूरन हो। यही जीव के लिए आध्यात्मिक जनेऊ है। हे पाण्डेय, यदि इस प्रकार का जनेऊ तुम्हारे पास हो तो मेरे गले मे पहना दो। यह जनेऊ न तो टूटता है, न इसमे मैल लगती है, न यह जलता है और न खोता ही है[3]।" जब माता तृप्तादेवी ने समझाया तब उन्होंने जनेऊ धारण किया।

गुरु नानक की इस विरक्ति से चिन्तित हो उनके पिता ने उन्हे वैद्य को भी दिखलाया। उन्होंने समझा कि बालक को कोई रोग हो गया है, किन्तु जब वैद्य ने कहा कि इसे कोई रोग नही है, यह तो केवल भक्ति मे ही लवलीन रहना पसन्द करता है, तब उनके पिता की चिन्ता अत्यधिक बढ़ गयी। उन्होने सन् १४८५ मे गुरुनानक का विवाह बटाला निवासी मूला की कन्या सुलक्खनी से कर दिया। गुरु नानक के वैवाहिक जीवन की बहुत थोडी जानकारी प्राप्त होती है। ३२ वर्ष की अवस्था तक उन्हे दो पुत्र हुए थे। बड़े पुत्र का नाम श्रीचन्द था जो

---

१. जालि मोहु घसि मसु करि मति कागदु करि सारु।
भाउ कलम करि चितु लेखारी गुर पुछि लिखु बीचारु।
लिखु नामु सालाह लिखु अंतु न पारावारु।—नानकवाणी पृष्ठ १०५।

२ पृष्ठ ४२७ ३ पृष्ठ ८१७

पीछे अपने पिता का अनुगमन किया तथा उदासी सम्प्रदाय का संस्थापक बना दूसरे पुत्र का नाम लक्ष्मीचन्द अथवा लक्ष्मीदास था।

गुरु नानक के स्वभाव एवं कार्यों के सम्बन्ध मे उनके बहनोई जयराम को जब पता चला तो वह इन्हे अपने पास सुल्तानपुर बुला लिया। वह नवाव दौलत खाँ की नौकरी में था। इन्हे भी वहीं मोदीखाने मे तौल का काम करने के लिए नियुक्त करा दिया। गुरु नानक ने वहा अपनी बहिन नानकी का मन रखने के लिये प्रेमपूर्वक सन् १५०४ से १५०७ तक नौकरी की, किन्तु अर्जित धन साधु, निर्धन आदि को ही खिला देते थे। कभी-कभी घाटा होने पर अपने अर्जित धन को भी नवाब की पूँजी मे लगा देते थे। एक दिन एक साधु मोदीखाने मे आटा लेने आया। गुरु नानक तौलकर उसे देने लगे, किन्तु गिनते-गिनते जब वे तेरह पर पहुँचे तो "तेरा-तेरा" कहते रहे और तराजू मे आटा तौलते ही गये। इस बात का पता जब दौलत खाँ को लगा तो उसने जाँच की और देखा कि उसके भण्डार मे घाटे के स्थान मे वृद्धि ही हुई थी, इस पर वह बहुत प्रसन्न हुआ।

सुल्तानपुर मे रहते समय ही गुरु नानक का एक गवैया साथी मरदाना तिलवण्डी से उनके पास आया और वह भी उन्हीं के साथ रहने लगा। वह रबाब बजाने मे निपुण था। मरदाना रबाब बजाता था और गुरु नानक भजन गाते थे। दोनों के संयोग से गुरु नानक की स्वर-लहरी चारों ओर प्रवाहित हो उठी और धीरे-धीरे गुरु नानक के दिव्य संगीत की कीर्ति सर्वत्र फैलने लगी। अब उनके भजन और उपदेश सुनने के लिए जनता एकत्र होने लगी तथा गुरु नानक ने अपना सन्देश देना प्रारम्भ किया। इसी बीच वे एक दिन वेई नदी मे स्नान करने के लिए गये और नदी के जल मे प्रवेश कर तिरोहित हो गये। उन्हे बहुत ढूँढा गया, किन्तु जब वे नहीं मिले तो लोगो ने समझा कि वे नदी मे डूब मरे, किन्तु जब तीन दिनों तक अदृश्य रहने के उपरान्त वे लौट कर आये तो जनता को यह जान कर आश्चर्य हुआ कि वे डूबे नहीं, प्रत्युत "सच्चखण्ड" मे पहुँच गए थे। सच्चखण्ड से उपदेश ग्रहण कर उन्होंने बतलाया कि परमात्मा ने मुझे अमृत पिलाया है और कहा है—"मै सदैव तुम्हारे साथ हूँ। मैंने तुम्हे आनन्दित किया है। जो तुम्हारे सम्पर्क मे आयेंगे, वे भी आनन्दित होगे। जाओ, नाम मे रहो। दान दो, उपासना करो, स्वय हरिनाम लो और दूसरो से भी नाम स्मरण कराओ।" तब से गुरु नानक ने अकाल पुरुष, अपरपार, परब्रह्म परमेश्वर को अपना गुरु माना—

"अपरंपार पारब्रह्म परमेसरु,
नानक गुरु मिलिआ सोई।"[1]

इस घटना के पश्चात् गुरु नानक ने देश-भ्रमण प्रारम्भ किया। उनके देश-भ्रमण को सिखधर्मावलम्बी "उदासी" कहते है। देश-भ्रमण के समय मरदाना भी उनके साथ रहा उन्होंने पहले पर्व देश की यात्रा की जो सन १५०७ से १५१५ तक पूर्ण हुई थी। इस यात्रा म उन्होन हरिद्वार मथुरा अयोध्या काशी पटना राजगिरि आसाम जगन्नाथपुरी,

जबलपुर, कुरुक्षेत्र आदि स्थानों के दर्शन किए और अनेक विद्वानों तथा सन्तों से उनकी भेंट हुई। इसी यात्रा में काशी में उन्होंने परमसन्त कबीर तथा रैदास से भी सत्संग किया था[१]।

दूसरी उदासी में गुरु नानक दक्षिण की ओर गये। इस बार उन्होंने बीकानेर, जोधपुर, अजमेर, पुष्कर, उज्जैन, नागपुर हैदराबाद, बिदर, केरल, पढरपुर, तजौर, त्रिचनापल्ली, रामेश्वरम्, सिंहल द्वीप (श्रीलंका) आदि के परिभ्रमण किए।

तीसरी उदासी में उन्होंने उत्तराखण्ड की यात्रा करते हुए कांगडा, ज्वालामाई, रिवालसर, कुल्लू, चम्बा, उत्तर काशी, गोरखपुर, नेपाल, सिक्किम, भूटान, मिथिला, जनकपुर आदि स्थानों एवं देशों की चारिका की। इस यात्रा में उन्हें नाथ तथा बौद्ध विद्वानों एवं सन्तों से सत्संग करने का अवसर मिला था।

चौथी उदासी में उन्होंने पश्चिम-देशों की यात्रा की और बहावलपुर, साधुबेला, मक्का, मदीना, बगदाद, बलख, बुखारा, काबुल, गोरखहटी, कन्धार, ऐमनाबाद आदि स्थानों का परिभ्रमण किया। गोरखहटी में नाथपन्थी साधुओं से उनकी धर्म-चर्चा हुई थी, जो 'सिध गोसटि' (सिद्ध गोष्ठी) नाम से प्रसिद्ध है[२]। इसी यात्रा में गुरु नानक ने ऐमनाबाद पर बाबर के आक्रमण को सन् १५२१ में स्वयं अपनी आँखों से देखा था, जिसका सुन्दर वर्णन उनकी वाणी में आया हुआ है[३]।

गुरु नानक की यात्रायें सन् १५२१ में समाप्त हुई थीं और तब से वे करतारपुर में बस गये थे। उनका अन्तिम काल वहीं बीता। वहीं सन् १५३९ में गुरु अंगद (बाबा लहना) को गुरुगद्दी का भार सौंपने के उपरान्त उनकी "ज्योति परम ज्योति" में लीन हो गयी।

डॉ० जयराम मिश्र ने गुरु नानक के सम्बन्ध में लिखा है—"इनका व्यक्तित्व असाधारण, सरल और दिव्य था। वे सच्चे अर्थ में सद्गुरु थे। वे सदैव परमात्मा में निवास करते थे और जो भी उनकी शरण में आया, उसे परमात्मा का साक्षात्कार कराया। उन्होंने लोगों को आध्यात्मिक जीवन का अमृत पिलाया और सांसारिक जीवन के प्रति वैराग्य-भावना उत्पन्न की। वे किसी जाति अथवा वर्ग विशेष के गुरु नहीं थे, प्रत्युत मानवमात्र के सद्गुरु थे। ऐसे कठिन युग में भी उन्होंने चीन, बर्मा, लंका, अरब, मिश्र, तुर्किस्तान, रूसी तुर्किस्तान तथा अफगानिस्तान आदि की यात्रायें कीं। जहाँ भी गये, वहीं वे प्रेम, भक्ति, सेवा, त्याग, वैराग्य, सत्य, संयम, तितिक्षा आदि का सन्देश ले गये[४]। वास्तव में गुरु नानक एक महान् उपदेशक तथा धर्म-सुधारक थे। वे एक अपूर्व योगी तथा गृहस्थ सन्त थे। उन्होंने रूढ़ियों एवं संकीर्ण-मनोवृत्ति से सभी धर्मावलम्बियों को ऊपर उठाने का प्रयत्न किया। उन्होंने समान रूप से हिन्दू और मुसलमानों की अज्ञानता को उनके समक्ष स्पष्ट किया और उन्हें सन्मार्ग पर लाकर एकेश्वरवाद में प्रतिष्ठित किया। उनके लिए मानव मात्र समान था। वे सभी को हरि-स्मरण में प्रवृत्त कर प्रभुपद दिलाना चाहते थे। वे एक महान् कवि, संगीतज्ञ, दार्शनिक, देशभक्त

धर्म-प्रचारक और विश्वबन्धु के असीम भाव से ओतप्रोत महापुरुष थे, इसीलिए भाई गुरुदास जी ने उन्हे परमात्मा द्वारा प्रपित अवतारी पुरुष कहकर उनके गुणगान किये है—

सुणी पुकार दातार प्रभु गुरु नानक जग माहि पठाया।
चरन धोइ रहि रासि करि चरनामृतु सिक्खा पिलाया।।

पारब्रह्म पूरन ब्रह्म कलिजुग अन्दर इक दिखाया।
चार पैर धरम दे चार वरन इक वरन कराया।।

राणा रंक बराबरी पैरी पवणा जग वरताया।
उलटा खेल पिरंम दा पैरां उपर सीस नवाया।।

कलिजुग बावे तारिआ सतिनाम पढ़ मंत्र सुणाया।
कलि तारण गुरु नानक आया।।

सति गुर नानक प्रगटिआ मिटी धुंध जग चानण होआ।
जिउँ कर सूरज निकलिआ तारे छपे अंधेर पलोआ।।[1]

गुरु नानक ने बहुत से पद, साखियाँ तथा भजन लिखे, जो गुरुग्रन्थ साहब मे संग्रहीत है[2]। उनमे उन्होने मूर्तिपूजा, अवतारवाद, जाति-पाँति आदि का खण्डन किया है और ब्रह्मा, विष्णु, महेश को स्वीकार करते हुए भी उन्हें परमात्मा नही माना है। "ओम्" को आदर के साथ ग्रहण किया है और उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि "जिह दिट्ठा मैं ते हो कहिआ" अर्थात् मैने जो कुछ देखा है, वही कह रहा हूँ। इससे बढकर और क्या ज्ञान की परख होगी ? सच्चा ज्ञानी ही अपने कथन की सच्चाई के सम्बन्ध मे ऐसा दृढ़तापूर्वक कह सकता है जैसा कि भगवान् बुद्ध ने "जो मैने स्वयं देखा है उसे ही कह रहा हूँ" कहा अथवा कबीर ने "मै कहता आखिन की देखी" कहकर अपने प्राप्त ज्ञान की सत्यता प्रकट की। वस्तुतः गुरु नानक अपने क्षेत्र में एक महान् व्यक्तित्व थे। ऐसी विभूतियाँ कभी ही कभी अवतरित हुआ करती है।

साधना

गुरु नानक का धर्म साधना प्रधान था। उसमे गुरु-सेवा, सत्संग, नामस्मरण, राजयोग, सहज-समाधि, सुरति, शून्य-भावना, सत्यनाम का गुणगान, कर्म-काण्ड का निषेध, शील, संयम, सन्तोष आदि गुणधर्मो से युक्त होकर हरि मे लवलीन रहने से ही परम-पद की प्राप्ति होती है। गुरु नानक का हरि सत्यनाम वाला है[3], वह निरंजन है[4], वह शाश्वत रहने वाला निरा-

---

१. वारां भाई गुरुदासजी, वार १, पउड़ी २३, २७, नानकवाणी, पृष्ठ ८१५ से उद्धृत।

२ डॉ० जयराम मिश्र ने "गुरु नानक की सभी वाणियों का सुन्दर संकलन एवं हिन्दी अनुवाद "ननाकवाणी" नामक ग्रन्थ में किया है।

३. साचा साहिब साचु नाइ।
भाखिआ भाउ अपारु।। ——— पृष्ठ ८१।

४ आपे आपि निरजन सोइ —वही पृष्ठ ८१

कार ब्रह्म है[१], वह आदि, अनादि, वर्ण-रहित, अनाहत तथा युग-युगान्तरों में एक ही रूप में रहने वाला है[२], वह अथाह और गम्भीर है तथा घट-घट में रम रहा है[३], वह खसम (पति) स्वरूप है, उसी ने तन-मन को रचकर सँवारा है[४], वह रामनाम भी है और वही निर्मल धन है[५], वह राजाओं में भी सर्वोत्तम राजा है, वही संसार को तारता है[६], वही कर्त्ता है, दूसरा कोई कर्त्ता नहीं है[७], उसी की भक्ति से व्यक्ति तर जाता है और फिर उसका जन्म-मरण नहीं होता[८], उसी के नाम में कीर्ति (संस्कार), सुरति, मोक्ष सब कुछ है[९], वह निराकार प्रभु निर्भय है, राम, कृष्ण आदि तो धूल है[१०], ब्रह्मा, विष्णु, महेश एक ही मूर्तियाँ है, जिन्हें उस प्रभु ने स्वयं रचा है[११], वह स्वयं निर्वाण-स्वरूप है[१२], वह ओंकार (प्रणव), सत्यनाम, कर्त्ता पुरुष, निर्भय, निर्वैर, अकाल मूर्ति, अयोनिज और स्वयम्भू है[१३]।

परमात्मा को गुरु से ही जाना जा सकता है। गुरु वाक्य ही नाद है, गुरु का वाक्य ही वेद है, क्योंकि गुरु की रसना में परमात्मा समाया हुआ है, गुरु ही शिव, गोरख (विष्णु), ब्रह्म और पार्वती है[१४], गुरु ही सीढ़ी है, गुरु ही नाव है, गुरु ही छोटी नाव है और हरि नाम है, गुरु ही सरोवर है, सागर है, जहाज है, गुरु ही तीर्थ है और सरिता है[१५], गुरु के बिना

१. तू सदा सलामति निरंकार —वही, पृष्ठ ८७।
२ आदि अनीलु अनादि अनाहति जुगु जुगु एको वेसु —वही, पृष्ठ ९३।
३. घटि घटि गहिर गंभीरु —वही, पृष्ठ १२१।
४. मन रे साची खसम रजाइ।
जिनि तनु मनु साजि सीगारिआ तिसु सेती लिव लाइ—नानकवाणी पृष्ठ १५४।
५. रामनामु धनु निरमलो—वही, पृष्ठ १५६।
६. नानक तरीऐ सचि नामि सिरि साहा पातिसाहु —वही. पृष्ठ १५८।
७. जो तिसु भाणा सोई हूआ।
अवरु न करणै वाला दूआ ।। —वही, पृष्ठ २०७।
८. राम भगति गुर सेवा तरणा।
बाहुड़ि जनमु न होइहै मरणा। —वही, पृष्ठ २०९।
९. कीरति सूरति मुकति इक नाई —वही, पृष्ठ २१९।
१०. नानक निरभउ निरंकारु होरि केते राम रवाल —वही, पृष्ठ ३२९
११. ब्रह्मा बिसनु महेस इक मूरति आपे करता कारी —वही, पृष्ठ ५१४।
१२. गिआनु धिआनु नरहरि निरबाणी—वही, पृष्ठ ७९२।
१३. ओं सतिनामु करता पुरखु निरभउ निरवैरु, अकाल मूरति अजूनी सैभं गुर प्रसादि।
—नानकवाणी, पृष्ठ ३९१।
१४. गुरमुखि नादं गुरमुखि वेद गुरमुखि रहिआ समाई।
गुरु ईसरु गुरु गोरखु बरमा गुरु पारबती माई ॥ —वही, पृष्ठ ८१।
१५ गुरु पउड़ी बेड़ी गुरू गुरु तुलहा हरि नाउ।
गुरु सरु सागरु बोहिथो गुरु तीरथु दरीआउ —वही पृष्ठ १०८

त्रिकुटी (बन्धन) नही छूटती है, गुरु की कृपा से ही सहजावस्था का सुख प्राप्त होता है[1], गुरु के उपदेश से ही सुख होता है[2], गुरु के बिना ज्ञान नही प्राप्त होता[3], गुरु के समान कोई अन्य तीर्थ नही है[4]।

गुरु नानक ने परमज्ञान की अवस्था को तुरियावस्था, निर्वाण, पद-निर्वाण, परमपद आदि नामो से पुकारा है। उसे प्राप्त करने के लिए तीर्थ-यात्रा, तपश्चर्या, दया, पुण्य, दान, स्नान, हठयोग आदि की आवश्यकता नही है, उसे तो अपने भीतर ही प्राप्त किया जाता है[5]। तीर्थ-स्नान और वेश-धारण से लाभ नही[6]। गुरु नानक ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि तीर्थ, व्रत, शुचि, सयम, कर्म, धर्म और पूजा से मुक्ति नही मिलती, केवल परमात्मा के प्रेम और भक्ति से भवसागर से निस्तार होता है—

तीरथ वरत सुचि संजमु नाही, करमु धरमु नही पूजा।
नानक भाइ भगति निसतारा दुबिधा विआपै दूजा॥[7]

क्योकि जिस वस्तु की प्राप्ति के लिए तीर्थ-यात्रा की जाती है, वह तो अपने भीतर ही सदा विद्यमान है। पण्डित वेद ग्रन्थो को पढ-पढकर व्याख्यान करते है, किन्तु अपने भीतर रहती हुई भी उस वस्तु को नहीं जानते—

जै कारणि तटि तीरथ जाही, रतन पदारथ घट ही माही।
पडि पडि पडितु वादु वखाणै, भीतरि होदी वसतु न जाणै॥[8]

वेश बदलने और सिर मुड़ा लेने से ज्ञान की प्राप्ति सम्भव नही[9], और न तो वेश धारण करने मे कोई ऊँच या नीच ही होना है[10], इस वेश-धारण से योग की प्राप्ति भी नही होती, यदि निरंजन से मुक्त रहा जाय तो वास्तविक योग यही है[11]। वास्तविक तीर्थ तो अपने घट मे ही है, ज्ञानी उसी मे स्नान करता है और फिर वह पुनर्जन्म मे नही पडता[12]। उपवास करके शरीर को कष्ट देना व्यर्थ है, उससे कोई लाभ नहीं होता[13], यज्ञ, होम, पुण्य, तप, पूजा आदि करने से देह दुखी रहती है, इनसे शान्ति नही प्राप्त होती, मुक्ति तो रामनाम से प्राप्त होती है और नाम गुरु की आज्ञा से चलने वाले को प्राप्त होता है[14]।

---

१ किउ गुर बिनु त्रिकुटी छुटसी सहजि मिलिऐ सुखु होइ। —वही, पृष्ठ १११।
२ इनु तनि लागै बाणीआ, सुखु होवै सेव कमाणीआ। —वही, पृष्ठ १३०।
३ गुर बिनु गिआनु न पाईऐ विखिआ दूजा सादु। —वही, पृष्ठ १५३।
४ गुर समानि तीरथु नही कोइ। —वही, पृष्ठ ७८०।
५ नानकवाणी, पृष्ठ ८८।
६ वही, पृष्ठ १५२।
७ वही, पृष्ठ १६६।
८. वही, पृष्ठ २०२।
९ वही, पृष्ठ २१२-२१३।
१०. वही, पृष्ठ २७२।
११ नानकवाणी, पृष्ठ ४४१-४२।
१२ वही, पृष्ठ ४७४।
१३ वही पष्ठ ५०८
१४ वही पष्ठ ६९७

गुरु नानक स्वर्ग, नरक, कर्म-फल और पुनर्जन्म मे विश्वास करते है। वे मानते है कि मनुष्य स्वयं ही बोता और स्वयं ही खाता है[1], इसीलिए उन्होने कहा है—"जेहा राधे तेहा लुणै[2]।" अर्थात् मनुष्य जैसा बोता है, वैसा ही काटता है। मनुष्य का जन्म पाना कठिन है[3], क्षमा, शील सन्तोष से ही मुक्ति होती है और जो मुक्त हो जाते है वे रूप-रेखा रहित प्रभु के समान ही हो जाते है[4]।

धन, यौवन अनित्य है[5], जनता माया मे पडी रहती है और "मेरा, मेरा" करती है, किन्तु अन्त मे कोई साथ नही देता[6], पिता, पुत्र, स्त्री, माता कोई भी अन्त मे सहायक नही होते[7], प्रत्युत वे सभी बन्धन है[8], इसीलिए दुर्लभ जन्म को पाकर[9] हरि नाम जपो, दान दो और पवित्र रहो, ऐसा करने से ही "निर्वाण-पद" का बोध कर सकोगे[10], संसार मे सब कुछ क्षणभंगुर है, यहाँ न किसी का कोई मित्र है, न भाई, न माता-पिता, यहाँ केवल हरिनाम ही एकमात्र सहायक है[11]। कचन और कामिनी से प्रेम त्यागकर यत, सत्, संयम और शील का अभ्यास करो, जो ऐसा नहीं करता वह प्रेत होकर उत्पन्न होता है[12]। सभी सुख-दु:ख पूर्व जन्म कृत कर्मो के फल है[13], शरीर पानी के बुलबुला और मिट्टी के घड़े के समान नश्वर है[14], अत: चोरी, व्यभिचार, जुआ आदि कुकर्मो को छोडकर शील, संयम और पवित्रता का जीवन व्यतीत करो, जो कुकर्म करते है वे नरक मे घानी मे पेरे जाते है[15]। हरि-स्मरण से कल्याण होता है, क्योकि हरि के अंक मे ही गंगा, यमुना, आदि सभी पवित्र नदियाँ और तीर्थ है[16], मूर्ति-पूजा व्यर्थ है, जो अन्धे, गूँगे, मूढ और गँवार है वे ही पत्थर की पूजा करते हैं, जब पत्थर स्वयं जल मे डूब जाते है, तो उन्हे पूजकर संसार-सागर से कैसे तरा जा सकता है—

अंधे गुंगे अंध अंधारु, पाथरु ले पूजहि मुगध गवार।
ओहि जा आपि डुबे तुम कहा तरणहारु ॥[17]

गुरु नानक ने मूर्ति-पूजा से बढकर मन की पवित्रता को माना है। उन्होने कहा है कि मन को जीतना जगत् को जीतना है[18], जो मनुष्य पत्थर की पूजा करते है, तीर्थो और वनो मे

---

१ आपे बीजि आपे ही खाहु। —वही, पृष्ठ ८८।

२ वही, पृष्ठ १४०।

३. वही, पृष्ठ २१५।

४ वही, पृष्ठ २२६।

५. वही, पृष्ठ १२४।

६. वही, पृष्ठ १४८।

७. नानकवाणी, पृष्ठ १२५।

८. वही, पृष्ठ २६१।

९ वही, पृष्ठ ४४६।

१० वही, पृष्ठ ४८८।

११. वही, पृष्ठ ४९२।

१२ वही, पृष्ठ ५११।

१३ सुखु दुखु पुरब जनम के कीए। —वही, पृष्ठ ६३२।

१४ वही, पृष्ठ ७०९।

१५ वही, पृष्ठ ७६७, ७३७।

१६. वही, पृष्ठ ६१०।

१७. नानकवाणी, पृष्ठ ३६६।

१८ वही पृष्ठ १४

निवास करते है, उदासी होकर भटकते फिरते है, किन्तु उनका मन गन्दा ही बना रहता है तो भला वे पवित्र कैसे हो सकते है, वास्तव मे जो सत्य से मिलता है वही प्रतिष्ठा पाता है—

पूजि सिला तीरथ बनवासा, भरमत डोलत भए उदासा।
मनि मैले सूचा किउ होइ, साचि मिलै पावै पति सोइ॥[1]

गुरु नानक की सभी प्राणियो पर समदृष्टि थी, उन्होने मानव मात्र को समान माना है, उनका कथन था कि जीवमात्र मे परमात्मा की ज्योति समझो, जाति के सम्बन्ध मे प्रश्न न करो, क्योकि आगे किसी भी प्रकार की जाति नही थी—

जाणहु जोति न पूछहु जाती आगै जाति न हे।[2]

जाति का अहंकार व्यर्थ है[3], जाति मे कुछ भी तत्व की बात नही है, जैसे विष चखने पर सभी मरते है, वैसे ही जाति के अहंकार मे पडकर व्यक्ति नष्ट हो जाता है—

जाती दै किआ हथि सचु परखीये।
महुरा होवै हथि मरीऐ चखीये॥[4]

गुरु नानक की साधना मे अहंकार, माया, आसक्ति आदि को त्याग कर परमात्मा के प्रेम एवं भक्ति मे लीन होकर उसे पति-स्वरूप मान कर निर्मल नाम-धन के सहारे सहजावस्था को प्राप्त किया जा सकता है, जो शून्य समाधि भी कहलाती है। शून्य समाधि की अवस्था मे जल, स्थल, धरती, आकाश कुछ भी नही होते, वहाँ केवल कर्त्तार स्वयं ही होता है, उस अवस्था मे माया नही होती, न अज्ञान का अन्धेरा, न सूर्य, न चन्द्रमा और न अपार ज्योति ही होती है, सब वस्तुओं का ज्ञान अन्त.करण मे हो जाता है और एक ही दृष्टि में तीनों लोको की सूझ हो जाती है—

सुंन समाधि रहहि लिव लागे एका एकी सबदु बीचार।
जलु थलु धरणि गगनु तह नाहीं आपे आपु कीआ करतार॥
ना तदि माइआ मगनु न छाइआ ना सूरज चंद न जोति अपार।
सरब दृसटि लोचन अभ अंतरि एका नदरि सु त्रिभवण सार॥[5]

सहजावस्था प्राप्त व्यक्ति के सारे दु ख मिट जाते है—

पति सेती जावै सहजि समावै।
सगले दूख मिटावै॥[6]

सारी साधना, त्याग, शील, सन्तोष, पवित्रता, भक्ति, प्रेम, गुरु-सेवा, नाम-स्मरण तथा समाधि का यही परम लक्ष्य है, यही जीवन का साफल्य है, इसी में मनुष्य तन पाना

---

१ वही, पृष्ठ ४१९।
२. वही, पृष्ठ २४८।
३ वही पष्ठ १६९
४ नानकवाणी पृष्ठ १८३
५. वही पृष्ठ ३५९ ६०
६ वही पष्ठ १६७

सार्थक है, और इस काया का सर्वोत्तम उपयोग है कि सारे दुःखों का अन्त हो जाय, आवागमन रुक जाय और परमपद निर्वाण को प्राप्त कर व्यक्ति स्वयं हरि-स्वरूप हो जाय। गुरु नानक की यह साधना सहज, सरल और सर्वग्राह्य है।

बौद्ध-देशों का भ्रमण

गुरु नानक देव ने जिन-जिन नगरों, प्रान्तों एवं देशों की यात्रायें की, उनका संक्षिप्त वर्णन पहले किया जा चुका है। उससे ज्ञात है कि उन्होंने पहली उदासी में राजगिरि, बुद्धगया, आसाम, जगन्नाथपुरी आदि बौद्ध-तीर्थों एवं बौद्ध-प्रमुख स्थानों के भ्रमण किये। 'इतिहास गुरु खालसा" से ज्ञात होता है कि बुद्धगया मन्दिर की बुद्धमूर्ति को देखकर मरदाना ने अनेक प्रश्न गुरु नानक से किये थे और उसका समाधान करते हुए भी उन्होंने भगवान् बुद्ध तथा बौद्धधर्म की बड़ी प्रशंसा की थी[1]। आसाम में उन दिनों बौद्धों की संख्या सबसे अधिक थी। आज भी आसाम में बौद्ध कम नहीं हैं। गुरु नानक देव ढाका की ओर भी गये थे। डॉ० जयराम मिश्र ने उनके बर्मा और चीन जाने का भी उल्लेख किया है[2]। ये दोनों बौद्ध-देश रहे हैं। बर्मा सम्प्रति भी बौद्ध-प्रधान देश ही है। उड़ीसा प्रदेश में भी उस समय बौद्धों की संख्या पर्याप्त थी जिनकी परम्परा आज तक चली आ रही है। हम पहले कह आये हैं कि जगन्नाथपुरी के मन्दिर की मूर्ति को वहाँ की जनता "सुइ बउद्ध रूप हुइ"[3] कहकर पूजा करती थी और बुद्ध का स्वरूप मानती थी। श्री नगेन्द्रनाथ बसु ने लिखा है—"उत्कल के सभी प्राचीन कवियों ने दसों अवतार के गुणगान करने के प्रसंग में जगन्नाथ या दारु ब्रह्म को कलियुग में उद्धार करने वाले बुद्ध के साथ एक, और समान माना है[4]।" गुरु नानकदेव ने भी जगन्नाथ की आरती की थी और अपनी आरती में उन्होंने अनाहत शब्द की भेरी बजाई थी और आकाश रूपी थाल में सूर्य और चन्द्रमा के दीप एवं तारामण्डल के मोती सजाये थे—

> गगन मे थालु रवि चन्दु दीपक बने तारिका मंडल जनक मोती।
> धूपु मलआनलो पवणु चवरो करे सगल बनराइ फूलंत जोती॥
> कैसी आरती होइ भवखंडना तेरी आरती।
> अनहता सबद वाजंत भेरी॥[5]

अनाहत शब्द के वाद्य से जगन्नाथपुरी के दारु-ब्रह्म की ही पूजा हो सकती थी जिन्हें कि "प्रणवगीता" में भी "कलियुगे दारु ब्रह्म शरीर"[6] कहकर बौद्धधर्म के शून्यवाद का प्रतिपादन किया गया है। आगे इस पर विचार किया जायेगा कि उड़ीसा के बौद्धों का कितना गहरा प्रभाव गुरु नानकदेव पर पड़ा था।

गुरु नानकदेव दूसरी उदासी में सिंहल द्वीप तक गये थे। सिंहल द्वीप में बौद्धधर्म सम्राट अशोक के समय में भारत से गया था और आज तक वहाँ विद्यमान है। इस बौद्ध देश

---

१. इतिहास गुरुखालसा, पृष्ठ ११०। २ नानकवाणी, पृष्ठ ८१९।
बौद्धधर्म दर्शन तथा साहित्य पृष्ठ २०४। ४ भक्तिमार्गी बौद्धधर्म पष्ठ १५४
पृष्ठ ४१६ ६ प्रणवगीता पद ४७

की यात्रा कर गुरु ननाक अवश्य ही स्थविरवाद बौद्धधर्म से प्रभावित हुए होते किन्तु उनकी वाणियों का अध्ययन करने से उन पर महायान का ही प्रभाव दृष्टिगत होता है जो श्रमण, नाथ-सिद्धो तथा सन्तों के प्रभाव की देन है। इस पर हम आगे विचार करेंगे। सिंहल के राजा का नाम शिवनाम भी इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि गुरु नानक सिहल के किसी द्रविण धनपति से ही मिले थे, बौद्ध-राजाओ से उनकी भेट नही हुई थी और न तो बौद्ध-भिक्षुओ से ही उनका सत्संग हुआ था, अन्यथा नानकवाणी मे उसकी झलक अवश्य मिलती।

तीसरी उदासी में गुरु नानक ने अधिक बौद्ध देशो तथा स्थानो की यात्रा की थी। कागड़ा, कुल्लू, चम्बा और हिमाचल प्रदेश उस समय बौद्धधर्म से प्रभावित थे। वहाँ अब भी परम्परागत बौद्धो की संख्या अधिक है। रिवालसर अब भी महायानी बौद्धो का महान् पवित्र तीर्थस्थान है, जिसके दर्शनार्थ लाखो व्यक्ति प्रति वर्ष जाते हैं। गुरु नानक के वहाँ जाने के कारण अब सिखो का भी वह तीर्थ बन गया है। उत्तरकाशी, गढवाल आदि प्रदेशो मे भी बौद्धो की संख्या कम न थी। गुरु नानक ने गोरखपुर से बुटवल होकर धौलागिरि, मुक्तिनाथ (ज्वालामाई) आदि की यात्रा करते हुए काठमांडू की चारिका की थी। इस मार्ग मे भी हिन्दू और बौद्ध समान रूप से थे। नेपाल के पशुपतिनाथ मन्दिर के दर्शन के साथ ही उन्होने खास्ति और स्वयम्भू चैत्यो का भी दर्शन किया होगा। ललितपाटन मे उन्हे अशोक-निर्मित थूर (स्तूप) और प्राचीन बौद्ध मन्दिर मिले होगे। नाथो तथा वज्राचार्यो से उनका सत्संग हुआ होगा। सिक्किम, और भूटान के बौद्धों के सम्पर्क मे आने से गुरु नानक को बौद्ध-विचारो से परिचय प्राप्त हुआ होगा। इतिहास गुरु खालसा[१] से ज्ञात होता है कि भूटान की यात्रा मे किसी बड़े लामा ने गुरु नानक के प्रवचन का अनुवाद श्यर्पा भाषा मे किया था। इस यात्रा मे वे बौद्धो के अधिक सम्पर्क मे आये थे।

महायान का प्रभाव

गुरु नानक की वाणियो का अध्ययन करने से उन पर महायान बौद्धधर्म का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। शून्य[२], शून्यसमाधि[३], अनाहत[४], दशमद्वार[५], शून्यमण्डल[६], सहज गुफा[७], निर्वाण[८], निरंजन[९], सत्यनाम[१०], सहजावस्था[११], सुरति[१२], कर्म-स्वकता[१३],

१ इतिहास गुरुखालसा, पृष्ठ १४०।

२. नानकवाणी, पृष्ठ ३३३।

३ वही, पृष्ठ ३३३, ३६०, ५५६।

४ वही, पृष्ठ ९४, २३७, ३१७, ५५६।

५ वही, पृष्ठ २०२।

६. वही, पृष्ठ ६५।

७ वही, पृष्ठ ६५।

८. वही, पृष्ठ १५२, ४८९, ७९२।

९ वही, पृष्ठ ८१, ८४, ३२९, ९८।

१०. वही, पृष्ठ ८१, ९३, ९८, १५९, ४९५, १४१, २५७।

११. वही, पृष्ठ ८३, ११०, ११२, १४४, १५२, १६८, २०६, ५१६।

१२ वही पृष्ठ ८४ १५५

१३ वही पृष्ठ ८८ १४० ६३२

तीर्थ-व्रत[१] आदि कर्मकाण्डों का निषेध, गुरु माहात्म्य[२], ईश्वर की घट-घट व्यापकता[३], निर्वाण-पद[४], ग्रन्थ-प्रमाण का बहिष्कार[५], सन्त-महिमा[६], खसम-भावना[७], जातिवाद का त्याग[८], शील आदि गुणों की ग्राहकता[९], संस्कार[१०], परमपद[११], मोह-माया का त्याग[१२], सहज-योग[१३], स्नान-शुद्धि की भावना का परित्याग[१४], पुनर्जन्मवाद का अंगीकार[१५], अवतारवाद का खण्डन[१६], यज्ञ-होम आदि का परिवर्जन[१७] इत्यादि बौद्धधर्म के तत्व नानक-वाणी में आए हुए है। इनमें से कुछ ऐसे है जो सन्तों से होकर नानक तक पहुँचे थे और कुछ बौद्ध विद्वानों के सत्संग, सिद्धो, नाथो एवं वज्राचार्यों की धर्म-साकच्छा (धर्मचर्चा) तथा बौद्ध-देशों के भ्रमण से प्राप्त हुए थे।

गुरु नानक ने अनेक स्थलो पर भगवान् बुद्ध को भी स्मरण किया है। उन्होने तथागत को ज्ञान-खण्ड का निवासी माना है[१८], साथ ही परमात्मा को भी सच्चखण्ड मे रहने वाला बतलाया है[१९], उस निराकार निरंजन परमात्मा का वर्णन बुद्ध करते हैं—

आखहि ईसर आखहि सिध।
आखहि केते कीते बुध ॥[२०]

बुद्ध भी परमात्मा के भय मे रहते है—

भै विचि सिध बुध सुर नाथ।[२१]

सभी बुद्धों पर परमात्मा की आज्ञा चलती है—

सभे बुधी सुधि सभि सभि तीरथ सभि थान।
हुकमि चलाए आपणै करमी वहै कलाम ॥[२२]

गुरु नानक के इन वर्णनों से ऐसा नही समझना चाहिए कि वे बुद्ध के प्रभाव से वंचित थे। निराकार, निरंजन, अलख तथा सर्वव्यापी परमात्मा की देशना का जो प्रवाह सिद्धों के

---

१. वही, पृष्ठ ८८, १५२, १६७, २०२, २२७, ७०८, ६१० ।
२. वही, पृष्ठ ८२, १०९, ११२, १५३, ७८० ।
३ वही, पृष्ठ १२१, २०२ ।
४. वही, पृष्ठ १२५, १५२, ४८९, ७९२ ।
५ वही, पृष्ठ २०२, १३९ ।
६ वही, पृष्ठ २२७, ३४० तथा ५६८ ।
७. नानकवाणी, पृष्ठ १५५ ।
८. वही, पृष्ठ १६९, १८३, २४८, २५७ ।
९ वही, पृष्ठ १७९, २२६, ५११, ७३७ ।
१०. वही, पृष्ठ ५७५, २२० ।
११ वही, पृष्ठ २३४ ।
१२. वही, पृष्ठ ५११, २९१ ।
१३ वही, पृष्ठ ३३६ ।
१४. वही, पृष्ठ १५२, १६७, २०२, २२७, २७१, ४७४, ६१० ।
१५ वही, पृष्ठ ६३२, ७३१, ४४६, २१४ ।
१६. वही, पृष्ठ ६८९ ।
१७. वही, पृष्ठ ६९७ ।
१८. केते सिध बुध नाथ। —वही, पृष्ठ ९७ ।
१९ वही पृष्ठ ९७
२० पृष्ठ ९१
२१ वही पृष्ठ ३२९
२२ वही पृष्ठ ७३१

काल में प्रवाहित हुआ था, उसी का प्रभाव कबीर आदि सन्तों पर पड़ा था और नानक आदि सिख गुरुओं ने भी उस प्रवाह से प्रभावित होकर सत्यनाम वाले परमात्मा का गुणगान करते हुए कबीर की भाँति बुद्ध का ही गुणगान किया। सिद्ध सरहपा ने आठवीं सदी के पूर्वार्द्ध में जिस तथ्य को उद्घोषित करते हुए कहा था—

"पंडिअ सअल सत्थ वक्खाणअ।
देहहिं बुद्ध वसन्त ण जाणअ ॥[1]

(अर्थ—पण्डित सम्पूर्ण शास्त्रों का व्याख्यान करते हैं, किन्तु अपने शरीर के ही भीतर निवास करने वाले 'बुद्ध' को नहीं जानते हैं।)

उसी तथ्य को दुहराते हुए, उन्हीं शब्दों में सन्त कबीर ने गाया—

पढ़ि पढ़ि पण्डित बेद बखानैं।
भीतरि हूती बसत न जानैं ॥[2]

(अर्थ—पढ़-पढ़ कर पण्डित वेदों का व्याख्यान करते हैं, किन्तु अपने भीतर रहने वाले परमात्मा को नहीं जानते।)

इन्हीं शब्दों को दुहराते हुए तथा यही भाव प्रकट करते हुए गुरु नानक ने भी गाया—

पड़ि पड़ि पंडित वादु बखाणै।
भीतरि होदी वसतु न जाणै ॥[3]

(अर्थ—पढ़-पढ़ कर पण्डित वादों (मतों) का व्याख्यान करते हैं, किन्तु अपने भीतर रहने वाले परमात्मा को नहीं जानते।)

ऐसे ही सिद्ध सरहपा ने घोषणा करते हुए कहा—

किन्तह तित्थ तपोवण जाई।
मोक्ख कि लब्भइ पाणी न्हाई ॥[4]
घरहि म थक्कु म जाहि वणे, जहि तहि मण परिआण।
सअलु णिरन्तर बोहि ठिअ, कहिं भव कहिं णिव्वाण ॥[5]

गोरखनाथ ने भी इसी भाव को प्रकट करते हुए कहा—

घट ही भीतरि अठसठि तीरथ कहां भ्रमै रे भाइ।[6]

सन्त कबीर ने इसे और भी स्पष्ट करते हुए गाया—

जिस कारणि तटि तीरथ जांहीं।
रतन पदारथ घट हीं माहीं ॥[7]

---

१. दोहाकोश, पृष्ठ १८।
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०२।
३. नानकवाणी, पृष्ठ २०२।
४. हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ ६।
५ हिन्दी पृष्ठ १४
६ पृष्ठ ५५
७ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १०२

गुरु नानक ने कबीर के ही स्वर म स्वर मिलाते हुए उन्हीं शब्दों को पुन: गाया

जै कारणि तटि तीरथ जाहीं।
रतन पदारथ पटहिं माही ॥[१]

कितनी समता है महायानी सिद्धों, नाथों, सन्तों और गुरु नानक की वाणी मे। स्पष्ट है कि यह विचारधारा बौद्धधर्म की देन है, जो शताब्दियो से जन-मानस को प्रभावित करती हुई सिख-गुरुओ को भी अपने मूल अर्थ एवं भाव के साथ अंगीकृत हुई। आगे हम देखेंगे कि किस प्रकार बौद्ध-विचार गुरु नानक को प्रभावित किए है और वे किस रूप मे सिखधर्म में विद्यमान है।

शून्य

गुरु नानक ने शून्य को सबकी उत्पत्ति का मूल कारण माना है—

पउणु पाणी सुंनै ते साजे।
सुनहु ब्रह्मा विसनु महेसु उपाए ॥
सुंनहु उपजे दस अवतारा।
सृसटि उपाइ कीआ पासारा ॥[२]

महायानी सिद्धो ने निर्वाण-प्राप्त चित्त की अवस्था को शून्य (खसम) कहा है[३] और स्थविरवादी बौद्ध शून्य को विमोक्ष मानते है[४], नाथ भी शून्य को परमतत्व के रूप मे मानते हुए उसे ही सर्वस्व बतलाते है[५], किन्तु कबीर ने शून्य को आदितत्व के रूप मे माना है, उन्होंने संसार की उत्पत्ति को शून्य से ही स्वीकार किया है—

सहज सुनि इकु बिरवा उपजि धरती जलहरु सोखिया।
कहि कबीर हउ ताका सेवक जिनि इहु बिरवा देखिआ ॥[६]

उदक समुंद सलिल की साखिआ नदी तरंग समावहिगे।
सुंनहि सुनु मिलिआ समदरसी पवन रूप होइ जावहिगे ॥[७]

नेपाल, आसाम और उत्कल प्रदेश के पन्द्रहवी शताब्दी के बौद्ध भी शून्य से ही सृष्टि मानते थे। श्री हॉगसन ने लिखा है—"महाशून्य कुछ लोगों के अनुसार स्वभाव और अन्यो के अनुसार ईश्वर है। वह व्योम-सा परिव्याप्त है और आत्म-निर्भर है, वही आदिबुद्ध है जो स्वेच्छा से प्रकट हुआ। वही स्वयम्भू है जिसे सब लोग सत्पुरुष के रूप मे जानते है, उसने पंच-बुद्ध को उत्पन्न किया[८]।" नगेन्द्रनाथ वसु का कथन है कि यह व्याख्या वाह्यतौर पर

१. नानकवाणी, पृष्ठ २०२।
२. नानकवाणी, पृष्ठ ६५१।
३ दोहाकोश, पृष्ठ ३२।
४ दीघनिकाय, संगीति परियायसुत्त।
५. गोरखबानी, पृष्ठ ७३।
६. सन्त कबीर, पृष्ठ १८१।
७. सन्त कबीर, पृष्ठ १९२।
८. भक्तिमार्गी बौद्धधर्म पृष्ठ १०७।

वैष्णव धर्म मानने वाले उत्कल के गुप्त बौद्धों तथा बौद्ध नवारों (नेपाली बौद्धों) की दशा में समान रूप से ठीक उतरती है और यह सिद्धान्त महायानी बौद्धों का है[1]। नेपाल के स्वयम्भू पुराण में शून्य को जननी की संज्ञा दी गयी है—

शून्यता शून्यता माता बुद्धमाता प्रकीर्तिता।
प्रज्ञापारमितारूपी बौद्धाना जननी तथा ॥[2]

उत्कल के बौद्धों ने भी शून्य को आदिमाता कहकर ही गाया है—

आद्यदेवमाता शून्य वरदाता एहाङ्क शून्यटि कहि।[3]
परम आत्माटि महाशून्य बलि भाव।[4]

सन्त रैदास ने भी शून्य से ही उत्पत्ति मानी है—

जहां का उपज्या तहां समाय।
सहज शून्य में रह्यो लुकाय ॥[5]

इस प्रकार स्पष्ट है कि गुरु नानक का शून्य बौद्ध-परम्परा से आगत शून्य का ही रूपान्तरित स्वरूप है, जो उनके समय में नेपाल एवं उत्कल प्रदेश में प्रचलित था। शून्य समाधि, शून्य-मण्डल, सहज-गुफा, निर्वाण, निरंजन, सहजावस्था, सुरति आदि में भी इसी प्रकार बौद्ध-प्रभाव परिलक्षित है।

शून्य समाधि

शून्य समाधि को गुरु नानक ने निरंजन परमात्मा के ध्यान की अवस्था माना है। उस समाधि में केवल करतार ही रहता है और कुछ नहीं रहता, वह अफुर समाधि की अवस्था है—

जोगी मुंनि धिआवन्हि जेते अलख नामु करतारु।
सूखम मूरति नामु निरंजन काइआ का आकारु ॥[6]

सुंन समाधि रहहि लिव लागे एकाकी सबदु बीचार।
जलु थलु धरणि गगनु तह नाही आपे आपु कीआ करतार ॥[7]

गुरु नानक की शून्य-समाधि सिद्धों-नाथों की सहज समाधि का ही स्वरूप है। नाथों ने सहज समाधि को स्थिर चित्त की अवस्था कहा है[8]। सिद्ध सरहपा ने उसे परमसुख बतलाया है[9] और गुरु नानक ने शून्य को स्वयम्भू की नगरी कहकर शून्य-समाधि को अफुर समाधि अर्थात् परमतत्व की अवस्था बतलाया है[10]। इसे ही कबीर ने "सहज समाधि भली" कहा

---

१. वही, पृष्ठ १०८। २. स्वयम्भूपुराण, पृष्ठ १८०।
३. गणेश-विभूति टीका, अध्याय १४। ४. वही, अध्याय २२।
५. सन्त रविदास और उनका काव्य, पृष्ठ ९६।
६. नानकवाणी, पृष्ठ ३३२। ७. वही, पृष्ठ ३५९।
८ गोरखबानी पृष्ठ १९५ ९ दोहाकोश पृष्ठ ३०।
१० प्राण सांगली पृष्ठ १८३

है[१]। साथ ही कोटि कल्पों तक सहज समाधि में विश्राम करने की भी इच्छा प्रकट करते हुए उसे ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति बतलाया है[२]। अतः गुरु नानक की शून्य समाधि सहज समाधि का ही रूप है।

अनाहत नाद

गुरु नानक ने हठयोग की साधना को नहीं माना है, किन्तु हठयोग में प्रचलित शब्दों को अपनाया है। ये शब्द सिद्धों द्वारा प्रचारित किये गये थे और नाथों ने इन्हें दृढ़ता से ग्रहण किया था। योगी दशमद्वार की प्राप्ति से पूर्व ही अनाहत नाद सुनने लगता है, किन्तु गुरु नानक के अनुसार अनाहत नाद का आनन्द दशमद्वार में पहुँच कर होता है—

गुरमति राम जपै जनु पूरा।
तितु घट अनहत बाजे तूरा॥[३]
पंच सबद धुनि अनहद बाजे हम घरि साजन आये।[४]

सिद्ध कण्हपा ने कहा है कि नाड़ी शक्ति के दृढ़ होने पर अनाहत नाद होता है—

नाडि शक्ति दिढ़ धरिअ खाटे।
अनहा डमरू बजइ विरनाडे॥[५]

दशमद्वार

सिद्ध विरूपा का कथन है कि दशमद्वार में ही ज्ञात पड़ने लगता है कि योगी अपने गन्तव्य स्थान को पहुँच गया है[६]। गुरु नानक ने इसी बात को प्रकट करते हुए कहा है कि इस शरीर में नव दरवाजे हैं और दशमद्वार (ब्रह्मरन्ध्र) भी है—

नउ दरवाजे दसवा दुआरु।[७]

निर्वाण

निर्वाण परमसुख की अवस्था है, जिसे गुरु नानक ने निर्वाण, निर्वाण-पद, परमपद आदि नामों से पुकारा है। यह बौद्ध "निर्वाण" शब्द का पूर्णरूपेण परिचायक है जो सिद्धों, नाथों और सन्तों से होकर गुरु नानक तक पहुँचा था। गुरु नानक ने निर्वाण के प्रति अपने भाव इस प्रकार व्यक्त किये हैं—

अकथ कहाणी पदु निरबाणी को विरला गुरमुखि बूझए।
ओहु सबदि समाए आपु गवाए त्रिभवण सोझी सूझए॥[८]
गिआनु धिआनु नरहरि निरबाणी।
बिनु सतिगुर भेटे कोइ न जाणी॥

---

१. कबीर, पृष्ठ २६२।
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८९।
३. नानकवाणी, पृष्ठ २३७।
४. वही, पृष्ठ ४५४।
५. हिन्दी काव्यधारा पृष्ठ १५०।
६. वही पृष्ठ १३८
७. पृष्ठ २०२
८. वही पृष्ठ ४८

सगल सरोवर जोति समाणी
आनद रूप विटहु कुरबाणी ॥[1]
मनु किरमाणु हरि रिदै जंमाइ।
ले इउ पावसि पदु निरबाणी ॥[2]
हउ हउ करत नही सचु पाईए।
हउमै जाइ परमपदु पाईए ॥[3]

उपर्युक्त वर्णन से विदित है कि गुरु नानक परमात्मा से मिलने को ही निर्वाण, परम-पद अथवा परमसुख मानते हैं, जिसे अहंकार-त्याग के उपरान्त ही प्राप्त किया जा सकता है। धम्मपद में भी कहा गया है कि तृष्णा के नष्ट होने पर ही निर्वाण-सुख का लाभ होता है, जो परम सुख है—'निब्बाणं परमं सुखं[4]।' गुरु नानक ने जो निर्वाण को ईश्वर प्राप्ति की अवस्था बतलायी है वह उनकी अपनी स्वयं की अर्जित देशना नहीं है, प्रत्युत सिद्धो की ही देशना का वह अपने रूप में वर्णन है। सिद्ध मानते थे कि बुद्ध सर्वत्र तथा सदा विद्यमान रहते हैं और वे ज्ञान स्वरूप हैं। ज्ञान को ही बोधि भी कहते हैं, वह बोधि सदा सर्वत्र सुलभ है। सिद्ध सरहपा ने इससे भी स्पष्ट रूप में कहा कि बुद्ध तो सदा हमारे शरीर में ही निवास कर रहे हैं[5]। वे ही ज्ञानस्वरूप, बोधिस्वरूप, सत्यनाम वाले बुद्ध गुरु नानक के हरि, परमात्मा, निरंजन ब्रह्म, निर्वाण, पद-निर्वाण और परमपद है।

कर्म-स्वकता

बौद्धधर्म में कर्म-स्वकता प्रधान रूप से मानी जाती है। चूल कम्भविभंग सुत्त में कहा गया है कि सभी प्राणी कर्मस्वक है[6]। जातक मे कर्मस्वकता को स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है—

यानि करोति पुरिसो तानि अत्तनि पस्सति।
कल्याणकारी कल्याणं पापकारी च पापकं ॥
यादिसं वपते बीजं तादिसं हरते फलं।[7]

(अर्थ—पुरुष जिन कर्मों को करता है, उनके फल को स्वयं अपने ही देखता है, जो जैसा बीज बोता है वह वैसा फल पाता है, पुण्य करने वाला अच्छा फल पाता है तथा पाप करने वाला बुरा।)

सिद्ध सरहपा ने भी इसी का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि व्यक्ति कर्म के बन्धन से बँधे है, जब वे कर्म से विमुक्त हो जाते है तब उनका चित्त मुक्त हो जाता है और उसके पश्चात् निर्वाण की प्राप्ति होती है—

---

१ नानकवाणी, पृष्ठ ७९२।
२. वही, पृष्ठ १२५।
३ वही, पृष्ठ २३३।
४. धम्मपद, गाथा २०३-४।
५. दोहाकोश, पृष्ठ १८।
६ [illegible] ३ ४ ५ हिन्दी अनुवाद पृष्ठ ५२२।
७ जातक गाथा २२२

बज्झइ कम्मण जणो कम्मविमुक्केण होइ मणमक्को
मणमोक्खेण अणुअर पाविज्जइ परम णिव्वाणं ॥[१]

गुरु नानक ने भी कर्मस्वकता को माना है। उनका भी यही कथन है कि मनुष्य स्वयं ही बोता है और स्वयं ही खाता है—

आपे बीजि आपे ही खाहु।
नानक हुकमी आवहु जाहु ॥[२]

भगवान् बुद्ध की वाणी को ही दुहराते हुए गुरु नानक ने यह भी कहा है कि मनुष्य जैसा बोता है, वैसा ही काटता है—"जेहा राधे तेहा लुणै[३]।" पूर्व-जन्म में जो जैसा कर्म करता है, वैसा ही उसे उसका फल मिलता है, कुशल कर्म का फल सुखकर होता है और पाप कर्म का कष्टकर, फिर दोष अन्य को क्यों दिया जाय ?

सुखु दुखु पुरब जनम के कीए।
सो जाणै जिनि दातै दीए ॥
किस कउ दोसु देहि तू प्राणी।
सहु अपना कीआ करारा हे ॥[४]

तीर्थ-व्रत का निषेध

बौद्धधर्म की भाँति गुरु नानक भी तीर्थ-व्रत का निषेध करते हैं। उनका कथन है कि तीर्थ-तप-व्रत से तिलमात्र भी मान नहीं प्राप्त होता, प्रत्युत हरि-भक्ति ही आन्तरिक तीर्थ मे स्नान करना है—

तीरथु तपु दइआ दतु दानु, जे को पावै तिल का मानु।
सुणिआ मंनिआ मनि कीता भाउ, अंतरगति तीरथि मलि नाउ ॥[५]

यदि मन मे घमण्ड और मैल भरे हुए हैं तो फिर तीर्थ मे जाकर स्नान करने से क्या लाभ होगा—

तीरथ नाता किआ करे,
मन महि मैलु गुमान।[६]

जिनमे ज्ञान, ध्यान, गुण और संयम नहीं है, वे जन्मकर झूठे ही मर जायेंगे। तीर्थ, व्रत, शुचि, संयम, कर्म, धर्म और पूजा आदि से मुक्ति नही मिलती, केवल परमात्मा के प्रेम और भक्ति से निस्तार होता है—

गिआनु धिआनु गुण संजमु नाही जनमि मरहुगे झूठे।
तीरथ वरत सुचि संजमु नाही करमु धरमु नही पूजा।
नानक भाइ भगति निसतारा दुविधा विआपै दूजा ॥[७]

---

१. दोहाकोश, पृष्ठ ६।
२. नानकवाणी, पृष्ठ ८८।
३. वही, पृष्ठ १४०।
४. वही, पृष्ठ ६३२।
५. वही पृष्ठ ८८।
६. नानकवाणी पृष्ठ १५१
७. वही पृष्ठ १६६

जिस निमित्त मनुष्य तीर्थ-तटों आदि म जाते हैं, वह रत्न-पदार्थ तो घट के भीतर ही स्थित है—

जै कारणि तटि तीरथ जाही।
रतन पदारथ घट ही माही ॥[1]

अन्त.करण मे मल रहते हुए स्नान करने से कोई लाभ नही है। मन को पवित्र करना ही सर्वोत्तम स्नान है—

अंतरि मैलु तीरथ भरमीजै।
मनु नही सूचा किआ सोच करीजै ॥
किरतु पइआ दोसु का कउ दीजै।
अंनु न खाहि देही दुखु दीजै।
बिनु गुर गिआन तृपति नही थीजै ॥[2]

गगा, यमुना आदि पवित्र नदियाँ, श्रीकृष्ण की क्रीडाभूमि वृन्दावन, केदारनाथ, काशी, काँची, जगन्नाथपुरी, द्वारिकापुरी, गगासागर, त्रिवेणी का संगम प्रयागराज तथा अन्य अडसठ तीर्थ स्थान हरि के ही अंक मे समाए हुए है—

गगा जमुना केल केदारा, कासी काती पुरी दुआरा।
गंगासागरु बेणी संगमु अठसठि अंकि समाई हे ॥[3]

इसी बात को गोरखनाथ ने भी कहा है—"घट ही भीतरि अठसठि तीरथ कहाँ भ्रमै रे भाई[4]।" मीराबाई ने तो इन्हे सन्तो के चरणों में ही बतलाया है—"अठसठ तीरथ सन्तों ने चरणे कोटि कासी ने कोटि गंग रे"[5]। मन की पवित्रता सबसे उत्तम स्नान है, इसीलिए भगवान् बुद्ध ने कहा है कि शुद्ध चित्त वाले के लिए सदा ही उपोसथ व्रत और पवित्र सरितायें है[6], तथा गोरखनाथ ने बुद्धवाणी को ही दुहराते हुए कहा है—"अवधू मन चंगा तो कठौती गंगा[7]।" इस प्रकार हमने देखा कि गुरु नानक ने तीर्थ-व्रत, स्नान-शुद्धि आदि के सम्बन्ध मे वही विचार प्रकट किये है जो कि भगवान् बुद्ध तथा बौद्ध परम्परा के है।

गुरु-माहात्म्य

गुरु नानक ने सिद्धों-नाथो के समान ही गुरु की महिमा गायी है और गुरु को सब कुछ माना है। गुरु ही शिव, विष्णु, ब्रह्मा आदि सब है—

गुरुमुखि नादं गुरमुखि वेदं गुरमुखि रहिआ समाई।
गुरु ईसरु गुरु गोरखु बरमा गुरु पारबती माई ॥[8]

---

१. वही, पृष्ठ २०२।
२. नानकवाणी, पृष्ठ ५०७।
३ वही, पृष्ठ ६०९।
४. गोरखबानी, पृष्ठ ५५।
५ मीराबाई की पदावली पृष्ठ १११
६ हिन्दी अनुवाद पृष्ठ २६
७ पृष्ठ ५३
८ पृष्ठ ८१

गुरु सीढी नाव तीर्थ सब कुछ है

गुरु पउड़ी बेड़ी गुरु गुरु तुलहा हरि नाउ।
गुरु सरु सागरु बोहिथो गुरु तीरथ दरीआउ ॥[1]

गुरु सन्तों की सभा में मिलते हैं और उनकी सेवा में ही मुक्ति प्राप्त होती है। उनसे सभी कलुष नष्ट हो जाते हैं—

सन्त सभा गुरु पाइये मुकति पदारथु धेणु।
बिनु गुर मैलु न उतरै बिनु हरि किउ घर वासु ॥[2]

बिना गुरु के ज्ञान प्राप्त नहीं होता—

गुर बिनु गिआनु न पाईए।[3]

गुरु नानक से कई शताब्दी पूर्व ही गोरखनाथ ने इन्हीं शब्दों में कहा था—"गुरु बिन ग्यान न पायला रे भाईला[4]" और गुरु नानक से आयु में ज्येष्ठ परम सन्त कबीर ने भी इसी भाव को इस प्रकार प्रकट किया था—"गुरु बिन चेला ग्यान न लहै[5]।" स्पष्ट है कि गुरु नानक की गुरु-माहात्म्य की भावना बौद्ध-परम्परा की देन है।

ग्रन्थ-प्रमाण का बहिष्कार

बौद्धधर्म ग्रन्थ-प्रमाण को नहीं मानता। गुरु नानक भी ग्रन्थ-प्रमाण के विरोधी थे। उनका कथन था कि केवल ग्रन्थों को पढ़कर व्याख्यान देने मात्र से ही ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती, प्रत्युत अपने आध्यात्म्य को पहचानना ग्रन्थ-स्वाध्याय से श्रेष्ठ है—

पडि पडि पडितु वादु वखाणै।
भीतरि होदी वसतु न जाणै ॥[6]

केवल ग्रन्थों को पढने से आसक्ति नहीं छूटती। ग्रन्थ तो झूठे हैं, उनमें सारा संसार भटकता फिरता है, वास्तव में सच्चा जीवन ही सार तत्व है—

पंडित वाचहि पोथीआ ना बूझहि बीचारु।
अन कउ मती दे चलहि माइआ का वापारु ॥
कथनी झूठी जगु भवै रहणी सबदु सु सारु।
केते पंडित जोतकी वेदा करहि बीचारु ॥
वादि विरोधि सलाहणे वादे आवणु जाणु।
बिनु गुर करम न छूटसी कहि सुणि आखि बखाणु ॥[7]

---

१. वही, पृष्ठ १०८।
२ वही, पृष्ठ १११।
३. वही, पृष्ठ १५३।
४. गोरखबानी, पृष्ठ १२८।
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२८।
६. नानकवाणी, पृष्ठ २०२।
७ पृष्ठ १३८

सन्त-महिमा

गुरु नानक ने बौद्ध-परम्परा एवं बौद्धधर्म के समान ही सन्त-महिमा भी गायी है। जिस प्रकार मीराबाई ने सन्तों के चरणों में अड़सठ तीर्थों को माना है[1], उसी प्रकार गुरु नानक ने सन्तों की चरण-धूलि में अड़सठ तीर्थों के स्नान का फल माना है—

दरसनु देखि भई मति पूरी।
अठसठि मजनु चरनह धूरी॥[2]

गुरु नानक यह भी मानते हैं कि पूर्व-जन्म-कृत पुण्य से ही सन्तों की चरन-धूलि मस्तक में लगाने को प्राप्त होती है, अतः सन्तों की चरण धूलि को पाना सौभाग्य की बात है—

दानु महिडा तली खाकु जे मिलै त मसतकि लाइऐ।
कूडा लालचु छडीऐ होइ इक मनि अलखु धिआईऐ॥
फलु तेवहो पाईऐ जेवेही कार कमाईऐ।
जे होवै पूरबि लिखिआ ता धूडि तिना दी पाईऐ॥
मति थोडी सेव गवाईऐ।[3]

खसम

खसम शब्द का प्रयोग शून्यवत के अर्थ में सिद्धों ने किया है[4] और उसे ही योगियों ने गगनोपम तथा शून्यवत माना है, किन्तु जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, यही खसम शब्द अरबी भाषा के खसम का द्योतक बन गया और सन्तों ने परमात्मा को पति स्वरूप मानकर उससे मिलन की कामना की। "हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया[5]" कहकर वे हरि स्वरूप खसम की भक्ति में लीन रहा करते थे। गुरु नानक ने भी उसी परम्परा को अपनाया। उन्होंने खसम को इस तन-मन को रचकर संवारने वाला माना है—

मन रे साची खसम रजाइ।
जिनि तनु मनु साजि सीगारिआ तिसु सेती लिव लाइ॥[6]

जो खसम को विस्मरण कर देते हैं वे नीच जाति के हैं—

खसम विसारहि ते कमजाति।
नानक नावै बाझु सनाति॥[7]

जो खसम को छोड़कर द्वैतभाव में लगते हैं, वे डूब जाते हैं—

खसमु छोडि दूजै लगे, डुबे से वणजारिआ।[8]

---

१. मीराबाई की पदावली, पृष्ठ १११। २. नानकवाणी, पृष्ठ २२७।
३. वही, पृष्ठ ३३९।
४. सब्ब रूअ नहि खसम करिज्जइ।
खसम सहावे मणवि धरिज्जइ॥ —हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ १२।
५. कबीर, पृष्ठ १२५ ६. पृष्ठ १५४
७. वही, पृष्ठ २४७ ८. वही, पृष्ठ ३४४

जिसने खसम को विस्मरण कर दिया है, उसने अपने को नष्ट कर दिया है, उसके क्षणभंगुर जीवन को धिक्कार है—

खसमु विसारि खुआरी कीनी,
ध्रिगु जीवणु नही रहणा।[१]

कबीर के समान ही गुरु नानक ने भी परमात्मा को पति-स्वरूप मानकर गाया है—

की न सुणही गोरीए आपण कंनी सोइ।
लगी आवहि साहुरै नित न पेईआ होइ॥[२]
आपे बहुबिधि रंगुला सखीए मेरा लालु।
नित रवै सोहागणी देखु हमारा हालु॥[३]
काइआ कामणि जे करी भोगे भोगणहारु।
तिसु सिउ नेहु न कीजई जो दीसै चलणहारु॥
गुरमुखि रवहि सोहागणी सो प्रभु सेज भतारु।[४]

जातिवाद का त्याग

बौद्धधर्म जातिवाद को नहीं मानता और सिद्ध, नाथ तथा सन्तो ने भी जातिवाद का निषेध किया है। वैसे ही गुरु नानक ने भी जातिवाद को तुच्छ और त्याज्य कहा है। जब सभी मे एक ही परमात्मा विराजमान है तो भेद कैसा ? कोई भी व्यक्ति अपनी जाति के कारण उत्तम नही होता—

फकड़ जाती फकड़ नाउ, सभना जीआ इका छाउ।
आपहु जे को भला कहाए, नानक तापरु जापै जा पति लेखै पाए॥[५]

जातिवाद से कोई लाभ नही है—

जाती दै किआ हथि सचु परखीऐ।
महुरा होवै हथि मरीऐ चखीऐ॥[६]

इसलिए किसी से भी जाति नही पूछनी चाहिए। सभी परमात्मा की ज्योति है और परलोक मे कोई भी जाति नही है—

जाणहु जोति न पूछहु जाती आगै जाति न हे।[७]

वास्तव मे हरि का सच्चा नाम ही गुरु नानक की जाति है—

हमरी जाति पति सचु नाउ।
करम धरम संजमु सत भाउ॥[८]

---

१ नानकवाणी, पृष्ठ ७४४।
२. वही, पृष्ठ १२४।
३. वही, पृष्ठ १२४।
४. वही, पृष्ठ १२०।
५ नानकवाणी पृष्ठ १६९।
६ वही पृष्ठ १८३।
७ वही पृष्ठ २४८
८ वही पृष्ठ २५७

शील आदि गुणों की ग्राहकता

बौद्धधर्म का आधार शील माना गया है। गुरु नानक ने भी शील, क्षमा, सन्तोष आदि गुणधर्मों को मुक्ति का साधन बतलाया है। उनका कथन है कि जिन्होंने क्षमा, शील और सन्तोष का व्रत ग्रहण कर लिया है, उन्हे न तो कोई रोग व्याप्त होता है और न यम का दोष ही लगता है। ऐसे लोग मुक्त हो जाते है और रूप तथा रेख से रहित प्रभु का स्वरूप ही हो जाते है—

खिमा गही व्रतु सील संतोखं।
रोगु न बिआपै ना जम दोखं।
मुकत भए प्रभु रूप न रेखं ॥[1]

जो यत, सत, संयम और शील का अभ्यास नहीं करता है, उसका जीवन प्रेत्य-पिंजर सदृश शुष्क है और जो पुण्य, दान, पवित्रता (स्नान), संयम तथा साधु-संगति से हीन है, उसका जन्म लेना व्यर्थ है—

जतु सतु संजमु सीलु न राखिआ प्रेत पिंजर महि कासटु भइआ।
पुंनु दानु इसनानु न संजमु साध संगति बिनु बादि जइआ ॥[2]

गुरु नानक ने खेद प्रकट करते हुए कहा है कि लोग शील, संयम और शुद्धता को त्यागकर खाद्य-अखाद्य मे लीन हो गये है, जो उचित नही है। यही कारण है कि श्रम और प्रतिष्ठा से लोग विहीन हो गये है—

सीलु संजमु सुच भंनी खाणा खाजु अहाजु।
सरमु गइआ घरि आपणै पति उठि चली नालि ॥[3]

पुनर्जन्मवाद का अंगीकार

बौद्धधर्म अनीश्वर तथा अनात्मवादी होते हुए भी पुनर्जन्म मानता है। गुरु नानक ईश्वरवादी एव आत्मवादी थे और उन्होंने भी पुनर्जन्मवाद को अंगीकार किया है। पूर्व-जन्म के संस्कारो को उन्होंने स्वीकार किया है और कहा है कि संस्कारो के अनुसार ही हमारा जीवन चलता है[4]। अत: सुख-दु:ख पूर्व-जन्म-कृत है[5]। सभी जीव अपने पूर्वकृत कर्म के अनुसार ही अच्छे-बुरे होते है[6]। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि बौद्धधर्म मे कर्मो के फल स्वत: मिलते है, किन्तु गुरु नानक ने कर्म-फल का दाता परमात्मा को माना है, जिसकी आज्ञा सब पर चलती है।

बौद्धधर्म की भाँति गुरु नानक ने भी मनुष्य का जन्म दुर्लभ बतलाया है—"माणस जनमु दुलंभु[7]।" व्यक्ति कभी पशु, पक्षी, सर्प आदि होकर उत्पन्न होता है तो कभी उतार-चढाव के चक्कर मे घूमता है। जन्म-जन्मान्तर मे उसे अनेक कष्ट झेलने पड़ते है—

---

१ नानकवाणी, पृष्ठ २२५।
२. वही, पृष्ठ ५११।
३. वही. पृष्ठ ७३७।
४. नानकवाणी, पृष्ठ ५७५।
५ वही पृष्ठ ६३२।
६ वही पृष्ठ ७३१।
७ वही पृष्ठ ४४६

केते रुख बिरख हम चीने केते पसू उपाए
केते नाग कुली महि आए केते पंख उड़ाए ॥
तट तीरथ हम नव खंड देखे पटण बाजारा ।
लै कै तकड़ी तोलणि लागा घट ही महि बणजारा ॥[1]

इसलिए मनुष्य को चाहिए कि इस मनुष्य जीवन को यों ही खाने-पीने और सोने में न गँवा डाले। सासारिक सुख-विलास मे पडकर इस जीवन के महत्व को विस्मरण कर देना उचित नही है—

रैणि गवाई सोइ कै दिवसु गवाइआ खाइ ।
हीरे जैसा जनमु है कउडी बदले जाइ ॥[2]

यज्ञ, होम आदि का परिवर्जन

बौद्धधर्म में यज्ञ, होम आदि के लिए कोई स्थान नहीं है। भगवान् बुद्ध ने इनका सर्वथा निषेध किया था और इन्हे महाफलदायी नही बतलाया था। सिद्धों ने कडे शब्दो मे यज्ञ-होम का विरोध किया था। सिद्ध सरहपा ने यहाँ तक कह डाला कि व्यर्थ ही ब्राह्मण मिट्टी, जल, कुश लेकर मंत्र पढते और घर मे बैठकर अग्नि-होम करते है, वे व्यर्थ ही होम करके धूँए की कडुआहट से अपनी आँख जलाते है[3]। इसी प्रकार गुरु नानक ने भी यज्ञ, होम आदि का परिवर्जन किया। उन्होंने कहा कि यज्ञ, होम, पुण्य, तप, पूजा आदि करने से देह दुःखी ही रहती है, शान्ति नही प्राप्त होती, अतएव नित्य दुःख सहन करना पड़ता है—

जगन होम पुंन तप पूजा देह दुखी नित दूख सहै ।[4]

इस प्रकार हम देखते है कि गुरु नानक की बाणियो में महायानी बौद्धो, सिद्धो, नाथो और सन्तो का प्रभाव पडा हुआ है जो अपने मूल रूप मे बौद्ध विचारधारा की देन है। यदि गुरु नानक पर पड़े बौद्धधर्म के प्रभाव का विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाय तो वह स्वयं एक प्रबन्ध का रूप धारण कर ले, अत यहाँ विस्तारपूर्वक लिखने के लिए अवकाश नहीं है। हमने यहाँ कतिपय प्रधान तत्वो की ओर ही सकेत किया है। जिन शील आदि गुणधर्मो की नीव पर बौद्धधर्म का धर्म-प्रासाद खड़ा है, उसकी गुणगाथा परवर्ती सिद्धों और नाथो को बाणियो में भी उपलब्ध है और उसे ही सन्तों तथा सिख गुरुओ ने भी अपने ढंग से ग्रहण किया है। ऊपर हमने गुरु नानक के शील आदि गुणो की ग्राहकता के सम्बन्ध मे प्रकाश डाला है। स्मरण रहे कि गोरखनाथ ने भी गुरु नानक से पूर्व ही शील, सन्तोष, क्षमा, दया, दान, नाम-स्मरण आदि व्रतो को सर्वोत्तम व्रत कहा था—

सील संतोष सुमिरण व्रत करै ।
ताकै भुषी कौंण कहि मरै

मन इन्द्रियन कौं अस्थिर राष
राम रसाइन रसना चाष ॥
इन ब्रत समि अन नही कोई।
बेद अरु नाद कहै मत दोई ॥
ता थै ए ब्रत हिरदय धारौ।
गुरु साधौ की साप विचारौ ॥
सील ब्रत संतोष ब्रत छिमा दयाव्रत दान।
ये पाँचों ब्रत जो गहै, सोई साध सुजांन ॥
इन ब्रतां का जाणै भेव, आपै करता आपै देव ॥[1]

तिब्बती बौद्ध और गुरु नानक

बौद्ध देशो की यात्राओ मे गुरु नानक का सम्पर्क बौद्धो से हुआ था। विशेषकर भूटान की यात्रा में उन्हे अपने कार्य मे इच्छित सफलता मिली थी। वहाँ उनका प्रवचन हुआ था, जिसका भूटानी भाषा में अनुवाद वहाँ की बौद्ध-जनता को सुनाया गया था। भूटानी बौद्ध वास्तव मे तिब्बती ही हैं। उन्होने गुरु नानक का बहुत सम्मान-सत्कार किया। वे यह नही समझ पाये कि गुरु नानक लामा नही है और न तो बौद्ध ही हैं। तिब्बती बौद्ध लामा की शरण जाते है और लामा गुरुवाचक शब्द है। इस बात का ऐसा प्रभाव पड़ा कि गुरु नानक की कुछ वाणियों का एक संकलन भी तिब्बती भाषा मे किया गया। कुछ समय के उपरान्त गुरु नानक को तिब्बत, भूटान, नेपाल, लद्दाख आदि की महायानी बौद्ध-जनता लोपुन रिम्पोछे (गुरु पद्मसम्भव) भी समझने लगी। यही कारण है कि इन देशों को बौद्ध-जनता प्रति वर्ष सहस्रो की संख्या में अमृतसर के गुरुद्वारा के दर्शनार्थ जाया करती है। यद्यपि गुरु नानक के जन्म से लगभग साढे तीन सौ वर्ष पूर्व गुरु पद्मसम्भव धर्म-प्रचारार्थ तिब्बत गये थे[2]। तिब्बती बौद्धो मे गुरु पद्मसम्भव के प्रति बहुत श्रद्धा है। वे शान्तरक्षित के शिष्य थे और उद्यान जनपद से सन् ७४७ ई० मे तिब्बत गये थे। इनके सम्बन्ध मे महापण्डित राहुल साकृत्यायन ने लिखा है कि पद्मसम्भव तिब्बत मे भगवान् बुद्ध से भी बढकर माने जाते है[3]। तिब्बती बौद्धो मे यह अनुश्रुति प्रसिद्ध है कि गुरु पद्मसम्भव का आविर्भाव एक सरोवर के मध्य स्थित पद्म-गर्भ से हुआ था और उस सरोवर को रिवालसर का प्रसिद्ध जलाशय ही माना जाता है, जहाँ सिखो का भी एक गुरुद्वारा है। सिख तथा बौद्ध समान रूप से रिवालसर के दर्शनार्थ जाते है। ऐसे ही अमृतसर का गुरुद्वारा सरोवर के मध्य होने के कारण भी गुरु पद्मसम्भव का जन्म-स्थान होने का भ्रम उत्पन्न करने मे सक्षम है, इसीलिए तिब्बती बौद्ध वहाँ गुरु पद्मसम्भव का ही

---

१. गोरखबानी, पृष्ठ २४५।
२. विशाल भारत, भाग २९, अंक ३, मार्च, १९४२, पृष्ठ ३१२ मे प्रकाशित श्री शिवनारायण सेन के "तिब्बत और उसकी कला" शीर्षक लेख मे वर्णित।
३ तिब्बत में बौद्धधर्म पृष्ठ १७

स्थान समझ कर जाते है। इतिहास गुरुखालसा मे इस सरोवर के सम्बन्ध में एक दन्तकथा लिखी हुई है। उसके अनुसार इस सरोवर के स्थान पर पहले एक प्राचीन मन्दिर था,[1] जिसे खोदवाकर सरोवर का रूप दिया गया था। यद्यपि उक्त ग्रंथ मे उसका सम्बन्ध श्री रामचन्द्र के काल से बतलाया गया है, किन्तु ऐसा सम्भव है कि वहाँ प्राचीन काल से चला आता कोई बौद्ध-अवशेष रहा हो। जो भी हो, इतना स्पष्ट है कि एक दीर्घकाल से तिब्बती बौद्ध अमृतसर के जलाशय और वहाँ के गुरुद्वारे को श्रद्धा की दृष्टि से देखते चले आ रहे है। इस श्रद्धा-भक्ति का सृजन गुरु नानक की बौद्ध-देशो की यात्रा मे ही हुआ है। यह भी ज्ञातव्य है कि तिब्बती बौद्धो के सम्पर्क मे आने के कारण सिखधर्म पर भी एक बड़ा प्रभाव लामावाद का पड़ा। तिब्बत, भूटान, सिक्किम लद्दाख आदि लामावादी देशो मे अवतारी लामा माने जाते है और ऐसा विश्वास किया जाता है कि एक अवतारी लामा के देहान्त के उपरान्त वह फिर अवतरित होता है। उसे उसके पूर्व लक्षणो तथा ज्योतिषियो के सहारे प्राप्त किया जाता है। तिब्बत के दलाई लामा लामा-अवतारवाद के ज्वलन्त दृष्टान्त है। दलाई लामा की प्रथा तिब्बत में ईस्वी सन् १३९१—१४७४ मे प्रारम्भ हुई थी। वर्तमान दलाई लामा चौदहवें अवतारी महापुरुष माने जाते है[2]। लद्दाख के प्रधान लामा कुशोक बकुला भी अवतारी लामा माने जाते है। इस समय अवतारी लामाओ की इतनी अधिक संख्या है कि उनकी वास्तविक गणना बतला सकना सम्भव नही है। इन्हीं अवतारी लामाओ के समान आगे सिख गुरु भी गुरु नानक के अवतार माने जाने लगे। उनका भी एक की मृत्यु के पश्चात् दूसरे के शरीर मे प्रवेश माना जाने लगा। उन सभी पिछले गुरुओ ने अपनी कविताओ मे अपने नाम के स्थान पर "नानक" शब्द का ही प्रयोग किया[3]। गुरुग्रंथ साहब मे महला १, महला २, महला ३, महला ४, महला ५ तथा महला ९ से क्रमश गुरु नानक, गुरु अंगद, गुरु अमरदास, गुरु रामदास, गुरु अर्जुन और गुरु तेगबहादुर समझे जाते है[4]। यदि महला का क्रम नही रखा गया होता तो इन सिख गुरुओ की वाणियो मे भेद कर सकना सम्भव न होता। इस प्रकार स्पष्ट है कि सिख गुरुओ के अवतारवाद पर तिब्बती बौद्धों का प्रभाव पड़ा है।

सिखधर्म के अन्य गुरु

गुरु अंगद

सिखो के द्वितीय गुरु अंगददेव थे। इनका जन्म सन् १५०४ ई० मे जिला फिरोजपुर के "मत्ते दी सरा" नामक ग्राम मे हुआ था। इनके पिता का नाम फेरू तथा माता का नाम शुभराई था। इनका पहले का नाम "लहना" था। इनका विवाह खीवी नामक महिला के साथ हुआ था। इन्हे दो पुत्र और एक पुत्री थी। प्रारम्भ मे ये शक्ति के उपासक थे, किन्तु

---

१. इतिहास गुरुखालसा, पृष्ठ २१८-२२०।
२. ओम् मणि पद्मे हुँ, पृष्ठ ५४-५५।
३ हिन्दी काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय पृष्ठ ६९।
४ पृष्ठ १

गुरु नानक के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर इन्होंने शक्ति-पूजा त्याग दी और गुरु नानक के उपदिष्ट मार्ग में लग गये। गुरु नानक ने इनकी श्रद्धा-भक्ति देखकर इन्हें अंगद नाम से विभूपित किया और अपने दोनो पुत्रो की उपेक्षा कर इन्हें ही शिष्यत्व एवं गुरुगद्दी प्रदान की। इन्हें सन् १५३९ मे गुरुगद्दी प्रदान की गई थी। गुरु अंगद ने सर्वप्रथम गुरु नानक के शिष्यो को संगठित किया, जिन्हे "सिख" (=शिष्य) नाम से पुकारा जाने लगा। गुरु अंगद ने सिख-धर्म तथा उसके सघटन को शक्तिशाली बनाने के जो प्रयत्न किये, उनमे से निम्नलिखित बाते प्रधान रूप से मानी जाती हैं —

(१) गुरु अंगद ने गुरुमुखी लिपि का प्रचलन किया और उसमे गुरु नानक की वाणियो को लिखने की प्रथा चलाई। तब से गुरुमुखी लिपि सिखों की धार्मिक लिपि हो गई।

(२) इन्होंने गुरु नानक की वाणियों तथा जीवन-चरित्र का संग्रह करने का प्रयत्न किया।

(३) गुरु नानक द्वारा स्थापित लगर प्रथा को विस्तार दिया। लंगर में सिख तथा अन्य धर्मावलम्बी भी बिना मूल्य भोजन पाते थे। इससे सेवा-भाव तथा एकता को प्रश्रय मिला। लगर मे सभी जाति के लोग एक पंक्ति मे बैठकर बिना किसी भेद-भाव के भोजन करते थे।

गुरु अंगद की रचनाये गुरुग्रंथ साहब मे महला २ के अन्तर्गत संग्रहीत है। सन् १५५२ ई० मे खडूर मे गुरु अंगद परमज्योति मे लीन हो गये[1]।

गुरु अमरदास

सिखो के तृतीय गुरु अमरदास थे। इनका जन्म अमृतसर जिलान्तर्गत "बासर के ग्राम" मे ई० सन् १४७९ मे हुआ था। ये पहले वैष्णव सम्प्रदाय के भक्त थे। पीछे इन्होने सिख धर्म की दीक्षा ग्रहण की। ये बड़े भक्त ओर गुरु-सेवा मे लीन रहनेवाले सन्त थे। इन्होने जाति-पाँति के बन्धन को शिथिल करने के लिए नियम बनाया था कि केवल गुरु का दर्शन उस व्यक्ति को ही प्राप्त हो सकेगा जो कि एक पंक्ति मे बैठकर भोजन कर सके। गुरु अंगद ने इनके सेवा-भाव एवं धर्म-निष्ठा से प्रसन्न होकर ही इन्हे गुरु-गद्दी प्रदान की। गुरु अंगद के देहावसान के पश्चात् सिख धर्मावलम्बियो मे गुरु-गद्दी के प्रश्न को लेकर कुछ मतभेद उत्पन्न हुआ, किन्तु गुरु अमरदास ने बडी बुद्धिमत्ता मे उसे सम्हाला। कुछ लोग गुरु नानक के पुत्र श्रीचन्द के पक्ष में थे। गुरु अमरदास ने अपने शिष्यो को समझाया— "गुरु नानक धर्म-परायण और त्यागी होने पर भी जंगल में नही गये थे। वे संसार मे रहते हुए भी संसार से पृथक् थे। गुरु नानक का आदर्श जीवन यही बतलाता है कि प्रत्येक मनुष्य संसार मे रहते हुए भी संसार से अलग रह सकता है[2]।"

---

१. इतिहास गुरुखालसा में "परमज्योति" मे मिलने की तिथि चैत्र, शुक्ल ४, बुधवार को अपराह्न में बतलाई गयी है १८२

२ सिक्खों का उत्थान और पतन, पृष्ठ १४

अकबर बादशाह गुरु अमरदास को बहुत मानता था। इन्होने सिख धर्म के संगठन एव प्रचार के लिए २२ गद्दियों की स्थापना की, जिन्हें "मंजा" कहा जाता था। महिलाओ की शिक्षा पर भी इन्होने बल दिया। ५२ उपदेशिकाएँ विभिन्न स्थानों मे नियुक्त की गयी थी। इनके समय मे सिख धर्म की नीव दृढ हुई। इनकी रचनाएँ गुरुग्रंथ साहब मे "महला ३" के अन्तर्गत संग्रहीत है। इनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना "आनन्द" है, जो विशेष अवसरो पर गायी जाती है।

गुरु अमरदास का शरीरपात ई० सन् १५७४ मे भाद्रपद की पूर्णिमा को दिन मे १० बजे हुआ था।

गुरु रामदास

गुरु रामदास सिखो के चतुर्थ गुरु थे। इनका जन्म लाहौर की चुन्नीमण्डी मे सन् १५३४ मे हुआ था। इनके पहले का नाम जेठा था। इन्होंने ही "सन्तोप सर" का निर्माण कराया था, जो पीछे "अमृतसर" नाम से प्रसिद्ध हुआ। ये ९ वर्ष की अवस्था में ही गुरु अमरदास की सेवा में लग गये थे। इनका विवाह गुरु अमरदास की ही पुत्री "बीबी भानी" से हुआ था। ये गुरु अमरदास के परमभक्त थे। अत उन्होने सन् १५७४ मे इन्हे गुरुगद्दी प्रदान की थी। इनके तीन पुत्र थे, जिनमे अर्जुनदेव इनके कनिष्ठ पुत्र थे, जो पीछे सिखो के पाँचवें गुरु हुए। इन्ही के समय से गुरुगद्दी एक ही वंश-परम्परा मे रहने लगी।

गुरु रामदास ने बहुत-सी रचनाएँ की थी, जो गुरुग्रंथ साहब मे "महला ४" के अन्तर्गत संग्रहीत है। सन् १५८१ ई० में ये परमज्योति मे लीन हो गए थे।

गुरु अर्जुनदेव

सिखों के पाँचवे गुरु अर्जुनदेव थे। इनका जन्म सन् १५६३ मे गोइंदवाल नामक ग्राम मे हुआ था। गुरु अमरदास इन्हे बहुत मानते थे। इनके स्वभाव, भक्ति, प्रेम और सत्यनिष्ठा से गुरु अमरदास भी इन पर बहुत प्रसन्न रहा करते थे। फलत इन्हे ही सन् १५८१ मे गुरुगद्दी मिली। गुरुगद्दी प्राप्त होने से इनके बड़े भाइयो के मन मे कुछ द्वेप-भावना उत्पन्न हुई, अतः ये उन्हे कुछ सम्पत्ति देकर उसी वर्ष अमृतसर चले गये। अमृतसर मे रहते हुए ही इन्होने सन् १५८८ मे प्रसिद्ध गुरुद्वारा "हरि मन्दिर" की नीव डाली तथा तरनतारन और करतारपुर नगरो को बसाया। इन्हे सन् १५९५ मे एक पुत्र-रत्न का लाभ हुआ, जिसका नाम हरगोविन्द सिंह रखा गया था। ये ही सिखो के छठे गुरु हुए।

गुरु अर्जुनदेव ने गुरुओ की वाणी का एक सुन्दर एवं शुद्ध संकलन किया, जिसे 'आदि-ग्रंथ' कहते है। उसे उन्होने अमृतसर सरोवर के मध्य निर्मित "हरि मन्दिर" मे स्थापित किया और वह सिखों का पवित्र एवं पूज्य ग्रन्थ माना जाने लगा। सिखो की उन्नति के लिए उन्होने अपने अनुयायियों को तुर्किस्तान से घोडो के व्यापार मे संलग्न किया, जिससे बहुत लाभ हुआ। इसी समय से सिखों मे घुडसवारी करने की भी प्रवृत्ति प्रबल हुई।

गुरु अर्जुनदेव एक ओर सिखधर्म के विस्तार एवं उन्नति मे लगे थे और दूसरी ओर उनके विरुद्ध बराबर षड्यन्त्र होते रहे इनके भाई तो विरुद्ध थे ही अब चन्दूशाह नामक

व्यक्ति भी इनका शत्रु बन गया चन्दूशाह अपनी पुत्री का विवाह गुरु अर्जुनदेव के पुत्र हरगोविन्द से करना चाहता था, जिसे उन्होंने स्पष्ट शब्दो में अस्वीकार कर दिया था। तदुपरान्त उसने अकबर बादशाह को गुरु अर्जुन के विरुद्ध करना चाहा, किन्तु अकबर ने गुरु को निर्दोष पाकर उनका सम्मान-सत्कार किया, किन्तु अकबर के देहावसान के उपरान्त चन्दूशाह ने जहाँगीर को भडकाया। जहाँगीर ने गुरु अर्जुन को अपने भाई खुसरो की सहायता करने का दोष लगाकर दो लाख रुपये का अर्थदण्ड दिया और उसे न देने पर कारागार में बन्द करा दिया। वहाँ चन्दूशाह ने गुरु को नानाप्रकार से हृदय-विदारक यातनाएँ दी। सिखधर्म की रक्षा के लिए उन्होंने उन यातनाओ को प्रसन्नतापूर्वक सहन किया और ईस्वी सन् १६०६ मे रावी के पवित्र जल के साथ विलीन होकर परमज्योति मे लीन हो गये।

पहले सकेत किया जा चुका है कि गुरुग्रन्थ साहब का वर्तमान स्वरूप गुरु अर्जुन द्वारा ही प्रदान किया गया था। उसमे सबसे अधिक रचना इन्ही की है,[1] जो "महला ५' के अन्तर्गत सग्रहीत है। इनकी संख्या ००० से भी अधिक है[2]। इनमे 'सुखमनी" सबसे प्रसिद्ध है। उसका पाठ प्रात काल जपुजी के उपरान्त किया जाता है।

गुरु हरगोविन्द

गुरु हरगोविन्द सिखों के छठें गुरु थे। इनका जन्म सन् १५९५ मे हुआ था। अपने पिता गुरु अर्जुनदेव के देहावसान के पश्चात् ये गुरुगद्दी पर विराजमान हुए। इन्होंने सेली अथवा दुपट्टे को न धारण कर तलवार धारण की और युद्धोपयोगी वस्त्रों से अपने को विभूषित कर लिया। इन्होंने अपने सभी शिष्यों को निमन्त्रित कर उन्हे आज्ञा दी कि भविष्य मे वे उन्हे द्रव्य का उपहार न देकर शस्त्र एवं घोडो को ही दिया करे। अमृतसर के स्वर्ण-मंदिर के एक भाग मे 'तख्त अकालबुङ्गे" की स्थापना की गयी, जहाँ अकाली सिख अपने अस्त्र-शस्त्र रखते तथा बैठते थे। इन्होंने ५२ पहलवानो का निर्वाचन कर रक्षात्मक टुकडी भी बनाई और सिखों मे सैनिक भाव का उद्रेक हुआ। चन्दूशाह के षड्यन्त्र से गुरु हरगोविन्द को कुछ दिनो तक ग्वालियर के कारागार मे निर्वासित के रूप मे रहना पड़ा, किन्तु पीछे रहस्य खुलने पर चन्दूशाह को बादशाह जहाँगीर ने पकडवा कर गुरु हरगोविन्द को सौप दिया, जिसे सिखो ने टुकडे-टुकडे कर मार डाला।

गुरु हरगोविन्द ने अमृतसर में "कौलसर" नामक एक नवीन तालाब का निर्माण कराया और इस प्रकार वहाँ सन्तोषसर, अमृतसर, रामसर, कौलसर तथा विवेकसर पाँच तालाब हो गए, जो मुख्य दर्शनीय स्थान माने जाते है।

गुरु हरगोविन्द को मुगल बादशाह शाहजहाँ की सेना से कई एक मुठभेड़ हुई थी और वे विजयी हुए थे। इन्होंने सन् १६४४ मे अपनी गद्दी का भार अपने पौत्र हरराय को सौप

---

१ श्रीगुरुग्रन्थ दर्शन पृष्ठ २५

२ उत्तरी भारत की सन्त पृष्ठ ३१६

दिया उसी वर्ष ३७ वर्षों तक गद्दी पर बैठने के उपरान्त चैत्र शुक्ल ५ (सन १६४४) को गुरु हरगोबिन्द का शरीरपात हो गया।

गुरुग्रन्थ साहब में गुरु हरगोविन्द, गुरु हरराय और गुरु हरकृष्ण की रचनाएँ संग्रहीत नही है, अत. यह कह सकना सम्भव नही है कि इन गुरुओ ने कुछ रचनायें की थी या नही।

गुरु हरराय

सिखो के सातवें गुरु हरराय थे। ये गुरु हरगोविन्द के पौत्र थे। ये शान्तचित्त और विचारशील स्वभाववाले थे। इनका मन युद्धादि से हटकर हरिभक्ति में अधिक लगता था। एक बार शाहजहाँ का पुत्र दारा शिकोह रोगी हुआ। उसका रोग गुरु हरराय की औषधि से अच्छा हुआ। दारा शिकोह को जब यह ज्ञात हुआ तब उसने गुरु के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की। पीछे शाहजहाँ के देहान्त के पश्चात् जब औरंगजेब ने दाराशिकोह को पकड़ने के लिए सेना भेजी तो गुरु हरराय ने दारा की सहायता की, जिससे औरंगजेब इनसे रुष्ट हो गया और इन्हें अपने यहाँ बुला भेजा, किन्तु गुरु ने स्वयं न जाकर अपने पुत्र रामराय को भेज दिया। वहाँ जाने पर औरंगजेब ने रामराय से पूछा कि गुरुग्रंथ साहब मे जो लिखा है—

मिट्टी मुसलमान की पेडे पई घुमि आर।
घड भाडे ईंटा किया, जलती करे पुकार[1]॥

इसमे "मुसलमान" शब्द का क्या अर्थ है? रामराय ने तुरन्त कह दिया कि यहाँ "मुसलमान" न होकर "बेईमान" होना चाहिए, यह पाठ अशुद्ध है। इसे सुनकर औरंगजेब तो प्रसन्न हो गया, किन्तु गुरु हरराय ने रामराय से अप्रसन्न होकर उसे गुरुगद्दी से वंचित कर अपने छोटे पुत्र हरकृष्ण राय को गद्दी का उत्तराधिकारी बना दिया। उन्हे यह बात असह्य हुई कि एक गुरु का पुत्र मुगल बादशाह को प्रसन्न करने के लिए कैसे नानकवाणी को अशुद्ध कह सकता है? गुरु हरराय का शरीरपात कार्तिक, बदी ७, सन् १६६१ को हुआ था।

गुरु हरकृष्ण राय

गुरु हरकृष्ण राय सिखो के आठवें गुरु थे। इनका जन्म गुरु हरराय की पत्नी कृष्ण कुँवर से सन् १६५६ मे हुआ था। अल्पायु मे ही इन्हे गुरुगद्दी मिल गयी थी। उस समय इनकी अवस्था केवल पाँच वर्ष तीन मास थी। जब औरंगजेब को इस बात का पता लगा तो उसने इन्हे अपने दरबार में आने के लिए सन्देश भेजा। ये दिल्ली के लिये चल दिये। मार्ग मे इन्हे चेचक निकल आयी और सन् १६६४ मे ही केवल सात वर्ष की ही अवस्था मे इनका देहावसान हो गया।

गुरु तेगबहादुर

गुरु तेगबहादुर सिखों के नवें गुरु थे। ये गुरु हरगोविन्द के पुत्र थे। इनका जन्म सन् १६२१ मे अमृतसर में हुआ था। ये बचपन से ही परमशान्त एवं चिन्तनशील स्वभाव-

---

१ इतिहास गुरुखालसा पृष्ठ ३०७

वाले थे। अपनी इसी प्रवृत्ति के कारण "बकाला" नामक स्थान में रहकर हरि-स्मरण, भक्ति एवं चिन्तन-मनन में समय व्यतीत करते थे। जब गुरु हरकृष्ण राय परमज्योति में लीन होने लगे थे तब उन्होंने इन्हीं की ओर संकेत करते हुए कहा था—"बाबा बकाले!"। माखनशाह ने इस संकेत से बकाला ग्राम में गुरु तेगबहादुर का पता लगाया और सन् १६६४ में उन्हें गुरुगद्दी सौंपी गयी।

गुरु तेगबहादुर का स्वभाव सीधा-सादा था और स्वयं वे अल्पेच्छता तथा सन्तोष से पूर्ण हो विहरते थे, किन्तु उनके दरबार की शोभा अनुपम थी, इसीलिए सिख लोग उन्हें "सच्चा बादशाह" कहते थे। गुरु तेगबहादुर के विरोधी रामराय ने औरंगजेब को उनके विरुद्ध भड़काया। उन पर शान्ति भंग का दोष लगाकर दिल्ली बुलाया गया, किन्तु जयपुर-नरेश के समझाने से औरंगजेब ने गुरु को नरेश के साथ आसाम जाने की स्वीकृति दे दी। आसाम-युद्ध में गुरु तेगबहादुर ने राजा की बड़ी सहायता की। आसाम से लौटकर वे पटना में रह गये। वहीं सन् १६६६ में गुरु गोविन्द सिंह का जन्म हुआ। तदुपरान्त गुरु तेगबहादुर पंजाब चले गये और शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगे। वहाँ उनके जाने से सिख लोग पुनः उनके पास एकत्र होने लगे और धर्म-कार्य तीव्र गति से आगे बढ़ने लगा। रामराय ने फिर औरंगजेब को उभाड़ा। औरंगजेब ने गुरु को दिल्ली आने के लिए सन्देश भेजा। जब सन्देश मिला, तब गुरु तेगबहादुर ने अपने पुत्र गोविन्द सिंह को बुलाकर कहा—"शत्रु मेरी हत्या करने के लिए बुला रहा है, देखना मेरे मृत शरीर को कुत्ते न खाने पावें।" दिल्ली जाने पर औरंगजेब ने गुरु तेगबहादुर को मुसलमान हो जाने के लिए कहा, किन्तु जब उन्होंने धर्म-परिवर्तन करना स्वीकार नहीं किया तब उनका कत्ल करवा दिया। वे हँसते-हँसते धर्म की बलिवेदी पर चढ़ गये। पीछे उनके गले में बँधे एक कागज में लिखा हुआ पढ़ा गया—"सिर दिया पर सार न दिया।" अर्थात् मैंने अपना सिर दे दिया, किन्तु धर्म नहीं दिया। यह घटना सन् १६७५ में घटी थी। इससे उत्तर भारत के हिन्दू और सिख समान रूप से क्षुब्ध हो उठे। उनमें संगठन और नवशक्ति का संचार हो गया। समस्त पंजाब में क्रोध और प्रतिकार के भाव जागृत हो गये, जिसका परिणाम मुगल-शासकों को भोगना पड़ा।

गुरु तेगबहादुर की रचनाएँ गुरुग्रन्थ साहब में "महला ९" के अन्तर्गत संग्रहीत हैं। उनकी वाणी बड़ी रोचक, सुन्दर और क्षमाशीलता के भाव से पूर्ण है। वे प्रायः कहा करते थे—"क्षमा करना दान देने के समान है। इसके द्वारा मोक्ष की प्राप्ति निश्चित रहती है। क्षमा के समान अन्य कोई भी पुण्य नहीं है[1]।" भगवान् बुद्ध ने भी क्षमाशीलता को परम तप कहा है—

"खन्ती परमं तपो तितिक्खा[2]।"

---

१ उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ३२६।

२ गाथा १८४

इन दोनों वाणियों में कैसी अद्भुत समता है। दोनों में क्षमाशीलता के प्रति निहित भाव प्रायः एक समान उच्चादर्श के द्योतक हैं। सन्त-परम्परा की यह अद्भुत देन है। हम आगे इस सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

गुरु गोविन्द सिंह

गुरु गोविन्द सिंह सिखों के दसवें तथा अन्तिम गुरु थे। इनका जन्म पटना नगर में सन् १६६६ में हुआ था। जब सन् १६७५ में इनके पिता गुरु तेगबहादुर धर्म के लिए आत्माहुति स्वरूप परमज्योति में लीन हो गये तब गुरु गोविन्द सिंह को गुरुगद्दी प्राप्त हुई। इनमें सिखों में संगठन, एकता और वीरभाव उत्पन्न करने की अद्भुत शक्ति थी। इन्होंने ही सिख जाति को एक योद्धा जाति का स्वरूप दिया और उसमें अपूर्व शक्ति का संचार कर दिया। वे केवल धार्मिक नेता ही न थे, प्रत्युत एक महान् राष्ट्रीय नेता तथा राजनीतिज्ञ भी थे। उन्होंने अपने पिता की हत्या का प्रतिशोध लेने के लिए अपने अनुयायियों का संघटन किया और उन्हें सामूहिक उपासना, समान वेश तथा एकता के लिए प्रेरित किया। उन्होंने सभी सिखों को कंघी, कच्छ, केश, कड़ा और कृपाण धारण करने की आज्ञा दी और सिखों को एक सैनिक संगठन का स्वरूप प्रदान किया।

गुरु गोविन्द सिंह की इस बढ़ती हुई शक्ति को नष्ट करने के लिए औरंगजेब ने बहुत प्रयत्न किये। उसने अपनी धर्मान्धता में इनके दो पुत्रों को जीवित ही ईंटों की दीवारों में चुनवा दिए तथा शेष दो पुत्र युद्ध में बलिदान चढ़ गये। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् बहादुर शाह ने गुरु गोविन्द सिंह से मैत्री कर ली और अनेक स्थानों में दोनों साथ-साथ गये। पीछे गुरु गोविन्द सिंह गोदावरी के किनारे नादेड़ नामक स्थान में चले गये। वहाँ रहते हुए एक वैरागी साधु इनका शिष्य हो गया, जिसका नाम 'वीरबन्दा बहादुर' था। नादेड में ही एक पठान के घातक प्रहार से गुरु को मर्मान्तिक चोट लगी और कुछ ही समय के उपरान्त सन् १७०८ में वे परमज्योति में लीन हो गये।

गुरु गोविन्द सिंह ने आध्यात्मिक एवं बाह्य जीवन में अद्भुत सामञ्जस्य स्थापित किया था। धर्म-कार्य के साथ देश-रक्षा, धर्म-संवर्द्धन, आत्मोन्नति एवं परमात्मा का स्मरण भी करने की शिक्षा इन्होंने दी। डॉ० धर्मपाल मैनी ने गुरु गोविन्द सिंह के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुये सम्यक् वर्णन किया है—"बुद्धि में राजनीति, बाहुओं में शक्ति, कार्य में सामाजिकता तथा आत्मा में आध्यात्मिकता लिए हुए उनका अपूर्व व्यक्तित्व था, जिसने विकटतम समय की पुकार का उत्तर हँसकर दिया। यही महान् पुरुषों के जीवन की सफलता का रहस्य होता है[1]।"

गुरु गोविन्द सिंह ने अपने पश्चात् योग्य पुत्र के अभाव के कारण गुरुगद्दी के लिए होनेवाले भावी संघर्षों का विचार कर "श्री गुरुग्रन्थ साहिब" का पूरा पाठ लिखवाया। उसमें अपने पिता गुरु तेगबहादुर की रचनाएँ भी सम्मिलित करायी। उन्होंने अपनी भी एक रचना उसमें संग्रहीत करायी, जो इस प्रकार है—

---

१ श्री गुरुग्रंथ साहब—एक परिचय पृष्ठ २८ २९

बकु होआ बधन छुट सभ किछु होत उपाइ
नानक सभ किछु तुमर हाथ म, तुम ही होत सहाइ[1] ।।

जब श्री गुरुग्रंथ साहिब का सम्पादन पूर्ण हो गया तब गुरु गोविन्द सिंह ने गुरुत्व का समस्त भार उसी मे केन्द्रीभूत कर दिया। उन्होने स्वयं उसे प्रणाम किया और सभी सिखो को अपने पश्चात् उसे ही अपना गुरु मानने का आदेश दिया—

आग्या भई अकाल की तबी चलायो पथ।
सभ सिक्खन को हुक्म है गुरु मानियो ग्रथ ।।
गुरु ग्रंथ जी मानियो प्रगट गुरा की देह।
जो प्रभु को मिलवै चहै खोज शब्द मे लेह[2] ।।

इस प्रकार भव-सागर से पार उतरने के लिए श्री गुरुग्रंथ साहिब ही तब से देहधारी गुरु के स्थान पर सिखो द्वारा सम्पूज्य हुआ।

वीर बन्दा बहादुर

वीर बन्दा बहादुर का जन्म सन् १६७० मे हुआ था। इनका प्रारम्भिक नाम लक्ष्मणदेव था। इन्होने पीछे संन्यास ग्रहण कर लिया था और तब इनका नाम लक्ष्मणदास हो गया था। गुरु गोविन्द सिंह से इनकी पहली भेट सन् १७०७ मे हुई थी। ये उनके शिष्य बन गये थे और तब इनका नाम गुरु बख्श सिंह रखा गया था, किन्तु पीछे ये केवल 'बन्दा' नाम से प्रसिद्ध हुए।

गुरु गोविन्द सिंह ने बन्दा को शिष्यत्व प्रदान करते हुए उन्हे एक तलवार और अपनी तुण्डी से पाँच बाण प्रदान किए तथा निम्नलिखित पाँच आज्ञाएँ दी—

(१) कभी किसी स्त्री के पास न जाकर ब्रह्मचर्य का पालन करना।
(२) सदा सत्य विचार करना, सत्य बोलना और सत्य पर चलना।
(३) सदा अपने को खालसा का सेवक समझना और उसके इच्छानुसार कार्य करना।
(४) कभी अपना अलग मत स्थापित करने का विचार न करना।
(५) कभी अपनी विजयो पर अभिमान न करना।

बन्दा ने गुरु की आज्ञा श्रद्धा-भक्तिपूर्वक शिरोधार्य की और वहाँ से वे पंजाब चले गये। वहाँ उन्होने सिख जनता को एकत्रित कर सिख-गुरुओ एव बालको की हत्या का प्रतिशोध लेने के लिए अपने वीरो को संगठित किया। उन्होने मुगलो के साथ अनेक युद्ध किए और उन्हे सफलता भी मिली। किन्तु धीरे-धीरे बन्दा मे अभिमान एवं प्रभुत्व की भावना का प्रवेश हो गया और उन्होने गुरु की दी शिक्षा का पालन बहुत आवश्यक नही समझा। उन्होने एक सुन्दरी कन्या से विवाह कर लिया, जिससे सन् १७१२ मे एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उन्होने अमृत के स्थान पर चरणोदक प्रदान करना प्रारम्भ किया और "वाह गुरु की फतेह" के स्थान

---

१ श्री गरुग्रथ साहिब पृष्ठ १४२९
२ श्री गुरुग्रन्थ साहब—एक परिचय पृष्ठ २९

पर "बन्दा की दर्शनी फतेह" कहलवाना प्रारम्भ किया। सन् १७१७ के बैसाखी मेले के अवसर पर वे अपने सिर पर कलँगी लगाकर हरिमन्दिर में गद्दी पर जा बैठे। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि सिख जनता के बीच कलह उत्पन्न हो गये और वह दो दलों में विभक्त हो गई।

जब इन बातों का पता मुगलों को लगा तो उन्होंने सिखों पर आक्रमण कर दिया। सिखों की असफलता हुई और बन्दा पकड़कर दिल्ली पहुँचाए गये। वहाँ उनके सामने ही उनके पुत्र को मार डाला गया और उन्हें भी बड़ी निर्दयता के साथ अनेक यातनाएँ देकर सन् १७१९ में मरने के लिए बाध्य कर दिया गया। तड़प-तड़प कर उनके प्राण-पखेरू नश्वर शरीर से उड़ गए।

ग्रन्थ साहिब और बौद्ध-मान्यता

श्री गुरुग्रंथ साहिब सिख मतावलम्बियों का धार्मिक ग्रंथ है। हम कह आए है कि गुरु गोविन्द सिंह के समय से उसे गुरु-सदृश माना जाता है और उसकी पूजा देहधारी गुरु के समान होती है। ऐसे ही भगवान् बुद्ध ने अपने परिनिर्वाण के समय कहा था कि मेरे न रहने पर मेरे द्वारा उपदिष्ट धर्म और विनय ही गुरु समझे जायेंगे[1]। बुद्ध-वचनों के संग्रह-ग्रंथ त्रिपिटक में केवल तथागत और उनके प्रमुख शिष्य-शिष्याओं के ही उपदेश संकलित है, किन्तु गुरुग्रंथ साहिब में सिख गुरुओं के अतिरिक्त जयदेव, नामदेव, त्रिलोचन, परमानन्द, सधना, वेणी, रामानन्द, धन्ना, पीपा, सेन, कबीर, रैदास, मीराबाई, फरीद, भीखन और सूरदास जैसे सन्तों तथा कुछ भट्टों की भी वाणियाँ संग्रहीत है[2]। इसीलिए यह केवल किसी एक धर्म का ग्रंथ न होकर सभी मानव-हित-साधक वचनों का केन्द्रीभूत महान् प्रकाश-पुंज है, जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक ज्योति को अधिकाधिक ज्योतित कर सकता है। डॉ० धर्मपाल मैनी ने यथार्थ ही लिखा है—"वस्तुतः 'ग्रंथ' का धर्म सिखधर्म नहीं, 'शिष्यधर्म' है और 'शिष्य धर्म' ही 'मानव धर्म' है। संसार के किसी धर्म से इसका विरोध नहीं और किसी विशिष्ट धर्म का प्रतिपादन नहीं, इसका विशिष्ट धर्म केवल 'मानव धर्म' ही है। यही सांसारिक जगत् को 'ग्रंथ' की महानतम धार्मिक देन है[3]।"

बौद्ध-देशों में त्रिपिटक की पूजा होती है। कनिष्क ने सम्पूर्ण त्रिपिटक को ताम्रपत्रों पर अंकित करवा कर एक स्तूप में निधान कराया था[4]। लंका और बर्मा में त्रिपिटक के कुछ प्रमुख सूत्रों या ग्रंथों का स्तूपों में निधान करने की प्रथा है[5]। कुशीनगर के स्तूप की खोदाई में बौद्धधर्म का प्रसिद्ध 'निदान सूत्र' एक ताम्रपत्र पर लिखित प्राप्त हुआ, जो इस समय लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित है[6]। तिब्बती बौद्ध कन्-जुर और तन्-जुर की पूजा करते

---

१. महापरिनिब्बान सुत्तं, पृष्ठ १७१। २. श्री गुरुग्रंथ दर्शन, पृष्ठ २९-३०।

३ श्री गुरुग्रंथ साहिब—एक परिचय, पृष्ठ १५८।

४ बौद्धधर्म-दर्शन तथा साहित्य, पृष्ठ १६०।

५ वही पृष्ठ १०५।

६ कुशीनगर का इतिहास पृष्ठ १२८-१३४

है[1]। जापान मे सद्धर्मपुण्डरीक ग्रंथ की सदा पूजा "नम् म्यो होरेन्गोक्यो" कहकर की जाती है[2]। इसी प्रकार सिख गुरुग्रंथ साहिब की पूजा करते है और अपने गुरुद्वारो मे उसका ही प्रतिष्ठापन करते है। पहले संकेत किया जा चुका है कि महायान के लामा-अवतारवाद का प्रभाव सिख-गुरुओं के ज्योति-अवतरण पर पड़ा है, केवल अन्तर इतना ही है कि एक लामा के देहावसान के पश्चात् उसका दूसरा जन्म होता है और तब उसे पहचान कर पूर्वजन्म के लामा के अवतार को घोषित किया जाता है, किन्तु सिखधर्म के अनुसार एक गुरु की ज्योति का अंश दूसरे गुरु मे प्रवेश कर जाता है। इस प्रकार थोड़े-से परिवर्तन के साथ महायान का प्रभाव सिखधर्म पर पडा दिखाई देता है। सिखधर्म की अन्य अनेक मान्यताएँ बौद्धधर्म से प्रभावित है, जिनकी ओर संकेत नानक-वाणी के उद्धरण के साथ किया जा चुका है।

सिखों के आदि गुरु नानकदेव थे। उन्होंने बौद्ध-देशों की यात्राएँ की थीं, बौद्ध-विद्वानो, सन्तो, नाथो, सिद्धो आदि से सत्सग करके बौद्ध-परम्परागत धर्म की बहुत-सी बातो को अंगीकार किया था, वैसे ही अन्य सिख-गुरुओ ने भी उसी परम्परा को आगे बढाया। यही कारण है कि गुरु नानक तथा अन्य गुरुओ की वाणियो मे मौलिक भेद नही है। यद्यपि गुरु नानक पूर्ण अहिंसावादी थे, जब बाबर ने भारत पर आक्रमण किया और विनाशलीला मचाई तब उन्होने केवल इतना ही कथा था—

आपे करे कराए करता किस नो आखि सुणाईऐ।
दुखु सुखु तेरे भाणै होवै किसथै जाइ रूआईऐ।
हुकमी हुकमि चलाए विगसै नानक लिखिआ पाईऐ[3]॥

[प्रभु स्वयं ही करता और कराता है। उसकी बाते किससे कहकर सुनाई जायँ? हे प्रभु, दुःख-सुख सब तेरी ही आज्ञा से होते है। अतएव किसके पास जाकर रोया जाय? वह हुक्म का स्वामी सभी को अपने हुक्म मे चलाता है और विकसित होता है। नानक कहते है कि जो कुछ उसका लिखा होता है, वही प्राप्त होता है।]

किन्तु पीछे के गुरुओ को क्षात्र-धर्म का आश्रय लेना पडा, फिर भी उन्होंने भक्ति, हरि-स्मरण आदि का पूर्ण रूप से निर्वाह किया। सभी गुरुओं ने खसम स्वरूप परमात्मा, गुरु-महिमा, घट-घट व्यापी राम, रामनाम स्मरण, संसार की अनित्यता, कर्म-फल, निर्वाण, अनाहत नाद, साधु-सत्सग आदि को स्वीकार किया तथा जाति-पाँति, तीर्थ-स्नान, व्रत, वेदादि ग्रन्थो के पाठ से मुक्ति आदि का निषेध किया। यथा—

खसम

नानक हुकमु पछाणिकै, तउ खसमै मिलणा[4]।

—गुरु अंगद :

---

१ बौद्ध संस्कृति पृष्ठ ४१६ २ वही पृष्ठ ३९२
३ पृष्ठ २९४ ४ पृष्ठ २५६

इहु फुरमाइआ खसम का होआ, वरत इहु ससारा[1]।

—गुरु अमरदास।

निर्वाण

हरिजन प्रीति लाई हरि निरवाणपद।
नानक सिमरत हरि हरि भगवान[2]॥

—गुरु रामदास।

तूं निरबाणु रमीआ रंगिराता[3]।

—गुरु अर्जुनदेव।

गुरु

गुर बिनु घोर अंधारु[4]।

—गुरु अंगद।

सतिगुरु सेविऐ सूतकु जाइ।
मरै न जनमै कालु न खाइ[5]॥

—गुरु अमरदास।

गुर मती सुखु पाईऐ, सचु नामु उर धारि[6]।

—गुरु अमरदास।

घट घट व्यापी

घटि घटि अंतरि एको हरि सोइ[7]।

—गुरु रामदास।

घट घट अंतरि आपे सोइ[8]।
घटि घटि माधउ जीआ[9]।

—गुरु अर्जुनदेव।

घटही भीतरि बसत निरंजन[10]।
रतनु रामु घटही के भीतरि[11]।

—गुरु तेगबहादुर।

---

[1] वही, पृष्ठ २६३।
[2] वही, पृष्ठ २७८।
[3] वही, पृष्ठ ३०१।
[4] सन्तकाव्य, पृष्ठ २५७।
[5] वही, पृष्ठ २६१।
[6] वही, पृष्ठ २५९।
[7] वही, पृष्ठ २७६।
[8] वही, पृष्ठ २९९।
[9] वही, पृष्ठ २९९।
[10] वही, पृष्ठ ३४५
[11] वही पृष्ठ ३४३

अनाहत नाद

अनहद सबदु बजावै[1]।
गोविन्द गाजे अनहद बाजे[2]।
—गुरु अर्जुनदेव।

नाम-स्मरण

राम नामि लिव लाइ[3]।
नामे ते सभि ऊपजै भाई[4]।
—गुरु अमरदास।

नाम पदारथु पाइआ, चिंता गई बिलाइ[5]।
—गुरु रामदास।

अनित्य-भावना

जितु जल ऊपरि फेनु बुदबुदा, तैसा इहु संसार[6]।
—गुरु अमरदास।

सभ किछु जीवत को बिवहार।
मात पिता भाई सुत बंधप, अरु फुनि ग्रिहकी नारि ॥
तन ते प्रान होत जब निआरे, टेरत प्रेति पुकारि।
आध घरी कोऊ नहि राखै, घरि ते देत निकारि[7] ॥
—गुरु तेगबहादुर।

देह अनित्य न नित्य रहै जस नाव चढ़ै भवसागर तारै[8]।
—गुरु गोविन्द सिंह।

कर्म-फल

करमु होवै सोई जनु पाए।
गुरमुखि बूझै कोई[9] ॥
कहतु नानक इह जीउ करम बंधु होई[10]।
—गुरु अमरदास।

---

१. वही, पृष्ठ ३०६।
२. वही, पृष्ठ ३०८।
३. वही, पृष्ठ २६२।
४. वही, पृष्ठ २६२।
५ वही, पृष्ठ २७९।
६. सन्तकाव्य, पृष्ठ २६५।
७ वही पृष्ठ ३४४।
८ वही पृष्ठ ४१६।
९ वही पृष्ठ २६५
१० वही पृष्ठ २६४

तीर्थ व्रत

जगि हउमै मैलु दुखु पाइआ, मलु लागी दूजै भाइ ।
मलु हउमै धोती किवै न उतरै, जे सउ तीरथ नाइ[1] ॥
—गुरु अमरदास ।

ध्यान भयो दोउ लोचन मूंदकै, बैठि रह्यो बकध्यान लगायो ।
न्हात फिरचो लिए सात समुंद्रन, लोक गयो परलोक गंवायो[2] ॥
—गुरु गोविन्द सिंह ।

जातिवाद-खण्डन

जाति का गरबु न करिअहु कोई ।
ब्रह्म बिंदे सो ब्राह्मणु होई ॥
जाति का गरबु न करि मूरख गंवारा ।
इसु गरबते चलहि बहुतु विकारा[3] ॥
—गुरु अमरदास ।

ग्रन्थ-पाठ व्यर्थ

बेद पढै पढि बादु बखाणै ।
ब्रह्मा बिसनु महेसा ।
एह त्रिगुण माइआ जिनु जगतु भुलाइआ ।
जनम मरण का सहमा[4] ।
—गुरु अमरदास ।

पंडितु सासत सिम्रिति पड़िआ ।
जोगी गोरखु गोरखु करिआ ।
मै मूरख हरि हरि जपु पड़िआ[5] ॥
—गुरु रामदास ।

साधु-सत्संग

गुरु गुरु करत सदा सुखु पाइआ ।
सन्त संगति मिलि भइआ प्रगास ।
हरि हरि जपत पूरन भई आस[6] ॥

---

१. ...य, पृष्ठ २५९ ।
२. वही, पृष्ठ ४१६ ।
३. ... २६४ ।
४ सन्तकाव्य पृष्ठ २६५ ।
५. ...ठ २७७
६ वही पृष्ठ ३०६

कर संगि साधू चरन पखारे ।
संत धूरि तनि लावै ॥
मनु तनु अरपि धरे गुर आगै ।
सति पदारथु पावै[1] ॥
—गुरु अर्जुनदेव ।

उक्त तथ्यो एवं मान्यताओं पर बौद्धधर्म का किस प्रकार प्रभाव पड़ा है, इस ओर सन्त कबीर के सम्बन्ध मे लिखते हुए सकेत किया जा चुका है। उनकी पुनरावृत्ति यहाँ आवश्यक नही। बौद्धधर्म की जो विचारधारा सिद्धो, नाथो और सन्तो से होती हुई जन-समाज मे परिव्याप्त थी, उससे सिख-गुरुओ का प्रभावित होना अनिवार्य था। आत्मा, परमात्मा और भक्ति के स्वरूप का भली प्रकार मनन करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि सन्तो के सत्तनाम, निर्गुण राम और अलख निरंजन ही सिख-गुरुओ की वाणी मे प्रवेश पाए थे, जो "सच्चनाम" वाले भगवान् बुद्ध, निराकार निर्वाण अथवा परमपद के ही रूपान्तरित नाम थे। सिद्धो के समय के "घट घट व्यापी" और "सदा निरन्तर बुद्ध" ही सन्तों और गुरुओ के सर्वव्यापी "राम" अथवा परमात्मा थे। बौद्धधर्म के नैरात्मवाद से इन सन्तों एवं गुरुओ का परिचय नही था। केवल सन्त पीपा का ही "ना कछु आइबो ना कछु जाइबो" कथन इसका अपवाद है।

आहार-शुद्धि सम्बन्धी प्राचीन रूढियो का त्याग तथा नारी-निन्दा का परिवर्जन भी सिखधर्म की अपनी विशेपता है। इन दोनों बातों पर बौद्धधर्म का प्रभाव स्पष्ट रूप से पडा हुआ दीखता है। बौद्धधर्म मे आहार-शुद्धि के स्थान पर चित्त-शुद्धि पर बल दिया गया है। त्रिकोटि परिशुद्ध[2] मांस खाना बौद्धधर्म के अनुसार विहित है। सिखधर्म मे भी मांस खाना वर्जित नहीं है। गुरु नानक ने तो मास खाना उचित बतलाया है और उसका विरोध करने-वालो को फटकारा है। उन्होने यहाँ तक कहा है कि मूर्ख लोग "मास मास" कहकर झगड़ा करते है; वे ज्ञान-ध्यान कुछ भी नही जानते।. जिनका गुरु अन्धा होता है, वे न खानेवाली हराम की कमाई तो खाते है, किन्तु खाने योग्य मासादि त्याग देते हैं।....चारों युगों मे मास का प्रयोग होता रहा है, इसीलिए पुराणों और कुरान आदि ग्रंथो मे भी मांस खाने का वर्णन है—

मासु मासु करि मूरखु झगड़े,
गिआनु धिआनु नही जाणै।
अभखु भखहि भखु तजि छोडहि,
अंध गुरू जिन केरा।
मासु पुराणी मासु कतेबी,
चहु जुगि मासु कमाणा[3]।

१. वही, पृष्ठ ३०७।
२. मज्झिमनिकाय, जीवकसुत्त २, १, ५; हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ २२०।
३ पृष्ठ ७७१-७२

बौद्धधर्म में स्त्रियों के लिए गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। भगवान् बुद्ध की भिक्षुणी-शिष्याओं के नाम भारतीय संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार में भिक्षुओं से कम उल्लेखनीय नहीं हैं। भिक्षुणी-संघ महिलाओं की एक आदर्श धर्म-वाहिका मण्डली थी। भगवान् ने स्त्रियों की प्रशंसा की थी और कहा था कि कोई-कोई स्त्रियाँ पुरुषों से भी बढ़कर बुद्धिमती तथा शीलवती होती हैं। उन्हीं की कुक्षि से शूरवीर राजा तक जन्म लेते हैं[1]। इसी प्रकार सिख-गुरुओं ने भी स्त्रियों की प्रशंसा की है। उन्होंने भी भिक्षुणियों की भाँति उपदेशिकाओं की नियुक्ति की थी, जिन्होंने नारी-समाज में सद्धर्म का स्रोत प्रवाहित किया था। गुरु नानक ने तथागत के समान ही स्त्रियों की प्रशंसा करते हुए कहा था कि स्त्री से ही मनुष्य जन्म लेता है।...स्त्री से ही जगत् की उत्पत्ति का क्रम चलता है। उस स्त्री को बुरा क्यों कहा जाय, जिससे राजागण भी जन्म लेते हैं—

> भंडि जंमीऐ , भंडहु चलै राहु।
> सो किउ मंदा आखीऐ,
> जितु जंमहि राजान[2]।

इस प्रकार स्पष्ट है कि बौद्ध मान्यताओं का प्रभाव "श्रीगुरुग्रंथ साहिब" पर पड़ा है, जिस ओर आज तक विद्वानों का ध्यान नहीं गया है। इस दिशा में अभी पर्याप्त शोध-कार्य करने की आवश्यकता है। भोट भाषा में अनूदित गुरु नानक के वाणी-संग्रह के प्राप्त होने पर इस कार्य में और भी प्रगति होगी।

---

१. संयुत्तनिकाय, हिन्दी अनुवाद, प्रथम भाग, पृष्ठ ७८।
२ नानकवाणी पृष्ठ ३५२

छठाँ अध्याय

सन्तों की परम्परा में बुद्धवाणी

और

बौद्ध-साधना का समन्वय

[अ] सन्तों के सम्प्रदाय
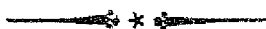
कबीर, नानक आदि प्रमुख सन्तो के पश्चात् उनके शिष्यो की सन्त-परम्परा मे सम्प्रदायगत-भावना उत्पन्न हो गयी। वे अपने गुरुओं की विशेषताओ एवं साधना-वैशिष्टय के अनुरूप अपने सम्प्रदाय को अन्य सन्त-सम्प्रदायों से भिन्न मानने लगे। यद्यपि उनमें मौलिक एकता थी। वे सभी एक ही निर्गुण-साधना के समर्थक एवं अनुगामी थे। पूर्व की सारी आध्यात्मिक तथा सैद्धान्तिक प्रवृत्तियाँ उनके सम्प्रदाय की शिक्षाओं में विद्यमान थी। यदि किसी प्रकार का भेद था तो वह अत्यल्प एवं केवल बाह्य लिंगों के रूप मे। ये सभी सन्त-सम्प्रदाय निर्वाण, अनाहत, निर्गुण, सत्तनाम अलख निरंजन, घट घट व्यापी परमात्मा, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक आदि को माननेवाले तथा बाह्य कर्म-काण्ड, तीर्थ-व्रत, ग्रंथ-प्रमाण आदि के विरोधी थे। इस प्रकार इनमे अपने पूर्ववर्ती सन्तो की विचारधारा ही प्रवाहमान थी। ये सन्त अपने अग्रज सन्तो की सिद्धि के प्रशंसक थे। जयदेव, धन्ना, पीपा, रैदास, कबीर, नामदेव, त्रिलोचन, मीराबाई आदि सन्तो के गुणगान इन्होने मुक्त-कण्ठ से किया है[1]। इन सन्त-सम्प्रदायो मे कतिपय प्रसिद्धि-प्राप्त हैं, जिनकी परम्परा अब तक चली आ रही है। इन सन्त-सम्प्रदायो मे बुद्धवाणी तथा बौद्ध-साधना का समन्वय उसी प्रकार हुआ है, जैसा कि इनके पूर्ववर्ती सन्तों की वाणियो मे मिलता है। हम यहाँ इन सभी प्रमुख सन्त-सम्प्रदायो मे बुद्ध-वाणी और बौद्ध-साधना के प्रभाव पर विचार करेंगे तथा देखेंगे कि किस प्रकार सन्तो की परम्परा मे बुद्धवाणी बनी रही है और कैसे बौद्ध-साधना का अद्भुत प्रकार से समन्वय इन सन्तों के सम्प्रदायों मे हुआ है।

साध सम्प्रदाय

साध सम्प्रदाय के अनुयायी उत्तर प्रदेश के विभिन्न भागो मे पाये जाते है। मैनपुरी, मिर्जापुर आदि जिलो मे इनकी संख्या अधिक है। दिल्ली के निकट भी इनके निवास है। ये घरबारी होते है और अपने को साध अथवा साधक कहते हैं। इस सम्प्रदाय के आदि पुरुष के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं, अभी तक मतैक्य नही हो पाया है। अधिकांश विद्वान् वीरभान को इसका आदि-प्रवर्तक मानते है[2]। विद्वानों का अनुमान है कि वीरभान ने सन् १५४३ के

---

१. गरीबदासजी की बानी, पृष्ठ २१-२२; दादू दयाल की बानी, पृष्ठ २७ आदि।

२ उत्तरी भारत की सन्त पृष्ठ ३९७ और हिन्दी काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय पृष्ठ ४३९

आस-पास अपने मत का प्रवर्तन किया था[1]। वे नारनौल के निकटवर्ती विजेसर ग्राम के रहनेवाले थे। उनके लगभग सवा सौ वर्षो के पश्चात् जोगीदास ने इस सम्प्रदाय को संगठित एवं सुव्यवस्थित किया था। कुछ विद्वान् साध सम्प्रदाय और सत्तनामी को एक ही मानते है,[2] किन्तु वास्तव मे ये दोनो भिन्न सम्प्रदाय है।

साध सम्प्रदाय के ग्रंथो का प्रकाशन अभी तक नही हुआ है। इस सम्प्रदायवाले अपने धर्म-ग्रथो को सर्वसाधारण से छिपाकर रखते है। "निर्वान ग्यान" और "आदि उपदेश" इस सम्प्रदाय के प्रमुख ग्रंथ माने जाते हैं। इनमे प्रथम पद्य मे है और द्वितीय गद्य मे। इन ग्रंथो से स्पष्ट है कि साध सम्प्रदायवाले कबीर को अवतारी पुरुष मानकर उन पर श्रद्धा व्यक्त करते है—

हुआ होते हुकमी दास कबीर।
पैदायस ऊपर किया वजीर॥
उस घर का उजीर कबीर।
अवगत का सिप दास कबीर[3]॥

ऐसे ही गोरखनाथ भी साध सम्प्रदाय मे ज्ञानी पुरुष माने जाते है। फर्रुखाबाद के मठ मे इस सम्प्रदाय का यह आदर्श-वाक्य अंकित है—"सन्त अवगत्त गोरख उदय कबीर", इससे स्पष्ट है कि साधो की परम्परा सिद्धो, नाथो और सन्तो की ही देन है।

साध सम्प्रदायवाले निराकार ईश्वर को मानते है और "सत्तनाम" के प्रति उनकी पूरी आस्था है। नम्रता, सन्तोष, स्वच्छता, मादक वस्तुओ का निषेध, अहिंसा, एक पत्नीव्रत और श्वेत वस्त्र धारण करने पर साध सम्प्रदाय मे जोर दिया जाता है। ये शिव को भी मानते है, किन्तु उन्हे यज्ञ मे उपस्थित होकर हवि ग्रहण करनेवाला नही मानते—

सत की भगति महादेव पाई।
जग्य जाइ न भीखा खाई॥

ये मूर्तिपूजा, बाह्य कर्म-काण्ड आदि को नही मानते है। साध सम्प्रदायवाले प्रत्येक पूर्णिमा को अपने मठ पर एकत्र होते और प्रवचन सुनते है। इसी प्रकार प्रत्येक देश के बौद्ध पूर्णिमा और अमावस्या को विहारों मे जाते हैं तथा अष्टशील ग्रहण कर उपोसथ व्रत रहते एवं धर्मोपदेश श्रवण करते है।

साध सम्प्रदाय के अनुयायियों के लिए कुछ आचरणीय नियम बने हुए है, जिनका पालन करना सभी साधो के लिए आवश्यक माना जाता है। इन नियमों मे १२ नियम ऐसे है जो बहुत प्रसिद्ध तथा सरल हैं। इन नियमो मे बौद्धधर्म के पंचशील तथा अष्टशील के नियम भी सम्मिलित है। इनकी तुलना इस प्रकार की जा सकती है :—

---

१ वही, पृष्ठ ३९७ और पृष्ठ ४३९।
२ उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा पृष्ठ ३९८
३ हिन्दी काव्य म निर्गुण , पृष्ठ ४४०

साध सम्प्रदाय	बौद्धधर्म
१. जीवहिंसा न करो।	१. जीवहिंसा से विरत रहो।
२. किसी भी वस्तु के लिए लालच न करो।	२. विना दी हुई किसी वस्तु को ग्रहण करने से विरत रहो।
३. एकपत्नी तथा एकपति का व्रत ग्रहण करो।	३ कामभोगों में मिथ्याचार से विरत रहो।
४. कभी असत्य न बोलो।	४. असत्य भाषण से विरत रहो।
५ मादक द्रव्यों का व्यवहार न करो।	५. शराब आदि मादक द्रव्यों के सेवन से विरत रहो।

इसी प्रकार बौद्धधर्म के अष्टशील से केवल विकाल-भोजन, ब्रह्मचर्य-पालन और उच्चासन के सेवनवाले नियमों के अतिरिक्त शेष सभी नियम साध सम्प्रदाय में विद्यमान है। साध संगीत से विरत रहते है। मेंहदी, सुरमा, तिलक आदि नही लगाते और श्वेत वस्त्र धारण करते है। अष्टशील पालन करनेवाले बौद्ध भी श्वेत वस्त्र धारण करते हैं तथा अष्टशील के इस सातवे नियम का पालन करते है--"मै नाच, गाना, बाजा और मेले-तमाशे को देखने तथा माला और सुगन्धि लेपन आदि को धारण करने एवं शरीर-शृंगार के लिए किसी प्रकार के आभूषण की वस्तुओ को धारण करने से विरत रहने की शिक्षा ग्रहण करता हूँ[1]।" साध सम्प्रदायवाले दिन, मास आदि के शुभाशुभ होने की बात नहीं मानते है। बौद्धधर्म मे भी नक्षत्र आदि के शुभाशुभ मानने का निषेध किया गया है। नक्खत्त जातक मे कहा गया है कि शुभाशुभ नक्षत्र देखते रहनेवाले मूर्ख का काम नष्ट हो जाता है। अर्थ की सिद्धि ही अर्थ का नक्षत्र है। भला तारे क्या करेंगे ?

> नक्खत्तं पतिमानेन्तं अत्थो बालं उपच्चगा।
> अत्थो अत्थस्स नक्खत्तं किं करिस्सन्ति तारका[2] ॥

साधो का यह भी नियम है कि वे वर्ण, जाति आदि नही बतलाते। यदि उनसे पूछा जाय कि "तुम कौन हो ?" तो केवल इतना ही उत्तर पर्याप्त है--"मैं साध हूँ।" ऐसे ही भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यो को कहा था कि यदि तुमसे कोई पूछे कि "तुम कौन हो ?" तो केवल इतना ही कहना चाहिए—"मैं शाक्यपुत्रीय श्रमण हूँ[3]।" बौद्धधर्म मे जाति-भेद के लिए स्थान नही है।

साध संन्यास वेश नही ग्रहण करते। संन्यास वेश ग्रहण करना उनके सम्प्रदाय मे निषिद्ध है। हम जानते है कि सरहपा आदि सिद्ध भी घरबार छोडकर साधु होना व्यर्थ मानते थे[4]।

---

१ नच्चगीतवादित–विसूकदस्सन–मालागन्ध–विलेपन–धारण–मण्डन–विभूसनट्ठाना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि। —बौद्धचर्या विधि, पृष्ठ १२।

२ जातक ४९, हिन्दी अनुवाद, प्रथम भाग, पृष्ठ ३३६ से उद्धृत।

३ विनयपिटक महावग्ग।

४ दोहाकोश भूमिका पृष्ठ २७

इस प्रकार प्रकट है कि साध सम्प्रदाय पर बौद्धधर्म का गहरा प्रभाव पड़ा हुआ है और साध अपने परिपालनीय नियमों के रूप मे बौद्धधर्म की प्रधान शिक्षाओ का ही पालन करते है, जो उन तक सन्त-परम्परा द्वारा पहुँची है। डॉ० बड़थ्वाल का यह कथन समीचीन नही है कि साध-दर्शन पर इस्लाम का गहरा प्रभाव पड़ा है[1] और न तो डॉ० विल्सन और डॉ० के का यही कथन संगत है कि साध सम्प्रदाय ईसाई धर्म से प्रभावित है[2]। साध सम्प्रदाय की शिक्षाओ पर बौद्धधर्म का पूर्ण प्रभाव दिखाई देता है, जिसका संक्षिप्त परिचय ऊपर दिया गया है। साध सम्प्रदाय मे भगवान् बुद्ध के लिए चाहे कोई स्थान न हो, किन्तु घट-घट व्यापी निराकार परमात्मा के रूप मे—"देहहिं बुद्ध बसन्त[3]" के अनुसार 'बुद्ध' ही है और इस प्रकार साधो के १२ नियम बौद्धधर्म की ही शिक्षाओ पर आधारित हैं।

लालदास और उनका सम्प्रदाय

सन्त लालदास का जन्म सन् १५४० मे अलवर राज्य के धौलीधूप नामक ग्राम मे हुआ था। ये मेओ जाति के रत्न थे। ये बचपन से ही साधु-सत्संग मे रहा करते थे। युवावस्था मे इन्होने अपनी पत्नी के साथ अपना ग्राम त्याग दिया और बादोली चले गये। इन पर कबीर साहब के मत का अधिक प्रभाव पड़ा था। फकीर गदन चिश्ती के सत्संग से भी इन्हे लाभ हुआ था। ये अनपढ थे। इन्होने साधु-सत्संग से ही धर्म की बाते सीखी थी। अन्तिम दिनो मे ये टोडो ग्राम मे जा बसे थे। इन्हे स्वरूपा नामक एक कन्या और पहाड़ नामक एक पुत्र था। इनके सम्बन्ध मे लालपन्थ के अनुयायियो मे अनेक चमत्कारिक घटनाएँ प्रसिद्ध हैं। इनके हिन्दू-मुसलमान दोनो ही अनुयायी थे और वे दोनो को समान रूप से उपदेश देते थे।

सन्त लालदास की वाणियो का एक संग्रह ग्रंथ "लालदास की चेतावनी" नामक है, जो अभी तक प्रकाशित नहीं है। इस ग्रंथ से जान पड़ता है कि लालदास ने जो कुछ उपदेश दिया, वह कबीर और दादू दयाल की विचारधारा से प्रभावित है। लालदास तथा उनके अनुयायी नाम-महिमा को प्रधान रूप से मानते है और 'राम' ही उनके सब कुछ है। ये 'राम' सत्तनाम (सच्चनाम = सत्यनाम = भगवान् बुद्ध) ही है। चित्तशुद्धि, आचरण की पवित्रता, नामस्मरण, भिक्षावृत्ति का निषेध, कर्म-काण्ड का बहिष्कार आदि इस सम्प्रदाय के प्रधान कर्तव्य हैं।

सन्त लालदास का देहान्त ई० सन् १६४८ में हुआ था। उनकी समाधि भरतपुर राज्य के नगला नामक ग्राम मे अब तक विद्यमान है, जो लालपन्थी लोगो का पवित्र स्थान माना जाता है।

दादू दयाल तथा उनकी शिष्य-परम्परा

सन्त दादू दयाल का जन्म ईस्वी सन् १५४४ मे माना जाता है,[4] किन्तु उनके जन्म-स्थान, जाति आदि के सम्बन्ध मे विभिन्न मत हैं। अधिकाश विद्वानों का मत है कि दादू

---

१ हिन्दी काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ४४०।

२. वही, पृष्ठ ४४०।

३. दोहाकोश, पृष्ठ १८।

४ उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा पृष्ठ ४११

दयाल का जन्म अहमदाबाद में हुआ था,[१] पण्डित सुधाकर द्विवेदी उन्हें जौनपुरी मानते हैं,[२] किन्तु दादू की वाणी में गुजराती भाषा के शब्द इस बात के प्रमाण हैं कि वे जौनपुर के नहीं थे। उनकी विचरण-भूमि भी गुजरात और राजस्थान ही थी, अतः अहमदाबाद ही उनका जन्मस्थान ग्राह्य है।

दादू धुनिया जाति के थे। उनके शिष्य रज्जबजी ने स्पष्टतः अपने गुरु को धुनिया कहा है। स्वयं दादू ने भी अपने को सबसे नीच और कमीन कहा है,[३] अतः सम्प्रदायवालों की यह मान्यता कि वे ब्राह्मण-सन्तान थे और साबरमती की धारा में बहते हुए मिले थे,[४] केवल दादू को उच्च जाति का बनाने का प्रयास है। ज्ञानी सन्तों के लिए जाति की हीन-उच्चता तुच्छ है। वे तो अपनी आध्यात्मिक पवित्रता से ही सर्वश्रेष्ठ एवं पूज्य हो जाते हैं।

आचार्य क्षितिमोहन सेन ने बंगाल के बाउलों में प्रचलित दादू के प्रति श्रद्धा-भक्ति और दाऊद नाम 'दादू' के लिए ही व्यवहृत होने की बात से सिद्ध किया है कि दादू का यथार्थ नाम दाऊद था[५]। वे पीछे दादू दयाल नाम से प्रसिद्ध हुए। कहा जाता है कि ११ वर्ष की अवस्था में ही श्रीकृष्ण ने एक वृद्ध संन्यासी के वेश में दादू को दर्शन दिया था और वे ही दादू के गुरु थे,[६] किन्तु दादू के शिष्यों ने उनके गुरु का नाम वृद्धानन्द अथवा बुड्ढन बाबा माना है[७]। हम देखते हैं कि दादू ने अपने गुरु के सम्बन्ध में कोई प्रकाश नहीं डाला है। विद्वानों का मत है कि वास्तव में दादू के कोई जीवित मनुष्य गुरु नहीं थे, प्रत्युत वे परमात्मा को ही अपना गुरु मानते थे[८]।

दादू दयाल ने अठारह वर्ष तक की अवस्था अहमदाबाद में व्यतीत की, तदुपरान्त देश-भ्रमण के लिए प्रस्थान किया। इस भ्रमण-काल में उन्होंने छः वर्षों तक उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल आदि की यात्रा की और इस बीच कबीरपन्थी, नाथपन्थी आदि सन्तों से सत्संग किया। वे तीस वर्ष की अवस्था में साँभर चले गये थे। वहीं बत्तीस वर्ष की आयु में उनके पुत्र गरीबदास का जन्म हुआ था। जनगोपाल ने "जनमपरची" में इस बात को स्पष्ट किया है—

> बारह बरस बालपन खोये,
> गुरु भेंटे थे सन्मुख होये।
> साभर आये समये तीसा,
> गरीबदास जनमे बत्तीसा[९]॥

---

१. हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृष्ठ ३७।
२. दादूबानी की भूमिका।
३. "तँह मुझे कमीणकी कौण चलाये ?" —दादूबानी, भाग १, पृष्ठ १६३।
४. सन्त साहित्य, पृष्ठ ३६। ५. दादू, पृष्ठ १७।
६. सन्त साहित्य, पृष्ठ ३६-३७।
७. दादू की भूमिका, पृष्ठ ३१, आचार्य क्षितिमोहन सेन।
८. परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृष्ठ ४१३ तथा डॉ० त्रिगुणायत हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृष्ठ ३८।
९. उत्तरी भारत की सन्त पृष्ठ ४१४।

सांभर में रहते समय ही दादू दयाल ने अपने मत का प्रचार-कार्य प्रारम्भ किया। उनकी बैठक "अलख दरीबा" नाम से होती थी, जिसमे उनके भक्तजन सम्मिलित होकर प्रवचन सुनते थे। उन्होने जिस मत का उपदेश किया, उसे "परब्रह्म सम्प्रदाय" कहा जाता है। उसमे मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा, छापा-तिलक आदि का निषेध है। ध्यान, अभ्यास, स्मरण, सहज-भावना, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, शान्ति, अपरिग्रह, क्षमा, दया, त्याग, तितिक्षा, वैराग्य, समता, सन्तोष आदि सात्विक गुणो को ज्ञान-प्राप्ति का साधन माना जाता है। इन बातो का प्रभाव इतनी द्रुतगति से हुआ कि दादू के शिष्यों की संख्या थोडे ही दिनो मे बहुत अधिक बढ गई। उनकी प्रसिद्धि को सुनकर अकबर बादशाह भी उनसे सीकरी मे मिला और चालीस दिनो तक सत्संग किया।

दादू दयाल सांभर से आमेर चले गए थे और वही से सीकरी गए थे। सीकरी से लौटकर उन्होने कतिपय स्थानो की यात्रा की। अन्त मे ५८ वर्ष, ढाई मास की आयु में नराना की गुफा मे सन् १६०३ मे दादू का देहावसान हो गया। आज भी वहाँ उनके बाल, तूँबा, चोला और खडाऊँ सुरक्षित है[1]।

दादू दयाल के दो पुत्र और दो पुत्रियाँ थी। सन्त-शिष्यों की भी एक बडी संख्या थी, जिनमे ५२ शिष्य प्रसिद्ध हैं। इनमें भी रज्जबजी, सुन्दरदास, गरीबदास, हरिदास, प्रागदास, राघोदास, निश्चलदास आदि प्रमुख है, जिनके जीवन-चरित्र भी उपलब्ध हैं।

दादू दयाल की रचनाएँ बीस सहस्र कही जाती है, किन्तु इनके शिष्यों द्वारा संकलित "हरडे वाणी" ही प्रामाणिक रचना है। अन्य रचनाएँ प्राप्त नहीं हो सकी है।

दादू द्वारा प्रवर्तित "परब्रह्म सम्प्रदाय" को दादूपन्थ भी कहते हैं। यह दो भागो मे विभक्त है—एक शाखा के अनुयायी गेरुआ वस्त्र पहनते है तथा दूसरी शाखा के अनुयायी श्वेत वस्त्र। इनके विरक्त शिष्यों के पाँच भेद है—खालसा, नागा, उत्तरादी, विरक्त और खाकी[2]। गृहस्थ शिष्यो को सेवक कहते हैं।

दादू दयाल कबीर को जीवन्मुक्त तथा आदर्श सन्त मानते थे[3] और उन्ही के मार्ग पर चलने का प्रयत्न करते थे[4]। दादू दयाल की विचार-शैली एवं कबीर के प्रति व्यक्त आदर-भाव को देखते हुए डॉ० बडथ्वाल ने यह अनुमान किया है कि दादू को कबीर-मत की शिक्षा अवश्य मिली थी[5]। डॉ० त्रिगुणायत ने कबीर को दादू का मानस-गुरु भी होने की सम्भावना

---

१. उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृष्ठ ४१९।

२ हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृष्ठ ३८।

३. कासी तजि मगहर गया, कबीर भरोसे राम।
   सैदेही साईं मिल्या, दादू पूरे काम॥
   —दादू दयाल की बानी, भाग १, पृष्ठ १८९।

४. जो था कन्त कबीर का, सोई बर वरिहौं।
   मनसा वाचा कर्मना मैं और न करिहौं —वही पृष्ठ १९२

५ हिन्दी काव्य में निर्गुण   पृष्ठ ७१-७२

.कट की है[१]। हम तो देखते है कि दादू पर न केवल कबीर का प्रभाव पडा था और न कबीर उनके मानस-गुरु थे, प्रत्युत जिस सन्त-विचारधारा का अवगाहन कबीर ने किया था, उसी मे स्नात दादू "सच्चनाम" (=सत्तिराम, सत्तनाम=बुद्ध) को ही अपना इष्टदेव मानते थे[२]। यद्यपि उन्होंने कबीर की ही भाँति[३] बौद्धों को कपट-वेशधारी कहा है,[४] किन्तु उन पर भी सन्त-परम्परागत बौद्धधर्म का गहरा प्रभाव पडा था। दादू की वाणी मे बौद्धधर्म का सुन्दर समन्वय हुआ है। वे उस मूलस्रोत से परिचित न थे, किन्तु कबीर, पीपा, रैदास, गोरख आदि[५] सिद्धों, नाथो तथा सन्तों के प्रशसक एवं अनुगामी थे और इनको विचारधारा का उन पर अमिट प्रभाव पड़ा था। यही कारण है कि सिद्धो, नाथो एवं सन्तों की वाणी दादू के उपदेशों मे प्राय. अक्षरश पाई जाती है। कुछ वचन तो ऐसे है जो बौद्ध-सिद्धो से लेकर दादू तक एक ही रूप एवं भाव मे विद्यमान हैं।

सिद्धो की मान्यता थी कि भगवान् बुद्ध सर्वत्र एवं सबमे विद्यमान रहते है अर्थात् ज्ञान-राशि (=बोधि) सदा घट मे ही प्राप्य है। सरहपा ने इसी भाव को प्रकट करते हुए गाया था—

"पंडिअ सअल सत्थ वक्खाणअ।
देहहिं बुद्ध वसन्त न जाणअ[६]॥"
"सअलु निरन्तर बोहि ठिअ।
कहि भव कहिं निब्बाण[७]॥"

सिद्ध गोरखनाथ ने इसे ही इस प्रकार दुहराया—

"घट ही भीतरि अठसठि तीरथ कहा भ्रमै रे भाइ[८]।"

कबीर ने सिद्ध सरहपा के ही स्वर मे स्वर मिलाते हुए कहा—

जिस कारनि तटि तीरथि जाही।
रतन पदारथ घट ही माहीं॥
पढ़ि पढ़ि पंडित बेद बखाणै।
भीतरि हूती बसत न जाणै[९]॥

---

१. हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृष्ठ ३८।
२. सत्तिराम सब माहिं रे। —दादू दयाल की बानी, भाग २, पृष्ठ १५६।
३. जोगी जंगम सेवड़े, बौध संन्यासी सेख।
षटदर्सन दादू राम बिन, सबै कपट के भेख॥
—दादू दयाल की बानी, भाग १, पृष्ठ १५६
४. अरु भूले षट दरसन भाई, पाखंड भेष रहे लपटाई।
जैन बोध अरु साकत सैना, चारबाक चतुरंग बिहूँना॥ —कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २४०
५. दादू दयाल की बानी, भाग १, पृष्ठ २७।
६ दोहाकोश पृष्ठ १८
७ वही भूमिका पृष्ठ २७
८ पृष्ठ ५५
९ कबीर ग्रथावली पृष्ठ १०२

गुरु नानक ने भी अक्षरशः इसे ही दुहराया—

जै कारणि तटि तीरथ जाही।
रतन पदारथ घट ही माही॥
पड़ि पड़ि पंडितु बादु बखाणै।
भीतरि होदी वसतु न जाणै[1]॥

इसी भाव और इन्हीं शब्दों में दादू दयाल ने भी गाया—

जा कारणि जग ढूँढिया,
सो तो घट ही माहिं[2]।
घट घट रामहि रतन है,
दादू लखै न कोइ[3]।
पढि पढि थाके पंडिता।
किन हूँ न पाया पार[4]॥

इसी प्रकार गोरखनाथ[5] और कबीरदास[6] की ही भाँति दादू ने भी मध्यम मार्ग का गुणगान किया है तथा उसे मुक्ति का द्वार कहा है—

मद्धि भाइ सेवै सदा, दादू मुकति दुवार॥ ८॥
दादू जँह जँह द्वै नहीं, मद्धि निरन्तर बास[7]॥१०॥

दादू दयाल ने बौद्धधर्म के तत्वों को उसी प्रकार ग्रहण किया है, जैसे कि कबीर, रैदास आदि सन्तों ने किया था। उन्हीं सन्तों की भाँति दादू ने भी निरंजन,[8] निराकार,[9] निर्गुण,[10] सतगुरु,[11] निर्वाण,[12] सुरति,[13] घट-घट व्यापी राम,[14] सहज-शून्य,[15] ग्रन्थ-प्रमाण का निषेध,[16] शून्य,[17] अनाहत,[18] शील,[19] सन्तोष,[20] सत्य,[21] हठयोग,[22] स्नान-शुद्धि का

---

१. नानकवाणी, पृष्ठ २०२।
२. दादू दयाल की बानी, भाग १, पृष्ठ २४२।
३. दादू दयाल की बानी, भाग १, पृष्ठ ७। ४. वही, भाग १, पृष्ठ १४३।
५. मधि निरंतर कीजै बास।—गोरखबानी, पृष्ठ ५१।
६ मधि निरन्तर बास।—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ५४।
७. दादू दयाल की बानी, भाग १, पृष्ठ १७०।
८. दादू नमो नमो निरंजनं, नमस्कार गुर देवतः।—दादू दयाल की बानी, भाग १, पृष्ठ १।
९. वही, पृष्ठ १। १०. वही, पृष्ठ २४।
११. वही, पृष्ठ १। १२. वही, पृष्ठ २, ६७, ४७।
१३. वही, पृष्ठ ६, २३, ३४, ४२, ४३। १४. वही, पृष्ठ ७।
१५. वही, पृष्ठ, ८। १६. वही, पृष्ठ २५।
१७. वही, पृष्ठ २३। १८. वही, पृष्ठ ४७।
१९ वही पृष्ठ ५८ २० वही पृष्ठ ५८
२१ वही पृष्ठ ५८ २२ वही पृष्ठ ९० ७४ ५७

वर्जन,[१] आवागमन,[२] अनित्यता,[३] कर्म-फल,[४] कनक-कामिनी का त्याग,[५] पुण्य-पाप से स्त्री-पुरुष का लिंग-परिवर्तन,[६] दया,[७] अहिंसा,[८] सुरा-त्याग,[९] जातिभेद-निषेध,[१०] मूर्तिपूजा की व्यर्थता,[११] माला-तिलक का परिवर्जन,[१२] मध्यम-मार्ग,[१३] इसी जन्म में ज्ञान का साक्षात्कार,[१४] खसम-भावना,[१५] अभयपद,[१६] सत्तनाम,[१७] गुरु-माहात्म्य,[१८] सहज-समाधि,[१९] समता,[२०] जप-तप-तीर्थ-यात्रा-मौन का वहिष्कार,[२१] कर्म-स्वकता,[२२] शून्य-मण्डल[२३] आदि मूलभूत सिद्धान्तों एवं तत्वों को अपनाया है। ये सभी तत्व सन्त-परम्परा को बौद्धधर्म की देन है। दादू दयाल ने इस परम्परा का सदा स्मरण किया है—

---

१. दादू दयाल की बानी, भाग १, पृष्ठ १४८।

२. वही, पृष्ठ ११५। ३. वही, पृष्ठ १२०।

४. वही, पृष्ठ १२१। ५. वही, पृष्ठ १२३, १२६, १३१।

६. पुरिष पलटि बेटा भया, नारी माता होइ।
दादू को समझै नहीं, बड़ा अचम्भा मोहि॥

माता नारी पुरिष की, पुरिष नारि का पूत।
दादू ज्ञान विचारि करि, छाड़ि गये अवधूत॥

—दादू दयाल की बानी, भाग १, पृष्ठ १२८।

तेलकटाहगाथा में इसी बात को इस प्रकार कहा गया है :—

पुत्तो पिता भवति मातु पतीह पुत्तो।
नारी कदाचि जननी च पिता च पुत्तो॥
एवं सदा विपरिवत्तति जीवलोको।
चित्ते सदातिचपले खलु जातिरङ्गे॥

—गाथा ३७, पृष्ठ १८।

७. दादू दयाल की बानी, भाग १, पृष्ठ १३३।

८. वही, पृष्ठ १३३।

९. वही, पृष्ठ १३३। १०. वही, पृष्ठ १४६।

११ वही, पृष्ठ १४७। १२. वही, पृष्ठ १५५।

१३. वही, पृष्ठ १७०। १४. वही, पृष्ठ २२८।

१५. वही, भाग २, पृष्ठ ३४।

"सब हम नारी एक भतार"। —पृष्ठ २५।
"दीदार दरूनै दीजिए, सुनि खसम हमारे"। —पृष्ठ ३४।

१६. वही, भाग २, पृष्ठ ९७। १७. वही, पृष्ठ १५६।

१८. वही, भाग १, पृष्ठ १, १५। १९. वही, पृष्ठ २५९।

२० वही पृष्ठ २३५ २१ वही पृष्ठ १४४ १४६ १४७ १४८।

२२ वही पृष्ठ १४९ १५२ २३ वही भाग २ पृष्ठ १७२

अमृत राम रसायन पीया ता थै अमर कबीरा कीया[1]
राम राम कहि राम समाना, जन रैदास मिले भगवाना[2] ।

इहि रस राते नामदेव, पीपा अरु रैदास ।
पिवत कबीरा ना थक्या, अजहूँ प्रेम पियास[3] ॥
नामदेव कबीर जुलाहौ, जन रैदास तिरै ।
दादू बेगि बार नहि लागै, हरि सौं सबै सरै[4] ॥

जिस प्रकार भगवान् बुद्ध ने ऊँच-नीच, छुआछूत आदि जाति-गत विषम भावनाओं का निषेध कर समता का उपदेश किया था, वैसे ही दादू ने भी अपनी सन्त-परम्परा के अनुसार सबको समान बतलाया था। उनकी दृष्टि मे ऊँच, नीच, मध्यम कोई नही है, क्योकि "राम" सबके ही भीतर समान रूप से विद्यमान है—

नीच ऊँच मद्धिम को नाहीं ।
देखौ राम सबन के माहीं[5] ॥

दादू दयाल के "राम" निरजन, निर्गुण, निराकार और अलख के साथ मुकुटधारी सगुण भी है[6] अर्थात् वे निर्गुण-सगुण दोनों है, फिर भी उन्हे प्राप्त करने की साधना बौद्ध-साधना मे प्रभावित है और दादू की बाणी मे बौद्धधर्म के तत्वो का सुन्दर समन्वय हुआ है ।

रज्जबजी

रज्जबजी दादू दयाल के प्रमुख शिष्यो मे से थे, इनका जन्म ईस्वी सन् १५६७ मे राजस्थान के सागानेर नामक स्थान मे हुआ था। ये पठान वंश के थे। इनका गृहस्थ नाम रज्जबअली खाँ था। इनके पिता महाराज जयपुर के यहाँ नायक थे। इनका मन बचपन से ही साधु-सन्तो की सेवा एव सत्संग मे अधिक लगता था। जनश्रुति है कि जब इनका विवाह होने जा रहा था और ये दूल्हा बनकर घोडे पर बैठे जा रहे थे, तब मार्ग मे दादू दयाल का दर्शन पा घोडे से उतर गए। दादू दयाल ने रज्जब की ओर देखते हुए कहा—

"कीया था कुछ काज कौं, सेवा सुमिरण साज ।
दादू भूल्या बंदिगी, सरघा न एको काज[7] ॥"
"रज्जब है गज्जब किया, सिर पर बाँधा मौर ।
आया था हरि भजन कूँ, करै नरक को ठौर[8] ॥"

इसका रज्जब के हृदय पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। उन्होने विवाह करने का विचार त्याग दिया। वे दादू के शिष्य हो गए। इस घटना का वर्णन राघवदास ने अपने भक्तमाल

---

१. दादू दयाल की बानी, भाग २, पृष्ठ २० ।
२. वही, पृष्ठ २१ ।
३. वही, पृष्ठ २४ ।
४. वही, पृष्ठ ११७ ।
५. वही, पृष्ठ १५९ ।
६ "गरीब निवाज गुसाईं मेरी माथै मुकुट धरै ।" —वही, पृष्ठ ११६ ।
७ सन्तसुधा सार, पृष्ठ ५१० से उद्धृत
८ वही पृष्ठ ५१०

मे भी किया है[१]। जब रज्जब दादू दयाल से दीक्षित हुए, तब से उनका नाम रज्जबजी हो गया। रज्जबजी गुरु की सेवा मे अधिक रहते थे। वे अपने गुरु के बड़े प्रशंसक थे। उन्होंने गुरु के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुए कहा है—

गुरु गरवा दादू मिल्या, दीरघ दिल दरिया।
हँसत प्रसन्न होत ही, भजन भल भरिया[२]॥

रज्जबजी दीर्घायु थे। कहा जाता है कि वे १२२ वर्ष की आयु तक जीवित रहे। सन् १६८९ मे किसी जंगल मे उनका देहान्त हुआ था।

रज्जबजी के दस शिष्यों का उल्लेख भक्तमाल मे किया गया है। इनकी गद्दी सागानेर मे ही है। इनके अनुयायियो को रज्जबपन्थी या रजवावत कहते हैं।

रज्जबजी की रचनाओं मे 'वाणी' और 'सर्वांगी' प्रमुख हैं। रज्जबजी पर उनके गुरु दादू दयाल की साधना-पद्धति, विचार-शैली आदि का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। यही कारण है कि दादू दयाल की ही भाँति रज्जबजी की वाणियों मे बौद्धधर्म के तत्त्वों का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। औधू (=अवधूत[३]), निरंजन,[४] सतगुरु,[५] जाति-पाँति का निषेध,[६] सुरति,[७] साधु-सत्संग,[८] गुरु-महिमा,[९] राम की घट-घट व्यापकता,[१०] सन्तोष,[११] शील,[१२] स्मरण,[१३] सत्य,[१४] शून्य[१५] आदि शब्दों के प्रयोग से रज्जबजी पर बौद्ध-प्रभाव भली प्रकार जान पड़ता है।

कबीर ने संस्कृत भाषा को कूप-जल और जन-भाषा को बहता नीर[१६] कहा है और रज्जबजी ने वेद की वाणी को ही कूप-जल तथा साखी के शब्द को जलाशय का शुद्ध जल बतलाते हुए सरलता से प्राप्य माना है—

वेद सुवाणी कूप जल, दुखसूं प्रापति होय।
शब्द साखी सरवर सलिल, सुख पीवै सब कोय[१७]॥

---

१. वही, पृष्ठ ५११।
२. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ४२४।
३. सन्तकाव्य, पृष्ठ ३७१ से उद्धृत।
४. वही, पृष्ठ ३७१।
५ वही, पृष्ठ ३७१।
६. वही, पृष्ठ ३७३।
७. वही, पृष्ठ ३७४।
८. वही, पृष्ठ ३७५।
९. वही, पृष्ठ ३७४।
१० "सब घट घटा समानि है, ब्रह्म बिज्जुली माँहि।
रज्जब चिमकै कौन मे, सो समझै कोइ नाँहि॥" —सन्तकाव्य, पृष्ठ ३७६
११. "साध सबूरी स्वान की, लीजै करि सुबिबेक।
वे घर बैठा एक कै, तूं घर घर फिरहिं अनेक॥" —वही, पृष्ठ ३७८।
१२ वही, पृष्ठ ३८०।
१३ वही, पृष्ठ ३८०।
१४ वही पृष्ठ ३८०
१५ वही पृष्ठ ३७८
१६ सन्तबानी संग्रह, भाग १ पृष्ठ ६३
१७ पृष्ठ ३८२

भगवान् बुद्ध भी जनभाषा के ही प्रशंसक और वैदिक भाषा (छान्दस्) के विरोधी थे[१]। रज्जबजी ने तो बौद्धधर्म के क्षणिकवाद को बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है—

रज्जब मन में मोज उठि, मन की काया होय।
यूँ शरीर पल पल धरै, बूझै बिरला कोय[२]॥

विशुद्धिमार्ग मे आचार्य बुद्धघोष ने क्षणिकवाद को समझाते हुए यही बात कही है—"एकचित्त समायुत्ता लहुमो वत्तते खणो"[३] अर्थात् जीवन-क्षण इतना छोटा है कि वह एक-एक चित्त के साथ ही रहता है। वह भी उत्पत्ति, स्थिति तथा भंग—इन तीन भागो मे विभक्त होता है।

सुन्दरदास

सुन्दरदास दादू के परमप्रिय शिष्य थे। इनका जन्म ईस्वी सन् १५९६ मे जयपुर राज्य की प्राचीन राजधानी द्यौसा मे हुआ था। ये खण्डेवाल वैश्य थे। छ वर्ष की अवस्था मे ही अपने पिता के साथ इन्होने दादू दयाल का दर्शन किया था[४]। उसी समय इन्हे शिष्यत्व प्राप्त हुआ था और सुन्दरदास नाम भी रखा गया था[५]। ये ११ वर्ष की अवस्था मे ही काशी चले गए थे और वहाँ रहकर संस्कृत भाषा तथा भारतीय दर्शन एवं साहित्य का अध्ययन किया। अध्ययन समाप्त कर ये काशी से फतहपुर शेखावटी लौट गये और वहाँ रहकर अपने कुछ साथियो के साथ योगाभ्यास किया। सुन्दरदास ने बिहार, बंगाल, उडीसा आदि पूर्व के प्रदेशो का भ्रमण भी किया। अन्तिम समय मे ये सागानेर चले गए थे और वही ईस्वी सन् १६८९ मे लगभग ९३ वर्ष की अवस्था मे उनका निधन हो गया।

सुन्दरदास की ४२ रचनाएँ अब तक प्राप्त हुई है, जिनमे ज्ञानसमुद्र और सुन्दरविलास प्रमुख एवं महत्वपूर्ण है। इनकी सभी रचनाओं का एक सग्रह "सुन्दर ग्रन्थावली" नाम से प्रकाशित हुआ है।

सुन्दरदास दादू के शिष्य थे और अपने गुरु के परम-भक्त थे, उन्होने दादू दयाल के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा व्यक्त की है—

सुन्दरदास कहै कर जोरि जु,
दादू दयालु को हूँ नित चेरो[६]।
सुन्दरदास कहै कर जोरि जु,
दादू दयालहिं मोरि नमो है[७]।

---

१. चुल्लवग्ग, ५, ६, १।
२ सन्तकाव्य, पृष्ठ ३८२ से उद्धृत।
३ विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृष्ठ २२२।
४ दादूजी जब द्यौसा आए, बालेपन मँह दर्शन पाए।
—उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ४२७ से उद्धृत।
५. तिनही दीया आपु तै सुन्दर के सिर हाथ। —वही, पृष्ठ ४२७।
६ सुन्दरविलास पृष्ठ १
७ वही, पृष्ठ २

ये सब लच्छन हैं जिन माहिं सु,
सुन्दर के उर है गुरु दादू[1]।

उन्होंने अपने गुरु की ही भाँति शील,[2] सन्तोष,[3] क्षमा,[4] गुरु-माहात्म्य,[5] शून्य-समाधि,[6] परमपद,[7] खसम,[8] निरंजन,[9] नामस्मरण,[10] जातिभेद का निषेध,[11] कामिनी-त्याग,[12] तीर्थ-व्रत[13] जप की निस्सारता, घट-घट व्यापी राम,[14] निर्गुण,[15] अनाहद[16] आदि बौद्धधर्म के तत्वों को ग्रहण किया है किन्तु बौद्धों को भ्रम मे पड़ा हुआ भी कहा है—

---

१ वही, पृष्ठ ३।
२. सील सँतोष छिमा जिनके घट, लागि रह्यो सु अनाहद नादू।
—सुन्दर विलास, पृष्ठ २।
पंचशील के कुछ अंगो पर भी सुन्दरदास ने प्रकाश डाला है—
करत प्रपंच इन पचनि के बस पर्‍यो।
परदारा रत भय न आनत बुराई को॥
परधन हरै परजीव को करत घात।
मद्य मास खाय लवलेम न भलाई को॥
—सुन्दर विलास, पृष्ठ २०।
३ वही, पृष्ठ २। ४. वही, पृष्ठ २।
५. गुरु बिन ज्ञान नहिं, गुरु बिन ध्यान नहिं। —वही, पृष्ठ ६।
गुरु की तौ महिमा अधिक है गोविन्द तें। —वही, पृष्ठ ९।
६ वही, पृष्ठ ७। ७. वही, पृष्ठ ११।
८. वही, पृष्ठ ११।
९ वही, पृष्ठ २५, ७९—
'निर्गुण एक निरंजन ध्यावै"। —१२९।
१०. वही, पृष्ठ २५, ६९, ८६—
"हरिनाम बिना मुख धूरि परै'। —२२।
११ सुन्दर विलास, पृष्ठ ५०-५१।
१२. वही, पृष्ठ ५१-५२—
सुन्दर कहत नारी, नरक को कुंड यह।
नरक मे जाइ परै, सो नरक पाती है॥ ३॥
सुन्दर कहत नारी, नखसिख निन्दा रूप।
ताहि जो सराहै सो तौ, बड़ोई गँवार है॥ ४॥
—सुन्दर विलास, पृष्ठ ५२।
"नागिनी सी नारी है"। —वही, पृष्ठ १४०।
१३ वही पृष्ठ ६५ १४ वही पृष्ठ ६८।
१५ वही पृष्ठ ७९ १६ वही पृष्ठ २

जोगी जन जगम सन्यासी बनवासी बौद्ध
और कोऊ बप पच्छ, सब भ्रम मान्यो है[1] ।।

यही नही, दादू ने बौद्धो को "भूला हुआ" बतलाते हुए कहा है कि वे वास्तविक गुरु को नही जानते, जिससे हमे हैरानी होती है—

यो सब भूलि परे जितही नित,
सुन्दर के उर है गुरु दादू।
जोगि कहै गुरु जैन कहै गुरु,
बौद्ध कहै गुरु जगम मानै।
याहि ते सुन्दर होत हिरानै[2] ।।

अन्त मे सुन्दरदास ने बौद्धधर्म का परिचय भी दिया है और उन्होने मन के निरोध को ही बौद्धधर्म का चरम लक्ष्य कहा है—

बौद्ध नाम तब जब मन को निरोध होइ।
बोध के विचार सोध आतम को करिये ।।
सुन्दर कहत ऐसे जीवतही मुक्ति होइ।
मुए ते मुकति कहै ता कूं परिहरिये[3] ।।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि सुन्दरदास जयदेव, नामदेव, रामानन्द, रैदास, कबीर, पीपा[4] आदि सन्तों की परम्परा से प्राप्त विचारशैली एवं साधना के साधक थे और दादू-शिष्य सुन्दरदास पर उक्त सन्तपरम्परा की गहरी छाप पड़ी थी, जो बौद्ध-विचारो एव साधना-पद्धति से प्रभावित थी।

गरीबदास

गरीबदास सन्त दादू दयाल के ज्येष्ठ पुत्र तथा प्रधान शिष्य थे। इनका जन्म ईस्वी सन् १५७५ मे हुआ था। ये लगभग अट्ठाइस वर्ष की अवस्था मे गद्दी पर बैठे थे। ये एक निपुण गायक, कवि और वीणाकार थे। गरीबदास के नाम से निरंजनपन्थी सन्त भी हुए हैं, किन्तु दादू-पुत्र गरीबदास उनसे अधिक प्रसिद्ध थे। भक्तमाल मे इनकी बड़ी प्रशंसा की गई है। इनका देहान्त ईस्वी सन् १६३६ मे हुआ था। इनकी रचनाओ की संख्या बहुत बडी कही जाती है, किन्तु अब तक केवल चार ही ग्रंथ प्राप्त हुए हैं, जो क्रमश: अनभय प्रबोध, साखी, चौबोले और पद है। स्वामी मंगलदास ने इनकी रचनाओं का एक संग्रह "गरीबदास की बानी" नाम से प्रकाशित किया है।

गरीबदास की वाणी मे उन बौद्ध-तत्त्वो का होना स्वाभाविक है, जो दादू दयाल की वाणी मे विद्यमान है। इनकी वाणी मे भी नाम-स्मरण,[5] अनित्यता,[6] अनहद,[7] निरति,[8] सतगुरु[9] आदि बौद्ध-प्रभावित विचार पर्याप्त मात्रा मे है।

---

१ वही, पृष्ठ १०।
२. सुन्दर विलास, पृष्ठ ३।
३ वही, पृष्ठ १०७।
४. वही, पृष्ठ ९।
५ सन्तकाव्य पृष्ठ ३१८
६ वही पृष्ठ ३१८
७ वही पृष्ठ ३१०
८ वही पृष्ठ ३१९
९ वही पृष्ठ ३१९

हरिदास

हरिदास सन्त दादू दयाल के शिष्य प्रागदास के शिष्य थे। इनका जन्म ईस्वी सन् १५९९ में राजस्थान के डीडवाणा परगने के कापडोद नामक ग्राम में हुआ था। ये क्षत्रिय जाति के थे। इनका प्रारम्भिक नाम हरिसिंह था। इन्होंने दुर्भिक्ष पडने के कारण अपनी तरुणाई में डकैती भी की, किन्तु साधु-सन्तों के सत्संग में आकर इनका स्वभाव बदल गया और ये दादूपन्थी प्रागदास के शिष्य हो गये। पीछे इन्होंने दादूपन्थ त्याग कर नाथपन्थी दीक्षा ग्रहण की तथा एक पहाडी गुफा में तप किया। तदुपरान्त इन्होंने अजमेर, टोडा, जयपुर आदि स्थानों की यात्रा की। सन् १६४३ में डीडवाणा में सन्त हरिदास का देहान्त हो गया। कहा जाता है कि इन्होंने ही निरंजनी सम्प्रदाय की स्थापना की थी, जो कबीर तथा नाथपन्थ से प्रभावित था। इनकी रचनाओं का एक संग्रह "श्री हरि पुरुषजी की वाणी" नाम से प्रकाशित हुआ है। इन पर बौद्धधर्म के तत्वों का पर्याप्त प्रभाव पडा था। कबीर, दादू तथा नाथपन्थ के उन सभी तत्वों का समावेश इनकी वाणी में दृष्टिगत होता है, जो कि बौद्धधर्म की प्रवाहित विचारधारा से प्रभावित थे। अवधूत,[1] निर्गुण,[2] नामस्मरण,[3] निराकार,[4] घट घट व्यापी हरि,[5] खसम-भावना,[6] सुरति,[7] मुरारी-राम-गोविन्द-हरि निरंजन राम ही,[8] अलख,[9] शून्य-मण्डल[10] आदि पारिभाषिक, सैद्धान्तिक, दार्शनिक तथा धार्मिक शब्द बौद्ध-प्रभाव के ज्वलन्त दृष्टान्त हैं।

प्रागदास

प्रागदास सन्त दादू दयाल के शिष्य थे। इनकी जन्म-तिथि के सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं है, किन्तु यह निश्चित है कि इनका देहान्त ई० सन् १६३१ में कार्तिक मास में हुआ था। फतहपुर में इनके स्मारक में एक शिलालेख आजतक विद्यमान है। इनकी गद्दी डीडवाणा में है। इनकी बानियों की गणना ४८००० कही जाती है।

अन्य दादू-शिष्य

सन्त दादू दयाल के शिष्यों में जगजीवन राम एक प्रसिद्ध सन्त थे। ये बडे विद्वान् थे। इनकी अनेक रचनाएँ प्राप्त हैं। इनकी गद्दी डिलही (धांसा) में है। दादू-शिष्य वाजिन्दजी के अरिल्ल बहुत प्रसिद्ध हैं। इनका एक संग्रह "पंचामृत" नाम से प्रकाशित हो चुका है। कहा जाता है कि इन्होंने १५ ग्रंथ लिखे थे। वषनाजी एक निपुण संगीतज्ञ थे। इनकी

---

१ सन्तकाव्य, पृष्ठ ३२२।
२ वही, पृष्ठ ३२३, ३२४।
३. वही, पृष्ठ ३२३, ३२६।
४. वही, पृष्ठ ३२४।
५. वही, पृष्ठ ३२४।
६ वही, पृष्ठ ३२४।
७. वही, पृष्ठ ३२४, ३२५, ३२७।
८ वही पृष्ठ ३२४ ३२६ ३२७
९ वही पृष्ठ ३२५
१० वही, पृष्ठ ३२७

वाणियों का संग्रह प्रकाशित हो चुका है। सन्त बालकराम छोटे सुन्दरदास के शिष्य थे और छीतरजी तथा खेमदासजी रज्जबजी के शिष्य थे। बनवारीदास और बडे सुन्दरदास भी प्रसिद्ध दादूपन्थी सन्त थे। इनके अतिरिक्त भीमसिंह, राघवदास, प्रह्लाददास, चत्रदास, निश्चलदास आदि अनेक दादूपन्थी सन्त हुए। इनमे राघवदास अपनी रचना भक्तमाल के लिए बहुत प्रसिद्ध है। ऐसे ही निश्चलदास का "विचार-सागर" ख्याति-प्राप्त है। वृत्ति-प्रभाकर, मुक्तिप्रकाश और कठोपनिषद् की संस्कृत व्याख्या भी निश्चलदास की रचनाएँ है। विचार-सागर का अनुवाद विभिन्न भाषाओं मे हो चुका है। इन सभी दादूपन्थी सन्तो की रचनाओं मे बुद्धवाणी का एक सुन्दर समन्वय दीख पड़ता है, जो इन्हें दादू-परम्परा से प्राप्त हुआ था।

निरंजनी सम्प्रदाय के सन्त

निरंजनी सम्प्रदाय एक प्रसिद्ध सन्त-परम्परा है। इसका मूलस्रोत यद्यपि नाथपन्थ से माना जाता है,[1] किन्तु नाथपन्थ भी बौद्धधर्म से ही प्रभावित था, वस्तुतः निरंजन का सम्बन्ध बुद्ध से है[2] और यह बौद्धधर्म से प्रभावित सन्तपरम्परा है, जिसके प्रवर्तक हरिदास निरंजनी माने जाते है। राघवदास ने इस सम्प्रदाय के १२ मुख्य प्रचारको का उल्लेख अपने ग्रंथ 'भक्तमाल' मे किया है। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—जगन्नाथदास, श्यामदास, कान्हड-दास, ध्यानदास, खेमदास, नाथ, जगजीवन, तुरसीदास, आनन्ददास, पूरणदास, मोहनदास और हरिदास। निरंजनी सम्प्रदाय के प्रवर्तक हरिदास तथा भक्तमाल मे वर्णित हरिदास दोनो भिन्न सन्त हैं। इन सन्तों के सम्बन्ध मे बहुत ही कम जानकारी है। ऐसा जान पडता है कि ये सभी सन्त प्राय समसामयिक थे। इनमे जगनाथदास थरोली नामक ग्राम के निवासी थे, जो बडे सदाचारी, संयमी, त्यागी एवं प्रसिद्ध साधक थे। श्यामदास दत्तवास ग्राम के रहनेवाले थे और थे उच्चकोटि के सन्त। कान्हडदास का स्थान चाडूस था। वे कुम्हार थे और बिना कुटी के विहार करते थे। आननदास लिबाली नामक स्थान के सन्त थे। वे परम विरक्त माने जाते थे। पूरणदास का स्थान भंमोर मे था। वे कबीर को अपना गुरु मानते थे। खेमदास का स्थान सिवहाड मे था। वे समता के प्रशंसक थे। ध्यानदास भारि के रहनेवाले थे और एक उच्चकोटि के ज्ञानी थे। इनकी रचनाएँ साखी, कवित्त और पदों के रूप मे प्राप्त है। मोहनदास देवपुर नामक ग्राम मे विहरते थे। इन्होने अपने अनुभव की बातो को बडे मार्मिक ढंग से व्यक्त की है। नाथ टोडा नामक ग्राम के निवासी थे जो सदा निरजन मे ही निरत रहते थे। तुरसीदास सेरपुर-निवासी थे। वे संयमी तथा योगी थे। जगजीवनदास तथा हरिदास निरंजनी-साधना के प्रसिद्ध संयमी, सदाचारी एवं त्यागी सन्त थे। सन्त हरिदास के सम्बन्ध मे दादूपन्थी सन्तो के परिचय के साथ वर्णन किया गया है।

इन सन्तो के अतिरिक्त निपट निरंजन स्वामी, भगवान्दास, सेवादास, मनोहरदास, निरंजनदास और रामप्रसाद भी निरंजनी सम्प्रदाय के प्रसिद्ध सन्त हुए है। इन सन्तो मे

---

१ उत्तरी भारत की ——— पृष्ठ ४६०।

२ कबीर पृष्ठ ५२

भगवानदास द्वारा लिखित ग्रंथो मे भर्तृहरिशतक का पद्यानुवाद, प्रेमपदार्थ, अमृतधारा, गीता-माहात्म्य आदि प्रमुख है। तुरसीदास की भी रचनाएँ अधिक संख्या मे प्राप्त हुई है। सेवादास की रचना उनकी बानी के नाम मे प्रसिद्ध है और उनके प्रशिष्य रूपादास द्वारा लिखित 'सेवादास परची" मे उनका जीवन-वृत्तान्त वर्णित है। मनोहरदास, खेमदास, कान्हड़दास, मोहनदास, आननदास और निरजनदास की भी रचनाएँ प्राप्त हो चुकी है। रामप्रसाद निरजनी का "योगवासिष्ठ" सन् १७४१ मे पूर्ण हुआ था।

निरंजनी सम्प्रदाय के सन्त शून्यमण्डल, नामस्मरण, अवतारवाद का निषेध, कर्मकाण्ड, मूर्तिपूजा और वर्ण-व्यवस्था का बहिष्कार आदि सिद्धान्तो के प्रतिपादक थे। तुरसीदास ने बौद्धधर्म के "जन्म नही कर्म प्रधान[1]" के सिद्धान्त को बड़े ही सुन्दर ढंग से इस प्रकार बतलाया है—

जनम नीच कहिये नही, जौ करनी उत्तम होय।
तुरसी नीच करम करै, नीच कहावै सोय[2]॥

सन्त हरिदास निरजनी ने अवतारवाद का खण्डन करते हुए कहा है—

दस औतार कहौ क्यूं भाया, हरि अवतार अनन्त करि आया।
जल थल जीव जिता अवतारा, जल ससि ज्यू देखो ततसारा[3]॥

सन्त हरिदास ने सदा निरंजन का ही भजन करने का उपदेश दिया है—

नांव निरजन निर्मला, भजतां होय सो होय।
हरीदास जन यूं कहै, भूलि पडै मति कोय[4]॥

अभी तक निरंजनी सम्प्रदाय के सन्तों का कोई क्रमबद्ध इतिहास नही प्राप्त हुआ है और न तो इस सम्प्रदाय के सन्तो की प्राप्त सभी रचनाओ का प्रकाशन ही हुआ है, अत. पूर्ण एवं विस्तृत रूप से इस सम्प्रदाय के सम्बन्ध मे प्रकाश डाल सकना सम्भव नहीं है। यदि सभी निरंजनी सन्तो की रचनाओ का प्रकाशन हो जाय, तो इस सम्प्रदाय पर पडे बौद्ध-प्रभाव के विवेचन मे सरलता हो जाय। फिर भी, इतना स्पष्ट है कि निरंजनी सम्प्रदाय सन्तपरम्परा का एक ऐसा अंग है, जिस पर सिद्धो, नाथो एवं कबीर, रैदास आदि सन्तो से प्राप्त बौद्ध-विचारो का प्रभाव प्रधान रूप से पड़ा है। इस प्रभाव को सन्त हरिदास ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है—

नाथ निरंजन देखि अति संगी सुखदाई।
गोरख गोपीचन्द सहज सिधि नवनिधि पाई॥
नाभैदास कबीर राम भजता रस पीया।
पीयै जब रैदास बड़े छकि लाहा लीया॥

---

१ सुत्तनिपात, वासेट्ठसुत्त ३५, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ १३९।
२ पृष्ठ ३६९ से उद्धृत। ३ श्री हरिपुरुषजी की वाणी पृष्ठ २८८।
४ पृष्ठ ३२७ से उद्धृत

ऊनभ बरन विचारि क जन हरिदास लागा तिहीं
गम त्रिगुण दुब्ध्या कर, त निरवल पहुंच नहीं[1] ।।

बावरी साहिबा और उनका पन्थ

बावरी-पन्थ एक प्रसिद्ध सन्त-परम्परा है। इस पन्थ के सन्तों में बीरू साहब, यारी साहब केशवदास, बूला साहब, जगजीवन साहब, गुलाल साहब, भीखा साहब, हरलाल साहब, गोविन्द साहब और पलटू साहब प्रमुख सन्त हुए हैं। इस पन्थ के प्रवर्तक सन्त रामानन्द थे, जो गाजीपुर जिले के पटना ग्राम के निवासी थे। रामानन्द के शिष्य दयानन्द हुए और दयानन्द के मायानन्द। मायानन्द ने गाजीपुर की ओर से जाकर दिल्ली के आस-पास तक अपने मत का प्रचार किया था। इन्हीं सन्त मायानन्द की शिष्या बावरी साहिबा थी, जिनके नाम पर इस सम्प्रदाय का नाम पड़ा। बावरी साहिबा के समय के सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ कह सकना सम्भव नहीं है, क्योंकि रामानन्द से लेकर बावरी साहिबा के पीछे तक इस सम्प्रदाय का कोई क्रमबद्ध इतिहास नहीं मिलता है। परशुराम चतुर्वेदी का अनुमान है कि बावरी साहिबा अकबर-कालीन सन्त है और वे ई० सन् १५४२ से १६०५ तक विद्यमान थी। उन्होंने यह भी कहा है कि वे दादू दयाल और हरिदास निरंजनी की समकालीन थी[2]। डॉ० त्रिगुणायत ने भी इसी अनुमान को स्वीकार किया है[3]। किन्तु "महात्माओं की वाणी" के सम्पादक का अनुमान है कि वे अकबर के शासन-काल के पूर्व की सन्त हैं[4]। भुडकुडा मठ की वंशावली के अनुसार विचार करने पर परशुराम चतुर्वेदी का अनुमान ही समीचीन जान पड़ता है। क्योंकि बूला साहब का जीवन-काल निश्चित है (ई० सन् १६३२--१७०९) और उनसे पूर्व तीसरे पीढ़ी मे बावरी साहिबा हुई थी. यारी साहब और बूला साहब समकालीन थे। यदि हम बीरू साहब और बावरी साहिबा के जीवन-काल को साठ-साठ वर्ष मान ले, तो बावरी साहिबा का समय अकबर के शासन-काल (ई० सन् १५५६--१६०५) मे ही ठहरता है।

बावरी साहिबा एक उच्चकोटि की सन्त और उच्चकुलीन महिला थी। वे कवयित्री भी थी। उनकी रचनाओं का प्रभाव उनकी शिष्य-परम्परा पर पर्याप्त पड़ा होगा, किन्तु सम्प्रति उनकी रचनाएँ एक-दो पदों को छोड़कर अनुपलब्ध है। इनके सम्बन्ध मे भी अभी शोध करने की आवश्यकता है। इनका एक चित्र बावरी-पन्थ के मठों मे पाया जाता है। भुडकुड़ा-मठ मे भी इनका एक चित्र सुरक्षित है, जो 'महात्माओं की वाणी' मे प्रकाशित किया गया है। उसे देखने से ही इस महिला सन्त के व्यक्तित्व एवं साधनापूर्ण जीवन का अनुमान किया जा सकता है। इनकी साधना एवं त्यागमय जीवन का ही यह परिणाम है कि इन्हीं

---

१ श्री हरिपुरुषजी की वाणी, पृष्ठ ३१४।
२. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ४७६।
३ हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि पृष्ठ ४२
४ महात्माओं की वाणी पृष्ठ क 'जीवन-चरित्र'

के नाम पर पंथ का नाम प्रचलित हुआ महन्थ बाबा द्वारा प्रकाशित महा
त्माओं की वाणी में बावरी साहिबा का यह एक पद मात्र दिया गया है—

अजपा जाप सकल घट बरतै, जो जानै सोइ पेखा।
गुरुगम जोति अगम घर बासा, जो पाया सोइ देखा॥
मैं बन्दी हौं परमतत्व की जग जानत कि भोरी।
कहत 'बावरी' सुनो हो बीरू सुरति कमल पर डोरी[1]॥

परशुराम चतुर्वेदी ने निम्नलिखित सवैया को भी बावरी साहिबा की रचना मानी है,[2] किन्तु यह बावरी साहिबा के सम्बन्ध में प्रकाश डालनेवाली रचना उनके किसी भक्त की है—

बावरी रावरी का कहिये मन ह्वै के पतंग भरे नित भाँवरी।
भाँवरी जानहिं संत सुजान जिन्हे हरि रूप हिये दरसावरी॥
साँवरी सूरत मोहनी मूरत दै कर ज्ञान अनन्त लखावरी।
खाँवरी सोह तेहारी प्रभू गति रावरी देखि भई मति बावरी[3]॥

बावरी-पन्थ में यह प्रसिद्ध है कि बावरी साहिबा माला, जप, तिलक छाप आदि की विरोधिनी थी। उनका कथन था—

जप माला छापा तिलक, सरै न एको काम।
काँचे घट राचै नहीं, साँचे राचै राम॥
माला फेरत युग गया, गया न मन का फेर।
कर का मनिका छोड़ दे, मन का मनिका फेर[4]॥

उक्त पदों में आए 'अजपा जाप', सुरति-योग, सद्गुरु, कर्मकाण्ड-निषेध आदि ऐसे तत्व हैं, जिनसे स्पष्ट है कि बावरी साहिबा को जो साधना तथा सिद्धान्त अपनी परम्परा से प्राप्त थे, वे सिद्धों एवं नाथों की साधना-पद्धति से प्रभावित तथा कबीर, रैदास आदि निर्गुण सन्तों द्वारा अनुमोदित थे। बावरी-पन्थ के अन्य सन्तों की वाणियों से यह बात पूर्ण रूप से प्रमाणित हो जाती है।

बीरू साहब

बीरू साहब बावरी साहिबा के प्रधान शिष्य थे, किन्तु इनके सम्बन्ध में भी विशेष कुछ पता नहीं चलता। ये बावरी साहिबा के निधन के पश्चात् गद्दी पर बैठे थे और एक सिद्ध-पुरुष तथा धर्मोपदेशक सन्त थे। इनके तीन पद "महात्माओं की वाणी" में संकलित हैं। इनमें पहले पद में बीरू साहब ने जीव को 'हंस' नाम से पुकारा है और कहा है कि जीवरूपी हंस संसार में मोती चुगने आया है, किन्तु यहाँ कर्मरूपी कीट चुग रहा है। सद्गुरु की दया

१ महात्माओं की वाणी, पृष्ठ १।
२. उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृष्ठ ४७७।
३ महात्माओं की वाणी जीवन-चरित्र पृष्ठ 'क'
४ वही पृष्ठ 'क'

से ही वह सुखरूपी सागर मे स्नान कर सकता है और सासारिक बन्धन से मुक्त हो सकता है[१]। दूसरे पद मे त्रिकुटी और नामस्मरण का महत्व बतलाया गया है[२]। तीसरे मे अनहद, खसम-भावना, सतगुरु आदि की साधना से सग्राम-जयी होने का महापन्थ दिखलाया गया है[३]। बीरू साहब का यह साधना-मार्ग स्पष्टत बौद्ध-प्रभाव से प्रभावित है।

यारी साहब

यारी साहब बीरू साहब के शिष्य थे। इनका मूल नाम यार मुहम्मद था। ये किसी शाही घराने से सम्बन्धित थे। इनके जीवन-काल के सम्बन्ध मे कोई निश्चित तिथि नही मिली है। 'यारी साहब की रत्नावली'' के अनुसार ये ईस्वी सन् १६६८ से १७२३ तक जीवित रहे,[४] किन्तु यह तिथि प्रामाणिक नही है। परशुराम चतुर्वेदी का मत है कि यारी साहब का देहान्त उक्त काल के पूर्वार्द्ध मे ही किसी समय हो गया होगा और ये मलूकदास तथा भक्त प्राणनाथ के समकालीन रहे होंगे,[५] किन्तु यह भी कथन साधार नही है। केवल हम इतना कह सकते हैं कि यारी साहब सत्रहवी शताब्दी के अन्तिम भाग मे जीवित थे और यह अनुमान बूला साहब की प्राप्त तिथि के अनुसार उचित जान पडता है।

यारी साहब एक प्रसिद्ध सन्त थे। अपने समय मे इनकी पर्याप्त ख्याति थी। इनकी रचनाओ से जान पडता है कि ये एक उच्चकोटि के साधक थे। इनकी समाधि आजकल भी दिल्ली मे विद्यमान है। इनके शिष्यों में से केशवदास, सूफीशाह, शेखनशाह और हस्त मुहम्मद ने दिल्ली की ओर इनके मत का प्रचार किया तथा बूला साहब ने उत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग मे स्थित गाजीपुर जिलान्तर्गत भुडकुडा मे मठ की स्थापना कर बावरी-पन्थ का उपदेश दिया। भुडकुडा मे इस पन्थ की सन्त-परम्परा आजतक अटूट चली आ रही है।

यारी साहब की रचनाओं का सग्रह "यारी साहब की रत्नावली" नाम से प्रकाशित है। भुडकुडा से प्रकाशित "महात्माओ की वाणी" में भी इनकी रचनाएँ संग्रहीत है। इन रचनाओ में बौद्धधर्म से प्रभावित सिद्धान्त एवं पारिभाषिक शब्द पर्याप्त मात्रा मे आए हुए है। सुषमना,[६] निर्गुण,[७] निराकार,[८] खसम-भावना,[९] निरजन,[१०] गुरु-माहात्म्य,[११] साधु-सत्संग,[१२] निर्वाण,[१३] अनहद,[१४] सुरति,[१५] सतगुरु,[१६] सहज-ध्यान,[१७] शून्य,[१८] घट घट व्यापी

---

१ महात्माओं की वाणी, पृष्ठ १। २ वही, पृष्ठ २।
३ महात्माओं की वाणी, पृष्ठ २। ४ यारी साहब की रत्नावली, जीवन-चरित्र।
५ उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृष्ठ ३७९।
६ यारी साहब की रत्नावली, पृष्ठ १। ७ वही, पृष्ठ १, २, ५।
८. वही, पृष्ठ १ ९ वही, पृष्ठ १, २।
१० वही, पृष्ठ १, ८, १६। ११. वही, पृष्ठ १।
१२ वही, पृष्ठ १। १३. वही, पृष्ठ २, ८, १२।
१४ वही, पृष्ठ २, ३, ४, ६, ८, १४, १६। १५. वही, पृष्ठ २, ३, ४, ५, ७।
१६ वही पृष्ठ २। १७ वही पृष्ठ ३
१८ वही पृष्ठ ३ ५ ६ ९ १२ १४

राम,[1] सत्तपुरुष,[2] सुरति-निरति,[3] आवागमन,[4] शून्य-सहज,[5] हठयोग की साधना,[6] सहज,[7] पद-निर्वाण,[8] नामस्मरण,[9] भूचरी-खेचरी मुद्रा,[10] ऊँच-नीच की भावना का निषेध,[11] शून्य-गुफा,[12] दशमद्वार[13] आदि तत्व बौद्धधर्म के प्रभाव के ही द्योतक है, जो यारी साहब को अपने पूर्ववर्ती सन्तो की परम्परासे प्राप्त हुए थे।

केशवदास

केशवदास यारी साहब के शिष्य थे। इन्होने दिल्ली मे रहकर अपने मत का प्रचार किया था। ये बनिया जाति के थे और एक सिद्ध सन्त थे। इनका जीवन-काल भी अनुमान के आधार पर ही ई० सन् १६९३ से १७६८ तक माना जाता है[14]। इनके सम्बन्ध मे भी विशेष जानकारी नहीं प्राप्त होती। इनकी रचनाओ का एक संग्रह "केशवदासजी की अमीघूँट" नाम से प्रकाशित हुई है। इसी प्रकार इससे कुछ अधिक रचनाएँ "महात्माओं की वाणी" मे भी इनकी संकलित है। इन्होने अपने गुरु यारी साहब के प्रति बडी श्रद्धा व्यक्त की है और उन्हे निर्गुण-राज्य का राजा माना है—

> निर्गुण राज समाज है, चँवर सिंहासन छत्र।
> तेहि चढि यारी गुरु दियो, केमोहि अजपा मंत्र[15]॥

यारी साहब के शिष्य केशवदास पर बौद्ध-प्रभाव पडना स्वाभाविक ही था। यही कारण है कि उनकी रचनाओं मे सतगुरु,[16] पद-निर्वाण,[17] शून्य,[18] निर्गुण,[19] अजपा मंत्र,[20] खसम-भावना,[21] सुरति,[22] सहज,[23] निरंजन,[24] सुरति-निरति,[25] सत्यपुरुष,[26] आवागमन,[27] गगन-

---

१. यारी साहब की रत्नावली, पृष्ठ ५, ७, ९।
२. वही, पृष्ठ ६।
३. वही, पृष्ट ७।
४ वही, पृष्ठ ७।
५. वही, पृष्ठ ७।
६. वही, पृष्ठ ८।
७. वही, पृष्ठ ८।
८. वही, पृष्ठ ८।
९. वही, पृष्ठ १०।
१० वही, पृष्ठ १२।
११. "यारी एक सोनो ता मे ऊँच कवन नीच है"। —वही, पृष्ठ १३।
१२. वही, पृष्ठ १६।
१३. "तारी लागी दसवें द्वार"। —वही, पृष्ठ ८।
१४. केशवदासजी की अमीघूँट, जीवन-चरित्र।
१५. अमीघूँट, पृष्ठ २।
१६. वही, पृष्ठ १, ७।
१७. वही, पृष्ठ १।
१८. वही, पृष्ठ १, ८।
१९. वही, पृष्ठ २, ४, ७।
२०. वही, पष्ठ २।
२१ वही, पृष्ठ ३, ४, ५।
२२. वही, पृष्ठ ३, ४, ९, ११।
२३. वही, पृष्ठ ३, ४, ६, ७।
२४. वही, पृष्ठ ४।
२५ वही पृष्ठ ४।
२६ वही पृष्ठ ५।
२७ वही पृष्ठ ५

मण्डल,[1] राम की घट घट व्यापकता,[2] अनहद,[3] कनक-कामिनी का त्याग,[4] समता[5] आदि बौद्ध-तत्व आये हुए है। सतगुरु के सहारे ही निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है, जैसे कि परम-गुरु तथागत की शरण जाने से ही सभी दु:खों से मुक्ति प्राप्त हो सकती है[6]—

सतगुरु परम निधान, ज्ञानगुरु तें मिलै।
पावैं पद निरबान, परम गति तब दिलै[7] ॥

बूला साहब

बूला साहब यारी साहब के प्रसिद्ध शिष्य थे। सन्त होने से पूर्व इनका नाम बुलाकी राम था। ये अपने ग्राम के एक जमींदार के यहाँ हलवाही का काम करते थे। बावरी-पन्थ में प्रचलित जनश्रुति के अनुसार ये एक समय अपने मालिक के साथ दिल्ली गये। वहाँ इनकी भेंट प्रसिद्ध सन्त यारी साहब से हो गयी। यारी साहब के साथ इन्होंने सत्संग की और उनसे दीक्षा ले ली। वहीं रहकर इन्होंने सन्तमत की साधना-पद्धति का अभ्यास किया। वहीं इनके मालिक से साथ छूट गया। ये कुछ दिनो तक दिल्ली में रहने के उपरान्त अपने ग्राम भुडकुडा (जिला गाजीपुर) की ओर लौट पडे। मार्ग मे इन्होंने बाराबंकी जिलान्तर्गत सरदहा नामक ग्रामनिवासी बालक जगजीवन को सन्त-मत मे दीक्षित किया। वहाँ से आकर, घर न जा जंगलो मे रहने लगे, किन्तु इनके मालिक को इनका पता लग गया। वह इन्हे घर बुला ले गया। ये पुनः हलवाही का काम करने लगे, किन्तु भक्ति-साधना मे सदा निरत रहते थे। लोगों ने इनके मालिक से शिकायत की। जब मालिक इनके कार्यो पर कडी नजर रखने लगा, तब वह स्वयं इनकी भक्ति-भावना तथा इनके अद्भुत चमत्कारों से प्रभावित होकर इनका शिष्य हो गया, जो पीछे गुलाल साहब के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

बूला साहब का जन्म ई० सन् १६३२ मे हुआ था और सन् १७०९ में इनका निधन हुआ था। ये बहुत पढ़े-लिखे न थे। इनकी रचनाओ को देखने से ज्ञात होता है कि ये एक पहुँचे हुए सन्त थे। इन्होंने अपने गुरु यारी साहब के प्रति बडी श्रद्धा व्यक्त की है और उन्हे अपना मार्ग-प्रवक्ता माना है—

यारीदास परमगुरु मेरे, बेड़ा दिहल लखाय।
जन बूला चरनन बलिहारी, आनँद मंगल गाय[8] ॥

बूला साहब ने अपने पूर्ववर्ती सन्तों मे से जयदेव, कबीर, नानक, धन्ना, सेन, नामदेव, रैदास, सधना, पीपा, कान्हादास, यारी साहब और केशवदास को जीवन्मुक्त माना है तथा उनका आदर्श ग्रहण किया है—

---

१. वही, पृष्ठ ७।
२. "प्रान पुरुष घट घट बसै, सब मँह सबद अभेव"। —वही, पृष्ठ ११।
३ महात्माओं की वाणी, पृष्ठ १४।
४. वही, पृष्ठ ४५३।
५. वही, पृष्ठ ३७५।
६. धम्मपद गाथा १८८-१९२।
७ अमीघूँट पृष्ठ १
८. पृष्ठ ५

ऐसे मन रहु हरि के पास सदा होय तोहि मुक्ति बास
जस घना सेन कबीरदास, नामदेव रदास दास।
सधना पीपा कान्हादास, यारीदास तहँ केसोदास[1]।
खेले ब्रह्मा औ महादेव,
खेले नारद औ जैदेव।
खेले नामा औ कबीर,
खेले नानक बडे धीर[2]॥

बूला साहब की रचनाओं का एक संग्रह 'शब्दसार' नाम से प्रकाशित है। 'महात्माओं की वाणी' मे भी इनकी रचनाये संकलित है। इन पर भी परम्परागत बौद्ध-प्रभाव स्पष्ट रूप से पडा है। इनकी रचना मे निराकार,[3] खसम-भावना,[4] सुष्मना,[5] सुरति,[6] अनहद,[7] नामस्मरण,[8] सतगुरु,[9] शून्य,[10] कर्म-काण्ड-जटा-जूट-योग-तप-वैराग्य का निषेध,[11] गगन-मण्डल,[12] सत्त,[13] निर्गुण,[14] दशमद्वार,[15] अवधूत,[16] साधु-सत्संग,[17] अजपा जाप,[18] आवा-गमन,[19] परमपद,[20] समता,[21] नाम-महिमा,[22] अनित्यता,[23] गोपाल-राम-हरि एक ही,[24] जातिभेद का बहिष्कार,[25] शरणागति,[26] मुद्राएँ,[27] हठयोग,[28] सुरति-निरति,[29] मोक्ष,[30] अलख-निरंजन,[31] अमरपद,[32] माला-तिलक का त्याग,[33] तीर्थ-व्रत व्यर्थ[34] आदि

---

१ शब्दसार, पृष्ठ २९। २. वही, पृष्ठ १८। ३ वही, पृष्ठ १।
४ वही, पृष्ठ १, ११। ५ वही, पृष्ठ १, १६।
६. वही, पृष्ठ १, ७, ८, ११, १३, १५, १६, १७, १९, २८, ३०, ३१।
७. वही, पृष्ठ १, ३, ४, ८, १०, ११, १२, १५, १६, १९, २२, २४, २८, ३०।
८. वही, पृष्ठ २, ६, ७।
९. वही, पृष्ठ २, ३, ४, १०, ११, १२, १४, १८, २४, २६।
१० वही, पृष्ठ ३, १८। ११ वही, पृष्ठ ३।
१२ वही, पृष्ठ ३, ४, ५, ६, १०, १६। १३. वही, पृष्ठ ३, १२, २४।
१४. वही, पृष्ठ ४, ९, १०, १२, १३, १४, १६, २५।
१५. वही, पृष्ठ १८। १६. वही, पृष्ठ ५, १६।
१७ वही, पृष्ठ ५। १८. वही, पृष्ठ ५।
१९. वही, पृष्ठ ६, ८, ९, १२, २२, २४, २७।
२०. वही, पृष्ठ ६, १७। २१. वही, पृष्ठ ६, ८।
२२ वही, पृष्ठ ६। २३. वही, पृष्ठ ६, ७।
२४. वही, पृष्ठ ७। २५. वही, पृष्ठ ८।
२६. वही, पृष्ठ ८। २७. वही, पृष्ठ १४।
२८. वही, पृष्ठ १६। २९. वही, पृष्ठ १७, २८, ३०, ३१।
३०. वही, पृष्ठ १९। ३१. वही, पृष्ठ २०।
३२. वही, पृष्ठ २४। ३३. वही, पृष्ठ २५।
३४ वही पृष्ठ २५

बौद्ध-साधना तथा सिद्धान्त आए हुए है अनित्यता का कितना सुन्दर चित्रण बूला साहब ने किया है, जो बौद्ध-अनित्य-भावना से स्पष्टत: प्रभावित है—

जीवन जनम सुधारन देह ।
देह छोडि बिदेह होना, अचल पद यहि लेह ।।
काको माता पिता काको, सुत बित देह ।
जीवतही का नात इनका, मुए काको केह ।।
देह धरिके राम कस्लहुँ, जगत आनि बडेह ।
पारब्रह्म को सुमिरन करिकै, जोतिहिं जोति मिलेह ।।
जानि के अनजान होइये, पूजिये ब्रह्म नेह ।
दास बूला बानि बोले, काल के मुख खेह[1] ।।

गुलाल साहब

गुलाल साहब बूला साहब के शिष्य थे। ये क्षत्रिय जाति के थे और गाजीपुर जिलान्तर्गत बँसहरि[2] इलाके के भुडकुडा ग्राम के रहनेवाले थे[3] । ये एक बडे जमींदार थे। इन्ही के यहाँ इनके गुरु बूला साहब पहले हलवाही का काम करते थे। इन्होंने बूला साहब की साधना एवं चमत्कारो से प्रभावित होकर उनका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया था। इनका जन्म ई० सन् १६९३ मे और निधन ई० सन् १७५९ मे माना जाता है[4] । ये ई० सन् १७०९ मे गद्दी पर बैठे थे। "गुलाल साहब की बानी" मे इनकी निधन तिथि सन् १७९३ मानी गयी है, वह समीचीन नही है। भुडकुडा की सन्त-परम्परा मे गुलाल साहब का शान्त होना १७५९ में ही माना जाता है। इनकी रचनाओं का संग्रह "गुलाल साहब की बानी" नाम से प्रकाशित हुआ है। "महात्माओ की वाणी" मे भी इनकी रचनाये संग्रहीत है। परशुराम चतुर्वेदी ने "ज्ञान-गुष्टि" और "रामसहस्र नाम" नामक इनके अन्य दो ग्रन्थो के नाम भी सुने है,[5] किन्तु अभी तक वे प्रकाश मे नहीं आए है।

गुलाल साहब एक उच्चकोटि के सन्त थे। इनकी वाणी मे वे सभी तत्व निहित हैं, जिनसे इनकी साधना एवं सिद्धि का भली प्रकार ज्ञान होता है। इन पर पूर्व के सन्तो का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। जिन सन्तो का स्मरण गुलाल साहब ने किया है, उनमे सगुण और निर्गुण दोनो ही है। उन सन्तों के नाम है—नारद, शुकदेव, नवनाथ, प्रह्लाद,

---

१. शब्दसार, पृष्ठ ६—७।

२. गगन मगन धुनि गाजै हो, देखि अधर अकास ।
जन गुलाल बँसहरिया हो, तहाँ करहु निवास ।।
—महात्माओ की वाणी, पृष्ठ ४१।

३. महात्माओं की वाणी, जीवन-चरित्र, पृष्ठ 'घ'।

४ वही पृष्ठ 'च'।

५. उत्तरी भारत की पष्ठ ४८३

ध्रुव, अम्बरीष, नामदेव, कबीर, नानक, पीपा, रैदास, मलूकदास, चतुर्भुजदास, तुलसीदास, यारी, बूला,[1] गोरख, दत्तात्रेय, रामानन्द, धन्ना, सेन, कृष्णदास, केशवदास,[2] मीराबाई और नरसी[3]। इससे प्रकट है कि इन पर सगुण-भक्ति का भी प्रभाव पड़ा था, फिर भी ये निर्गुण सन्त थे और इन्होंने अपने पन्थ के मूलमत का ही प्रचार किया था। बूला साहब के दूसरे शिष्य जगजीवन साहब ने सत्यनामी सम्प्रदाय का प्रचार किया था, किन्तु गुलाल साहब ने अपने पन्थ की मर्यादा न केवल स्थिर रखी, प्रत्युत उसे और भी दृढ़मूल किया। इनकी रचनाओं से ज्ञात होता है कि इन पर उस बौद्धधर्म का प्रभाव पड़ा था, जो सिद्धों, नाथों और सन्तों से होता हुआ बावरी-पन्थ को प्राप्त हुआ था। इनकी वाणी में निर्गुण,[4] शून्य,[5] आवागमन,[6] सतगुरु,[7] शील,[8] सन्तोष,[9] निर्वाण,[10] मथुरा-काशी का निषेध,[11] सुरति,[12] परमपद,[13] अनहद,[14] सहज,[15] सहज शून्य,[16] सुरति-निरति,[17] ग्रंथ-प्रमाण-निषेध,[18] सहज-समाधि,[19] अनित्यता,[20] देव-पूजा-तीर्थ-व्रत फोकट धर्म,[21] गगनगुफा,[22] शून्य-शिखर,[23] अवधूत,[24] साधु-सत्संग,[25] नारी-त्याग,[26] तीर्थ-व्रत व्यर्थ,[27] तिलक-छापा निरर्थक,[28] नामस्मरण,[29] जातिभेद का त्याग,[30] हठयोग,[31] निरंजन,[32] खसम,[33] क्षमा,[34] शरणागति,[35] मूर्ति-पूजा का निषेध,[36] जल-स्नान-पूजा व्यर्थ,[37] आवागमन,[38] कर्म-काण्ड का त्याग,[39] सत्तनाम,[40] गुरु-माहात्म्य,[41]

---

१. गुलाल साहब की बानी, पृष्ठ ९० ।
२. वही, पृष्ठ ९४ ।
३. वही, पृष्ठ १३३ ।
४. वही, पृष्ठ २ ।
५. वही, पृष्ठ २ ।
६. वही, पृष्ठ २ ।
७. वही, पृष्ठ २ ।
८. वही, पृष्ठ ४ ।
९. वही, पृष्ठ ४ ।
१०. वही, पृष्ठ ४, ४२ ।
११. वही, पृष्ठ ६ ।
१२. वही, पृष्ठ ७ ।
१३. वही, पृष्ठ ८ ।
१४ वही, पृष्ठ ८ ।
१५. वही, पृष्ठ ८ ।
१६. वही, पृष्ठ ८ ।
१७. वही, पृष्ठ १० ।
१८. वही, पृष्ठ १० ।
१९. वही, पृष्ठ ११ ।
२०. वही, पृष्ठ १२ ।
२१. वही, पृष्ठ १३ ।
२२. वही, पृष्ठ १४ ।
२३. वही, पृष्ठ १४ ।
२४. वही, पृष्ठ १७ ।
२५. वही, पृष्ठ १८ ।
२६. वही, पृष्ठ १८, १९ ।
२७. वही, पृष्ठ २१ ।
२८. वही, पृष्ठ २२ ।
२९. वही, पृष्ठ २३ ।
३० वही, पृष्ठ २३ ।
३१. वही, पृष्ठ ४७ ।
३२ वही, पृष्ठ २९ ।
३३. वही, पृष्ठ २९, ४७ ।
३४ वही, पृष्ठ ४९ ।
३५. वही, पृष्ठ ५२ ।
३६. वही, पृष्ठ ६४ ।
३७. वही, पृष्ठ ६६ ।
३८ वही पृष्ठ ८० ।
३९. वही. पृष्ठ ८७ ।
४० वही पृष्ठ ८७
४१ वही पृष्ठ १२१

ग्रन्थ-पाठ से ज्ञान नही,[1] महाशून्यता की समाधि[2] आदि बौद्धधर्म से प्रभावित सिद्धान्त तथा साधनावाची शब्द पर्याप्त मात्रा में आए हुए है। गुलाल साहब ने निर्वाण का वर्णन ठीक वैसा ही किया है, जैसा कि बौद्धधर्म मे निर्वाण का स्वरूप वर्णित है—

जोग जग्य जप तप नही, दुख सुख नहि सन्ताप।
घटत बढ़त नहि छीजई, तहवाँ पुन्न न पाप[3]॥

जाति-पाँति के विरोध मे गुलाल साहब ने कड़े शब्दो मे कहा है—

जन्म जाति बैठो बहु भाँती,
इहँ देखा उहँ जाति न पाँती[4]।

गुरु नानक की भाँति उन्होंने "गगन को थाल" बनाकर आरती उतारी है,[5] सिद्ध सरहपा और कबीर के समान "पढ़ि पढ़ि सबहिं ठगावल हो, आपनि गति खोइ[6]" कहकर वेद-ग्रन्थों के पाठ का निषेध किया है, रैदास-सदृश "काँहि पत्थल और पानी, जा पूजहिं अज्ञानी[7]" कहकर मूर्तिपूजा तथा स्नान-शुद्धि को निरर्थक बतलाया है और अन्त मे साधुओ की महिमा गाते हुए कहा है —

सोई दिन लेखे जा दिन सन्त मिलाप।
सन्त के चरन कमल की महिमा, मोरे बूते बरनि न जाहि॥
जल तरंग जल ही ते उपजे, फिर जल माहि समाइ।
हरि मे साध साध में हरि है, साध से अन्तर नाहि॥
ब्रह्मा बिस्नु महेस साध संग, पाछे लागे जाहि।
दास गुलाल साध की संगति, नीच परमपद पाहि[8]॥

गुलाल साहब ने अपने को "अवधूत"[9] और "अतीथ"[10] भी कहा है। "अवधूत" के सम्बन्ध मे पहले कहा जा चुका है कि यह धुतांगधारी योगियो की प्रवृत्ति का द्योतक है, जिसका अधिक प्रचार सिद्धों-नाथों द्वारा किया गया तथा नाथो का तो यह साम्प्रदायिक शब्द बन गया। "अतीथ" शब्द का अर्थ अनासक्त अर्थात् उदासीन है। आज भी उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलो मे "अथीथ" नामक एक गोसाईंयो की कुल-परम्परा विद्यमान है, सम्भवत: यह "अथीथ" शब्द उसी "अतीथ" का विकृत रूप है, उक्त दोनो ही शब्दो का मूलस्रोत बौद्धधर्म है।

---

१ गुलाल साहब की बानी, पृष्ठ १३०।
२ वही, पृष्ठ १४१।
३. वही, पृष्ठ १४२।
४. वही, पृष्ठ २३।
५. वही, पृष्ठ १२२।
६ वही, पृष्ठ १३०।
७ वही, पृष्ठ ११३।
८. वही, पृष्ठ १३९।
९. "कहै गुलाल अवधूत फकीरा"। —वही पृष्ठ १७
१० कह गुलाल अतीथ ज्ञान तिन पाइया' —वही पृष्ठ ७२

भीखा साहब

भीखा साहब गुलाल साहब के सर्वाधिक प्रसिद्ध शिष्य थ। इनका जन्म ई० सन् १७१३ मे आजमगढ जिलान्तर्गत परगना मुहम्मदाबाद के खानपुर बोहना नामक ग्राम मे हुआ था। ये ब्राह्मण जाति के थे। इनका प्रारम्भिक नाम भीखानन्द चौबे था[१]। इन्हे बचपन मे ही साधु-सत्सग के कारण वैराग्य उत्पन्न हो गया था। कहते है कि जब इनका विवाह होना निश्चित हो गया और जिस दिन तिलक होनेवाला था, उसी दिन ये गृह-त्याग कर काशी की ओर चल दिये, किन्तु काशी मे इनका मन नही लगा, वहाँ से ये गुलाल साहब के पास भुडकुडा चले गये और वही गुलाल साहब से सन्त-दीक्षा ले ली। भीखा साहब ने स्वयं अपने गृह-त्याग एवं सन्तमत मे प्रवेश का वर्णन किया है[२]। उससे स्पष्ट है कि इन्होने बारह वर्ष की अवस्था मे ही गृहत्याग कर दिया था[३]। सन् १७६० मे ये गुलाल साहब की गद्दी पर बैठे और सन् १७९१ मे भुड़कुडा मे ही इनका देहान्त हो गया। इनकी समाधि अब तक वहाँ विद्यमान है। इनके सम्बन्ध मे अनेक चमत्कारिक बातें प्रसिद्ध है। इनके दो प्रमुख शिष्य थे—गोविन्द साहब तथा चतुर्भुज साहब। गोविन्द साहब ने फैजाबाद जिला के अहि-रौली नामक ग्राम मे बावरी मठ की स्थापना की और चतुर्भुज साहब भुडकुड़ा मठ के उत्तरा-धिकारी बने। भीखा साहब की रचनाओ का एक संग्रह "भीखा साहब की बानी" नाम से प्रकाशित है। "महात्माओ की वाणी" मे भी इनकी रचनाएँ सकलित है। इनके अतिरिक्त रामकुंडलियाँ, रामसहस्रनाम, रामसबद, रामराग, रामकवित्त और भगवत बच्छावली के नाम परशुराम चतुर्वेदी ने दिए है[४]। 'राम-जहाज' नामक भी इनका एक बड़ा ग्रंथ है[५]।

भीखा साहब के सम्बन्ध मे प्रचलित चमत्कारिक कथाओ एवं इनकी रचनाओं से ज्ञात होता है कि ये एक सिद्ध पुरुष थे। बावरी-पन्थ के अन्य सन्तो की भाँति इन्होने भी अपने सम्प्रदाय के मूलमत का अनुगमन तथा प्रचार किया। इनकी वाणी के अध्ययन से यह भी स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि इन पर भी निर्गुण सन्तो की भाँति बौद्धधर्म का परम्परागत प्रभाव पड़ा था। इनकी वाणी मे सुरति-निरति,[६] शून्य,[७] गुरु-महिमा,[८] साधु-सत्संग,[९] मनुष्य-

---

१ "जनम अस्थान खानपुर बुहना, सेवत चरन भिखानन्द चौबे"।
—भीखा साहब की बानी, पृष्ठ ८।

२ भीखा साहब की बानी, पृष्ठ १४-१५।

३ "बीते बारह बरस उपजी रामनाम सो प्रीती। —वही, पृष्ठ १४।

४. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ४८६।

५. भीखा साहब की बानी, जीवन-चरित्र, पृष्ठ २।

६ भीखा साहब की बानी, पृष्ठ १। ७ वही, पृष्ठ २।

८ वही पृष्ठ ३ ९ वही पृष्ठ ३

जन्म की दुर्लभता,[१] सन्त-महिमा,[२] सत्त,[३] अनहद,[४] ब्रह्म की घट घट व्यापकता,[५] योग-यज्ञ-तप का निषेध,[६] जल-शुद्धि तथा मूर्तिपूजा व्यर्थ.[७] सतगुरु,[८] सहजसमाधि,[९] हठयोग,[१०] द्वारिका-काशी आदि सभी तीर्थ घट मे ही,[११] कनक-कामिनी का त्याग,[१२] निर्वाण,[१३] निरंजन,[१४] तीर्थ-व्रत-देव-पूजन आदि निरर्थक,[१५] नाम-महिमा,[१६] क्षमा-शील-सन्तोष,[१७] निर्गुण,[१८] अलख,[१९] निराकार,[२०] आवागमन,[२१] शून्य-मण्डल,[२२] शरणागत,[२३] नामस्मरण,[२४] परमपद,[२५] अवधूत,[२६] शून्य-शिखर,[२७] शून्य-समाधि[२८] आदि बौद्ध-सिद्धान्त तथा साधना से प्रभावित तत्व विद्यमान हैं। भीखा साहब ने नाम-माहात्म्य का वर्णन करते हुए कर्म-काण्ड की जो व्यर्थता बतायी है, वह सिद्धो की वाणी से मिलती है —

कोउ जजन जपन कोउ तीरथ रटन,
व्रत कोउ बन खंड कोउ दूध को अधार हैं।
कोउ धूम पानि तप काउ जल मैन लेवै,
कोउ मेघडम्बरो सो लिये सिर भार है।
कोउ बाँह को उठाय ठढ़ेसुरो कहाइ जाय,
कोउ तौ मवन कोउ नगन विचार है।
कोउ गुफा ही मे वास मन मोच्छही की आस,
सब भीखा सत्त सोई जाके नाम को अधार है[२९]।

---

१. "मानुष जनम बहुरि न पैहो"। —वही, पृष्ठ ३।
२. "प्रभु मे सन्त सन्त मे प्रभु हैं"। —वही, पृष्ठ ३।
३ वही, पृष्ठ ३।
४. वही, पृष्ठ ४।
५. वही, पृष्ठ ५।
६ "जप तप भजन सकल है बिरथा"। —वही, पृष्ठ ५, ८।
७. वही, पृष्ठ ५।
८. वही, पृष्ठ ६।
९. भीखा साहब की बानी, पृष्ठ ६।
१० वही, पृष्ठ ७।
११. वही, पृष्ठ ९।
१२ वही, पृष्ठ ९।
१३ वही, पृष्ठ १०, १३, ६९—"निर्गुन ब्रह्म रूप निर्वान"। ७१।
१४. वही, पृष्ठ १०।
१५. वही, पृष्ठ २०।
१६. वही, पृष्ठ २०।
१७. वही, पृष्ठ २१।
१८. वही, पृष्ठ २९।
१९. वही, पृष्ठ २९।
२० वही, पृष्ठ ३१।
२१. वही, पृष्ठ ३९।
२२ वही, पृष्ठ ४०।
२३. वही, पृष्ठ ४३, ७२।
२४ वही, पृष्ठ ४७–४८।
२५. वही, पृष्ठ ५७।
२६. वही, पृष्ठ ५९।
२७ वही पृष्ठ ६४।
२८ वही पृष्ठ ६७
२९ वही, पृष्ठ ४७

कोउ प्रानायाम जोग कोउ गन गाव लोग
कोउ मानसिक पूजा कर चित चलना।
कोउ गीता भागवत कोउ रामायन मन,
कोउ होम यज्ञ करे विधि बेद कहे जेतना।
कोउ ग्रहन मे दान कोउ गंगा अस्नान,
कोउ कासी ब्रह्मनाल दे फलही के हेतना।
भीखा ब्रह्म रूप निज आत्मा अनूप,
जो न खुल्यो दिव्य दृष्टि खाली कियो भ्रम एतना[१]।

हरलाल साहब

हरलाल साहब भीखा साहब के गुरुभाई थे। इन्होने अपने ग्राम चीट बडागॉव (जिला बलिया) मे अपना मठ स्थापित किया। ये एक गृहस्थ-सन्त थे। इनकी शिष्य-परम्परा और गद्दी आजतक चली आ रही है, किन्तु इनको रचनाएँ प्राप्त नही हुई है। इस गद्दी के सन्त देवकीनन्दन, अजबदास, गरीबदास, विरंच गोसाँई, जनकुवा, मकरन्ददास तथा जगनाथ की कुछ रचनाएँ मिली है। इनमे देवकीनन्दन ने शब्द, चतुरमासा, कुण्डलिया और कुछ फुटकर पदो की रचना की। अजबदास के ४१ पद "महात्माओ की वाणी" मे संकलित है तथा "गरीबदास की बानी" का प्रकाशन प्रयाग से हो चुका है। गरीबदास के सम्बन्ध मे हम आगे विचार करेंगे। इन सभी सन्तो पर बावरी-पन्थ मे परम्परागत बौद्ध-सिद्धान्त एवं साधना का प्रभाव निश्चित रूप मे पडा होगा।

गोविन्द साहब

भीखा साहब के प्रथम शिष्य गोविन्द साहब थे, किन्तु इनके सम्बन्ध मे कुछ पता नही चलता। ये ब्राह्मण जाति के थे। ये फैजाबाद जिले के अहिरौली नामक ग्राम के रहनेवाले थे। इनकी कोई रचना प्राप्त नही हुई है।

भीखा साहब के प्रधान केन्द्र भुडकुडा के उत्तराधिकारी शिष्य चतुर्भुज साहब थे। यह भी ब्राह्मण जाति के थे। इनका जन्म-स्थान वाराणसी जिले का कावरि नामक ग्राम था। ये भीखा साहब के देहान्त के बाद उनकी गद्दी पर सन् १७९२ मे बैठे थे और सन् १८१८ मे इनका देहावसान हुआ था। इनकी कुछ वाणियाँ मिली है, जिनसे जान पड़ता है कि ये एक उच्च-कोटि के सन्त थे। इनके पश्चात् भुडकुडा की गद्दी पर क्रमश. नारसिंह साहब, कुमार साहब, रामहित साहब और जयनारायण साहब बैठे। आजकल सन्त रामबरनदास साहब गद्दी पर विराजमान हैं। ये सन् १९३३ मे गद्दी पर बैठे थे।

---

१ भीखा साहब की बानी पष्ट ४८।

पलटू साहब

पलटू साहब गोविन्द साहब के शिष्य थे। इनका जन्म ई० सन् १७९२ में अवध के नवाब शुजाउद्दौला के समय फैजाबाद और आजमगढ़ जिलों की सरहद पर स्थित नग जलालपुर नामक ग्राम में हुआ था। ये कांदू बनिया जाति के थे। इन्होंने पहले गृहस्थ-वेश में ही रहकर सन्तमत का प्रचार किया, पीछे अयोध्या में विरक्त-वेश ग्रहण कर एक मठ की स्थापना की। इनके भाई पलटू प्रसाद ने इनका जीवन-चरित्र लिखा है। इनकी बड़ी कीर्ति फैली हुई थी और बहुत चढ़ावा आदि दान-उपदान भी प्राप्त होते थे। ये कबीर साहब की भाँति स्पष्टवक्ता तथा अन्य मतों के खण्डन करने में निपुण थे, इसलिए सभी अन्य मतावलम्बी इनसे चिढ़ते एवं ईर्ष्या रखते थे[1]। पलटू साहब ने स्वयं स्वीकार किया है कि एक बार अयोध्या के सभी वैरागियों ने मिलकर उन्हें 'अजाति' कर दिया था—

सब वैरागी बटुरि कै पलटुहि किया अजात।
पलटुहि किया अजात प्रभुता देखि न जाई।
बनिया काल्हिक भक्त प्रगट भा सब दुनियाई॥
हम सब बड़े महन्त ताहिको कोउ ना जानै।
बनिया करै पखंड ताहिको सब कोउ मानै॥
ऐसो ईर्षा जाति कोउ ना आवै ना खाइ।
बनिया ढोल बजाय के रसोई दिया लुटाइ॥
मालपुवा चारिउ बरन बाँधि लेत कुछ खात।
सब वैरागी बटुरि कै पलटुहि किया अजात[2]॥

इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि दुष्टों ने एक दिन पलटू साहब को जीवित जला डाला। इस घटना के सम्बन्ध में यह साखी प्रसिद्ध है—

अवधपुरी में जरि मुए, दुष्टन दिया जराइ।
जगन्नाथ की गोद में, पलटू सूते जाइ[3]॥

पलटू साहब का जहाँ शरीरान्त हुआ था, वहाँ आज भी इनकी समाधि बनी हुई है। यह स्थान अयोध्या से ६ किलोमीटर दूर स्थित है। उसे 'पलटू साहब का अखाड़ा' कहते हैं।

पलटू साहब की रचनाओं का एक संग्रह 'पलटू साहब की बानी' नाम से तीन भागों में प्रकाशित है। इनके 'आत्मकर्म' नामक एक अन्य ग्रन्थ की भी चर्चा परशुराम चतुर्वेदी ने की है[4]। इनकी रचनाओं से जान पड़ता है कि ये एक सच्चे धर्म-प्रचारक थे। इनसे वैरागियों, सन्यासियों, काजी मुसलमानों और पण्डितों से सदा धार्मिक तथा साम्प्रदायिक विद्वेष

---

१. पलटू साहब की बानी, भाग १, पृष्ठ २३।
२. वही, भाग १, पृष्ठ ९९।
३. वही जीवन-चरित्र पृष्ठ १।
४. उत्तरी भारत की , पृष्ठ ४९२

बना रहा। इनमे वादविवाद में विजय पा सकना टेढ़ी खीर थी। जहाँ उपदेश होता था, सारी जनता इनके साथ हो जाती थी[१]। इन्होंने परम्परागत बावरी-पन्थ की विशेषताओं को अपनाकर उस तत्व का उपदेश दिया, जो बौद्धधर्म के प्रभाव से अनुप्राणित तथा सिद्धों, नाथों एवं सन्तों द्वारा सेवित था। बावरी-पन्थ के अन्य सभी सन्तो की भाँति इनकी वाणी में भी सहजसमाधि,[२] सत्संग,[३] स्नान-शुद्धि-निषेध,[४] नामस्मरण,[५] गगन गुफा,[६] सत्तनाम,[७] नाम-माहात्म्य,[८] सकल घट अन्तर्यामी,[९] सन्त-महिमा,[१०] निर्गुण,[११] सुरति,[१२] अनित्यता,[१३] आवागमन,[१४] देवी-देवता की पूजा की व्यर्थता,[१५] खसम-भावना,[१६] अभयपद,[१७] दशमद्वार,[१८] परमपद,[१९] अनहद,[२०] अवधूत,[२१] तृष्णा-त्याग से मुक्ति,[२२] गुरु-भक्ति,[२३] जाति-वर्ण कुल का त्याग,[२४] समता,[२५] कर्म-स्वकता,[२६] शून्य,[२७] निर्वाण,[२८] मूर्तिपूजा व्यर्थ,[२९] तीर्थ-यात्रा से पुण्य नहीं,[३०] हिंसा त्याज्य,[३१] प्रतीत्य समुत्पाद,[३२] सुरति-निरति,[३३] ग्रन्थ-प्रमाण मान्य नही,[३४] माला फेरना निरर्थक,[३५] गगन महल,[३६] शून्य-समाधि,[३७] सन्तोष,[३८] ब्राह्मण-विरोध,[३९] पद-निर्वाण,[४०]

---

१. पलटू साहब की बानी, भाग १, पृष्ठ २३।
२. वही, पृष्ठ २। ३. वही, पृष्ठ ३।
४. 'मिलै कूप में मुक्ति गग को देवै डुबकी'।—वही, पृष्ठ ४।
५. वही, पृष्ठ ५। ६. वही, पृष्ठ ५।
७. वही, पृष्ठ ५। ८. वही, पृष्ठ ७।
९. वही, पृष्ठ ९। १०. वही, पृष्ठ ९, ११, १२, १३।
११. वही, पृष्ठ १३।
१२. वही, पृष्ठ १७।
१३. वही, पृष्ठ १८। १४. वही, पृष्ठ २०।
१५. वही, पृष्ठ २०। १६. वही, पृष्ठ २३।
१७. वही, पृष्ठ ३०। १८. वही, पृष्ठ ३४।
१९. वही, पृष्ठ ३८। २०. वही, पृष्ठ ३९।
२१. वही, पृष्ठ ४०। २२. वही, पृष्ठ ४८।
२३. वही, पृष्ठ ५०।
२४. वही, पृष्ठ ५२, ५९, ८४।
२५. वही, पृष्ठ ५६। २६. वही, पृष्ठ ६०।
२७. वही, पृष्ठ ६७, ७०। २८. वही, पृष्ठ ७०।
२९. वही, पृष्ठ ८२। ३०. वही, पृष्ठ ८१।
३१. वही, पृष्ठ ८४। ३२. वही, भाग २, पृष्ठ ५६।
३३. वही, भाग २, पृष्ठ ५७।
३४. वही, पृष्ठ ५९।
३५. वही, पृष्ठ ७६। ३६. वही, पृष्ठ ८०।
३७. वही, पृष्ठ ८०। ३८. वही, पृष्ठ ८३।
३९. वही भाग ३ पृष्ठ ७७ ४०. वही पृष्ठ ८०

जप-तप व्यर्थ,[१] सतगुरु,[२] नारी-त्याग[३] आदि बौद्ध-तत्व आए हुए हैं। पलटू साहब ने सन्त सधना, कबीर, रैदास आदि को बड़े प्रेम एवं श्रद्धा से स्मरण किया है। कर्म-स्वकता के सम्बन्ध में उनकी यह वाणी कैसी सुन्दर तथा बौद्ध-विचारों के अनुकूल है—

अपनी अपनी करनी अपने अपने साथ।
अपने अपने साथ करै सो आगे आवै॥
नेकी बदी है संग और ना संगी कोई।
देखौ बूझि विचारि संग ये जैहैं दोई॥

ऐसे ही ब्राह्मणों की निन्दा करते हुए उन्होंने भगवान् बुद्ध से भी आगे बढ़कर कह डाला है—

"पाप कै मोटरी बाम्हन भाई।
इन सब ही जग को बगदाई[४]॥"

भगवान् बुद्ध ने तो इतना ही कहा था कि ब्राह्मण अपने धर्म से विचलित हो गए हैं[५] और वर्ण-व्यवस्था का जो विधान उन्होंने बनाया है, उसका अधिकार उन्हें किसी ने दिया नहीं है, उन्होंने तो अनधिकार चेष्टा की है[६]। पलटू साहब ने जातिभेद के विरुद्ध तो कहा ही है, उन्होंने "जाति मा पुच्छ चरणं पुच्छ" (जाति मत पूछो आचरण पूछो)—इस बुद्ध-वाणी के अनुसार ही सदाचार को श्रेष्ठ माना है न कि जाति को—

हरि को भजे सो बड़ा है जाति न पूछै कोय।
जाति न पूछै कोय हरी को भक्ति पियारी।
जो कोइ करै सो बडा जाति हरि नाहि निहारी[७]॥
कोई जाति न पूछै हरि को भजे सो ऊँचा है।
कोटि कुलीन कोइ ब्रह्मा सम सो भी उनसे नीचा है[८]॥

भगवान् बुद्ध की भाँति पलटू का यह भी कथन है कि जिस प्रकार नदियाँ गंगा में मिल कर गंगा ही हो जाती है, उसी प्रकार व्यक्ति सन्त होकर ऊँच-नीच के भाव से ऊपर उठ जाता है और यही नहीं, वह तो नीच से ऊँच तथा सबका पूज्य भी हो जाता है—

पलटू नीच से ऊँच भा नीच कहै ना कोय।
नीच कहै ना कोय गये जब से सरनाई।
नारा बहिकै मिल्यौ गंग मे गंग कहाई[९]॥

---

१. पलटू साहब की बानी, भाग ३, पृष्ठ ८४।
२ वही, पृष्ठ ८४।
३. वही, पृष्ठ ९४।
४ वही, पृष्ठ ७७।
५. सुत्तनिपात, ब्राह्मणधम्मिकसुत्त, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ५७-६३।
६ मज्झिमनिकाय २. ५. ६।
७ पलटू साहब की बानी भाग १ पृष्ठ ८४
८ वही भाग २ पृष्ठ ५०
९ वही भाग १ पृष्ठ ५६

कार्य-कारण के सिद्धान्त (प्रतीत्य समुत्पाद) को पलटू ने अपने ढंग से प्रस्तुत किया है—

फल कारन ज्यों झाड फूलै,
फूल झरि जाय फल लीजिए जी।
पाछे सेती बेटा होवै,
पहिले मुसक्कत कीजिए जी।
पलटू पहिले जब ऊख बोवै,
पाछे सेती रस पीजिए जी[1]॥

पलटू साहब ने निर्वाण की स्थिति का भी बडा आकर्षक वर्णन किया है, जो बौद्धधर्म मे वर्णित निर्वाण के सदृश ही अनिर्वचनीय है। उसे तो ज्ञान-चक्षु द्वारा ही देखा जा सकता है—

हम वासी उस देस के पूछता क्या है,
चाँद ना सुरुज ना दिवस रजनी।
तीन की गम्मि नहिं नाहिं करता करै,
लोक ना बेद ना पवन पानी॥

सेस पहुँचै नही थकित भइ सारदा,
ज्ञान ना ध्यान ना ब्रह्म ज्ञानी।
पाप ना पुन्न ना सरग ना नरक है,
सुरति ना सबद ना तीन तानी॥

अखिल ना लोक है नाहि परजंत है,
हद्द अनहद्द ना उठै बानी।
दास पलटू कहै सुन्न भी नाहिं है,
सन्त की बात कोउ संत जानी[2]॥

पलटू साहब ने कबीर और नानक की भाँति मूर्ति-पूजा, मन्दिर, मसजिद आदि का बहिष्कार किया है और उन्ही को शब्दो मे दुहराते हुए कहा है कि मै तो केवल उस गुरु की पूजा करता हूँ जो आँखो से साक्षात दिखाई देता है और जो मौन या गूँगा नहीं, प्रत्युत बोलनेवाला है—

हिन्दू पूजै देवखरा, मुसलमान महजीद।
पलटू पूजै बोलता, जो खाय दीद बरदीद[3]॥

---

१. पलटू साहब की बानी, भाग २, पृष्ठ ५६।
२. वही, भाग २, पृष्ठ २४-२६।
३ वही भाग ३ पृष्ठ ९५

भगवान् बुद्ध ने कहा है कि कोई भी व्यक्ति अपने कर्म के अनुसार ही ब्राह्मण या नीच (=वृषल) होता है, जाति से कोई ब्राह्मण या नीच नही होता[१]। इसी प्रकार पलटू साहब ने भी कहा है कि भगवद्भक्ति से ही कोई ब्राह्मण "ब्राह्मण" कहा जाता है, यदि वह भक्ति-विहीन है तो वह चमार-सदृश है—

पलटू बाम्हन है बडा जो सुमिरै भगवान।
बिना भजन भगवान के बाम्हन ढेढ़ समान[२]॥

इस प्रकार विदित है कि बावरी-पन्थ के सभी सन्त बौद्धधर्म से प्रभावित थे। उनकी वाणी मे बुद्ध-शिक्षा, सिद्धान्त एवं साधना के स्वरूप विद्यमान है। उन्हे बुद्ध-वचन का यह प्रभाव सन्त-समाज मे प्रवाहमान सिद्धो-नाथो के वचनस्रोत से प्राप्त हुआ था और वह सतत परम्परा के रूप मे प्रवाहित ही रहा, यद्यपि उसे सन्त-समुदाय बौद्धधर्म के प्रभाव के रूप मे नही जानता था।

मलूकदास तथा उनका धर्म

मलूकदास के नाम से तीन सन्तो का वर्णन सन्त-साहित्य मे पाया जाता है। इनमे से एक कबीर साहब के शिष्य थे,[३] दूसरे "श्रीमलूकशतकम्" के रचयिता रामानन्दी सन्त थे[४] और तीसरे प्रसिद्ध निर्गुणी-सन्त मलूकदास थे। ये मलूक-पन्थ के प्रवर्तक थे। इनका जन्म ई० सन् १५७४ मे इलाहाबाद जिलान्तर्गत कडा नामक ग्राम मे हुआ था। ये जाति के खत्री थे। इनकी कुल-उपाधि कक्कड़ थी। इनके पिता का नाम सुन्दरदास था। ये चार भाई थे। अन्य तीन भाइयो के नाम हरिश्चन्द्र, शृंगारचन्द्र और रामचन्द्र थे। इनके बचपन का नाम मल्लू था। बचपन से ही ये साधु-स्वभाव के थे। ये विवाहित गृहस्थ थे। इन्होने कभी गेरुआ वस्त्र नही धारण किया। इनकी पत्नी का देहान्त प्रथम प्रसव के समय मे ही हो गया था, तब से इन्होने आध्यात्मिक जीवन व्यतीत किया। इनके प्रारम्भिक गुरु महात्मा देवनाथ थे, किन्तु दीक्षा-गुरु मुरारस्वामी थे। कुछ लोग द्रविड देशवासी विट्ठलदास को इनका गुरु मानते है, किन्तु विद्वानो ने इसे स्वीकार नहीं किया है[५]। इनके गुरु के सम्बन्ध मे अन्य भी मतभेद है। किन्तु वेणीमाधवदास-कृत "मूल गोसाईं चरित" से मुरारस्वामी का ही गुरु होना प्रमाणित है। मलूकदास के ९ ग्रंथ कहे जाते है। उनके नाम क्रमशः ज्ञानबोध, रतनखान, भक्तवच्छावली, भक्तविरुदावली, पुरुपविलास, दसरतनग्रन्थ, गुरुप्रताप, अलखबानी तथा रामावतारलीला है। इनके कुछ अन्य भी ग्रंथो के नाम गिनाए जाते है, किन्तु जबतक

---

१. सुत्तनिपात, वसलसुत्त गाथा २१, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ २७।
२. पलटू साहब की बानी, भाग ३, पृष्ठ ९५।
३. कबीर ग्रंथावली, भूमिका, पृष्ठ २।
४ उत्तरी भारत की पृष्ठ ५०५
५ वही पृष्ठ ५०७

इनका प्रकाशन न हो जाय, तबतक यह निश्चित कर सकना सम्भव नही है कि मलूकदास के कौन-से ग्रन्थ प्रामाणिक है और कौन अप्रामाणिक। इन ग्रंथो मे से "भक्तवच्छावली" सर्व-श्रेष्ठ समझा जाता है, किन्तु अभी तक इनकी रचनाओ का एकमात्र संग्रह "मलूकदासजी की बानी" नाम से प्रयाग से प्रकाशित है। उससे जान पड़ता है कि मलूकदास एक आदर्श सन्त थे। इन्होंने गृहस्थजीवन मे रहते हुए भी आध्यात्मिक-जगत् मे उन्नति प्राप्त की और ज्ञान का साक्षात्कार किया। इनकी अनुभूतियो का परिचय स्वयं इनकी वाणियाँ दे रही है। इन्होंने सन्तो की उस परम्परा का अनुसरण किया है, जिसे कि कबीर, प्रह्लाद, नामदेव, नानक और अवधूत गोरखनाथ ने ग्रहण किया था—

हमारा सतगुरु बिरले जानै।
सुई के नाके सुमेर चलावै, सो यह रूप बखानै॥
की तो जानै दास कबीरा की हरिनाकस पूता।
की तो नामदेव औ नानक की गोरख अवधूता[1]॥

तात्पर्य यह कि मलूकदास के लिए कबीर आदि सन्त ही आदर्श थे और इन्होने उन्ही के मार्ग पर चलने का प्रयत्न किया। यही कारण है कि मलूकदास की रचनाओ मे बौद्ध-प्रभाव स्पष्टत. दिखाई देता है। सतगुरु,[2] आवागमन,[3] शरणागत,[4] अनित्यता,[5] अवधूत,[6] गगन-मण्डल,[7] अनहद,[8] शून्य-महल,[9] तीर्थ-व्रत-निषेध,[10] निरंजन,[11] घट घट व्यापी राम,[12] ग्रन्थ-प्रामाण्य मान्य नही,[13] नाम-स्मरण,[14] परमपद,[15] मूर्ति-पूजा निरर्थक,[16] अहिंसा,[17] माला-छापा-मुद्रा-तिलक-पोथी ढोंगी के चिह्न,[18] मनुष्य-जीवन की दुर्लभता,[19] साधु-सत्संग,[20] कनक-कामिनी का त्याग,[21] क्षणिकवाद,[22] अशुभ-भावना,[23] अवतारवाद मान्य

---

१ मलूकदासजी की बानी, पृष्ठ १।
२ वही, पृष्ठ १, २, ५।
३. वही, पृष्ठ १, २३।
४. वही, पृष्ठ २।
५. वही, पृष्ठ ३।
६. वही, पृष्ठ ४, १५, १६।
७. वही, पृष्ठ ४।
८. वही, पृष्ठ ४।
९ वही, पृष्ठ ४, २३।
१०. वही, पृष्ठ ५।
११. वही, पृष्ठ ५।
१२. वही, पृष्ठ ५।
१३ वही, पृष्ठ ५।
१४. वही, पृष्ठ ५।
१५ वही, पृष्ठ ५।
१६. वही, पृष्ठ ८, १७।
१७. वही, पृष्ठ ८, ३७।
१८. वही, पृष्ठ ११।
१९. वही, पृष्ठ ११।
२०. वही. पृष्ठ ११।
२१. वही, पृष्ठ १२, १७, ३९।
२२ वही पृष्ठ १२
२३ वही पृष्ठ १४

नहीं,[१] मन ही परमेश्वर,[२] निर्गुण,[३] गुरु-महिमा,[४] सत्य,[५] सन्तोष,[६] जातिवाद निषेध,[७] जप-तप-आतमपीड़न-स्नान-शुद्धि आदि का त्याग,[८] शुभाशुभ का विचार त्याज्य,[९] सहज,[१०] गगन-गुफा,[११] निराकार,[१२] अन्तर्यामी,[१३] शरीर में ही सभी तीर्थ,[१४] दया[१५] आदि बौद्ध-प्रभाव के ही द्योतक हैं। मलूकदास ने सिद्ध सरहपा,[१६] गोरखनाथ,[१७] कबीर[१८] और नानक[१९] के स्वर में ही स्वर मिलाकर कहा है कि पण्डित वेदों को पढ़-पढ़कर भूले हुए हैं और ज्ञानी भी ज्ञान-चर्चा में ही मस्त रहते हैं, किन्तु उस निर्गुण परमात्मा को नहीं जानते जो घट-घट व्यापी है—

वेद पढ़े पढ़ि पंडित भूले, ज्ञानी कथि कथि ज्ञाना।
कह मलूक तेरी अद्भुत लीला, सो काहू नहिं जाना[२०]॥

जातिभेद के सम्बन्ध में भी मलूकदास ने उसी बात को दुहराया है, जिसे कि भगवान् बुद्ध से लेकर सिद्ध, नाथ, सन्त आदि सभी निर्गुणी-परम्परागत साधकों ने कहा है—

साध मंडली बैठि के मूढ़ जाति बखानी।
हम बड़ हम बड करि मुए, बूडे बिन पानी[२१]॥

नक्षत्रों तथा दिन के शुभाशुभ होने का विश्वास बौद्धधर्म में नहीं किया जाता। भगवान् बुद्ध ने कुशल-कार्यों के लिए सभी दिन और सभी नक्षत्रों को शुभ एवं शुद्ध कहा है,[२२] मलूकदास ने भी इसी प्रकार दिन के शुभाशुभ के अन्धविश्वास को त्यागने के लिए कहा है—

मन तें इतने भरम गँवावो।
चलत बिदेस बिप्र जनि पूछो, दिन का दोष न लावो[२३]॥

---

१ मलूकदासजी की बानी, पृष्ठ १५, १६। २. वही, पृष्ठ १७।
३ वही, पृष्ठ १७, २३। ४. वही, पृष्ठ १७, १८।
५ वही, पृष्ठ १८। ६. वही, पृष्ठ १८।
७ वही, पृष्ठ १८। ८. वही, पृष्ठ १९।
९. वही, पृष्ठ २०। १०. वही, पृष्ठ २१।
११ वही, पृष्ठ २१। १२. वही, पृष्ठ ३४।
१३ वही, पृष्ठ ३५। १४. वही, पृष्ठ ३६।
१५ वही, पृष्ठ ३६-३७। १६. दोहाकोश, पृष्ठ १८-१९।
१७. गोरखबानी, पृष्ठ ५५। १८. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०२।
१९. नानकवाणी, पृष्ठ २०२। २०. मलूकदासजी की बानी, पृष्ठ ५।
२१ वही, पृष्ठ १८।
२२ ~~मज्झिमनिकाय~~ १ १ ७ तथा जातक ४९।
२३ " की बानी पृष्ठ २०

मलूकदास बौद्धधर्म के समान ही मनुष्य-जीवन को दुर्लभ मानते थे,[१] वे अवतारवाद को स्वीकार नहीं करते थे,[२] मन को प्रधान ही नहीं, प्रत्युत परमेश्वर स्वरूप मानते थे,[३] तथा अहिंसा, दया, सदाचार आदि में निरत रहते हुए मूर्ति-पूजा, जल-स्नान-तीर्थ-व्रत इत्यादि के कर्म-काण्ड को त्याग कर वैराग्यमय जीवन बिताने का उपदेश करते थे। उन्होंने कबीर की ही भाँति उन्हीं शब्दों में मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा और कर्म-काण्ड का निषेध किया है—

साधो दुनिया बावरी, पत्थर पूजन जाय।
मलूक पूजै आतमा, कछु माँगै कछु खाय[४]॥

जेती देख आतमा तेते सालिगराम।
बोलनहारा पूजिए पत्थर से क्या काम॥

आतम राम न चीन्हही, पूजत फिरै पषान।
कैसेहु मुक्ति न होयगी, कोटिक सुनो पुरान॥

किरतिम देव न पूजिये, ठेस लगे फुटि जाय।
कहै मलूक सुभ आतमा, चारो जुग ठहराय॥

देवल पूजे कि देवता, की पूजे पाहाड़।
पूजन को जाँता भला, जो पीस खाय संसार॥

हम जानत तीरथ बड़े, तीरथ हरि की आस।
जिनके हिरदे हरि बसै, कोटि तिरथ तिन पास॥

संध्या तर्पन सब तजा, तीरथ कबहुँ न जाउँ।
हरि हीरा हिरदे बसै, ताही भीतर न्हाउँ॥

मक्का मदिना द्वारका, बद्री और केदार।
बिना दया सब झूठ है, कहै मलूक बिचार॥

राम राम घट में बसे, ढूँढत फिरै उजाड़।
कोइ कासी कोइ प्राग में, बहुत फिरै झख मार[५]॥

मलूकदास में बौद्धधर्म की वह करुणा-भावना विद्यमान थी, जिससे कि युक्त हो बोधिसत्व अपना उत्सर्ग कर देते हैं, बुद्ध अपने सभी सुखों को त्यागकर जनहित कार्यों में जुट जाते हैं तथा भिक्षु जीवन-पर्यन्त चारिका कर सद्धर्म का मार्ग दिखलाने का प्रयत्न करते हैं। तेलकटाहगाथा नामक पालि ग्रन्थ में कहा गया है—"जिस प्रकार मोह-जाल के विध्वंसक मुनीन्द्र (=भगवान् बुद्ध) ने अगण्य संसार-दुःख तथा गम्भीर (तीस) पारमिता रूपी समुद्र को

१. "मनुष जन्म दुर्लभ अहै, बडे पुन्ने पाया।" —मलूकदासजी की बानी, पृष्ठ ११।
२. "दस औतार कहा ते आए?" —वही, पृष्ठ १५।
३. "जोई मन सोई परमेसुर।" —वही, पृष्ठ १७।
४. वही पृष्ठ ३६ ५. वही पृष्ठ ३६

पार कर निर्वाण (अर्थात् धर्म) का उपदेश दिया, उसी प्रकार सदा दूसरों की भलाई के लिए उत्तम कर्म करो। उस भगवान् (बुद्ध) ने अपने प्राप्त किए हुए निर्वाण-सुख को त्याग कर सर्वदा महाभयानक लोकों में दूसरों की भलाई के लिए विचरण किया, ऐसे ही परहित को सामने रख, मैंने सर्वदा संसार की भलाई के लिए ही धर्म का आचरण किया है[1]।" इसी आदर्श के अनुरूप मलूकदास संसार के सभी दुःखी प्राणियों के दुःख-दारिद्र्य को स्वयं लेकर उन्हें सुख देने की कामना करते हैं—

> जे दुखिया संसार में, खोवो तिनका दुक्ख।
> दलिद्दर सौंप मलूक को, लोगन दीजै सुक्ख[2]।

मैत्री, करुणा और मुदिता की भावना से परिप्लावित हृदयवाले महान् सन्त मलूकदास का शरीरान्त ई० सन् १६८२ में १०८ वर्ष की आयु में अपने ग्राम में ही हुआ था। इनका शव गंगा में प्रवाहित किया गया था।

ऐसे सन्त मलूकदास की बहुत बड़ी ख्याति थी और इनके शिष्यों की संख्या भी बहुत अधिक थी। इनके देहान्त के उपरान्त इनकी गद्दी पर इनके भतीजे रामसनेही बैठे थे। उनके पश्चात् क्रमशः कृष्णसनेही, कान्हावाल, ठाकुरदास, [illegible], [illegible], राम-सेवक, शिवप्रसाद, गंगाप्रसाद तथा अयोध्याप्रसाद गद्दी के उत्तराधिकारी हुए। अयोध्याप्रसाद के पश्चात् गद्दी का क्रम भंग हो गया। इनके वंशज आजकल ठाकुर कहलाते हैं और घरबारी गृहस्थ होते हैं।

मलूकदास ने कहीं बाहर जाकर अपने मत का प्रचार नहीं किया, किन्तु इनकी प्रसिद्धि अधिक थी। औरंगजेब बादशाह भी इन्हें मानता था। इन्हीं से प्रभावित होकर उसने कड़ा से जजिया लेना बन्द कर दिया था। औरंगजेब का एक कर्मचारी भी इनका शिष्य हो गया था, जिसका नाम उन्होंने फतेह खाँ से बदलकर "मीरमाधव" रख दिया था। इनकी समाधि कड़ा में अबतक विद्यमान है और है मलूकदास की समाधि के पास। मलूकदास के कुछ और भी मुख्य शिष्य थे। जिनके नाम लालदास, [illegible], [illegible], मथुरादास, सुदामा आदि बतलाए जाते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि इन्हीं शिष्यों ने अपने पन्थ का प्रचार किया। इनके मतावलम्बी नेपाल, अफगानिस्तान आदि देशों में भी पाये थे। सम्प्रति इनकी गद्दियाँ कड़ा, जयपुर, गुजरात, मुलतान और पटना आदि में हैं[3]। कहते हैं कि प्रयाग में इनकी गद्दी के संस्थापक दयालदास थे, इस्फहाबाद में हृदयराम, लखनऊ में गोमतीदास, मुल्तान में मोहनदास, सीताकोयल में पूरनदास और काबुल में [illegible][4]। इनके सम्प्रदाय का एक मन्दिर वृन्दावन में केशीघाट पर भी है। इनके मन्दिर में माला, खड़ाऊं, ठाकुरजी इत्यादि

---

१ तेलकटाहगाथा, भिक्षु धर्मरक्षित द्वारा अनूदित, गाथा ९६-९७, पृष्ठ ३९-४०।

२. मलूकदासजी की बानी, पृष्ठ ३७।

३. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ७७।

४ वही पृष्ठ ८०

दशावियों के निमित्त ... किन्तु जैसा कि पहले कहा गया है कि स्वयं ... मति पूजा माला आदि के विरोधी थे, उनका सिद्धान्त था—

> माला जपों न कर जपों, जिभ्या कहौं न राम।
> सुमिरन मेरा हरि करै, मैं पाया बिसराम[1]॥
>
> सुमिरन ऐसा कीजिए, दूजा लखै न कोय।
> ओंठ न फरकत देखिये, प्रेम राखिये गोय[2]॥

इस प्रकार मलूकदास आध्यात्मिक पूजा आदि को ही महत्व देते थे। उनके मन्दिरों में रखी गयी पूजनीय वस्तुएँ उनके शिष्यों द्वारा अपने सतगुरु के प्रति प्रकट की जानेवाली श्रद्धा-भक्ति के साधन मात्र हैं।

बाबालाली सम्प्रदाय

बाबालाली सम्प्रदाय के प्रवर्तक बाबालाल मालवा के क्षत्रिय थे। इनका जन्म अकबर के शासनकाल में सम्भवतः ई० सन् १५९० में हुआ था[3]। इनकी माता का नाम कृष्णादेवी तथा पिता का नाम भोला राम था। छोटी उम्र की अवस्था में ही इन्हें वैराग्य उत्पन्न हो आया और ये घरबार त्यागकर सांसारिक दुःखों से मुक्ति-हेतु निकल पड़े। ये घूमते हुए पंजाब की ओर गये। वहाँ ... नामक स्थान में ऐरावती नदी के तट पर इनकी भेंट चेतनस्वामी से हुई। उन दिनों चेतनस्वामी के चमत्कारों की बड़ी प्रसिद्धि थी। कहते हैं कि उन्होंने अपने पैरों को फैलाकर चूल्हा की भाँति कर उसी पर भोजन बनाया। बाबालाल पर उनका बड़ा प्रभाव पड़ा। ये उन्हीं के पास दीक्षित हो गए। इन्होंने वहीं रहकर साधना की और सिद्धियाँ भी प्राप्त कर लीं। इन्होंने अपने गुरु की आज्ञा से अपने शिष्यों के साथ देश-भ्रमण कर पंजाब से बाहर दिल्ली, सूरत, कंधार, पेशावर, गजनी, काबुल आदि स्थानों में धर्म का प्रचार किया। शाहजादा दाराशिकोह ने इन्हें अपने यहाँ निमन्त्रित किया था और वह इनके प्रवचन से बहुत प्रभावित हुआ था। वह इनका भक्त हो गया था[4]। बाबालाल ने उसे जो उपदेश दिया था, वह नादिरुन्निकात में संग्रहीत है[5]। सरहिन्द के पास देहनपुर में इन्होंने एक मठ की स्थापना की थी, जो आजतक विद्यमान है। इनका शरीरान्त ई० सन् १६५५ में हुआ था, किन्तु सम्प्रदायवाले इनकी ३०० वर्षों की आयु बतलाते हैं,[6] जो श्रद्धाजनित भावना मात्र है।

---

१. मलूकदासजी की बानी, पृष्ठ ३६।
२. वही, पृष्ठ ३६।
३. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ५२४।
४. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ७६।
५ वही- पृष्ठ ७७।
६ उत्तरी भारत की ... पृष्ठ ५२४

बाबालाल की रचनाओं का अभी तक पूर्ण रूप से शोध नहीं किया जा सका है और न तो उनकी किसी रचना का प्रकाशन ही हुआ है। उनके नाम से कुछ दोहे, साखी आदि ही प्रचलित हैं[1]। उन्हें देखने से ज्ञात होता है कि बाबालाल के गुरु चेतनस्वामी कबीर, रैदास, दादू आदि सन्तों की वाणियों से प्रभावित थे और वही प्रभाव बाबालाल पर पड़ा था। जबतक इनकी रचनाएं नहीं प्राप्त हो जाती, तबतक इन पर पड़े बौद्ध-प्रभाव के सम्बन्ध मे कुछ कह सकना सम्भव नहीं है, फिर भी हम देखते है कि इन्होंने सुरति-योग, सहजभाव आदि कुछ बौद्धधर्म से प्रभावित शब्दों को ग्रहण किया है। ये मूर्तिपूजा, अवतारवाद और कर्मकाण्ड के विरोधी थे[2]। बौद्धधर्म के अनुसार तृष्णा सभी दुखों का मूल है। तृष्णा के ही कारण व्यक्ति बार-बार संसार मे जन्म लेता और मरता है तथा जब तृष्णा नष्ट हो जाती है तब संसार-चक्र सदा के लिए बन्द हो जाता है[3]। बाबालाली सम्प्रदाय मे भी तृष्णा (आशा) को ही सासारिक बन्धन का प्रधान कारण माना जाता है। सन्त बाबालाल ने तृष्णा को ही चौरासी योनियो के चक्र मे डालनेवाला कहा है—

> आशा विषय विकार की, बांध्या जग संसार।
> लख चौरासी फेर मे, भरमत बारम्बार॥
>
> जिन्हकी आशा कछु नही, आतम राखै शून्य।
> तिन्हकी नहिं कछु भरमणा, लागै पाप न पुण्य[4]॥

सम्प्रति बाबालाली सम्प्रदायवालो की कुछ संख्या ही भारत मे पायी जाती है। बडौदा के निकट "बाबालाल का शैल" नामक इनका मठ है। इनका प्रधान केन्द्र पंजाब का गुरुदासपुर जिलान्तर्गत ध्यानपुर ग्राम है। वहाँ प्रतिवर्ष बाबालाल की समाधि के पास विजयादशमी तथा वैशाख की दशमी को मेला लगता है। सीमा प्रान्त मे भी इस सम्प्रदाय के कुछ अनुयायी पाये जाते है[5]।

प्रणामी सम्प्रदाय

प्रणामी सम्प्रदाय के विभिन्न नाम है। इसे ही निजानन्द सम्प्रदाय, धामी सम्प्रदाय, श्रीकृष्णप्रणामी सम्प्रदाय, परनामी सम्प्रदाय, प्राणनाथी सम्प्रदाय आदि भी कहते है और इस सम्प्रदायवालो को "सुन्दरसाथ" अथवा "साथ" नाम से पुकारते है। प्रणामी शब्द "प्रणाम" से बना है। परमात्मा को अनन्य भाव से नमनेवाले होने से प्रणामी या परनामी और कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी को नमन नहीं करने से कृष्णप्रणामी कहते है[6]। इनका प्रमुख तीर्थ-स्थान पन्ना है, जिसे इस सम्प्रदायवाले पद्मावतीपुरी कहते है। वहाँ के निवासी सुन्दरसाथो को

---

१. सन्तकाव्य, पृष्ठ ३६६।
२. वही, पृष्ठ ५२७।
३ धम्मपद, गाथा ३४२, १५३, १५४।
४ सन्तकाव्य, पृष्ठ ३६६ मे उद्धृत।
५ उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ५२७।
६ पृष्ठ ४१०

धामी और पन्ना से बाहर के रहनेवालो को "प्रणामी" कहते हैं। निजानन्द और प्राणनाथ इस सम्प्रदाय के प्रमुख प्रवर्तक थे, अतः उनके नाम पर भी इसे जाना जाता है, तथापि "प्रणामी सम्प्रदाय" के नाम से ही यह अधिक प्रसिद्ध है।

इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री देवचन्द्र थे[1]। इनका जन्म ११ अक्तूबर, सन् १५८१ को अमरकोट में हुआ था[2]। ये कायस्थ जाति के थे[3]। इनके पिता का नाम मत्तू मेहता तथा माता का नाम कुंवरबाई था। १२ वर्ष की आयु में ये अपने पिता के साथ कच्छ गये। वहा हरिदास गुसाईं से इनकी भेंट हुई, जो राधावल्लभ सम्प्रदाय के साधु थे। उनसे प्रभावित होकर इन्होंने शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। ये पुनः भोजनगर में हरिदास गुसाईं से मिले और उनके पास रहकर अनेक धर्मों का अध्ययन किया। इनके माता-पिता को चार वर्षों के पश्चात् इनका पता लगा। वे इन्हें घर ले गए और विवाह कर दिया, किन्तु इनका मन घर-गृहस्थी में नहीं लगा। ये हरिदास की ही सेवा में चले आये। कहते हैं कि वहीं इन्हें ४० वर्ष की अवस्था में ज्ञान प्राप्त हुआ[4]। जामनगर में इन्होंने मन्दिर बनवाया और वहीं रहने लगे। उस समय तक इनकी पत्नी श्रीमती लीलबाई का देहान्त हो चुका था। इनकी दो सन्तान थी बिहारी नामक पुत्र और यमुना नामक पुत्री। ये भी इन्हीं के साथ रहते थे। इन्हें देवचन्द्र ने अपने शिष्य गागभाई को सौंप दिया, जिनका पालन-पोषण गागभाई ने ही किया। ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् देवचन्द्र ने अपना नाम निजानन्द रख लिया था। सम्प्रदायवाले मानते हैं कि ये श्रीकृष्ण भगवान् (अक्षरातीत) के आदेश से संसार में अवतरित हुए थे और साक्षात् श्यामा के अवतार थे। इन्होंने ही ब्रह्मप्रियाओं के सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया[5]। इसीलिए इस सम्प्रदायवाले अपने को कृष्ण की सखियाँ समझकर सखीभाव से बालकृष्ण की उपासना करते हैं।

देवचन्द्र का देहान्त ५ सितम्बर, १६५५ में जामनगर में ही हुआ था। जामनगर को प्रणामी सम्प्रदायवाले नौतनपुरी नाम से पुकारते हैं।

प्राणनाथ

देवचन्द्र के शिष्यों में प्राणनाथ प्रमुख थे। इन्होंने ही प्रणामी धर्मावलम्बियों को संगठित किया। इनका जन्म सन् १६१८ में जामनगर में हुआ था। ये क्षत्रिय जाति के थे। इनके बचपन का नाम मेहराज था। पिता का नाम केशवराय तथा माता का नाम धनबाई था। केशवराय जामनगर के राजा के मन्त्री थे। प्राणनाथ के तीन बड़े और एक छोटा भाई था। इनके बड़े भाई गोवर्धन देवचन्द्र के भक्त थे। उन्हीं के साथ ये भी प्रायः

---

१ सद्गुरुर्देवचन्द्राभिधो हि साक्षात्परेश्वरः।
प्रादुर्भूतो निजानन्दो यस्सद्धर्म्म प्रवर्तकः॥
—आनन्दसागर ७, ४२, पृष्ठ ३६४।

२. निजानन्द चरितामृत, पृष्ठ १११।

३ कायथ परम पुनीत वंश शुभ, परम धरम की मूरति।
—वृत्तान्त मुक्तावली (बीतक), पृष्ठ ४

४ महाराज छत्रसाल बुन्देला पृष्ठ १०२–१०४।

५ पृष्ठ ३६४

देवचन्द्र के दर्शना जाया करते थे। प्राणनाथ पर देवचन्द्र के व्यक्तित्व का ऐसा प्रभाव पड़ा कि ये उनके शिष्य हो गये। इसी बीच इनका विवाह भी फूलबाई नामक कन्या से हो गया। वह यात्रा मे सदा इनके साथ रहती थी। प्राणनाथ अपने पिता की मृत्यु के उपरान्त कुछ दिनो जामनगर मे प्रधानमन्त्री रहे किन्तु इन्होने मन्त्रित्व को त्यागकर धर्म-प्रचार करना ही उत्तम समझा। इन्होने बसरा बगदाद, अरब आदि की यात्रायें की। काठियावाड, सिन्ध, राजपूताना आदि का भी भ्रमण किया। इसी बीच सिन्ध के ठट्टा नामक नगर मे एक कबीरपन्थी सन्त चिन्तामणि से इनकी भेट हुई और वहाँ इन्होने सत्सग किया। देवचन्द्र के देहावसान के उपरान्त इन्हे सम्प्रदाय का नेतृत्व प्राप्त हुआ और तब से ये अपने को बुद्ध, ईसा तथा मेंहदी का अवतार मानने लगे[1]। सम्प्रदायवाले तो यह भी मानते है कि देवचन्द्र ने शक्तिरूप मे इनमे प्रवेश किया[2]। प्राणनाथ जब से गुरु की गद्दी पर बैठे, तब से पत्नी से अलग रहने लगे। इस वियोग मे पत्नी का देहान्त हो गया। तदुपरान्त उन्होने तेजकुँवरि नामक महिला से दूसरा विवाह किया, जो अन्ततक प्राणनाथ के साथ रही, किन्तु इन्हे कोई सन्तान न थी[3]।

उन दिनो मुगलों का अत्याचार और धार्मिक विरोध जोरो पर था। प्राणनाथ भी उससे अप्रभावित न रहे। वे गुजरात से निकल कर दक्षिण की ओर निकल पडे और वहाँ से घूमते-फिरते बुन्देलखण्ड पहुँचे। छत्रसाल के मन्त्री ने पन्ना आने का उन्हे निमन्त्रण दे रखा था। जिस समय प्राणनाथ पन्ना पहुँचे, उस समय छत्रसाल शिकार खेलने जंगल मे गये थे। मऊ सहानिया के जंगल मे ही प्राणनाथ की प्रथम भेट छत्रसाल से सन् १६८३ में हुई थी। तब से ये पन्ना मे रहने लगे और वही से उत्तर प्रदेश आदि के अनेक स्थानो की यात्राएँ की,

१. ईसा बुद्धस्वरूप जो निष्कलंक सु इमाम।
अक्षरबुद्धि कहो प्रगट असराफील सु नाम ॥
—वृत्तान्त मुक्तावली, पृष्ठ ४७२।

तद्दिनात्प्राणनाथो हि शुद्धः बुद्धो मुनीश्वर।
पर्य्यटन सर्वदेशेषु बोधयस्तांस्तस्यत ॥
—आनन्दसागर ७, ४८, पृष्ठ ३७०।

२. सच साधोर्वेपश्वर कला जातोनुकम्पया।
तारतम्य मन्त्रराज ददौ प्राणेश्वराय वै ॥
सर्वान्प्रियागणास्त्वन्तु बोधयेत्युपदिश्य स.।
विराम निजं तेजो कृत्वा प्राणपतेर्हृदि ॥
—आनन्दसागर ७, ४६–४७, पृष्ठ ३६८–३६९।

३. फूलावति जाया कही, धाम धनी घर माहि।
तेजकुँवरि दूजी सुगम, गही तुरत पति बाहि ॥
—वृत्तान्त मुक्तावली पृष्ठ १२८।

पृष्ठ २७८ २९५ म भी

किन्तु स्थायी रूप से निवासस्थान पन्ना ही बना रहा। प्राणनाथ ने छत्रसाल को हीरे की खान का भी ज्ञान कराया था। पन्ना आने से पूर्व सन् १६७८ में हरिद्वार में कुम्भ के अवसर पर प्राणनाथ ने अपने को "विजयाभिनन्द बुद्ध" घोषित किया था और तब से प्रणामी सम्प्रदाय मे "विजयाभिनन्दबुद्ध शाका" प्रचलित है[1]। यही वर्ष-गणना इस सम्प्रदाय मे व्यवहृत है। प्राणनाथ का देहान्त २९ जून, सन् १६९४ को पन्ना मे हुआ था। वहाँ सम्प्रति इनका एक विशाल मन्दिर है, जिसमे श्रीकृष्ण की मुरली, मुकुट और प्राणनाथ द्वारा लिखित हस्त-लिखित ग्रंथ रखे हुए है, जिन्हे इनके भक्त साक्षात् श्रीकृष्णस्वरूप मानकर पूजते है[2]। इनके भक्तो की संख्या गुजरात, बुन्देलखण्ड, मध्यभारत आदि मे है। नेपाल मे भी इस सम्प्रदाय वाले है, जो प्रतिवर्ष शरदपूर्णिमा को पन्ना के उत्सव मे सम्मिलित होने आते है।

प्राणनाथ की रचनाओं का संग्रह श्री कुलजमस्वरूप अथवा श्री तारतमसागर कहा जाता है। इसमें सोलह ग्रंथ संग्रहीत है, जो गुजराती, हिन्दी, सिन्धी, अरबी आदि भाषाओं के सम्मिश्रण स्वरूप है। इन ग्रन्थों का अभी तक प्रकाशन नहीं हुआ है। प्रणामी सम्प्रदाय वाले अपने धर्मग्रंथों को अन्य धर्मावलम्बियों से छिपा कर रखते है। कुलजमस्वरूप की एक प्रति लखनऊ की अमाउद्दौला पब्लिक लाइब्रेरी मे सुरक्षित है और सभी प्रणामी-मन्दिरों मे इसकी प्रतियाँ किसी-न-किसी अंश तक रखी गयी है। जामनगर तथा पन्ना मे कुलजम-स्वरूप अपने सम्पूर्ण अंगो सहित रखा गया है। कुलजमस्वरूप मे संग्रहीत ग्रंथो का रचनाकाल ई० सन् १६५७ से १६९१ तक माना जाता है[3]। इसमे संग्रहीत ग्रंथो की सूची इस प्रकार है[4]—

क्रम-संख्या	ग्रन्थ-नाम	भाषा
१	रास	गुजराती
२	प्रकाश	,,
३	प्रकाश	हिन्दुस्तानी
४	षटऋती	गुजराती
५	कलश	,,
६	कलश	हिन्दुस्तानी
७	सनंध	,,

---

१. आनन्दसागर, पृष्ठ ३८१।

२. स्वामिप्रणीतग्रन्थेषु श्रद्धा कृष्णस्वरूपवत्।
तेषां तु पूजनं सम्यगुपचारैः प्रकीर्तितम् ॥ ८, १६ ॥
अतस्सद्गुरु सेवा तु वाङ्मनः कायतः सदा।
ब्रह्मवस्तुधिया कार्या संसारान्मुक्तिमिच्छता ॥ ८, २५ ॥
—आनन्दसागर पृष्ठ ४५७ ४६२।

३ परिशिष्ट संख्या २ ४ वही परिशिष्ट २

क्रम-संख्या	ग्रन्थ-नाम	भाषा
८	कीरतन	हिन्दी-गुजराती-सिन्धी
९	खुलासा	हिन्दी-अरबी, मिश्रित हिन्दुस्तानी
१०	खिलवत	,, ,,
११	परकरमा	,, ,,
१२	सागर	,, ,,
१३	सिंगार	,, ,,
१४	सिन्धी	,, ,,
१५	मारफत सागर	,, ,,
१६	कयामतनामा (बड़ा, छोटा)	,, ,,

इस सूची को देखने से स्पष्ट है कि वास्तव मे कुलजमस्वरूप १४ ग्रंथो का ही संग्रह है। प्रकाश और कलश गुजराती तथा हिन्दुस्तानी दोनो मे एक ही के भाषान्तर है। पण्डित कृष्णदत्त शास्त्री ने कुलजमस्वरूप मे संग्रहीत प्राणनाथ की वाणी की संख्या १८००० कही है[1]। इन ग्रथो की भाषा और शैली मे किसी भी प्रकार की समानता नही है। प्राणनाथ ने अपने ग्रंथो की भाषा के सम्बन्ध मे भी प्रकाश डाला है। उनका कथन है—

सबको प्यारी अपनी, जो है कुल की भाष।
अब मैं कहूँ भाषा किनकी, यामे तो भाषा के भाष। १३ ॥
बोली जुदी सबन की, और सबका जुदा चलन।
सब उरझे नाम जुदे धर, पर मेरे तो केहेना सबन ॥ १४ ॥
बिना हिसावे बोलियाँ, मिने सकल जहान।
सबको सुगम जान के, कहूँगी हिन्दुस्तान ॥ १५ ॥
बड़ी भाषा ये ही भली, जो सब मे जाहेर।
करने पाक सबन को, अन्तर मांहे बाहेर[2] ॥ १६ ॥

प्राणनाथ अपने को बुद्ध-स्वरूप बतलाते हुए भी इन्द्रावती की वासना मानते थे और सखी-भाव से श्रीकृष्ण की भक्ति में लीन रहते थे, इसीलिए उन्होने उपदेशो मे अपने लिए स्त्रीलिंग का प्रयोग किया है।

प्रणामी धर्म समन्वयवादी था। प्राणनाथ हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सबको मिलाकर एक नए धर्म मे दीक्षित करना चाहते थे और यह चाहते थे कि सभी धर्मावलम्बी उनका अनुगमन करे तथा अपना पैगम्बर या ईश्वरीय अवतार माने। ऐसा जान पड़ता है कि इन्होने इन सभी धर्मो का अध्ययन किया था। जहाँ तक बौद्धधर्म के प्रभाव की बात है, वे स्वयं अपने को 'बुद्ध' मानते थे। इनके शिष्यो ने तो पद्मपुराण आदि का उद्धरण देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि पुराणों मे वर्णित 'बुद्ध' प्राणनाथ ही थे[3]। फिर भी इन्हे

---

१. निजानन्दचरितामृत, पृष्ठ २०५।
२ सनध प्रकरण १   ३ पृष्ठ ३७८ ३८०

बौद्धधर्म का यथार्थ ज्ञान नहीं था। इन्हें परम्परागत सन्त-वाणी तथा सत्संग से ही बौद्ध-तत्वों का कुछ ज्ञान हुआ था, जिसे अन्य सन्तों की भाँति इन्हें भी बौद्ध-प्रभाव का आभास नहीं था। इनकी रचना में निरंजन, सत, सद्गुरु, अलख, सतगुरु, शून्य, निराकार, खसम-भावना (कंत), जातिभेद-निषेध, समता, समदृष्टि, छुआछूत का वर्जन आदि बौद्धधर्म से प्रभावित विचार मिलते हैं[1]। शून्य के सम्बन्ध में प्राणनाथ ने कहा है—

सुन्य थे जैसे जल बतासा।
सो सुन्य माँझ समाई[2] ॥

प्राणनाथ का कन्त, पीउ (प्रियतम) निरंजन के परे रहनेवाला है और वह एक ही दृष्टि से सबको देखता है—

निरंजन के परे न्यारा, तहाँ है हमारा कंथ।
एकै नजरों देखही सबका खाविन्द पीऊ[3] ॥

छुआछूत तथा जातिभेद के विरोध में भी प्राणनाथ ने सबको फटकारा और कहा कि जातिभेद तथा छुआछूत व्यर्थ है, इनमें पड़ना धर्म के विरुद्ध आचरण करना है—

ब्राह्मण कहे हम उत्तम, मुसलमान कहे हम पाक।
दोऊ मुट्ठी एक ठौर की, एक राख दूजी खाक[4] ॥
एक भेष जो विप्र का, दूजा भेष चाडाल।
जाके छुएँ छूत लागे, ताके संग कौन हवाल ॥
चाडाल हिरदें निरमल, खेले संग भगवान्।
देखलावे नहिं काहू को, गोप राखे नाम[5] ॥

प्रणामी धर्म में हिंसा, मांस-भक्षण, चोरी, व्यभिचार, शराब, असत्य भाषण वर्जित है। एक प्रकार से हम कह सकते हैं कि बौद्धधर्म के पंचशील का पालन प्रणामीधर्म में भी धर्म-सम्मत है[6]। सभी जीवों पर दया और समता का उपदेश प्राणनाथ ने विशेष रूप से दिया था, जिसके पालन का प्रयत्न सभी प्रणामी और धामी करते हैं। प्राणनाथ ने समदृष्टि के सम्बन्ध में उपदेश देते हुए करुणा और मैत्री का महामन्त्र दिया है—

पर सबाब तो तिनको वही, छोटा बड़ा सब जीउ।
एकै नजरों देखही, सबका खाविन्द पीउ ॥

उन्होंने सन्त कबीर की भाँति हिन्दू और मुसलमान दोनों को ही फटकारा है और उनके अन्धविश्वासों को दूर करने का प्रयत्न किया। एक ओर उन्होंने मुसलमानों से कहा—

---

१. धर्मअभियान, पृष्ठ १८ से ४२ तक उद्धृत वाणी से गृहीत।
२. वहीं, पृष्ठ २०।
३. वहीं, पृष्ठ २०, ४२।
४. वहीं, पृष्ठ ४२।
५. कलश, प्रकरण १, पद-संख्या १५, १६।
६ आनन्दसागर पृष्ठ ४५३—५५।

पढ मल्ला आगे हुए सो तो सब खाय गमान
खाग, को बतावही, कहे हम पढे कुरान ॥ ४ ॥
राह बतावे दुनी कों, कहे ए नबी कहेल ।
लिख्या और कतेब मे, ए खेले और खेल[1] ॥ ६ ॥
कुफ्रन काढे आपनो, और देखे सब कुफ्रान ।
अपना औगुन न देखहिं, कहे हम मुसलमान[2] ॥

दूसरी ओर ब्राह्मणो को फटकारा और उन्हे राक्षसो से भी बुरा कहा—

दोष विप्रों ने कोई माँ देजो, ए कलयुग ना ए वाण ।
आगम भाख्यू मलेछे सर्वे, वेराट वाणी रे प्रमाण ॥ ३८ ॥
असुर थकी समखाथा रे भभीषणे, आगल श्री रघुनाथ ।
नम सूं कपट करूँ कुली माहे, ब्राह्मण थाऊँ आप[3] ॥ ३९ ॥

अर्थात् कलियुग के ब्राह्मण राक्षसो से भी अधिक बुरे है । विभीषण ने श्रीराम के प्रति भक्ति की शपथ लेते हुए कहा था कि यदि मै विश्वासघात करूँ तो कलियुग मे ब्राह्मण होकर जन्म लूँ ।

इतना होने पर भी प्राणनाथ ने हिन्दू-मुसलमान की एकता के लिए बहुत प्रयत्न किया । उन्होने दोनो को समझाया कि वेद और कुरान मे एक वात कही गयी है और दोनों के माननेवाले एक ही ईश्वर के भक्त है, किन्तु इस रहस्य को न जान सकने के कारण परस्पर संघर्ष कर रहे है—

जो कुछ कहा कतेब ने, सोई कहा वेद ।
दोऊ बन्दे एक साहब के, पर लडत बिना पाये भेद[4] ॥

कहते है कि प्राणनाथ ने पन्ना मे जीवित समाधि ली थी[5] । जिन प्रणामियो का देहान्त पन्ना मे होता है, उन्हें समाधि दी जाती है और जिनका अन्यत्र होता है उनका दाह-संस्कार होता है । प्राणनाथ के देहावसान के पश्चात् महाराज छत्रसाल के भ्रातृज पंचमसिह उनके अनन्य भक्त हुए । उन्होने भक्ति-सम्बन्धी सवैये लिखे है । ऐसे ही जीवनमस्ताना के पंचम दोहे भी प्रसिद्ध है[6] । पन्ना मे यह प्रथा अवतक प्रचलित है कि दशहरा के दिन खेजरा के मन्दिर मे पन्ना-नरेश को पन्ना के धामी महन्त पान का बीडा देकर तलवार बाँधते है और छत्रसाल के समय से प्रचलित प्रथा का पालन करते है[7] ।

---

१ सनंध, प्रकरण ३९ ।
२. सनंध, प्रकरण ८ ।　　　३. कीरतन, प्रकरण १२५ ।
४. धर्मअभियान, पृष्ठ ४१ में उद्धृत ।
५. महाराजा छत्रसाल बुन्देला, पृष्ठ १११ ।
६. हिन्दी काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ७६ ।
७ महाराजा छत्रसाल बुन्देला, पृष्ठ १११ ।

सत्तनामी सम्प्रदाय

पहले बतलाया जा चुका है कि 'सत्तनाम' पालिभाषा के शब्द 'सच्चनाम' का रूपान्तर है और सच्चनाम भगवान् बुद्ध का नाम है। अनीश्वरवादी भगवान् बुद्ध पीछे स्वयं घट-घट व्यापी 'बुद्ध' बन गये और उनकी सर्वव्यापकता का रूप सर्वव्यापी ईश्वर बन गया। साधक घटव्यापी बुद्ध को ही समझने का प्रयत्न करने लगे तथा बुद्ध भी सत्वो के उद्धार के लिए सदा जगत् मे विद्यमान रहने की स्थिति मे साधको द्वारा प्रस्तुत कर दिए गये। भगवान् बुद्ध का वही स्वरूप सिद्धो और नाथों से होकर सन्तो तक पहुँचा। कबीर, रैदास आदि सन्तो ने उस सत्तनाम का गुणगान किया तथा परवर्ती सन्तो ने उसी सत्तनाम को परमार्थ सत्य का भी द्योतक मान लिया। पीछे इसने साम्प्रदायिक रूप भी धारण किया। सत्तनामी सम्प्रदाय का परमसत्य 'सत्तनाम' ही है। 'सत्तनाम' की भक्ति-भावना की प्रधानता के कारण ही इस सम्प्रदाय का 'सत्तनामी' नाम पड़ा है। परशुराम चतुर्वेदी ने सत्तनाम की जो व्याख्या की है, वह ग्राह्य नही है[1]। उन्होंने 'सत्त' परमात्मा अथवा परमसत्य माना है और 'नामी' का अर्थ नामस्मरण मे किया है, किन्तु यह उपर्युक्त 'सच्चनाम' से ही परम्परागत प्रचलित शब्द है, जिसका मूलस्रोत बौद्धधर्म है।

सत्तनामी सम्प्रदाय पहले उत्तर भारत मे ही प्रचलित था। इसकी प्रसिद्धि भी सम्प्रदाय अथवा जाति के रूप मे औरंगजेब के समय हुए 'सत्तनामी विद्रोह' के समय ही हुई। जगजीवन साहब और उनके शिष्यों ने इसे पुन सुसंगठित किया और उन्ही द्वारा यह छत्तीसगढ मे भी पहुँचा। परशुराम चतुर्वेदी ने सत्तनामियो की तीन शाखाओ का उल्लेख किया है,[2] किन्तु सत्य यह है कि दिल्ली-क्षेत्र मे रहनेवाले सत्तनामियो के ही सम्प्रदायगत धर्म का प्रचार जगजीवन साहब ने किया, इसीलिए प्राय. उन्हे सत्तनामी सम्प्रदाय का प्रवर्तक भी कहा जाता है, किन्तु जगजीवन साहब के जन्म से पूर्व ही यह सम्प्रदाय शक्तिशाली हो चुका था, जिसने कि सन् १६७२ मे मुगल-शासक से युद्ध किया था,[3] जगजीवन साहब की जन्मतिथि सन् १६७० मानी जाती है, अत. जगजीवन साहब इसके प्रवर्तक न होकर इस सम्प्रदाय के उपदेशक मात्र कहे जा सकते है और उन्ही के किसी शिष्य की जगन्नाथपुरी की यात्रा के समय छत्तीसगढ प्रदेश के घासीदास ने 'सत्तनामी' दीक्षा ग्रहण कर छत्तीसगढ मे इस मत का प्रचार किया। घासीदास को सत्तनामी धर्म से परिचय सन् १८२० के आस-पास प्राप्त हुआ था[4]। अर्थात् जगजीवन साहब के देहावसान के लगभग ६० वर्षो के पश्चात् सत्तनामी धर्म छत्तीसगढ मे पहुँचा था। अत. हमारी धारणा है कि सत्तनामी सम्प्रदाय की तीन शाखाएँ नही थी, प्रत्युत सत्तनामी सम्प्रदाय एक ही सम्प्रदाय का परम्परागत रूप है। जैसा कि हमने पहले कहा है, यह स्मरण रखना चाहिए कि 'सत्तनाम' को प्रायः सभी निर्गुणी सन्त मानते थे।

---

१. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ५३८।
२. वही, पृष्ठ ५३८–५५६।
३ भारत का इतिहास भाग २ [illegible] पृष्ठ १९२
४ उत्तरी भारत की [illegible] पृष्ठ ५५३

सत्तनामियों की केवल इतनी ही अपनी विशेषता थी कि उन्होंने इसे साम्प्रदायिक रूप दे दिया। सन्त-साहित्य के दृष्टिकोण से जगजीवन साहब तथा उनकी शिष्य-परम्परा का ही महत्व है।

जगजीवन साहब

जगजीवन साहब का जन्म सन् १६७० मे बाराबंकी जिले के सरदहा नामक ग्राम मे हुआ था। ये क्षत्रिय जाति के थे। इन्होंने जीवनपर्यन्त गृहस्थाश्रम मे ही रहकर साधनाएँ की थीं। यद्यपि सन्त-साहित्य मे अनेक जगजीवन साहब हुए है, किन्तु सरदहा-निवासी जगजीवन साहब बावरी-पन्थ के सन्त बूला साहब के शिष्य थे। इन्होंने ही सत्तनामी सम्प्रदाय को संगठित किया था और 'सत्तनाम' के गुणगान के साथ सत्तनामी मत का प्रचार किया था। जनश्रुति है कि ये बचपन मे गाय-भैंस चराने के लिए जाया करते थे। एक दिन दो सन्तो ने इनके पास आकर चिलम चढाने के लिए आग माँगी। ये गाय-भैसो को छोड़ दौडे हुए घर गये और आग के साथ उन सन्तो को पीने के लिए दूध भी लेते आये। सन्तों ने प्रसन्नता-पूर्वक दूध पिया और इन्हे आशीर्वाद देकर अपना मार्ग पकड़ा। जगजीवन साहब घर के लोगो को बिना बतलाए ही दूध लाए थे, अत डरते हुए घर गये। जाने पर देखते है कि दूध के मटके ज्यों-के-त्यो भरे हुए है। अब इनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। ये दौडते हुए उन सन्तो के पास गए और शिष्य बना लेने का आग्रह किया। उन सन्तों मे एक बूला साहब थे जो दिल्ली से वापस भुडकुडा जा रहे थे और दूसरे थे गोविन्द साहब। बूला साहब ने जगजीवन साहब को उपदेश देकर दीक्षित किया तथा इनके दाएँ हाथ की कलाई पर एक काला धागा बाँध दिया। वैसे ही गोविन्द साहब ने एक सफेद धागा बाँध दिया। आज भी सत्तनामी इस प्रकार के धागे बाँधते है, जिन्हे वे आँदू कहते है[१]। इस सम्प्रदाय के महन्थ प्राय. दोनो हाथो तथा पैरो मे भी ऐसे धागे बाँध रखते है[२]।

जगजीवन साहब के सम्बन्ध मे अनेक चमत्कारिक बातें प्रसिद्ध है। कहते है कि अपनी लड़की के विवाह मे वरपक्ष की ओर मे मांस की माँग होने पर इन्होंने बैगन की तरकारी को ही ऐसे बनवाया था कि वह मास हो, तब से सत्तनामी सम्प्रदाय के लोग बैगन नही खाते है। ऐसे ही छत्तीसगढी सत्तनामी शराब, मास, मसूर, लालमिर्च, तम्बाकू, टमाटर और तरोई भी नही खाते है[३]। जगजीवन साहब सरदहा मे कुछ लोगो के ईर्ष्या करने के कारण उसे छोडकर वहाँ से ८ किलोमीटर दूर कोटवा ग्राम मे जाकर वस गये थे और अन्त समय तक वही रहे। सन् १७६१ ई० मे इनका देहावसान हुआ था। कोटवा ग्राम में इनकी समाधि अबतक विद्यमान है।

जगजीवन साहव द्वारा लिखित सात ग्रंथ बतलाए जाते है, जिनके नाम क्रमशः ज्ञानप्रकाश, महाप्रलय, शब्दसागर, अघविनाश, आगमपद्धति, प्रथमग्रन्थ और प्रेमग्रन्थ है। इनमे से

---

१. महात्माओं की वाणी, भूमिका, पृष्ठ 'घ'।
२ उत्तरी भारत की पृष्ठ ५४४
३ वही, पृष्ठ ५५३

केवल 'शब्दसागर' का प्रकाशन 'जगजीवन साहब की बानी' नाम से हुआ है। इनकी रचनाओ मे सतगुरु,[1] सत,[2] सुरति,[3] निर्वाण,[4] सत्तनाम,[5] नामस्मरण,[6] साधु-महिमा,[7] खसम-भावना,[8] निरति,[9] गगन-मन्दिर,[10] गगन-भवन,[11] निर्गुण,[12] अनहद,[13] कर्म-फल,[14] कर्म-काण्ड-निषेध[15] आदि बौद्धधर्म के तत्व मिलते है। सत्तनाम की महिमा जगजीवन साहब ने बडे ही प्रेम एव भक्ति से गायी है। इनका कथन है कि चुपचाप सत्तनाम का स्मरण करो, उसी मे ससार से मुक्ति प्राप्त हो सकेगी——

साधो सत्तनाम जपु प्यारा।
सत्तनाम अन्तर धुनि लागी, बास किहे संसारा।
ऐसे गुप्त चुप्प ह्वै सुमिरहु, बिरले लखै निहारा।।
तजहु विवाद कुसंगति सबकै, कठिन अहै यह धारा।
सत्तनाम कै बेडा बाधहु, उतरन का भवपारा।।
जन्म पदारथ पाइ जक्त महँ, आपुन मरहु सँभारा।
जगजीवन यह सत्तनाम है, पापी केतिक तारा'[16]।।

सत्तनाम के बिना मुक्ति सम्भव नही है, अतः उसका आश्रय ग्रहण करो——

सत्तनाम बिना कहौ, कैसे निस्तरिहौ।
कठिन अहै माया जार, जाको नहि वारपार,
कहौ काह करिहौ[17]।।

जो लोग सत्तनाम का भजन नही करेंगे, वे चाहे जो भी कर्म-काण्ड करे, भव-सागर से पार नही उतर सकेंगे——

कोउ बिन भजन तरिहै नाहिं।
करैं जाय अचार केतौ, प्रात नित्त अन्हाहिं।।
दान पुन्यं करि तपस्या, बर्त बहुत रहाहिं।
त्यागि बस्ती बैठि बन महँ, कंदमूरहि खाहि।।
पाठ करि पढि बहुत विद्या, रैन दिनहि बकाहिं।
गाय बहुत बजाय बाजा, मनहि समुझत नाहि।।

---

१. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ११८, भाग २, पृष्ठ १२१, १२२, १२६, १२७।
२ वही, भाग १, पृष्ठ ११८।
३. वही, भाग २, पृष्ठ १२३, १३४।
४ वही, पृष्ठ १२२, १२६, १३१, १३३।
५. वही, पृष्ठ १२३, १३१, १३४, १३५।
६. वही, पृष्ठ १२२, १२८, १२१।
७. वही, पृष्ठ १२२, १३१।
८ वही, पृष्ठ १२३।
९. वही, पृष्ठ १२३।
१० वही, पृष्ठ १२३, १३०।
११. वही, पृष्ठ १२५।
१२. वही, पृष्ठ १२३, १३१।
१३. वही, पृष्ठ १३१।
१४. वही, पृष्ठ १३३।
१५. वही, पृष्ठ १३२।
१६ ——— पृष्ठ ४३१ से उद्धृत।
१७ सन्तबानी संग्रह, भाग २ पृष्ठ १३४।

करहिं स्वामा बन्द कष्टित मौठ की गति आहि
साधि पवन चढाय गगनहि, कमल उलटै नाहि ॥
साध नहिं केहु कीन्ह ऐसे, सीखि बहुत कहाहि ।
प्रीति रस मन नाहि उपजत, परे ते भव माहि ॥
जस संजोग बिजोग तैसे, तत अच्छर दुइ आहि ।
रटत अन्तर भेट गुरु ते, मत्र अजपा माहि ॥
कहाँ प्रगट पुकारि जेहि के, प्रीति अन्तर आहि ।
जगजीवनदास रीति अस, तब चरन महँ मिलि जाहि[1] ॥

सत्तनाम का भजन तो करे, किन्तु उसका भेद किसी से प्रगट करना उचित नही है, क्योंकि प्रगट करने से उसका सुख और प्राप्त ज्ञान नष्ट हो जाते है—

सत्तनाम भजि गुप्तहि रहे, भेद न आपन परगट कहै ।
परगट कहै सुखित नहिं होई, सतमत ज्ञान जात सब खोई[2] ॥

इसलिए आध्यात्म मे ही स्मरण करना चाहिए और संसार मे रहते हुए भी संसार मे आसक्त नही होना चाहिए—

साधो, अन्तर सुमिरत रहिए ।
सत्तनाम धुनि लाये रहिए, भेद न काहू कहिये ।
रहिये जगत जगत से न्यारे, दृढ़ ह्वै सूरति गहिये[3] ॥

जगजीवन साहब की वाणी मे अहिसा, संयम, परोपकार, सत्यवचन आदि बौद्धधर्म के सदाचार की प्रमुख बातें मिलती है । इन सब बातो से स्पष्ट है कि सत्तनाम के भक्त जगजीवन साहब पर बौद्धधर्म का परम्परागत प्रभाव पूर्ववर्ती सन्तो की ही भाँति पडा था और सत्तनामी सम्प्रदाय बौद्धधर्म के इन तत्वो से प्रभावित है ।

शिष्य-परम्परा

जगजीवन साहब के शिष्यो की संख्या बड़ी थी । उनमे दूलनदास, देवीदास, गुसाईंदास और खेमदास प्रमुख थे । इन्हे चार पावा नाम से जाना जाता है । इन चारो सन्तो की रचनाएँ मिलती है, किन्तु अबतक केवल दूलनदास की ही कुछ रचनाएँ प्रकाशित है ।

दूलनदास का जन्म लखनऊ जिलान्तर्गत समेसी ग्राम मे सन् १६६० मे हुआ था । ये सोमवंशी क्षत्रिय थे । ये एक जमीदार की सन्तान थे और अन्त समय तक स्वयं भी गृहस्थाश्रम मे ही रहकर जमीदारी को भी सम्हालते रहे । इन्होने जगजीवन साहब से सरदहा तथा कोटवा मे रहकर सत्संग किया था । अन्तिम दिनो में ये रायबरेली जिले के धर्मे नामक ग्राम मे चले गए थे । वही ११८ वर्ष की अवस्था मे सन् १७७८ मे इनका देहावसान हुआ था

---

१. सन्तबानी संग्रह, भाग २, पृष्ठ १३२ ।
२ वही, पृष्ठ १५५ ।
३ जगजीवन साहब की बानी भाग २ पृष्ठ ११८

भ्रम-विनाश, शब्दावली, दोहावली, मंगलगीत आदि इनकी रचनाएं है। इनकी वाणियो का एक लघु सग्रह प्रयाग से प्रकाशित है। इनकी रचनाओ से ऐसा ज्ञात होता है कि ये निर्गुणी सन्त होते हुए भी सगुणोपासना से प्रभावित थे, क्योकि "करु ध्यान दसरथ नद का",[१] "करु ध्यान स्यामा स्याम का"[२] आदि सगुण-भक्ति के तत्व इनकी रचनाओ मे मिलते है, फिर भी ये सत्तनाम के प्रचारक थे और इनकी वाणी मे भी बौद्धधर्म तथा निर्गुणी सन्तो के वे सभी तत्व पाये जाते है, जो इनसे पूर्व के सन्तो में थे। इनकी वाणी मे सुरति,[३] नामस्मरण,[४] परमपद,[५] निर्वाण,[६] शून्य,[७] सतगुरु,[८] सन्त-महिमा,[९] दया,[१०] अनहद,[११] सत्तनाम,[१२] कर्म-फल,[१३] सत्त,[१४] आवागमन,[१५] खसम-भावना,[१६] कर्म-काण्ड का निषेध,[१७] राम की घट-घट व्यापकता,[१८] गगन-मण्डल,[१९] गुरु-माहात्म्य[२०] आदि बौद्ध-प्रभाव द्योतक तत्व आये हुए है। दूलनदास ने अपने पूर्व के सन्त कबीर, नानक, नामदेव, मीरा, जगजीवन आदि को बडी श्रद्धा के साथ स्मरण किया है और उन्हे अपना आदर्श भी माना है[२१]। "प्रानी जपि ले तू सतनाम"[२२] का उपदेश देते हुए दूलनदास ने 'सत्तनाम' का गुणगान किया है और उसे ही मुक्ति का श्रेष्ठ साधन कहा है। साथ ही "है सतनाम दुहाई"[२३] कहते हुए उसे छिपाये रखने का भी आदेश दिया है—

> दूलन यह मत गुप्त है, प्रगट न करौ बखान।
> ऐसे राखु छिपाइ मन, जस विधवा औधान[२४]॥

जगजीवन साहब के दूसरे शिष्य देवीदास बाराबंकी जिले के लक्ष्मण ग्राम के रहनेवाले थे। ये क्षत्रिय थे। इनका जन्म सन् १६७८ मे हुआ था। इन्होने १८ वर्ष की अवस्था

---

१. जगजीवन साहब की बानी, भाग २, पृष्ठ १०१।
२. वही, पृष्ठ १५६।
३. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ १३४।
४ वही, पृष्ठ १३४।
५. वही, पृष्ठ १३४।
६. वही, पृष्ठ १३४।
७. वही, पृष्ठ १३६।
८. वही, पृष्ठ १३७।
९. वही, पृष्ठ १३९।
१०. वही पृष्ठ १३९।
११. सन्तबानी संग्रह, भाग २, पृष्ठ १४५।
१२ वही, पृष्ठ १४७।
१३. वही, पृष्ठ १४७।
१४. वही, पृष्ठ १४८।
१५. वही, पृष्ठ १४९।
१६. वही, पृष्ठ १५२, १५४।
१७. वही, पृष्ठ १५५, १५६।
१८. वही, पृष्ठ १५६।
१९. सन्तकाव्य, पृष्ठ ४४२।
२०. सन्तकाव्य, पृष्ठ ४४३।
२१. सन्तवाणी संग्रह, भाग २, पृष्ठ १४६; भाग १, पृष्ठ १३६ तथा सन्तकाव्य, पृष्ठ ४४२।
२२ सन्तबानी संग्रह भाग २ पष्ठ १४९।
२३ वही पृष्ठ १५५
२४ वही पष्ठ १४६

म दीक्षा ली थी य दीघजीवी थ इनका देहान्त सन १८१३ म १३५ वष की अवस्था म हुआ था। इनके नौ ग्रथ—सुखमनाथ, ..., गुरुचरन, विनोद मंगल, भ्रमरगीत ज्ञानसेवा, नारदज्ञान, भक्तिमगल और वैराग्यखान प्रसिद्ध है, किन्तु अभीतक इनका प्रकाशन नही हुआ है।

गोसाईदास भी बाराबंकी जिले के ही रहनेवाले थे। इनका जन्म सन् १६७० में एक सरयूपारीण ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके पिता का देहान्त बचपन मे ही हो गया था, अत ये अपनी माता के साथ सरइयाँ नामक ग्राम मे चले गये थे और वही इनकी शिक्षा हुई। जगजीवन साहब के सत्संग से प्रभावित होकर ये उनके शिष्य हो गये थे। इनका देहान्त सन् १७७६ मे वही हुआ था। इनके लिखे हुए तीन ग्रंथ प्रसिद्ध हैं, जिनके नाम क्रमश शब्दावली, दोहावली और ककहरा है।

खेमदास बाराबकी जिले के मथनापुर ग्राम के रहनेवाले थे। इनकी जन्मतिथि ज्ञात नही है। इनका देहान्त सन् .७७३ मे हुआ था। इन्होंने अपना अधिकाश समय हरिसकरी नामक ग्राम मे व्यतीत किया था। इनकी रचनाओं में—काशीखण्ड, तत्वसार, दोहावली और शब्दावली प्रसिद्ध है।

इन चारो सन्तों की विचारधाराएं समान थी। ये सगुणभक्ति से प्रभावित थे और यही कारण है कि सत्तनामी सम्प्रदाय मे दोनो प्रकार की साधनाएँ पायी जाती है। इन सन्तो के पश्चात् इनकी शिष्य-परम्परा मे क्रमश सिद्धादास और पहलवानदास के नाम प्रसिद्ध है। ये दोनों ही ग्रन्थकार तथा उपदेशक थे। सिद्धादास का देहान्त सन् १७८८ मे हुआ था और पहलवानदास का सन् १८४३ मे १२४ वर्ष की आयु मे।

घासीदास

घासीदास मध्यप्रदेश के रायपुर जिले के गिरोद नामक ग्राम के रहनेवाले थे। ये जाति के चमार थे। इन्होंने ही छत्तीसगढ में सत्तनामी मत का प्रचार किया था। कहा जाता है कि ये एक बार अपने भाई के साथ जगन्नाथपुरी की यात्रा हेतु जा रहे थे। मार्ग में किसी उत्तर भारतीय सन्त से इनकी भेंट हुई। उस सन्त के उपदेश से प्रभावित होकर ये सत्तनामी हो गये और यात्रा को भंग कर लौट आए। ये जगलो मे रहकर विरक्त की भाँति 'सत्तनाम' 'सत्तनाम' का जप करने लगे। इनकी जाति के लोग इनके पास सत्संग के लिए आने लगे और उन पर इनका इतना प्रभाव पडा कि इनके चरणामृत को भी वे लेने लगे। कुछ विद्वानो का विचार है कि घासीदास अपनी युवावस्था मे कुछ दिनो के लिए उत्तर भारत गये थे और वही से सत्तनामी मत से प्रभावित होकर लौटे थे[1]। जो भी हो, किन्तु इतना सत्य है कि घासीदास पर उत्तर भारतीय सत्तनामी मत का प्रभाव पडा था और ये सम्भवत जगजीवन साहब की शिष्य-परम्परा के सन्त पहलवानदास के समकालीन किसी सत्तनामी सन्त से प्रभावित हुए थे। ये सत्तनाम को निर्गुण और निराकार मानते थे तथा जातिभेद, मूर्ति-पूजा, कर्म-काण्ड आदि के विरोधी थे। गीरोद के मन्दिर मे किसी भी मूर्ति की स्थापना नही की

---

१ उत्तरी भारत की स पृष्ठ ५५३

गयी है। घासीदास का देहान्त सन् १८५० मे अस्सी वर्ष की आयु मे हुआ था। इनके पश्चात् क्रमश बालकदास, अगरदास, अगरमानदास और अजबदास छत्तीसगढी सत्तनामी सम्प्रदाय के उत्तराधिकारी हुए।

उत्तर भारत के सत्तनामी जाट, क्षत्रिय, ब्राह्मण आदि सभी जातियो के थे, किन्तु छत्तीसगढ के केवल चमार ही सत्तनामी धर्म मानते थे। आजकल उत्तर भारत की सत्तनामी-परम्परा नाममात्र के लिए केवल कुछ सन्तो तक ही सीमित है, किन्तु छत्तीसगढी परम्परा इस समय भी उन्नतिशील है। छत्तीसगढ के चमार प्राय कबीरपन्थी या सत्तनामी हैं, जो अब धीरे-धीरे बौद्धधर्म की ओर आकर्षित होते जा रहे हैं। परशुराम चतुर्वेदी का मत है कि छत्तीसगढी सत्तनामी सम्प्रदाय की स्थापना ई० सन् १८२० से १८३० के बीच किसी समय हुई थी[१]। इस प्रकार छत्तीसगढ मे लगभग डेढ सौ वर्षो तक निर्गुण-उपासना एवं सत्तनाम का प्रचारक यह सत्तनामी सम्प्रदाय अब पुन. अपने वास्तविक इष्टदेव 'सच्चनाम' (=बुद्ध) की ओर अग्रसर हो रहा है।

धरनीश्वरी सम्प्रदाय

धरनीदास एक उच्चकोटि के सन्त, कवि और भक्त थे। ये छपरा जिलान्तर्गत माझी ग्राम के रहनेवाले थे। ये कायस्थ जाति के थे[२]। इनका विवाह चकिया मे हुआ था। इनके दो पुत्र और चार पुत्रियाँ थीं। पहले ये किसी जमीदार के यहाँ लिखने-पढने का कार्य करते थे, किन्तु सन् १६५६ मे इनके पिता के देहावसान के पश्चात्[३] इन्हे वैराग्य उत्पन्न हो आया और इन्होने जमीदार के यहाँ से यह कहते हुए नौकरी त्याग दी और संन्यास ले लिया—

अब मोहि रामनाम सुधि आई।
लिखनी ना करौं रे भाई[४]॥

इन्होने पहले चन्द्रदास से दीक्षा ली थी और सेवानन्द से संन्यास ग्रहण किया था। तदुपरान्त सद्गुरु की खोज मे मुजफ्फरपुर जिले के पातेपुर नामक ग्राम मे विनोदानन्द सन्त के पास जाकर इन्होंने साधना सीखी एवं सिद्धि प्राप्त की। इनके सम्बन्ध में अनेक चमत्कारिक घटनाएँ प्रसिद्ध है। धरनीदास ने अपने गुरु विनोदानन्द को सन्त रामानन्द की परम्परा का

१. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ५५३।

२. 'जग मे कायथ जाति हमारी'। —धरनीदासजी की बानी, पृष्ठ ३।

३. संमत सत्रह सौ चलि गैऊ। तेरह अधिक ताहि पर भैऊ॥
शाहजहा छोड़ी दुनियाई। पसरी औरंगजेब दुहाई॥
सोच विसारि आत्मा जागी। धरनी धरेउ भेष बैरागी॥
—धरनीदासकृत प्रेमप्रकाश

४ की बानी पृष्ठ १।

बतलाया है। इन्होंने अपनी रचनाओं में पीपा, कबीर, गोरखनाथ, मीरा, नामदेव, जयदेव, रैदास, सेन, धन्ना, चतुर्भुज, नानक आदि सन्तों के प्रति बड़ी श्रद्धा व्यक्त की है और उन्हें मोह-माया से रहित ज्ञान-प्राप्त सन्त कहा है[१]। इससे जान पड़ता है कि धरनीदास के गुरु विनोदानन्द यदि रामानन्दी-परम्परा के होंगे, तो भी वे निर्गुणी-उपासना से प्रभावित सन्तों से ही सम्बन्धित होंगे, क्योंकि उनकी वाणी में उक्त निर्गुणी सन्तों के प्रायः सभी तत्व विद्यमान हैं।

कहते हैं कि धरनीदास फतेपुर से लौटकर अपने जन्म-स्थान में चले आए थे और वहीं एक कुटी बनवा कर रहते थे। इनके भक्तों एवं दर्शनार्थियों की संख्या बहुत बड़ी थी। इनके सम्बन्ध में अनेक अद्भुत बातों को सुनकर लोग दर्शनार्थ आया करते थे। जनश्रुति है कि अपने अन्तिम दिन धरनीदासजी गंगा-स्नान के लिए गये और गंगा के जल पर चादर बिछाकर ध्यानावस्थित हो बैठ गये। धार के साथ उन्हें बहते हुए कुछ दूर तक भक्तों ने देखा। उसके पश्चात् वे एक अग्नि-पुंज होकर अदृश्य हो गये और फिर तब से नहीं दिखाई दिये। भक्तों ने उनकी समाधि माझी ग्राम में बनाई। वहाँ उनकी एक गद्दी आजतक चली आ रही है। परसा, पचलक्खी और ब्रह्मपुर के मठ उन्हीं के शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा संस्थापित हैं।

धरनीदास द्वारा लिखित प्रेमप्रकाश, शब्दप्रकाश और रत्नावली नाम से तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनमें से शब्दप्रकाश का प्रकाशन सन् १८८७ में छपरा से हुआ था। "धरनीदासजी की बानी" नाम से इनकी वाणियों का एक संग्रह प्रयाग से भी प्रकाशित है। अन्य ग्रन्थ अभी तक हस्तलिखित ही हैं। इनकी रचनाओं में खसम-भावना,[२] सुरति,[३] दया,[४] सन्त,[५] नाम-महिमा,[६] सतगुरु,[७] अलख,[८] बाह्य-पूजा व्यर्थ,[९] अमरपद,[१०] अनाहद,[११] नाम-स्मरण,[१२] साधु-सत्संग,[१३] गुरु-माहात्म्य,[१४] निर्वाण,[१५] शून्य-शिखर,[१६] परमपद,[१७] गगन-गुफा,[१८] अभयपुर,[१९] कर्म-काण्ड का निषेध,[२०] घट-घट व्यापी राम,[२१] कर्म-स्वकता,[२२] शरणागति,[२३]

१. धरनीदासजी की बानी, पृष्ठ १२, २३।
२ वही, पृष्ठ १, ४, १४।
३ वही, पृष्ठ ३, २७।
४. वही, पृष्ठ ३।
५ वही, पृष्ठ ३, १६।
६. वही, पृष्ठ ३।
७ वही, पृष्ठ ५, २१, २६, ४७, ५३।
८. वही, पृष्ठ ५।
९ वही, पृष्ठ ६।
१०. वही, पृष्ठ ६।
११. वही, पृष्ठ ७, १५, २४, ३८।
१२. वही, पृष्ठ ११, १५, १६, ४४।
१३ वही, पृष्ठ ११, १५, २४।
१४. वही, पृष्ठ ११।
१५ वही, पृष्ठ १४, ३४।
१६. वही, पृष्ठ १५।
१७. वही, पृष्ठ १५, २१।
१८. वही, पृष्ठ १५, ३८।
१९ वही, पृष्ठ १७, ३७, ३९।
२०. वही, पृष्ठ २०, ३०।
२१. वही, पृष्ठ २१, २९।
२२. वही, पृष्ठ २२।
२३ वही पृष्ठ २३, २८

तीर्थ-व्रत-मूर्तिपूजा आदि का बहिष्कार,[1] निर्गुण,[2] सत्त-सुकृति-सन्तोष,[3] अन्तर्यामी,[4] निरंजन,[5] अभयपद,[6] दशमद्वार,[7] शून्य,[8] पद-निर्वाण,[9] जाति-भेद निषेध,[10] सुरति-निरति,[11] पूर्वजन्मकृत पुण्य,[12] मनुष्यजीवन की दुर्लभता,[13] नाडियों की साधना,[14] गगन-मण्डल,[15] शून्य-भवन,[16] सहज,[17] आचरण की श्रेष्ठता,[18] कामिनी-त्याग,[19] आदि बौद्धधर्म के तत्व विद्यमान है। इससे भी प्रगट है कि सन्त धरनीदास को कबीर, रैदास आदि सन्तो द्वारा अंगीकृत बौद्ध-प्रभाव उत्तराधिकार की भाँति प्राप्त हुए थे। "जौ लगि निरगुन पंथ न सूझै, काज कहा महि मंडल दौरे[20]" कहकर धरनीदास ने निरजन-पथ की प्रशंसा की है और "तत्तु निरंजन सबके संगा[21]" कहकर उसे ही मुक्ति का साधन माना है—

नाम निरंजन करो उचारा।
नाम एक संसार उबारा॥
नाम नाव चढि उतरहि दासा।
नाम बिहूने फिरहि उदासा[22]॥

धरनीदास ने निरंजन, निर्गुण, राम, सत्त आदि इन सभी को सर्वव्यापी निराकार परमात्मा का नाम माना है और रामनाम की महिमा गाते हुए उसे सुखदायी कहा है—

राम नाम सुमिरो रे भाई।
राम नाम सन्तन सुखदाई॥
राम कहत जम निकट न आवै।
रिग यजु साम अथर्वन गावै[23]॥

कबीर आदि सन्तों तथा सरह आदि सिद्धो की भाँति धरनीदास ने कर्मकाण्ड की तुच्छता पर बड़ा मार्मिक प्रकाश डाला है और सन्तज्ञान का माहात्म्य बतलाया है—

---

१ धरनीदासजी की बानी, पृष्ठ २३, ३०, ३२।
२. वही, पृष्ठ २४।
३. वही, पृष्ठ २५।
४ वही, पृष्ठ २९।
५. वही, पृष्ठ ३२, ३३, ४१, ५२।
६ वही, पृष्ठ ३२।
७. वही, पृष्ठ ३५।
८. वही, पृष्ठ ३५, ३८।
९ वही, पृष्ठ ३६।
१० वही, पृष्ठ ३७।
११. वही, पृष्ठ ३७, ४४।
१२. वही, पृष्ठ ३९।
१३. वही, पृष्ठ ४३।
१४ वही, पृष्ठ ४७।
१५. वही, पृष्ठ ४७।
१६. वही, पृष्ठ ४७।
१७. वही, पृष्ठ ४७।
१८. वही, पृष्ठ ५८।
१९. वही, पृष्ठ ५८।
२०. वही, पृष्ठ २४।
२१ वही पृष्ठ ५२
२२ वही पृष्ठ ४२
२३ वही पृष्ठ ४४

क्रिया षट कम तन दया नहिं वम तजो नहिं मम किमि कम छटै
दियो बहु दान करि विविध विधान मन बढो अभिमान जम प्रान लूटै ।।
जग्य अरु जोग तप तीरथ ब्रत नेम करि बिना प्रभुप्रेम कलिकाल कूटै ।
दास धरनी कहँ कौन विधि निर्बहै जबै गुरुज्ञान तब गगन फूटै[1] ।।

धरनीदास के देहावसान के पश्चात् क्रमश अमरदास, मायाराम, रतनदास, बालमुकुंद-दास, रामदास, सीतारामदास, हरनन्दनदास तथा सन्त रामदास धरनीश्वरी सम्प्रदाय के साधु हुए। माझी इस सम्प्रदाय की प्रधान गद्दी मानी जाती है और "धरनीश्वर के द्वारे" मे उनके भजन के स्थान पर धरनीदास का खड़ाऊँ रखा रहता है। उत्तर प्रदेश के बलिया जिले मे इस सम्प्रदाय के अनुयायी बहुत बड़ी संख्या मे है। परसा मठ के संस्थापक सन्त चैनराम बलिया जिलान्तर्गत सहतवार के पास स्थित बधॉव ग्राम के रहनेवाले थे, अतः बलिया के भक्तो का सम्बन्ध परसा के मठ से ही अधिक है। चैनराम धरनीदास के शिष्य रामप्रसादीदास के शिष्य थे। उनका देहान्त सन् १७८८ मे हुआ था। इनकी भी शिष्य-परम्परा बलिया मे पाई जाती है। ये एक उच्चकोटि के प्रसिद्ध सन्त थे।

दरियादास और दरियादासी सम्प्रदाय

सन्त-साहित्य में दो दरिया नामक सन्त प्रसिद्ध है। ये दोनो समकालीन थे। एक बिहार राज्य के रहनेवाले थे और दूसरे मारवाड़ (राजस्थान) के। इनमे बिहारवाले दरिया साहब की रचनाएँ अधिक एवं साहित्यिक हैं तथा मारवाडवाले की रचनाएँ अल्प और साहित्यिकता से रहित हैं। प्रसिद्धि मे भी बिहारी दरिया साहब मारवाड़वाले से बढकर हैं और आयु एवं शिष्य-संख्या में भी वे आगे बढे हुए है, फिर भी उन दोनो सन्तो पर बौद्धधर्म का प्रभाव पडा हुआ था और ये दोनो ही मुसलमान से सन्त हुए थे। अत. इन दोनो की रचनाओ तथा साम्प्रदायिक स्थिति के सम्बन्ध मे अलग-अलग विचार करेगे।

बिहारी दरियादास

बिहारी दरियादास का जन्म बिहार राज्य के धरकंधा नामक ग्राम में हुआ था। विद्वानों ने इनकी जन्म-तिथि ई० सन् १६७४ और निधन-तिथि सन् १७८० माना है[2]। ये दर्जी-कुल मे उत्पन्न हुए थे। दरियादासी सम्प्रदायवाले मानते है कि दरियादास के पूर्वज उज्जैन से बिहार मे आकर बस गये थे और वे क्षत्रिय जाति के थे[3]। हमारा मत है कि दरियादास वास्तव मे मुसलमान ही थे। उनके हिन्दू-शिष्यो ने उन्हे भी हिन्दू-परम्परा का होने का प्रचार अपने गौरवमात्र के लिए किया है। दरियादास का विवाह नौ वर्ष की ही

---

१. धरनीदासजी की बानी, पृष्ठ ३०।
२. दरिया ग्रन्थावली, प्रथम भाग, पृष्ठ ५, उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ५९६, हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृष्ठ ४८।
३. दरिया ग्रथावली प्रथम भाग पृष्ठ ९

वस्था में हो गया था। उनकी पत्नी का नाम शाहमती था। वे बीस वर्ष की आयु में राग्य ले लिए थे, किन्तु उनकी पत्नी सदा उनके साथ रही[१]। टेकदास नामक उन्हें एक पुत्र था। उसके सम्बन्ध में भी कथा प्रचलित है कि वह दरियादास का औरस पुत्र न होकर र्मपुत्र था, क्योंकि वे स्त्री-संसर्ग से सदा वंचित रहे,[२] किन्तु अन्तस्साक्ष्य से प्रमाणित है कि दरियादास एक पुत्र के जन्म के उपरान्त संन्यास के पक्ष में थे, वे उसी को अपने सम्प्रदाय का मानने के लिए तैयार थे, जो सदा मोह-माया में न रहकर वंश चलाने के लिए पुत्र के उत्पन्न होने के उपरान्त गृहत्याग दे—

जो जिव फंदे नारि सो, सो नहिं बस हमार।
बंस राखि नारि जो त्यागे, सो उतरे भवपार[३] ॥

फ्रांसिस बुकानन ने लिखा है कि मीर कासिम ने दरियादास पर प्रसन्न होकर उन्हें एक सौ एक बीघा भूमि को दान में दिया था,[४] वह भूमि धीरे-धीरे और भी बढ़ गयी थी और दरियादास वहीं धरकंधा में रहकर जीवन-पर्यन्त सत्संग आदि में संलग्न रहे। कुछ दिनों के लिए इन्होंने काशी, मगहर, बाईसी, हरदी और लहठान की भी यात्राएँ की थी। इनके प्रधान शिष्यों की संख्या छत्तीस बताई जाती है, जिनमें दलदास सर्वाधिक प्रसिद्ध थे।

दरियादास द्वारा लिखित बीस ग्रन्थ कहे जाते है,[५] जिनके नाम क्रमश: इस प्रकार है—अग्रज्ञान, अमरसार, भक्तिहेतु, ब्रह्मचैतन्य, ब्रह्मविवेक, दरियानामा, दरियासागर, गणेश-गोष्ठी, ज्ञानदीपक, ज्ञानमूल, ज्ञानरत्न, ज्ञानस्वरोदय, कालचरित्र, मूर्तिउखाड़, निर्भयज्ञान, प्रेममूल, शब्द या बीजक, सहसरानी (सहस्रानी), विवेकसार और यज्ञसमाधि। इनके अतिरिक्त ब्रह्मज्ञान, गर्भचितावन, रामेश्वरगोष्ठी, संतसैया, पारसरत्न, ज्ञानचुम्बकसार आदि ग्रंथ भी दरियादास के लिखे बतलाए जाते है[६]। इनमें से दरियासागर, ज्ञानरत्न, ज्ञानसरोद, भक्तिहेतु, ब्रह्मविवेक और ज्ञानमूल—इन छः ग्रंथों का प्रकाशन दरियाग्रन्थावली के अन्तर्गत बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् से हुआ है तथा दरियासागर, ज्ञानदीपक और "दरियादास की चुनी हुई बानी" का भी प्रकाशन प्रयाग से। इनकी रचनाओं को देखने से ज्ञात होता है कि इन पर कबीर साहब का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा था। ये अपने को कबीर का अवतार तक मानते थे और यह भी कहते थे कि मैं वही बात कह रहा हूँ जिसे कि कबीर साहब ने कही है[७]।

---

१ दरिया ग्रंथावली, भाग १, पृष्ठ २२।
२ उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ५६९।
३ दरिया ग्रंथावली, भाग २, पृष्ठ २२।
४. वही, भाग १, पृष्ठ २४।
५. दरियाग्रंथावली, भाग १, पृष्ठ ३७।
६. वही, पृष्ठ ३७–३९।
७ सोइ कहौं जो कहहिं कबीरा।
पद पायो हीरा पृष्ठ ८०

ऐसे ही इन्होंने जयदेव,[१] मत्स्येन्द्रनाथ,[२] गोरखनाथ,[३] नामदेव,[४] कमाल,[५] कमाली,[६] नानक,[७] मीरा,[८] तुरसी,[९] मलूक[१०] आदि सन्तों का भी स्मरण बड़ी श्रद्धा से किया है। इनमें भी नामदेव, कबीर और मत्स्येन्द्रनाथ को कलियुग का जागरूक ज्ञानी कहा है[११]। इससे प्रकट है कि पूर्ववर्ती निर्गुण सन्तों का प्रभाव दरियादास पर प्रधान रूप से पड़ा था और यही कारण है कि बौद्धधर्म के वे सभी प्रभाव इनकी रचनाओं में दिखाई देते हैं, जो पूर्व के सन्तों में विद्यमान थे। सतगुरु,[१२] सत्तनाम,[१३] अमरलोक,[१४] सुरति,[१५] कनक-कामिनी-त्याग,[१६] तीर्थ-व्रत-निषेध,[१७] काया ही मठ,[१८] अभयलोक,[१९] मनप्रधान,[२०] सत्तलोक,[२१] माला-छापा-तिलक व्यर्थ,[२२] अनहद,[२३] खसम-भावना,[२४] अमरपद,[२५] निर्गुण,[२६] ग्रंथ-प्रमाण-त्याज्य,[२७] निर्वाण,[२८] सर्वज्ञ,[२९] साधु-संगति,[३०] सत्त,[३१] निरति-सुरति,[३२] हठयोग,[३३] पद-निर्वाण,[३४] लोकवेद का त्याग,[३५] नाम-

---

१. शब्द १८।२८, ४२।३।
२. वही, १८।१५, ५०।१, ज्ञानरत्न ७२।१–८।
३. वही, १८।१५, १८।२८, ५०।१ ; ज्ञानरत्न ७२।१–८।
४. वही, ४।१०, १२।९, १८।४१, ५०।१ ; सहसरानी २९३, २९५।
५ वही, १।१०८, ४।११, ७।-, ७।८ ; दरियासागर ८२।३, ९८।२ तथा ९८।८।
६. सहसरानी १०३४, १०३६।
७. शब्द ४२।३ ; सहसरानी २९२, २९५।
८ शब्द २।२०, २२।९, ५०।१।
९ शब्द २०।१७, ४२।३। सहसरानी १२०, ३४८, ३५६, ७१३।
१० शब्द ४२।३। सहसरानी १२०।
११ नामदेव कलि जागे ऐसे, दास कबीर ग्यान गुद जैसे।
   मच्छीन्द्र जागे सब केहु जाना, सतगुर भेद विरले पहचाना॥
   —ग्यानरतन, पृष्ठ १९२।
१२. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ १२१। १३. वही, पृष्ठ १२१।
१४ वही, पृष्ठ १२१। १५ वही, पृष्ठ १२२।
१६ वही, पृष्ठ १२२। १७ वही, पृष्ठ १२२।
१८. वही, पृष्ठ १२३। १९. वही, पृष्ठ १२३।
२० वही, पृष्ठ १२४। २१. वही, पृष्ठ १२५।
२२ वही, पृष्ठ १२२।
२३ सन्तबानी संग्रह, भाग २, पृष्ठ १३८।
२४. वही, पृष्ठ १३८। २५. वही, पृष्ठ १३९।
२६ वही, पृष्ठ १४०। २७. वही, पृष्ठ १४०।
२८ वही, पृष्ठ १४०। २९. वही, पृष्ठ १४०।
३० वही, पृष्ठ १४१। ३१. वही, पृष्ठ १४१, १४२।
३२ दरियाग्रंथावली भाग २ पृष्ठ ५ ३३ दरियासागर पृष्ठ ५
३४ वही पृष्ठ ९ ३५ वही पृष्ठ ९

स्मरण,[1] कर्मकाण्ड-निषेध,[2] आवागमन,[3] निरंजन,[4] कर्म-स्वकता,[5] जातिभेद-त्याग[6] आदि बौद्धधर्म के प्रभाव के ही द्योतक है। डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री ने लिखा है कि दरियादास ने वज्रयानी बौद्धो और नाथपन्थी योगियो से हठयोग, रहस्यवाद तथा जात-पाँत एवं कर्म-काण्ड के विरुद्ध पैनी उक्तियाँ ग्रहण की है,[7] किन्तु हम देखते है कि इनके अतिरिक्त गुरु-भक्ति, साधु-संगति, अहिंसा, सदाचार, वेदादि ग्रंथों का निषेध आदि भी ऐसी बातें है, जिनका दरियादास पर गहरा प्रभाव पड़ा था। ये सत्तनाम के बडे भक्त थे। इनका कहना था कि सत्तनाम एक ऐसी सार वस्तु है, जिससे अमरलोक को प्राप्त किया जा सकता है और उस सत्तनाम को प्राप्त करने के लिए सतगुरु होना अनिवार्य है—

सत्तनाम निजु सार है, अमरलोक के जाए।
कहै दरिया सतगुरु मिलै, संसै सकल मेटाए[8] ॥

दरियादास कर्म-काण्ड, माला-वेश-भूषा आदि के फेर मे न पड़कर निरंजन का भजन करने का उपदेश देते थे। इनका मत था कि सत्तनाम भी निर्गुण है और निर्गुण की गति अगम्य एवं अचिन्त्य है—

माला टोपी भेख नहि, नहिं सोना सिंगार।
सगा भाव सत्संग है, जो कोइ गहै करार[9] ॥
सत्तनाम निरगुन अधारा, ताको काल न करै अहारा[10]।
सत्तनाम निजु प्रेम लगावै, सार सबद सो परगट पावै।
अभैलोक सतगुरु की बानी, आवागमन मेटै सो प्रानी[11]।
सुनहु ग्यान गति कंठ उचारा, निरगुन की गति अगम अपारा[12]।

दरियादासी सम्प्रदाय के अनुयायी उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों तथा बिहार मे अधिक पाये जाते है। इनकी प्रधान गद्दी धरकंधा मे ही है। उसके अतिरिक्त तेलपा या तल्हैयादेसी, वंशी मिर्जापुर (जि० सारन) और मनुवाँ चौकी (जि० मुजफ्फरपुर) मे भी चार मठ है। इस पन्थ के अनुयायी 'सत्तनाम' के प्रति बड़ी श्रद्धा रखते है। साथ ही कबीर साहब इनके परम आदर्श है। दरियादास का अपने शिष्यो को आदेश है कि जिस परमतत्व को कबीर ने प्राप्त किया था, उसे ही तुम भी ढूँढ़ो और सदा उसी के लिए चिन्तन करो—

ताहि खोजु जो खोजहिं कबीरा।
बइठि निरन्तर समय गंभीरा[13] ॥

---

१. दरियासागर, पृष्ठ १४। २. वही, पृष्ठ १४।
३. वही, पृष्ठ १५। ४. वही, पृष्ठ २२।
५. वही, पृष्ठ १०३। ६. वही, पृष्ठ ८६।
७. दरियाग्रंथावली, भाग २, पृष्ठ ११।
८. दरियासागर, पृष्ठ २१। ९. वही, पृष्ठ २३।
१०. वही, पृष्ठ २१। ११. वही, पृष्ठ १५।
१२ दरियासागर पृष्ठ १५ १३ वही पृष्ठ ४८

परशुराम चतुर्वेदी का कहना है कि दरियादास पर कबीर साहब से अधिक कबीर-पंथ का ही प्रभाव पड़ा था[1] और यह यथार्थ है, क्योंकि दरियादास का जिन सन्तों से अधिक सम्पर्क हो सका था उनमें कबीरपन्थी अधिक रहे होंगे। इन्होंने अपने गुरु का नाम 'सत्तपुरुष' या 'परमपुरुष' बतलाया है, किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि कबीरपन्थ से ही इन्हें निर्गुण-तत्व की साधना प्राप्त हुई थी, यों तो इन पर प्रायः सभी पन्थों का कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ा था, किन्तु सन्त-परम्परा द्वारा गृहीत बौद्धतत्वों का प्रभाव भी इन पर पर्याप्त पड़ा था, जिसका वर्णन ऊपर किया गया है। इनके 'स्वरोदय' नामक ग्रंथ में वर्णित आश्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया भी बौद्ध 'आनापानसति' का ही दरियादासी स्वरूप है।

मारवाड़ी दरियादास

मारवाड़ी दरियादास ने जैतारन ग्राम में सन् १६७६ में एक धुनियाँ के घर जन्म लिया था[2]। ये जब सात वर्ष के ही थे कि इनके पिता का देहान्त हो गया था। तत्पश्चात् ये अपने नाना कमीच के पास रैन नामक ग्राम में चले गये। वहीं इन्होंने बीकानेर के खियानसर निवासी प्रेमदयाल से दीक्षा ग्रहण की। कहा जाता है कि दरियादास सन्त दादूदयाल के अवतार थे[3]। इससे जान पड़ता है कि इनके गुरु प्रेमदयाल सम्भवतः दादूपन्थी थे। दरियादास ने भी कबीर और दादू के प्रति बड़ी श्रद्धा व्यक्त की है—

मोई पंथ कबीर का, दादू का महराज।

सब सन्तन का बालमा, दरिया का सिरताज[4]॥

जनश्रुति है कि मारवाड प्रदेश के शासक महाराज बखतसिंह दरियादास के व्यक्तित्व एवं चमत्कार से प्रभावित होकर इनके शिष्य हो गये थे[5]। ई० सन् १७५८ में दरियादास का ८२ वर्ष की आयु में देहान्त हुआ था।

दरियादास की बहुत थोड़ी रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। इनकी रचनाओं का एक संग्रह प्रयाग से प्रकाशित है। इनकी बाणी को देखने से ज्ञात होता है कि ये सन्त-परम्परा के एक उच्चकोटि के निर्गुणी सन्त थे। इन्होंने जिस साधना-मार्ग का उपदेश दिया, वह पूर्ववर्ती सन्तों से भिन्न नहीं था और इन पर भी बौद्ध-प्रभाव अन्य सन्तों की ही भाँति पड़ा था।

---

१. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ५७५।

२. जो धुनियाँ तौ भी मैं राम तुम्हारा।

अधम कमीन जाति मति हीना, तुम तो हौ सिरताज हमारा॥

—दरियासाहब की बानी, पृष्ठ १।

३. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ५७९।

४. दरियासाहब की बानी, पृष्ठ २।

५ पृष्ठ २०८

इनकी वाणी मे भी उन्ही के समान सतगुरु,[१] कर्म-स्वकता,[२] शून्य,[३] नाम-स्मरण,[४] परमपद,[५] आवागमन,[६] सत्त,[७] साधु-महिमा,[८] गुरु-माहात्म्य,[९] अनहद,[१०] निर्वाण,[११] निर्गुण,[१२] खसम-भावना,[१३] नाम-महिमा,[१४] गगन-मण्डल,[१५] सुरति,[१६] राम की घट-घट व्यापकता,[१७] ग्रंथ-प्रमाण का निषेध[१८] पद-निर्वाण[१९] आदि बौद्ध-तत्व आए हुए है। इनमे अपनी यह भी विशेषता है कि स्त्री की निन्दा न कर इन्होने उन लोगो की ही निन्दा की है और उन्हे मूर्ख कहा है, जो कि स्त्री की निन्दा करते और उसे दोषी ठहराते है—

नारी जननी जगत की, पाल पोस दे पोष।
मूरख राम बिसार कर, ताहि लगावै दोष[२०] ॥

दरियादास के प्रधान शिष्य सुखरामदास थे। ये भी बहुत प्रसिद्ध थे। रैन ग्राम मे अबतक इनकी समाधि के पास मेला लगता है। मारवाडी दरियादास के अनुयायी राजस्थान मे पाये जाते है, किन्तु इनकी संख्या अधिक नहीं है।

शिवनारायणी सम्प्रदाय

सन्त शिवनारायण की जन्म-तिथि तथा निधन-तिथि की निश्चित जानकारी अभी तक नहीं हो सकी है। इन्होने अपने ग्रंथ 'गुरु अन्यास' की रचना सन् १७३४ मे की थी। इससे अनुमान किया जा सकता है कि इनका जन्म ग्रन्थ-रचना से ३०-४० वर्ष पहले हुआ होगा। मूलग्रंथ मे जन्म-तिथि सन् १७१६ दी गई है, किन्तु वह मान्य नही हो सकती, क्योंकि केवल १८ वर्ष की अवस्था मे 'गुरु अन्यास' जैसे ग्रंथ की रचना सम्भव नही हो सकती। शिवनारायण के पूर्वज कन्नौज की ओर से आकर बलिया[२१] जिलान्तर्गत चन्दवार नामक ग्राम में बस गये थे। वहीं नरौनी क्षत्रिय बाघराय की पत्नी से इनका जन्म हुआ था। इनके गुरु दु:खहरन नामक सन्त थे, जो बलिया जिले के ससना बहादुरपुर ग्राम के रहनेवाले थे।

---

१ सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ १२६।
२. वही, पृष्ठ १२६।
३. वही, पृष्ठ १२६।
४. वही, पृष्ठ १२७।
५. वही, पृष्ठ १२७।
६. वही, पृष्ठ १२७।
७. वही, पृष्ठ १२८।
८. वही, पृष्ठ १२९।
९. वही, पृष्ठ १२९।
१०. वही, पृष्ठ १३१।
११. वही, पृष्ठ १३१।
१२. वही, पृष्ठ १३१।
१३. सन्तबानी संग्रह, भाग २, पृष्ठ १४२, १४३।
१४. वही, पृष्ठ १४२।
१५. वही, पृष्ठ १४३।
१६ वही, पृष्ठ १४३।
१७ वही, पृष्ठ १४४।
१८. सन्तकाव्य, पृष्ठ ४४७।
१९. वही, पृष्ठ ४५०।
२० दरियासाहब की बानी पृष्ठ ४३
२१ पहले गाजीपुर जिले में पड़ता था।

सन्त शिवनारायण के सम्बन्ध में बहुत कम विदित हो पाया है। कहा जाता है कि वे दीक्षित होकर धर्म-प्रचार-कार्य में लग गये थे। उन्होंने आगरा, दिल्ली आदि नगरों में जाकर उपदेश दिया। मुहम्मदशाह भी उनसे बहुत प्रभावित हुआ था। उसने प्रसन्न होकर धर्म-प्रचारार्थ अनुज्ञा-स्वरूप एक मुहर भी प्रदान की—

मोहम्मदशाह को शब्द सुनाये।
मोहर लेकर पन्थ चलाये[1]॥

ये भी विवाहित सन्त थे। इनकी स्त्री का नाम सुमति कुँवरि तथा पुत्र और पुत्री के नाम क्रमशः जैमल और सलीता थे। इनके धर्म का प्रचार चार प्रमुख शिष्यों ने किया। स्वयं इन्होंने भी सम्पूर्ण उत्तरी भारत की यात्रा की थी और अपने धर्म का प्रवचन कर लोगों को प्रभावित किया था। कहा जाता है कि शिवनारायणी सम्प्रदाय के अनुयायी बर्मा, अदन, बिलोचिस्तान आदि देशों में भी हैं। बलिया, गाजीपुर, वाराणसी, मिर्जापुर, आजमगढ़ आदि उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों में इनकी संख्या अधिक है।

सन्त शिवनारायण के १६ ग्रंथ प्रसिद्ध हैं, किन्तु अभीतक 'गुरु अन्यास' और 'शब्दावली' इन दो ग्रंथों का ही प्रकाशन हुआ है। शिवव्रतलाल ने ११ ग्रंथों के नाम इस प्रकार दिये हैं— ग्रंथ, सन्त विलास, भजन ग्रंथ, सन्त सुन्दर, गुरुन्यास, सन्त अचारी, सन्त उपदेश, शब्दावली, सन्त परवान, सन्त महिमा तथा सन्तसागर[2]। इनके अतिरिक्त सवाल-जवाब, टीका, लालग्रंथ आदि भी नाम इनके ग्रंथों के पाये जाते हैं, किन्तु इनकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में कुछ कह सकना सम्भव नहीं है। इनकी वाणी पर भी बौद्ध-प्रभाव पड़ा दीखता है। इनके गुरु दुःखहरन सन्तमत के ही सन्त थे और यही कारण है कि उनके शिष्य पर निर्गुण सन्तों की सभी साधनाओं एवं प्रवृत्तियों का प्रभाव पड़ा था। इनकी वाणी में आए हुए सुरति,[3] आवागमन,[4] काया-तीर्थ,[5] काया-मठ,[6] अनहद,[7] हठयोग,[8] अनित्यता,[9] ग्रंथ-प्रमाण अग्राह्य,[10] तीर्थ-यात्रा-मूर्ति-पूजा-मौन-व्रत आदि का निषेध,[11] कर्म-स्वकता,[12] कर्म-काण्ड का त्याग,[13] समता,[14] नाम-महिमा,[15] सन्त,[16] गुरु-माहात्म्य,[17] खसम-भावना[18] आदि बौद्धधर्म के तत्व बौद्ध-प्रभाव के ही द्योतक हैं। सिद्धों-नाथों की भाँति सन्त शिवनारायण ने वेद-पुराण ग्रंथों को

---

१. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ५९३।
२. सन्तमाल, पृष्ठ २६५–२६६।
३. सन्तकाव्य, पृष्ठ ४८२।
४ वही, पृष्ठ ४८२।
५. वही, पृष्ठ ४८२।
६ वही, पृष्ठ ४८२।
७. वही, पृष्ठ ४८३।
८ वही, पृष्ठ ४८४।
९. वही, पृष्ठ ४८४।
१० सन्तमाल, पृष्ठ ४८४।
११ वही, पृष्ठ ४८५।
१२ वही, पृष्ठ ४८५।
१३. वही, पृष्ठ ४८५।
१४ वही, पृष्ठ ४८६।
१५. वही, पृष्ठ ४८६।
१६ वही, पृष्ठ ४८६।
१७. वही, पृष्ठ ४८१।
१८ वही पृष्ठ ४८३

रमाण नहीं माना है और भगवान् बुद्ध के समान ही इनमे भटकनेवालो को अज्ञानी बतलाया है—

वेद पुरान बरन बहु बरनत, भिन्न भिन्न करि भाग ।
सो सुनि भूले मुरुख गॅवारा, भटकत फिरहि जगत भलिभॅतिआ[1] ॥

इसी प्रकार मूर्ति-पूजा आदि को मिथ्या-कर्म कहा है…

तीरथ जाके पाहन पूजे, मौनी ह्वै के ध्यान धरो।
शीवनरायन ई सभ झूठा, जब लग मन नहि हाथ करो[2] ॥

घट मे ही गंगा-यमुना-सरस्वती विद्यमान है, अन्यन्त्र स्नानार्थ जाने की आवश्यकता नही। ऐसे ही माता-पिता सब घट मे ही विराजमान है, उनका प्रतिदिन दर्शन अपेक्ष्य है—

सिपाही मन दूर खेलन मत जैये ।
घट ही मे गंगा घट ही मे जमुना, तेहि बिच पैठि नहये ।
अछेहो विरिछ की शीतल जुड छहिया तेहि तरे वैठि नहैये ॥
मात पिता तेरे घट ही मे निति उठि दरसन पैये ।
शिवनारायन कहि समुझावे गुरु के सबद हिये कैये[3] ॥

भगवान् बुद्ध के 'अत्तदीपा विहरथ'[4] (=अपने लिए आप द्वीप बनो=आत्मनिर्भर होओ) आदेश के सदृश सन्त शिवनारायण ने भी "आपुही आप निबाह"[5] का उपदेश दिया है।

सन्त शिवनारायण के चार प्रमुख शिष्य रामनाथ, सदाशिव, लखनराय और लेखराज थे। इनके चार मठ 'चारधाम' के नाम से प्रसिद्ध है, जो ससना बहादुरपुर, भेलसरी, चन्दवार और गाजीपुर मे है। इन स्थानो पर शिवनारायणी सम्प्रदाय के अनुयायी प्रति वर्ष माघ सुदी पचमी के दिन एकत्र होते तथा उत्सव मनाते है। पहले इस मत को माननेवाले ऊँची जाति के लोग थे, किन्तु सम्प्रति चमार, दुसाध आदि नीची जाति के लोग ही इस मत के अनुयायी है। बम्बई, कानपुर आदि में भी इनके मठ है। ये भगत या सन्त कहलाते है और अपने इष्टदेव सन्त शिवनारायण को 'सन्तपति' कहते है।

चरणदासी सम्प्रदाय

सन्त चरणदास का जन्म सन् १७०३ मे मेवात के अन्तर्गत डेहरा नामक ग्राम मे हुआ था। ये दूसर वैश्य जाति के थे। इनके पिता का नाम मुरलीधर तथा माता का नाम कुजो देवी था[6]। इनके बचपन का नाम रणजीत था। इनके पिता धार्मिक व्यक्ति थे। वे समय-

---

१. सन्तमाल, पृष्ठ ४८४।
२. वही, पृष्ठ ४८५।
३. सन्तकाव्य, पृष्ठ ४८२।
४ पृष्ठ ६२।
५ सन्त सुन्दर से उद्धृत।
६ सन्त —डॉ० त्रिलोक दीक्षित पृष्ठ १६ १७

समय पर जंगल मे जाकर ध्यान-भावना किया करते थे। कहा जाता है कि एक दिन जब वे जंगल मे गये तो फिर लौटकर नही आये। खोज करने पर केवल उनके पहने हुए वस्त्र ही एक स्थान पर रखे हुए मिले। उस समय चरणदास की आयु लगभग ७ वर्ष की थी। पिता के अदृश्य हो जाने पर ये अपनी माता के साथ ननिहाल दिल्ली चले गये। वही इनका पालन-पोषण हुआ। जब ये उन्नीस वर्ष के थे, तब इनकी भेंट शुकदेवदास से हुई और उन्होंने इन्हे दीक्षित कर इनका नाम रणजीत से चरणदास रख दिया। सन्त चरणदास ने दीक्षोपरान्त तीर्थ-यात्रा प्रारम्भ की। फिर ये तीस वर्ष की आयु मे दिल्ली लौट आए और वही रहकर अपने मत का प्रचार आरम्भ किया। इन्होंने वही रहकर लगभग पचास वर्षों तक प्रवचन, सत्संग, समाधि-भावना आदि कार्यों मे समय व्यतीत किया। इनके सम्बन्ध मे अनेक चमत्कारिक कथायें प्रसिद्ध है। कहते है कि इन्होंने अपने देहावसान की तिथि तथा समय पहले ही घोषित कर दिया था। दिल्ली मे ही अगहन, सुदी ४, सन् १७८२ (सं० १८३९) को इनका देहान्त हुआ था।

सन्त चरणदास ने अपनी रचनाओ के सम्बन्ध मे स्वयं लिखा है—"सन् १७२४ की चैत्र पूर्णिमा को सोमवार के दिन मैंने यह विचार किया कि कुछ ग्रथो की रचना करनी चाहिए। यह निश्चय करके मैंने उसी दिन कुछ बानियाँ बना डाली। फिर मैंने वैसी ही पाँच हजार बानियाँ लिखीं और गुरु के नाम की गंगा मे उन्हें प्रवाहित कर दिया। इसके पीछे मैंने पाँच हजार अन्य पद लिखे, जो तीसरी पाँच हजार रचनाएँ की, उन्हे अपने साधुओ को दे दिया[1]।" इससे जान पड़ता है कि ये रचना करने मे कितने निपुण थे। इनकी इक्कीस रचनाएँ बतलायी जाती है, जिनमे से पन्द्रह ग्रंथों का एक सग्रह बम्बई[2] से प्रकाशित हुआ है और सम्पूर्ण ग्रंथो के संग्रह का प्रकाशन लखनऊ[3] से भी हुआ है। ऐसे ही इनकी वाणियो का एक संग्रह तीन भागो मे प्रयाग से[4] भी प्रकाशित हो चुका है। इनके द्वारा रचित ग्रंथो के नाम इस प्रकार है—ब्रजचरित्र, अमरलोक अखण्डधाम वर्णन, धर्म-जहाज वर्णन, अष्टागयोग वर्णन, योगसन्देह सागर, ज्ञानस्वरोदय, पचोपनिषत्, भक्तिपदार्थ वर्णन, मनविकृत-करण गुटकासार, ब्रह्मज्ञानसागर, शब्द, भक्तिसागर, जागरणमाहात्म्य, दानलीला, मटकीलीला, कालीनाथलीला, श्रीधर ब्राह्मणलीला, माखनचोरीलीला, कुरुक्षेत्रलीला, नासकेतलीला और कवित्त। इनमे से अन्तिम नौ ग्रंथो की प्रामाणिकता अभीतक सिद्ध नही हो सकी है, किन्तु शेष १२ ग्रन्थो को इन्ही की रचना सब विद्वान् मानते है[5]।

सन्त रामचरण की रचनाओ को देखने से विदित होता है कि इन पर सगुण-निर्गुण दोनों उपासनाओ का प्रभाव पडा था, किन्तु ये निर्गुणी सन्त ही थे। अन्य सन्तों की भाँति

---

१. श्री भक्तिसागर ग्रंथ—ज्ञानसरोदय, पृष्ठ १५६।
२ वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई। ३. नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ।
४ वेल्वेडियर प्रेस प्रयाग।
५ उत्तरी भारत की पृष्ठ ६०१ ६०२

इन पर भी परम्परागत बौद्धधम का प्रभाव पडा था इनकी वाणी म भी गुरु माहात्म्य [1] सतगुरु [2] जातिभद निषध [3] साधु महिमा [4] खसम भावना [5] नाम-स्मरण [6] अनहद [7] समाधि [8] पद-निर्वाण, [9] सत्संगति, [10] सुरति-निरति, [11] परनारी-त्याग, [12] क्षमा-शील-सन्तोष-दया आदि गुणधर्म, [13] हठयोग, [14] नाम-माहात्म्य, [15] तप-तीर्थ-व्रत व्यर्थ, [16] गगन-मण्डल, [17] दशम्-द्वार, [18] निर्गुण, [19] शून्य-शिखर, [20] तत्त, [21] आवागमन, [22] सहज, [23] ग्रंथ-प्रमाण त्याज्य, [24] घट ही तीर्थ-स्थान, [25] अमरपद, [26] घट ही मठ, [27] मूर्ति-पूजा-निषेध, [28] कम-काण्ड व्यर्थ, [29] वेश निरर्थक, [30] कनक-कामिनी का त्याग, [31] माला-तिलक से लाभ नहीं, [32] अनित्यता, [33] क्षण-भंगुरता, [34] अवधूत, [35] शून्य, [36] निर्वाण, [37] निराकार [38] आदि बौद्ध-विचारों के समन्वय तथा प्रभाव दृष्टान्त हैं। इन्होंने भी अपने पूर्ववर्ती कबीर, दादू, धन्ना, नामदेव, सेन, सधना, पीपा, रैदास, जयदेव, मलूक, मोरमाधव, मीरा, त्रिलोचन आदि सन्तों का स्मरण बड़ी श्रद्धा से किया है [39]। कबीर, नानक आदि के समान इन्होंने भी उन्हीं के स्वर मे स्वर मिलाकर

---

१ चरनदासजी की बानी, भाग १, पृष्ठ १।
२. वही, पृष्ठ २।
३. वही, पृष्ठ २, ८।
४ वही, पृष्ठ १०।
५. वही, पृष्ठ १०–१३, ३३।
६. वही, पृष्ठ १४।
७. वही, पृष्ठ १५, ३५।
८. वही, पृष्ठ १५।
९. वही, पृष्ठ १५, १९, २६।
१०. वही, पृष्ठ १५।
११. वही, पृष्ठ १६।
१२. वही, पृष्ठ २०।
१३. वही, पृष्ठ २५।
१४ वही, पृष्ठ २९।
१५. वही, पृष्ठ ३०।
१६. वही, पृष्ठ ३०।
१७. वही, पृष्ठ ३२, ३६।
१८. वही, पृष्ठ ३२।
१९. वही, पृष्ठ ३४।
२०. वही, पृष्ठ ३६।
२१. वही, पृष्ठ ३७।
२२. वही, पृष्ठ ३७।
२३ वही, पृष्ठ ३९।
२४. वही, पृष्ठ ४७।
२५. वही, पृष्ठ ४७।
२६. वही, पृष्ठ ४८।
२७. वही, पृष्ठ ४८, ४९।
२८. वही, पृष्ठ ५०, ५१।
२९. वही, पृष्ठ ५३।
३०. वही, पृष्ठ ५३।
३१. वही, पृष्ठ ५३, ६६, ७३।
३२. वही, पृष्ठ ५७।
३३ वही, पृष्ठ ६०, ७२।
३४. वही, पृष्ठ ७१, ७६।
३५ चरनदासजी की बानी, भाग २, पृष्ठ १।
३६. वही, पृष्ठ ४।
३७. वही, पृष्ठ ९।
३८ वही पृष्ठ १६।
३९ की बानी भाग १ पृष्ठ ५४ ५५ ६२ ६

गाया है—"सकल पदारथ घट ही माही[1]", ऐसे ही निर्गुण की शय्या पर सोकर सभी भयों को दूर करने का उपदेश दिया है,[2] वहाँ तक पहुँचने के लिए गुरु का सहारा अनिवार्य है,[3] अमरपद निर्वाण की प्राप्ति के लिए सभी बाह्य कर्मकाण्डो को त्याग कर नामस्मरण तथा गुरु के माध्यम से साधनारत होना उचित है। इसी प्रकार निर्भय, अभय और अमर निर्वाण-पद का साक्षात्कार सम्भव है। सन्त चरणदास के ये विचार एवं साधना के मार्ग बौद्ध-साधना के सर्वथा अनुरूप एवं उससे प्रभावित है, जो उन्हे सन्त-परम्परा से प्राप्त हुए थे।

चरणदासी सम्प्रदाय के ५२ प्रमुख शिष्य-परम्पराएँ तथा शाखाएँ बतलाई जाती है। सन्त चरणदास के शिष्यो मे मुक्तानन्द, रामरूप, रामसनेही, जोगजीत, सहजोबाई, दयाबाई आदि प्रमुख थे। इनमे सहजोबाई और दयाबाई दोनो महिला सन्त थी और ये भी डेहरा ग्राम की ही रहनेवाली विदुषी महिला थी। सहजोबाई का जीवनकाल ई० सन् १६८३-१७६३ माना जाता है तथा दयाबाई का सन् १७१८–१७७३। इन दोनो की रचनाएं क्रमश. "सहज प्रकाश" और "दयाबोध" प्रसिद्ध है। ये दोनों गुरु-बहिने अपने गुरु की सजातीया थीं। कहा जाता है कि "शब्द" तथा "सोलह तत्व निर्णय" भी सहजोबाई की ही रचनाएँ है और ऐसे ही "विनयमालिका" दयाबाई की। चरणदासी सम्प्रदायवाले अधिकतर दिल्ली, उत्तर प्रदेश, पंजाब और राजस्थान मे पाये जाते है। इनका प्रधान केन्द्र दिल्ली है। वही सन्त चरणदास की समाधि बनी हुई है। डेहरा मे भी इनकी छतरी है, जहाँ इनकी माला, वस्त्र और टोपी सुरक्षित है। वहाँ प्रतिवर्ष वसन्तपंचमी के दिन मेला लगता है[4]।

गरीबदासी सम्प्रदाय

गरीबदास बावरी सम्प्रदाय के अन्तिम प्रसिद्ध सन्त थे। इन्होने अपने नाम से एक अलग सम्प्रदाय की स्थापना की। इनका जन्म सन् १७१७ मे रोहतक जिलान्तर्गत झज्जर तहसील के छुड़ानी ग्राम मे हुआ था। इनके पिता एक जमीदार थे, जो जाट जाति के थे। इनके सम्बन्ध में अनेक प्रकार की किम्वदन्तियाँ एवं अलौकिक चमत्कार की बातें प्रसिद्ध है। ये कबीर साहब को अपना गुरु मानते थे, किन्तु इनके गुरु परमपुरुष भी थे, जुलाहा भी थे और परम सन्त कबीर भी थे—

(१) दास गरीब कबीर का चेरा।
　　सत्त लोक अमरापुर डेरा[5]॥

---

१. चरनदासजी की बानी, भाग १, पृष्ठ ४९।
२. "निरगुन सेज बिछाय सभी करि दूर भय।" —वही, पृष्ठ ३४।
"टुक रंग महल मे आव कि निरगुन सेज बिछी।" —वही, भाग २, पृष्ठ ९।
३. "गुरु बिन वह घर कौन दिखावे।" —वही, भाग २ पृष्ठ ४।
४. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ५९९।
५ गरीबदासजी की बानी पृष्ठ १३५

(२) दास गरीब कबीर का चला,
ज्यूँ का त्यूँ ठहराना[1]।

(३) दास गरीब कबीर का,
पाया अस्थाना[2]।

(४) गरीबदास जुल्हा कहै,
मेरा साध न दहियो कोय[3]।

तात्पर्य यह कि कबीर साहब को अपना मानस-गुरु मानते थे और उन्हे अवतारी पुरुष समझते थे। ऐसा अवतारी पुरुष, जिसने कि हिरण्यकश्यप, रावण आदि दुष्टो को मारकर सन्तों का कल्याण किया[4]। गरीबदास ने उपमास्वरूप अपने को भी कही कोली[5], कही दलाल[6] आदि भी कहा है। इन्होंने बडी श्रद्धापूर्वक बार-बार कबीर, पीपा, नामदेव, धन्ना, रैदास, कमाल, नानक, दादू, हरिदास, सेन, त्रिलोचन, गोरख, जयदेव, रामानन्द, मीरा, केशव, चौरासी सिद्ध आदि[7] सिद्धो, नाथों और सन्तों का स्मरण किया है। इनका प्रभाव भी गरीबदास पर पूर्णरूपेण पडा था, जो उनकी वाणियो से स्पष्ट ज्ञात होता है। परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है कि गरीबदास पर कबीर साहब का ही प्रभाव पड़ा था[8], किन्तु सत्य यह है कि गरीबदास पर पूर्ववर्ती सभी सिद्धो, नाथो तथा सन्तो का प्रभाव पड़ा था। यही कारण है कि गरीबदास बौद्ध-प्रभाव से भी वंचित नही रह सके। उनकी वाणी मे निर्गुण[9], अनित्यता[10], सतगुरु[11], सन्त-सत्संग[12], घट ही मठ[13], अनहद[14], सन्त-महिमा[15], शील-सन्तोष-दया-धर्म-विवेक[16], अभयपद[17], शून्य[18], गगन-मण्डल[19], अमरपुर[20], शून्य-शिखर[21], हंस[22],

१. गरीबदासजी की बानी, पृष्ठ १६४। २. वही, पृष्ठ १८३।
३. वही, पृष्ठ १८४। ४. वही, पृष्ठ १८४।
५. वही, पृष्ठ १३३।
६. वही, पृष्ठ १०५।
७. वही, पृष्ठ २१, ७०, ७१, ७२, ७५, ८९, ९०, १४२।
८. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ६०७।
९. गरीबदासजी की बानी, पृष्ठ १। १०. वही, पृष्ठ ४।
११. वही, पृष्ठ ४।
१२. वही, पृष्ठ ५। १३. वही, पृष्ठ ५।
१४. वही, पृष्ठ ५। १५. वही, पृष्ठ ७।
१६. वही, पृष्ठ ७।
१७. वही, पृष्ठ ७।
१८. वही, पृष्ठ ९। १९. वही, पृष्ठ ९।
२० वही पृष्ठ १०। २१ वही पृष्ठ १४ २४
२२ वही पृष्ठ १४

भँवर-गुंफा[१], शून्य-सरोवर[२], सुरति-निरति[३], निर्वाण[४], साधु-महिमा[५], शून्यबस्ती[६], नाम-महिमा[७], हठयोग[८], घट-घट व्यापी परमेश्वर[९], अहिंसा[१०], शील[११], तीर्थ-व्रत व्यर्थ[१२], निरंजन[१३], सत्त[१४], मूर्तिपूजा-निषेध[१५], सत्तलोक[१६], शून्य-समाधि[१७], ग्रन्थप्रमाण का त्याग[१८], परमपद[१९], जप-तप व्यर्थ[२०], जातिभेद-निषेध[२१], समता[२२], निर्भय-पद[२३], अनित्यता[२४], कायातीर्थ[२५], नामस्मरण[२६], मनप्रधान,[२७] पोथी-पत्रा व्यर्थ[२८], स्नान-शुद्धि निरर्थक[२९], शरीर को तपाना त्याज्य[३०] आदि बौद्धधर्म के सिद्धान्त एवं विचार पर्याप्त मात्रा में आए हुए हैं। सिद्ध सरहपा के "नाचो गाओ विलसो"[३१] के समान गरीबदास का कथन है—

खाय ले पी ले बिलस ले हंसा।
जोड़ जोड़ नहिं धरना रे[३२]॥

जातिभेद के विरुद्ध इन्होंने कबीर के स्वर में ही स्वर मिलाकर कहा है—

कैसे हिन्दू तुरक कहाया, सबही एकै द्वारे आया।
कैसे ब्राह्मन कैसे सूद्रं, एकै हाड़ चाम तन गूदं।
एकै बिन्द एक भग द्वारा, एकै सब घट बोलनहारा।
कौम छतीस एक ही जाती, ब्रह्म बीज सबकी उतपाती।
एकै कुल एकै परिवारा, ब्रह्म बीज का सकल पसारा।

---

१ वही, पृष्ठ १६।
२ वही, पृष्ठ १६।
३ वही, पृष्ठ १६, २३।
४ वही, पृष्ठ १६।
५. वही, पृष्ठ २४।
६. वही, पृष्ठ २९।
७. वही, पृष्ठ २९।
८ वही, पृष्ठ ४८, ५०।
९. वही, पृष्ठ ५५।
१० वही, पृष्ठ ७७, १८०।
११. वही, पृष्ठ ८५।
१२ वही, पृष्ठ ८५।
१३. वही, पृष्ठ ८५, ९६।
१४. वही, पृष्ठ ९०।
१५ वही, पृष्ठ ९४, ५९, ९८, १७८।
१६. वही, पृष्ठ १००।
१७. वही, पृष्ठ १०३।
१८ वही, पृष्ठ १०४।
१९. वही, पृष्ठ ११३।
२०. वही, पृष्ठ १२१।
२१. वही, पृष्ठ १३०।
२२ वही, पृष्ठ १३०।
२३. वही, पृष्ठ १३१।
२४. वही, पृष्ठ १३९।
२५. वही, पृष्ठ १४८, १५१।
२६. वही, पृष्ठ १५६।
२७. वही, पृष्ठ १६५।
२८. वही, पृष्ठ १६५।
२९. वही, पृष्ठ १६५।
३०. वही, पृष्ठ १७८।
३१. दोहाकोश, पृष्ठ ३०।
३२. गरीबदासजी की बानी- पृष्ठ १३९।

ऊच नीच इस विधि ह लाई, कम कुकम कहाव दोई।
गरीबदास जिन नाम पिछाना, ऊँच नीच पद ये परमाना।[1]

ऐसे ही मूर्ति-पूजा के सम्बन्ध मे भी—

पीतल चमचा पूजिये, जो थाल परोसै।
जड मूरत किस काम की, मत रहो भरोसै॥[2]

गरीब्दास ने कबीर के समान ही ब्राह्मण और काजी दोनों को ही फटकारा है और वेद तथा कुरान की दुहाई देकर की जानेवाली हिंसा, कर्म-काण्ड आदि का विरोध किया है—

पण्डित बेद कहै बहु बानी, काजी पढै कुराने।
सुअर गऊ को दोय बतावै, दोनो दीन दिवाने[3]॥
पोथी थोथी काहे ढूँढो, मून रे पण्डित मूढं।
लम्बी जटा अटा क्यूँ बाँवै, काहे मुडावै मूडं॥
जल पापान तरा नहि कोई, सूवा सेम्हर डूँडं।
वह नग हीरा परखा नाहीं, क्यों खोजत हो जूँडं[4]॥

गरीबदास ने जीवन-पर्यन्त गार्हस्थ्य-जीवन व्यतीत किया। ये विवाहित थे। इन्होंने कभी साधु वेप धारण नहीं किया। इन्हे चार पुत्र और दो पुत्रियाँ थीं। इन्होंने सदा अपने ग्राम छुडानी मे ही रहकर सत्संग किया। इनका देहान्त वहीं सन् १७७८ मे हुआ था। इनकी समाधि के पास इनका जामा, पगडी, धोती, जूता, लोटा, कटोरी और पलंग अबतक सुरक्षित है, जिन्हे देखने के लिए श्रद्धालु जनता जाया करती है।

गरीबदास की "हिखर बोध" नामक एक बृहद् रचना उपलब्ध है। इनके कुछ पद और साखियों का एक संग्रह प्रयाग[5] मे भी प्रकाशित है। इनके देहावसान के उपरान्त इनके प्रधान शिष्य सलोत गद्दी पर बैठे थे, किन्तु सम्प्रति गद्दी का उत्तराधिकार वंश-परम्परा के अनुसार चलता है। सभी सन्त गृहस्थाश्रम मे ही रहकर गद्दी का कर्तव्य-पालन तथा भजन करते हैं। इस सम्प्रदाय का प्रधान केन्द्र छुडानी है, जहाँ प्रतिवर्ष मेला लगता है। सम्प्रति इस सम्प्रदाय के अनुयायी पंजाब, दिल्ली, राजस्थान आदि राज्यो मे पाये जाते है।

पानप सम्प्रदाय

पानपदास का जन्म सन् १७१९ में माना जाता है। इनके जन्म-स्थान आदि का निश्चित पता नहीं लग सका है, क्योंकि इनके माता-पिता की आर्थिक दशा ठीक नही थी। उन्होंने इन्हे बचपन मे ही त्याग दिया था। इन्हे एक वृक्ष के नीचे पडा पाकर तिरखान जाति के एक व्यक्ति ने इनका पालन-पोषण किया। उसने इन्हे अपना जातीय शिल्प-कर्म स्थापत्य सिखलाया तथा पढ़ने की भी व्यवस्था की। इन्होंने संस्कृत और फारसी का भी थोड़ा ज्ञान प्राप्त कर लिया। ये स्थापत्य-कला मे निपुण हो गये। उसमे इनकी बड़ी प्रसिद्धि हुई। ये घूम-फिर कर भवन-निर्माण का कार्य करने लगे, उन्हीं दिनो मँगनीराम

---

१. गरीबदासजी की बानी, पृष्ठ १३०, १३१।
२ वही पृष्ठ १७८
३ वही पृष्ठ १६५।
४ वही पृष्ठ १६५
५ प्रस प्रयाग

कबीर-पन्थी सन्त से इनकी भेंट हुई। उनसे प्रभावित होकर इन्होंने दीक्षा ले ली और कार्य के साथ साधना भी करते रहे। कहते हैं कि बिजनौर जिले के धामपुर नामक स्थान में जब ये एक वैश्य के भवन-निर्माण में लगे थे, तब इनके व्यक्तित्व तथा अलौकिक चमत्कार से प्रभावित होकर उसने अपना नवनिर्मित भवन इन्हें दान कर दिया और स्वयं इनका शिष्य हो गया। अब ये वहीं रहकर धर्म-प्रचार का कार्य करने लगे। ये वहाँ से बाहर जाकर फिर वहीं लौट आते। इन्होंने दिल्ली, सरधना, मेरठ आदि नगरों में जाकर ऐसे ही प्रवचन किया। इनका देहान्त सन् १७७३ में हुआ था। इनकी समाधि धामपुर में ही बनी। उस समय इनके मनपादास, काशीदास, चूहड़राम तथा बुद्धिदास—ये चार प्रमुख शिष्य थे।

सन्त पानपदास की रचनाओं के संग्रह का नाम "वाणीग्रंथ" है, जो धामपुर के मठ में सुरक्षित है। अभी तक उसका मुद्रण नहीं हुआ है। शिवव्रतलाल ने 'वाणी-ग्रन्थ' में संग्रहीत इनके १२ ग्रंथों के नाम लिखे हैं, जिनके नाम क्रमश इस प्रकार हैं[1]—साखियाँ, नाम-स्तोत्र, नामलीला, गगनडोरी, ज्ञानसुखमनी, कालाभूत, तत्व उपदेश, इष्ट, रामझलारों, मोहिला, प्रेमरतन और इश्क अर्क। इनकी रचनाओं के मुद्रित न होने के कारण इन पर पड़े बौद्ध-प्रभाव को विस्तृत रूप में बतला सकना सम्भव नहीं है, फिर भी इतना विदित है कि ये एक कबीर-पन्थी सन्त के शिष्य थे, अतः इनकी वाणी, साधना आदि पर कबीरपन्थ का पूर्ण प्रभाव रहा होगा और वे सभी बौद्ध-प्रभाव इन पर पड़े होंगे, जो कबीरदास अथवा उनके अनुयायी सन्तों पर पड़े थे। परशुराम चतुर्वेदी ने इनके दो पदों को उद्धृत किया है[2], उन्हें देखने से ज्ञात होता है कि पानपदास बौद्धधर्म से अवश्य प्रभावित थे और इन पर सिद्धों, नाथों तथा कबीर आदि सन्तों का गहरा प्रभाव पड़ा था। पदों में आए हुए गगनमण्डल, नामस्मरण, सतगुरु, अनित्यता आदि परम्परागत बौद्धप्रभाव के ही द्योतक हैं[3]। पानपदास के अनुयायियों में प्रचलित यह पद भी इसी बात को प्रकट करनेवाला है कि इन पर नानक, रैदास, कबीर आदि सन्तों का प्रभाव पड़ा था और ये भी इन्हीं की परम्परा का निर्वाह करनेवाले सन्त थे—

पापन नानक रैदास कबीरा।
एक तत्व के चार शरीरा[4]॥

---

१. सन्तमाल, पृष्ठ १९१। २. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ६१४।

३ "गगन मण्डल बिच महल करे।
साहिल लावे ग्यान दृष्टि की, अधर धरन पर धरन धरे।
तिरकोनी कुनिया दौड़ाके, महल साधकर ठीक करे॥
नाम धनी की मूली लगावै, ग्यान ध्यान की ईंट धरे।
पानपदास भेद सतगुरु का, यह महला फिर नहीं टरे॥"
"रैन बसे थे आयके, उठ चलना परभात।
पानपदास बटेउवा, प्रीति करे किस साथ॥
हम काहू के मीत ना, हमरा मीत न कोय।
कहे पानप सोइ मीत हमारा, रामसनेही होय॥ —वही, पृष्ठ ६१४ में उद्धृत।

४ वही, पृष्ठ ६१४ में उद्धृत

पानप सम्प्रदाय बहुत प्रसिद्ध नही है और न तो इस सम्प्रदाय के अनुयायी ही अधिक संख्या मे हैं।

रामसनेही सम्प्रदाय

रामसनेही सम्प्रदाय के प्रवर्तक सन्त रामचरण थे। इनका जन्म राजस्थान राज्य के ढूँढाग प्रदेश के सूरसेन अथवा सोडो ग्राम मे सन् १७१९ मे हुआ था। ये विजय वर्गीय वैश्य थे। इनका गृहस्थ नाम रामकृष्ण था। इन्होंने ३१ वर्ष की अवस्था मे गृहत्याग किया और दाँतडा नामक ग्राम में सन्त कृपाराम के पास दीक्षित हो गये। दीक्षोपरान्त इनका नाम रामकृष्ण से बदलकर रामचरण कर दिया गया था। सन्त कृपाराम स्वामी रामानन्द की शिष्य-परम्परा के सन्त थे। जो सन् १७७५ तक जीवित रहे। सन्त रामचरन ने दीक्षित होकर सत्रह वर्षों तक गुप्त-रूप से ध्यान-भावना की। कहते है कि ये किसी गुफा में रहा करते थे और लोगों से नहीं मिलते थे। वहाँ से निकल कर इन्होने ज्ञानपूर्ण वाणियो की रचना प्रारम्भ की और ये शाहपुर के राजा के आग्रह पर वहाँ जाकर रहने लगे। इन्होंने सन् १७६८ में रामसनेही सम्प्रदाय की स्थापना की थी। इनका देहावसान सन् १८२८ मे शाहपुर में ही हुआ था। वहाँ का 'रामद्वारा' मठ इनके सम्प्रदाय का प्रधान केन्द्र है। दाँतडा, गल्ता आदि में भी मठ बने हुए हैं।

सन्त रामचरण की रचनाओ का एक वृहद् संग्रह "स्वामीजी श्री रामचरणजी महाराज की अणभै वाणी" नाम से प्रकाशित हो चुका है। कहा जाता है कि इनकी कुल वाणियाँ ३६२५० है। इस संग्रह मे संग्रहीत ग्रंथो के नाम इस प्रकार हैं—गुरु महिमा, नामप्रताप, शब्द प्रकाश, अणभै-विलास, सुख-विलास, अमृत उपदेश, जिज्ञासु बोध, विश्वास बोध, विश्राम बोध, समता निवास, राम रसायन बोध, चिन्तामणि, मनखण्डन, गुरु-शिष्य-गोष्ठी, ठिग पारख्या, जिन्द पारख्या, पण्डित सवाद लच्छ-अलच्छ जोग, वे जुक्ति तिरस्कार, काफर बोध, शब्द और दृष्टान्त सागर। इनको वाणियों से ज्ञात होता है कि इन पर भी सन्तमत द्वारा गृहीत बौद्ध-प्रभाव पडा था। खसम-भावना[1], नामस्मरण[2], निराकार[3], निराधार[4], सर्वव्यापकता[5], अन्तर्यामी[6], निरंजन[7], घट-घट व्यापकता[8], हठयोग[9], शून्यशिखर[10], अनहद[11] आदि बौद्ध-तत्त्व इनकी वाणियों में प्रचुर मात्रा मे आए हुए है। सिद्धो नाथो तथा सन्तों द्वारा अनुभूत एवं अभ्यस्त हठयोग तथा निर्गुण-उपासना का प्रभाव इनकी साधना पर पूर्ण रूप से पडा दीखता है। "खसम-भावना" मे सन्त रामचरण सन्त कबीर के ही स्वर मे स्वर मिला-कर आत्मनिवेदन करते हैं—

---

१. सन्तकाव्य, पृष्ठ ५०६, ५०९।
२. वही, पृष्ठ ५०६।
३. वही, पृष्ठ ५०७, ५०८।
४. वही, पृष्ठ ५०७।
५ वही, पृष्ठ ५०७।
६. वही, पृष्ठ ५०८।
७. वही, पृष्ठ ५०२।
८ "पाई राम धाम घट माँही"। —वही, पृष्ठ ५०९।
९ वही पृष्ठ ५०९
१० वही पृष्ठ ५०९
११ वही पृष्ठ ५०९

रमइया मोरी पलक न लागे हो
दरस तुम्हारे कारणें, निसिवासर जागू हो ॥
दसूं दिशा जातर करूँ, तेरी पंथ निहारूँ हो।
राम राम की टेर दे, दिन रैण पुकारूँ हो ॥ १ ॥
दास की या अरदास सुण, पिया दरसन दीजै हो।
रामचरण विरहिनि कहै, अब विलम्ब न कीजै हो[1] ॥ ४ ॥

निर्गुण-निराकार राम की भावना भी निराकार-निरंजन परमपुरुष के रूप में ही इन्होंने की है—

निस्प्रेही निर्वैरता निराकार निरधार।
सकल सृष्टि मे रमि रह्यौ, ताको सुमिरन सार[2] ॥

अन्य निर्गुणी सन्तो की भाँति ही इन्होंने भी रामनाम स्मरण से ब्रह्मपद की प्राप्ति कहा है। इनका ब्रह्म निर्वाण, पद-निर्वाण, अमरपद, निर्भयपद आदि नामों से जाना जाता है—

राम राम मुख गाय, ब्रह्म का पद कूँ पायो।
जैसे सरिता नीर धाय, धुरि समद समायो[3] ॥

गुरु-माहात्म्य भी सन्त रामचरण का वैसा ही था, जैसा कि कबीर, रैदास आदि सन्तो का। इनका कथन है कि गुरु राममय होते हैं, गुरु की मूर्ति का ध्यान राम का ध्यान है—

राममयी गुरु जानिये, गुरु नँह जानूं राम।
गुरु मूर्ति को ध्यान उर, रसना उचरै राम[4] ॥

सन्त रामचरण के २२५ शिष्य थे, जिनमे १२ प्रधान थे। इनके देहावसान के उपरान्त इनकी गद्दी पर सन्त रामजन बैठे थे। तदुपरान्त क्रमशः दूल्हाराम, चतुरदास या चत्रदास, हरिनारायणदास आदि महन्त गद्दी के उत्तराधिकारी बने। इस सम्प्रदाय में महन्तो के निर्वाचन के लिए एक बारह व्यक्तियों की समिति है, उस समिति द्वारा ही योग्य उत्तराधिकारी का निर्वाचन होता है और एक महन्त के देहान्त के तेरहवे दिन दूसरे महन्त को गद्दी सौंप दी जाती है। इस सम्प्रदाय के सन्त भगवा-वस्त्र पहनते है। सन्त रामचरण के शिष्यो मे—रामजन, दूल्हाराम, चतुरदास, सन्तदास, जगन्नाथ आदि भी सन्त कवि थे। इनकी भी रचनाओ का एक विशालकाय संग्रह है।

रामसनेही सम्प्रदाय के अनुयायी अहमदाबाद, बडौदा, सूरत, बम्बई, वाराणसी, प्रयाग, राजस्थान आदि मे पाये जाते है। ये जीव हिंसा से सदा विरत रहने का प्रयत्न करते है। संन्यासियो मे खंडाही और मौनी होते हैं। ये खाने, पीने, सोने, बोलने आदि सभी कार्यो मे समय का ध्यान रखते है। शृंगार की वस्तुओ का सेवन नही करते। शराब, दवा आदि बनाना भी इस सम्प्रदाय के सन्तो के लिए निषिद्ध है[5]।

---

१. सन्तकाव्य, पृष्ठ ५०६—५०७ से उद्धृत।
२ वही, पृष्ठ ५०७। ३. वही, पृष्ठ ५०८।
४ उत्तरी भारत की ——— पृष्ठ ६१६ से उद्धृत
५ पृष्ठ ९३ १०३ प्रा० बी० बी० राय लिखित

[आ] फुटकर सन्त

सन्त जम्भनाथ

सन्त जम्भनाथ का जन्म सन् १४५१ मे राजस्थान के नागौर प्रदेश के पयासर नामक ग्राम मे हुआ था। ये परमार राजपूत थे। इनके पिता का नाम लोहित तथा माता का नाम हाँसा था। जनश्रुति है कि ये ३४ वर्ष का अवस्था तक गूँगा रहे। एक दिन अचानक इन्होंने "अचम्भा" शब्द बोला और तभी से इनका नाम भी "जम्भा" पड गया। ये एक उच्चकोटि के सन्त थे। इनकी साधना से ही प्रभावित होकर जनता इन्हे मुनीन्द्र जम्भ ऋषि नाम से पुकारने लगी। इनके किसी गुरु का पता नहीं चलता है, किन्तु इनकी वाणियों से विदित होता है कि ये नाथपंथ से अधिक प्रभावित थे। इन पर सिद्धों-नाथों मे प्रचलित बौद्ध प्रभाव भी पडा था। इन्होंने राजस्थान से बाहर भी घूम-घूमकर अपने मत का प्रचार किया था, जिसे "बिश्नुई" कहा जाता था। इनके अनुयायी आजतक बिजनौर, बरेली, मुरादाबाद आदि जिलो मे पाये जाते हे, किन्तु उनकी संख्या बहुत अल्प हैं। इनका देहान्त सन् १५२३ में तालबा (बीकानेर) मे हुआ था। इनके शिष्यो मे हावलजी पावजी, लोहापागल, दत्तनाथ और मालदेव प्रमुख थे।

सन्त जम्भनाथ की रचनाओ का कोई भी संग्रह आजतक प्राप्त नही हुआ हे। इनके कुछ फुटकर पद ही प्राप्त हुये है। जिनसे ज्ञात होता है कि इनपर बौद्धप्रभाव भली प्रकार पडा था। इनकी वाणी मे अवधूत[1], निरञ्जन[2], हठयोग[3], गगन-मण्डल[4], सत्त[5], सर्वज्ञ[6], घट ही मठ[7] आदि बौद्ध तत्त्व विद्यमान है। जम्भनाथ की साधना पर किस प्रकार बौद्ध-प्रभाव पड़ा था और वे कैसे नाथपथी तथा सन्त-मत की साधना-पद्धति से प्रभावित थे, इसका स्वरूप इस पद मे देखा जा सकता है—

---

१. सन्तकाव्य, पृष्ठ २३५। २. सन्तकाव्य, पृष्ठ २३५।

३. वही, पृष्ठ २३५। ४. वही, पृष्ठ २३५।

५ उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा पृष्ठ ३७२।

६ पृष्ठ २३५ ७ वही पृष्ठ २३५

अजपा जपो र अवधू अजपा जपो ।
पूजो देव निरंजन थानं ॥
गगन-मण्डल में जोति लखाऊँ ।
देव धरो वा ध्यानं ॥
मोह न बन्धन मन परबोधन ।
शिक्षा से ध्यान विचारं ॥
पंच सादत कर सकसा राख्या ।
तो यों उतर वा पारं[१] ॥

हठयोग की भावना आदि को देखकर ही परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है कि "ये सन्तमत के अनुयायी होने पर भी अपने नाथपंथी पूर्व-संस्कारों का पूर्ण परित्याग नहीं कर पाये थे[२] ।" किन्तु नाथपंथ पर भी बौद्धधर्म का कितना गहरा प्रभाव पड़ा था, इसका विचार पहले किया जा चुका है और यह भी लिखा जा चुका है कि कुछ नाथपंथी अवधूत स्वयं सिद्ध भी थे, अतः नाथपथ के प्रभाव के साथ बौद्ध-प्रभाव स्वयंसिद्ध है ।

शेख फरीद

सन्त शेख फरीद एक उच्चकोटि के ज्ञानी थे । गुरु ग्रंथ साहब में इनके ४ पद और १३० श्लोक संग्रहीत हैं, इनसे गुरु नानक की दो बार भेंट होने का वर्णन सिख-इतिहास में मिलता है । ये अपनी परम्परागत गद्दी पर बैठने के ४० वर्षों के पश्चात् सन् १५५२ में परलोकगामी हुये थे । इनका वास्तविक नाम शेख इब्राहिम था । ये फरीदसानी, सलीस फरीद, शेख फरीद ब्रह्मकल, बलराज, शेख ब्रह्म साहब, शाह ब्रह्म आदि अनेक नामों से प्रसिद्ध थे[३] । कहते हैं कि "फरीद" उसी प्रकार की एक परम्परा-सी प्रचलित थी, जैसे कि "नानक" सभी सिख-गुरु कहलाते थे । इस परम्परा के आदि सन्त का भी नाम शेख फरीद था, जिनका जीवन-काल सन् ११७३-१२६५ माना जाता है[४] । उसी परम्परा के शेख इब्राहिम ११ वें सन्त थे । इन्हें आधुनिक पंजाबी का पिता कहते हैं[५] । इन्हें फरीदसानी अर्थात् द्वितीय फरीद इसलिये कहा जाता है क्योंकि ये अपनी परम्परा के आदि सन्त के सदृश तेजस्वी, गुणी, ज्ञानी एवं कवि सन्त थे । इनकी वाणियों का प्रभाव साधारण जनता पर तो पड़ा ही था, सिख गुरुओं पर भी इनका कम प्रभाव नहीं था । गुरु नानक इनसे बहुत प्रभावित थे । इसीलिए अनेक स्थलों पर इन दोनों की वाणियाँ समान हैं । यथा,—सन्त फरीद ने गाया—

---

१ सन्तकाव्य, पृष्ठ २३५ । २. वही, पृष्ठ २३५ ।
३. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ३७३ ।
४ श्री गुरु ग्रन्थ साहिब एक परिचय पृष्ठ १५४
५. वही पृष्ठ १५४ ।

फरीदा पाड़ पटोला धज करी कबलनी पहिरेउ।
जिनी वेसी सहु मिले सोई वेस करेउ[1] ॥

इसी स्वर मे स्वर मिलाते हुए गुरु नानक ने भी गाया—

काइ पटोला पाड़ती कबलनी पहिरेउ।
नानक घर वैठिआ सहु पाईये जो नीअत रास करेइ[2] ॥

ऐसे ही फरीदसाहब ने कहा—

फरीदा रत्ती रतु न निकले जे तनु चीरे कोइ।
जो तनु रते रब सिउ तिन तन रत न होइ[3] ॥

इसी भाव को और इन्ही शब्दो में गुरु नानक ने व्यक्त किया—

इहु ननु सभोरत है रत बिन तनु न होइ।
जो तनु रते रब सिउतिन तनु लोभ रत न होइ[4] ॥

इसी प्रकार शेख फरीद की वाणी का सिख गुरुओं की वाणी के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि शेख फरीद के १३० श्लोको में मे श्लोक नं० १३ ३२, ५२, १०४, ११३, १२०, १२२, १२३ और १२४ गुरु नानक तथा गुरु अमरदास ने उसकी व्याख्या मे ही लिखे है[5]। इन बातो से स्पष्ट है कि शेख फरीद सन्तमत के अनुयायी थे और उनपर नाथपंथी तथा सिद्ध-योगियों का प्रभाव पड़ा था। वे सूफी मत से भी प्रभावित थे। परशुराम चतुर्वेदी का यह कथन समीचीन नही है कि शेख फरीद सूफी ही थे[6], क्योकि उनकी वाणी मे सन्तमत के उपदेश[7], खसम-भावना[8], हठयोग[9], नामस्मरण का माहात्म्य[10] आदि बौद्ध-प्रभाव स्पष्ट रूप से पड़ा हुआ दीखता है। वे परमात्मा को पति-स्वरूप मानकर कौवे को सम्बोधित कर कहते है—हे काग, तू मेरे शरीर के सम्पूर्ण मास को खा लेना, किन्तु इन दो नयनो को न छूना, क्योकि ये प्रियतम को देखने की आशा लगाये हुए है—

कागा करंग ढंढोलिआ, सगला खाइआ मासु।
ये दुइ नैना मति छुहउ, पिव देखन की आस[11] ॥

शेख फरीद का जन्म पंजाब के कोठीवाल नामक ग्राम मे हुआ था और उनकी गुरुगद्दी पाकपत्तन मे थी। ये विवाहित थे। इनके दो लड़के थे जिनके नाम क्रमश. शेख मुहम्मद ताजुद्दीन तथा शेख मुनव्वर शाह शहीद थे। इनके अनेक शिष्य भी थे, जिनमे फतेहपुर निवासी शेख सलीम चिश्ती का नाम बहुत प्रसिद्ध है[12]।

---

१. सिखधर्म और भगत मत, पृष्ठ ७। २. वही, पृष्ठ ७।
३. वही, पृष्ठ ७। ४. वही, पृष्ठ ८।
५. साहिबसिंह कृत गुरमति प्रकाश, पृष्ठ २२, तथा श्रीगुरुग्रन्थ साहिब : एक परिचय, पृष्ठ १७।
६. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ३७८।
७. सन्तकाव्य, पृष्ठ २५३, २५४। ८. वही, पृष्ठ २५४।
९. वही, पृष्ठ २५४। १०. वही, पृष्ठ २५३।
११ पृष्ठ २५४ १२ उत्तरी भारत की पृष्ठ ३७३

सन्त सिंगाजी

सन्त सिंगाजी का जन्म सन् १५१९ में मध्यप्रदेश के बड़वानी रियासत के खूजरी नामक ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम भीमागौली तथा माता का नाम गौरबाई था। ये जाति के अहिर थे। इनके जन्म के लगभग पाँच वर्षों के उपरान्त ही इनके पिता हरसूद नामक स्थान में जाकर बस गये थे। वहीं पर इनका तथा इनके भाई-बहिनों का विवाह हुआ था। ये २१ वर्ष की आयु में भामगढ़ निमाड़ के रावसाहब के यहाँ चिट्ठी-पत्री पहुँचाने के लिए एक रुपया प्रतिमास वेतन पर उपस्थापक हो गये। एक बार चिट्ठी-पत्री लेकर जाते समय मार्ग में मनरंगीरजी के भजन सुनकर इन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया। इन्होंने नौकरी छोड़कर मनरंगीरजी के पास जाकर दीक्षा ले ली। ये ४० वर्ष से कुछ ही दिन अधिक जीवित रह सके। कहते हैं कि एक बार श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी की रात्रि में सन्त मनरंगीरजी ने इनसे कहा था कि मुझे नींद आ रही है, मैं सोने जा रहा हूँ, आधी रात के समय जन्म के समय मुझे जगा देना, किन्तु सिंगाजी ने उन्हें न जगाकर स्वयं ही पूजादि क्रिया सम्पन्न की। जब मनरंगीरजी की नींद टूटी तो देखा कि मैं सोता रह गया और मेरे शिष्य ने मेरी आज्ञा की अवहेलना कर स्वयं ही भगवान् की पूजा कर ली। यह कार्य उन्हें बहुत अनुचित लगा। उन्होंने तुरन्त सिंगाजी को बहुत फटकारा और कहा—"जा रे दुष्ट, तू जीते जी फिर कभी मुख न दिखलाना।" सिंगाजी को यह बात लग गई। वे वहाँ से अपने निवासस्थान पिपल्या चले गये और कुछ ही मास के उपरान्त उन्होंने सन् १५५९ में किंकड़ नदी के किनारे जीवित समाधि ले ली। इनकी समाधि का स्थान आज भी किंकड नदी के तट पर विद्यमान है, जहाँ प्रतिवर्ष आश्विन मास में एक बहुत बड़ा मेला लगता है[१]।

सिंगाजी ने अपने जीवन-काल में ८०० भजनों की रचनाएं की थीं और उनके संग्रह का नाम "अनहद की नाद" रखा था। इसकी भाषा निमाडी है। इनके भजन बडे आकर्षक, भावपूर्ण एवं हृदयग्राही हैं। इनकी रचनाओं का एक लघु-संग्रह खंडवा से प्रकाशित हुआ है[२]। इसे देखने से ज्ञात होता है कि सिंगाजी एक उच्चकोटि के निर्गुण-उपासक सन्त थे। इन पर सिद्धों, नाथों तथा सन्तों का पूर्ण प्रभाव पडा था। इनकी वाणी में शून्य[३], घट ही मठ[४], परमात्मा की सर्वव्यापकता[५], निर्गुण ब्रह्म[६], चौरासी सिद्ध[७], त्रिकुटी महल[८], अनहद[९], हठयोग[१०], खसम-भावना[११], निर्वाण[१२], सुरति[१३], आनापानस्मृति-भावना[१४] आदि बौद्धधर्म के

---

१. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ३७९-३८०।

२. सिंगाजी-साहित्य-शोधक मंडल, खंडवा द्वारा प्रकाशित तथा श्रीसुकुमार पगारे द्वारा सम्पादित।

३. सन्तकाव्य, पृष्ठ २६९, २७०।

४. वही, पृष्ठ २७०, २७१।

५. वही, पृष्ठ २७०।

६. सन्तकाव्य, पृष्ठ २७०।

७. वही, पृष्ठ २७०।

८. वही, पृष्ठ २७०।

९. वही, पृष्ठ २७०।

१०. वही, पृष्ठ २७०।

११. वही, पृष्ठ २७०।

१२. वही, पृष्ठ २७०।

१३ वही, पृष्ठ २७१

१४ वही पृष्ठ २७१

प्रभाव-द्योतक तत्त्व पर्याप्त मात्रा मे पाये जाते है। ये कबीरदास से बहुत ही प्रभावित जान पडते है, क्योकि इन्होने कबीर के कुछ पदो को थोड़े से परिवर्तन के साथ अपना लिया है, किन्तु अन्तर शाब्दिक ही है, उनके भावार्थ प्राय: समान है। कबीर की यह वाणी प्रसिद्ध है—

पानी बिच मीन पियासी,
मोहिं सुन सुन आवै हाँसी।
घर में वस्तु नजर नहिं आवत,
बन बन फिरत उदासी॥
आतमज्ञान बिना जग झूँठा,
क्या मथुरा क्या कासी[1]॥

इसे ही सिंगाजी ने इस प्रकार गाया है—

पाणी मे मीन पियासी,
मोहे सुन सुन आवै हाँसी।
जल बिच कमल कमल बिच कलियाँ
जँह वासुदेव अविनासी।
घट मे गगा घट मे जमुना
वहीं द्वारिका कासी।
घर वस्तु बाहर क्यों ढूँढो,
बन बन फिरो उदासी।
कहै जन सिंगा सुनो भाइ साधू,
अमरापुर के वासी[2]।

इसी भाव को प्रगट करते हुए इन दोनों सन्तो से पूर्व ही सिद्ध सरहपा ने भी इसी तथ्य का गीत गाया था।[3] बौद्धधर्म की आनापानस्मृति-भावना का संकेत सिंगाजी की इस साखी में मिलता है—

वास स्वास दो बैल है, सुर्ति रास लगाव।
प्रेम परिहाणो करधरो, ज्ञान आर लगाव[4]॥

इस प्रकार प्रकट है कि सिंगाजी पर बौद्धधर्म का प्रभाव निश्चित रूप से पड़ा था।

सिंगाजी के शिष्यो मे दलुदास का नाम प्रसिद्ध है। वे सिंगाजी के नाती या पौत्र थे। उन्होने सिंगाजी को ईश्वर-स्वरूप मानकर उनके प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की है। वे भी निर्गुण-उपासना के ही साधक थे। उन पर अपने गुरु सिंगाजी का पूर्ण प्रभाव पड़ा था। उनका कथन था—

---

१. कबीर, पृष्ठ २६३। २. सन्तकाव्य, पृष्ठ २७०।
३ दोहाकोश पृष्ठ ४ तथा हिन्दी काव्यधारा पृष्ठ ८ में काया-तीर्थ
४ पृष्ठ २७

हम क्या जाना पटा परवाना,
एक निर्गुण ब्रह्म हमारा।
एक पुरुष की माड मंडी है,
सोई देव हमारा[१] ॥

सन्त भीखन

सन्त भीखन के सम्बन्ध में बहुत अल्प सूचनायें प्राप्त हैं। आदिग्रन्थ में इनके दो पद संग्रहीत हैं, जिनकी शैली के आधार पर परशुराम चतुर्वेदी का मत है कि ये हिन्दू सन्त थे[२], डॉ० धर्मपाल मैनी का कथन है कि सम्भवतः ये जन्म से मुसलमान होकर भी जीवन भर हिन्दू ही रहे हों[३], किन्तु परम्परा सन्त भीखन को मुस्लिम सन्त मानती है और कहा जाता है कि ये काकोरी के शेख भीखन थे[४]। सिख इतिहास के सुविज्ञ लेखक मेकालिफ साहब ने भी इसी पक्ष को स्वीकार किया है[५]। हमारा भी यही मत है कि शेख फरीद की भाँति ये भी शेख ही थे। इन पर कबीर का गहरा प्रभाव पड़ा था और उसी प्रभाव के कारण इनकी रचना में एक विशेष आकर्षण, प्रवाह एवं सरसता है। इन्ही के सम्बन्ध मे फारसी के इतिहास-लेखक बदायूनी ने लिखा है—"भीखन लखनऊ राज्यान्तर्गत काकोरी के रहने वाले थे। वे महान् विद्वान्, चरित्रवान् एवं बहुश्रुत थे। वे पहले शिक्षक थे। पीछे सूफीमत की साधना मे लग गये थे। वे एकान्त मे अपने मत का रहस्य प्रकट करते थे। उन्हें कई सन्तानें थी। अकबर एक बार उनकी समाधि के पास अपने कल्याण की कामना से गया था और वहाँ पडाव डाला था[६]।" सन्त भीखन का देहान्त सन् १५७३-७४ में हुआ था।

सन्त भीखन के पदों को देखने से विदित होता है कि ये निर्गुण सन्त थे और इन पर भी सन्त-परम्परागत बौद्ध-प्रभाव पडा था। इनकी वाणी मे नाम-महिमा, सन्त, गुरु-माहात्म्य, मोक्ष, कर्म-फल आदि[७] बौद्ध-तत्व आये हुए है। इनके जो दो पद गुरुग्रन्थ-साहिब में संग्रहीत हैं, उनमें एक मे शरणागमन और दूसरे में नाम-महत्व पर विशेष रूप से बल दिया गया है। शरणागमन मे सन्त भीखन ने अन्तिम शरण ग्रहण की है—

नैनहु नीरु बहै तनु खीना, भए केस दुधावनी।
रूधा कंठु सबदु नही उचरै, अब किआ करहि परानी।
राम राइ होहि बैद बनवारी, अपने सन्तहु लेहु उबारी[८] ॥

---

१. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ३८२।
२. वही, पृष्ठ ३८५।
३. श्रीगुरुग्रन्थ साहिब : एक परिचय, पृष्ठ १५५।
४ श्रीगुरुग्रन्थ-दर्शन, पृष्ठ २९।
५. दि सिख रिलीजन, भाग ६, पृष्ठ ४१४६।
६ दि सिख रिलीजन भाग ६ पृष्ठ ४१४६
७ पृष्ठ २७२
८ वही पृष्ठ २७२

ऐसे ही नाम-महिमा का वर्णन करते हुए 'नाम-रत्न' को पुण्य-पदार्थ कहा है—

ऐसा नामु रतनु निरमोलकु, पुंनि पदारथु पाइआ।
अनिक जतन करि हिरदै राखिआ, रतनु र छपै छपाइआ।
हरिगुन कहते कहनु न जाई, जैसे गुंगे की मिठिआई[1]।

इन पदो मे आये 'रामराइ', 'हरि', नाम-रत्न आदि से जान पड़ता है कि इन पर अवश्य हिन्दी-सन्तो का अमिट प्रभाव पड़ा था और ये एक पहुँचे हुए सन्त थे। यदि इनकी अधिक रचनाएँ प्राप्त हुई होती तो इनके ऊपर पडे प्रभाव आदि का विस्तारपूर्वक परिचय प्राप्त होता, किन्तु सम्प्रति गुरुग्रन्थ साहब मे संकलित दो पद ही इनके परिचायक तथा अमर-कृति है।

दीन दरवेश

सन्त दीन दरवेश सत्रहवी शताब्दी के अन्तिम चरण अथवा अठारहवी शताब्दी के प्रारम्भ मे पाटन नामक ग्राम मे उत्पन्न हुए थे। ये जाति के लोहार थे। ये पहले सूफी मत के अनुयायी थे और "ईस्ट इंडिया कम्पनी" मे मिस्त्री का काम करते थे। एक समय सैनिक-कार्य मे संलग्न होने पर गोला लग जाने से इनकी एक बाँह कट गयी और ये सेवा-मुक्त कर दिये गये। तब से इन्होने वैराग्य लेकर निर्गुण उपासना की साधना प्रारम्भ की। ये बहुत पढ़े-लिखे नही थे। फारसी का इन्हे थोड़ा ज्ञान था। इन्होने हिन्दू और मुस्लिम तीर्थों की यात्रायें की। बडनगर के निवासी बालनाथ नामक नाथपंथी योगी से इन्होंने सन्त-दीक्षा ली। इन्हे कविता करने की ओर इनके गुरु ने ही प्रवृत्त किया था। ये प्रत्येक पूर्णिमा को बड़ी श्रद्धा के साथ सरस्वती नदी मे स्नान करते थे। सभी प्रकार के सन्तो से सत्संग करना और हिन्दू-मुसलिम-एकता का सन्देश देना इनका प्रधान कार्य था। ये आध्यात्मिक चिन्तन एवं उसके विकास मे निरत रहने वाले सन्त थे। इन्होने उस दिव्य ज्योति को अपने हृदय मे ही पूर्ण रूप से प्रभासित पाया था[2]। अन्तिम समय मे ये काशी मे रहने लगे थे और वही वृद्धावस्था मे इनका देहान्त हुआ था[3]।

सन्त दीन दरवेश ने कुंडलिया छन्द मे रचनाएँ की थी, जिनकी संख्या सवा लाख कही जाती है। डॉ० बड़थ्वाल ने पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के पास इनकी रचनाओ का एक संग्रह देखा था, किन्तु उसमे इतने अधिक छन्द नही थे[4]। इनकी रचनाओं का कोई संग्रह अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है। सन्त वाणियो के अनेक संग्रहों मे इनकी कुछ रचनाएँ संग्रहीत मिलती है। इनकी वाणी को देखने से विदित होता है कि ये विश्व-प्रेम, मैत्री, समता, ईश्वर की सर्वव्यापकता, निर्गुण-निराकार ब्रह्म, कर्मवाद, अनित्यता आदि के प्रतिपादक तथा प्रचारक थे। इनके जो छन्द प्राप्त है उनमे केवल मैत्री, विश्वबन्धुत्व, अनित्यता आदि को ही बौद्धधर्म

का प्रभाव कहा जा सकता है। जब तक इनकी सम्पूर्ण रचनाएँ प्रकाश मे नही आ जाती, तब तक इन पर पड़े बौद्धप्रभाव को बतला सकना सम्भव नही है। हम केवल इतना ही अनुमान लगा सकते हैं कि ये एक नाथपंथी योगी के शिष्य थे, तो इन पर बौद्धधर्म के उन तत्वों का परम्परागत प्रभाव अवश्य पड़ा होगा, जिनका कि नाथ सम्प्रदाय पर पड़ा था।

सन्त दीन दरवेश ने हिन्दू-मुसलमानो की एकता के लिए जो प्रयत्न किया और अनित्यता, मैत्री, परोपकार आदि गुणधर्मो का जो प्रवचन किया, वह एक आदर्श सन्त मे ही पाया जा सकता है। इनका कथन था कि हिन्दू और मुसलमान दोनों ही एक वृक्ष को दो शाखाएँ हैं, इनमे कोई घट-बढ़कर नही है, प्रत्युत दोनो ही समान है, जैसे नदियाँ समुद्र मे मिलकर समान हो जाती है, वैसे ये सभी राम-रहीम से मिलकर एक हो जाते है। सबका स्वामी एक ही परमात्मा है। संसार माया स्वरूप है, यहाँ कोई नित्य रहने वाला नही है, अकबर, बीरबल, गंग, महाराज फतेहसिंह आदि सभी यहाँ से सदा के लिए उठ गए, अतः संसार की क्षणभंगुरता को जानकर, अभिमान आदि चित्त के कलुष को त्याग देना ही उचित है—

हिन्दू कहें सो हम बड़े, मुसल्मान कहे हम्म।
एक मूंग दो झाड़ है, कुण ज्यादा कुंण कम्म॥
कुण ज्यादा कुण कम्म, कभी करना नहिं कजिया।
एक भगत हो राम, दूजा रहिमान सो रजिया॥
कहै दीन दरवेश, दोय सरिता मिल सिन्धू।
सबका साहब एक, एक मुसलिम एक हिन्दू॥
बंदा बाजी झूठ है, मत साची करमान।
कहाँ बीरबल गंग है, कहाँ अकब्बर खान॥
कहाँ अकब्बर खान, भले की रहे भलाई।
फतेहसिंह महाराज, देख उठ चल गये भाई॥
कहा दीन दरवेश, सकल माया का धंधा।
मत साँची कर मान, झूठ है बाजी बंदा[1]॥

सन्त दीन दरवेश के शिष्यों या सम्प्रदाय के सम्बन्ध मे कोई जानकारी नहीं प्राप्त हो सकी है। कहा जाता है कि कुछ लोग अपने को दीन दरवेशी कहते है। इनके वंशजो का भी कुछ पता नही लग सका है[2]।

बुल्लेशाह

सन्त बुल्लेशाह के सम्बन्ध मे अनेक किंवदन्तियाँ है। एक मत है कि ये रूम देश के रहने वाले थे और बचपन मे ही दस वर्ष की अवस्था मे साधु-सन्तो के साथ भारत चले आये थे[3]। दूसरे मत के अनुसार ये पहले बलख के बादशाह थे। इन्होने विरक्त होकर मियाँ

१ भजन संग्रह चौथा भाग गीता प्रेस गोरखपुर पृष्ठ १४७

२ उत्तरी भारत का पृष्ठ ६२३ ३ सन्तबानी संग्रह भाग १ पृष्ठ १५१

मीर के पास भारत आकर दीक्षा ले ली थी[१]। तीसरा मत इन्हे कुस्तुन्तुनिया का मानता है और कहता है कि ये किशोरावस्था मे भारत चले आये थे[२], किन्तु अब विद्वानो ने प्रमाणित किया है कि बुल्लेशाह भारतवासी थे। ये कहीं बाहर से नही आए थे[३]। इनका जन्म सन् १६८० मे पश्चिमी पाकिस्तान के लाहौर जिलान्तर्गत पण्डोल नामक ग्राम मे हुआ था। इनके पिता का नाम मुहम्मद दरवेश था। तरुण होने पर इनमे आध्यात्मिक चेतना जागृत हुई और ये उस समय के प्रसिद्ध सूफी सन्त इनायतशाह के शिष्य हो गये थे। इन्होने जीवन भर विशुद्ध ब्रह्मचारी जीवन व्यतीत किया था। ये सदा सन्तवेश मे रहते थे। ये कभी गृहस्थ नही रहे। ये मौलवी, काजी, पण्डित आदि के कट्टर विरोधी थे। मन्दिरो और मस्जिदो को चोरो का अड्डा मानते थे। यही कारण है कि मौलवी सदा इनके प्रति क्रूर बने रहे और कई बार उनके द्वारा इन्हे कष्ट देने का प्रयत्न किया गया। इन पर कबीर-पंथ का बडा गहरा प्रभाव पड़ा था। इन्होने कबीर साहब की अनेक वाणियो को थोडे से परिवर्तन के अनुसार अपना लिया था। कबीर की यह चेतावनी बहुत प्रसिद्ध है—

आछे दिन पाछे गये, गुरु से किया न हेत।
अब पछतावा क्या करै, जब चिडियाँ चुग गँइ खेत[४]॥

सन्त बुल्लेशाह ने इसे ही इस प्रकार दुहराया है—

बुल्ला हच्छे दिन तॉ पिच्छे गये, जब हरि किया न हेत।
अब पछुतावा क्या करे, जब चिड़ियॉ चुग लिया खेत[५]॥

इसी प्रकार इनकी वाणी मे कबीर-पंथ मे प्रचलित प्राय सभी बौद्ध-तत्व पाये जाते है। ग्रन्थ-प्रमाण-निषेध[६], ईश्वर की सर्वव्यापकता[७], तीर्थ-व्रत का त्याग[८], गंगा-स्नान आदि से शुद्धि नही[९], पिण्डदान करना व्यर्थ[१०], अनित्यता[११], आवागमन[१२], नाम-महिमा[१३], अशुभ-भावना[१४], हंस[१५], क्षणभंगुरता[१६], खसम-भावना[१७], समता[१८], घट ही मठ[१९], अनहद[२०], मूर्ति-पूजा-खण्डन[२१] आदि सैद्धान्तिक एवं आचार-व्यवहार के तत्व जो सन्त बुल्लेशाह की

१. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ६२४।
२ वही, पृष्ठ ६२५।
३. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ६२५।
४. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ९।
५. वही, पृष्ठ १५३।
६. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ १५२।
७. वही, पृष्ठ १५२।
८ वही, पृष्ठ १५२।
९. वही, पृष्ठ १५२।
१० वही, पृष्ठ १५३।
११. वही, पृष्ठ १५३।
१२. सन्तबानी संग्रह, भाग २, पृष्ठ १७२।
१३. वही, पृष्ठ १७२।
१४ वही, पृष्ठ १७२-१७३।
१५. वही, पृष्ठ १७३।
१६. वही, पृष्ठ १७३।
१७. वही, पृष्ठ १७३।
१८ वही पृष्ठ १७५
१९ वही पृष्ठ १७५
२० वही पृष्ठ १७१
२१ सन्तबानी संग्रह भाग १ पृष्ठ १५२

वाणी में पाये जाते हैं, वे सन्त-परम्परागत बौद्ध-प्रभाव के ही द्योतक हैं। इन्होंने तीर्थ-व्रत की निस्सारता और मूर्ति-पूजा, पंडे-पुजारियों आदि की तुच्छता पर प्रकाश डालते हुए सिद्धों तथा कबीर साहब के स्वर में ही कटु-सत्य सुनाया है—

बुल्ला धर्मसाला विच धावड़ी रहंदे, ठाकुरद्वारे ठग्ग।
मसीतॉं बिच कोस्ती रहदे, आसिक रहन अलग्ग॥
बुल्ला धर्मसाला बिच साला नहिं, जित्थे मोहनभोग जिवाय।
बिच्च मसीतॉं धक्के मिलदे, मुल्लॉं थोड़े पाय॥
ना खुदा मसीते लभदा, ना खुदा खाना कावे।
ना खुदा कुरान किताबॉं, ना खुदा नमाजे॥
ना खुदा मैं तीरथ दिट्ठा, ऐवे पैंडे झागे।
बुल्ला शौह जद मुरशिद मिल गया, टूटे सब्ब तगादे॥
बुल्ला मक्के गयॉं गल्ल मुकदी नहीं, जिचर दिलो न आप मुकाय।
गंगा गयॉं पाप नहिं छुटदे, भावें सौ सौ गोते लाय॥
गया गयॉं गल्ल मुकदी नही, भावे कितने पिंड भराय।
बुल्लेशाह गल्ल तॉंई मुकदी, जब मैं नूँ खड़्या लुटाय[1]॥

समता तथा घट-घट व्यापी ईश्वर के सम्बन्ध में प्रवचन करते हुए बुल्लेशाह ने पारस्परिक भेद-भाव त्यागकर अनहद के शब्द को सुनने की ओर प्रवृत्त करने का प्रयत्न किया है और कहा है कि संसार में सब समान हैं, सभी सज्जन हैं, कोई चोर नहीं है। बौद्धधर्म की मैत्री-भावना का कैसा उच्च आदर्श बुल्लेशाह की वाणी में दिखाई देता है—

दुई दूर करो कोई सोर नही, हिंदू तुरक कोइ होर नहीं।
सब साधु लखो कोइ चोर नही, घट-घट मे आप समाया है॥
ना मै मुल्ला ना मै काजी, ना मै सुन्नी ना मै हाजी।
बुल्लेशाह नाल लाई बाजी, अनहद सबद बजाया है[2]॥

बुल्लेशाह ने भगवान् बुद्ध[3] तथा कबीर[4] की भॉंति ससार मे भटकने वाले यात्रियों को प्रमाद छोड़कर अप्रमाद मे लगने का उपदेश दिया है और कहा है कि अब भी तो जागृत होवो, सारी आयु तो यों ही बीत गयी, अब तो मृत्यु आ खड़ी हुई है और प्रस्थान करने का समय आ गया है—

अब तो जाग मुसाफिर प्यारे।
रैन घटी लटके सब तारे॥
आवागौन सराई डेरे।
साथ तयार मुसाफर तेरे

अजे न सुन दा कूच नगारे।
कर लै आज करन दी बेला॥
बहुरि न होसी आवन तेरा।
साथ तेरा चल चल्ल पुकारे॥
आपो अपने लाहे दौड़ी।
क्या सरधन क्या निरधन बौरी॥
लाहा नाम तू लेहु सँभारे।
बुल्ले सहु दी पैरी परिये॥
गफलत छोड हीला कुछ करिये।
मिरग जतन बिन खेत उजारे[1]॥

बुल्लेशाह ने सन्त-दीक्षा लेने के उपरान्त कुसूर नामक स्थान मे निवास किया था और वही सन् १७५३ मे इनका देहावसान भी हुआ था। आज भी इनकी गद्दी और समाधि वहाँ विद्यमान है[2]।

बाबा किनाराम

बाबा किनाराम का जन्म सन् १६२७ मे वाराणसी जिले की चन्दौली तहसील के रामगढ नामक ग्राम मे हुआ था[3]। इनके पिता का नाम अकबर सिंह था। ये रघुवशी क्षत्रिय थे। इनका विवाह १२ वर्ष की अवस्था में ही हो गया था, किन्तु गौना होने से पूर्व ही इन्होने गृहत्याग कर दिया। कहते है कि पत्नी का भी देहान्त संयोगवश हो चुका था। ये घर से चुपचाप निकल कर गुरु की खोज में बलिया की ओर चले गये। वहाँ कारो नामक ग्राम में बाबा शिवराम मे दीक्षित हो गये और उन्ही के पास रहने लगे। इनके गुरु विवाहित थे। पूर्व-पत्नी का देहान्त हो जाने पर जब वे दूसरा विवाह करने लगे, तब ये उनसे अप्रसन्न होकर आज्ञा ले अपनी जन्मभूमि को लौट आये। इन्हे वापस आया हुआ देख घरवालो को बडी प्रसन्नता हुई और उन्होने इनके दूसरे विवाह की चर्चा छेडी। ये गृहस्थ जीवन पसन्द नही करते थे, फलत. इस बार भी घर से निकल भागना ही उत्तम समझा। ये तीर्थ-यात्रा पर निकल पडे और फिर चारों धामों की यात्रा कर घर लौटे। इस बार इन्होंने अपने गाँव से पूर्व ओर एक कुटी बना ली और रामसागर आदि कुँओं का बहुजन हिताय निर्माण कराया। जनता का इन कार्यो मे इन्हे पूरा सहयोग प्राप्त हुआ। ये कुछ दिनो रहकर फिर यात्रा पर निकल पड़े। इस बार इनके साथ बिजाराम नामक एक तरुण भी हो लिया था। कहते है कि जूनागढ़ मे किसी कारण बिजाराम को वहाँ के नवाब के कर्मचारियों ने बन्दी बना लिया। उसे छुड़ाने के प्रयत्न मे बाबा किनाराम को भी कुछ दिनो कारागार मे रहना पड़ा। इन्होंने कारागार मे ऐसे अद्भुत चमत्कार दिखलाये कि नवाब इनसे बहुत प्रभावित हो गया और इन्हे मुक्त कर दिया।

---

१ सन्तबानी सग्रह भाग २ पृष्ट १७२ २ हिन्दी काव्य में निगुण पृष्ठ ८६
३ विवेकसार पष्ठ ४३

ये वहाँ से यात्रा करते हुए गिरनार पहुँचे। वहाँ इन्हें एक ऐसे सन्त से भेंट हुई, जिसने इन्हे दीक्षित कर पूर्ण भक्ति एवं ज्ञान-विज्ञान से पूर्ण कर दिया। अपने ग्रन्थ विवेक-सार मे बाबा किनाराम ने उस गुरु का नाम दत्तात्रेय कहा है और उन्हे अवधूत मतावलम्बी माना है—

पुरी द्वारिका गोमती गंगासागर तीर।
दत्तात्रेय मो कहँ मिले हरन महा भव पीर॥
अति दयाल मम सीस पर कर परस्यो मुनिराय।
ज्ञान विज्ञान भक्ति दृढ़ दीन्हो हृदय लखाय[1]॥

सन् १६९७ मे इन्होने वाराणसी के केदारघाट के प्रसिद्ध अघोरी सन्त कालूराम की ऋद्धियो से प्रभावित होकर "कृमिकुंड" पर दीक्षा ग्रहण कर ली। कहा जाता है कि इसी कालूराम ने दत्तात्रेय के रूप मे गिरनार पर्वत तथा अन्य स्थानों मे किनाराम को दर्शन दिया था[2]। हम देख आये है कि "अवधूत" धुतांगधारी योगियों का ही द्योतक है, इसीलिए सिद्धों और नाथों मे "अवधूत" और "औघड़" नाम प्रचलित थे। वास्तव मे "औघड" वही हैं जो कि "अशुभ-कर्मस्थान" की साधना मे प्रवृत्त रहते है। विशुद्धि-मार्ग के छठें परिच्छेद मे इसका विस्तारपूर्वक वर्णन आया हुआ है[3] ऐसे योगी प्रायः श्मशानो मे ही रहा करते है और मृत-शरीर की दस अवस्थाओ का मनन करते हुए साधना-निरत रहते है[4]। अतः अवधूत तथा औघड—इन दोनों शब्दों का मूलस्रोत बौद्धधर्म है और ये दोनों एक ही के पर्यायवाची है।

बाबा किनाराम सन्त कालूराम से दीक्षित होने के उपरान्त कृमि-कुण्ड पर ही रहने लगे। ये कभी-कभी अपनी जन्म-भूमि रामगढ की ओर भी जाया करते थे। गुरु के देहावसान के पश्चात् ये गद्दी पर बैठे और इन्होने "अघोर-पन्थ" का प्रचार किया। इनका देहावसान वाराणसी मे ही सन् १७६९ मे १४२ वर्ष की अवस्था मे हुआ था। इनकी रचनाओ मे विवेकसार, गीतावली, रामगीता, रामरसाल, रामचपेटा और राममगल प्रसिद्ध है। इन्हे देखने से जान पड़ता है कि इन पर परम्परागत बौद्धधर्म का प्रभाव पड़ा था। इनकी रचनाओ मे गुरु-महिमा[5], अमरपद[6], सतगुरु[7], सत्यनाम[8], सत्यपुरुष[9], ग्रन्थ-जाति-वर्ण का निषेध[10], अवधूत[11], सत्सग[12], घट ही मठ[13], शून्य[14], निरंजन[15], हस[16], कर्म-फल[17], घट-घट व्यापकता[18],

---

१. विवेकसार, पृष्ठ २।
२. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ६२९।
३. विशुद्धिमार्ग, भाग १, पृष्ठ १६०।
४. वही, पृष्ठ १६०।
५. विवेकसार, पृष्ठ २।
६. वही, पृष्ठ १।
७. वही, पृष्ठ २।
८. वही, पृष्ठ ३।
९. वही, पृष्ठ ५।
१०. विवेकसार, पृष्ठ ६।
११. वही, पृष्ठ ६।
१२. वही, पृष्ठ ८।
१३. वही, पृष्ठ ६।
१४. वही, पृष्ठ ८।
१५. वही, पृष्ठ १३।
१६. वही, पृष्ठ १२।
१७ वही पृष्ठ १४।
१८ वही पृष्ठ १७।

निराकार[1], अनहद[2], निर्गुण[3], परमपद[4], सुरति[5], सहज[6], क्षमा[7], शील[8], निर्वाण[9], नाम-माहात्म्य[10], तीर्थ-व्रत का त्याग[11], अहिंसा[12], कर्म-काण्ड-वर्जन[13], हठयोग[14], सुरति-निरति[15], स्नान से शुद्धि नहीं[16], यज्ञादि-निषेध[17], शब्द-महिमा[18], सत्त[19], तृष्णा-त्याग[20] आदि आये हुए तत्व बौद्ध-प्रभाव की ही देन है। अहिंसा के प्रति बाबा किनाराम का कथन है कि लोग वेद, पुराण, कुरान आदि धार्मिक ग्रंथों का पाठ तो करते है, किन्तु उनके हृदय मे दया नही है, क्योकि वे भूत, भवानी आदि की पूजा दूसरे जीवो को मारकर करते है—

पढ़ै पुराण कोरान वेद मत, जीव दया नहिं जानी।
जीव भिन्न भाव करि मारत, पूजन भूत भवानी[21] ॥

ऐसे ही तृष्णा को इन्होंने सबसे नीच माना है और उसे त्यागने का उपदेश दिया है। इनका कहना है कि संसार मे तृष्णा, डोमिन और चमारिन सभी से नीची मानी जाती है, किन्तु हे मनुष्य! तू पूर्ण ब्रह्म होते हुए कैसे इस नीच तृष्णा में जा पड़ा है—

चाह चमारी चूहड़ी, सब नीचन ते नीच।
तूं तो पूरन ब्रह्म था, चाहन होती बीच[22] ॥

उन्होने स्नान-शुद्धि, यज्ञ-व्रत आदि को कपटस्वरूप माना है—

कथै ज्ञान असनान जग्य व्रत,
उर मे कपट समानी ॥
प्रगट छाँडि करि दूरि बतावत,
सो कैसे पहचानी[23] ॥

हम देखते है कि बाबा किनाराम ने सत्यनाम, निरंजन, घट-घट व्यापी, शून्य, सहज समाधि, हठयोग, सुरति-निरति आदि को सन्तो की ही भाँति ग्रहण किया है। इन सब बातो से विद्वानों ने माना है कि "अवधूत मत" अथवा "अघोर-पंथ" पर सन्तमत का प्रभाव भली प्रकार पड़ा था[24]।

---

१. वही, पृष्ठ १८।
२. वही, पृष्ठ १८।
३. वही, पृष्ठ १९।
४. वही, पृष्ठ २१।
५ वही, पृष्ठ २२।
६. वही, पृष्ठ २५।
७ वही, पृष्ठ ३०।
८. वही, पृष्ठ ३०।
९. वही, पृष्ठ ३२।
१० वही, पृष्ठ ३४।
११ गीतावली, पृष्ठ ४।
१२ वही, पृष्ठ ७।
१३ गीतावली, पृष्ठ ८।
१४. वही, पृष्ठ ८।
१५ वही, पृष्ठ ८।
१६. वही, पृष्ठ १०।
१७. वही, पृष्ठ ८।
१८. वही, पृष्ठ ९।
१९ वही, पृष्ठ १२।
२०. वही, पृष्ठ १६।
२१ वही पृष्ठ ७
२२ वही पृष्ठ १६
२३ गीतावली पृष्ठ ७
२४ उत्तरी भारत की ... पृष्ठ ६३२

बाबा किनाराम ने अपने दोनों गुरुओं के सम्मान के लिए आठ मठों की स्थापना की थी। इनमें चार मठ वैष्णव मत से सम्बन्धित हैं, जो मारुफपुर, नईडीह, परानापुर और महुवर में हैं और चार अघोरमत के रामगढ़, देवल, हरिहरपुर और क्रमिकुंड में। काशी के क्रमिकुंड की रामशाला अघोरपन्थ का प्रधान केन्द्र है। यहीं बाबा कालूराम, बाबा किनाराम आदि महन्तों की समाधियाँ बनी हुई हैं। बाबा किनाराम की शिष्य-परम्परा अपने पन्थ को "किनारामी अघोरपन्थ" कहती है। इस पन्थ में हिन्दू, मुसलमान आदि का भेद नहीं है। सभी जाति तथा सम्प्रदाय के अनुयायी अघोरपन्थी दीक्षा ले सकते हैं। कहते हैं कि इस पन्थ का प्रचार नेपाल, गुजरात, समरकन्द आदि सुदूर स्थानों तक में है। वाराणसी जिले की जनता में बाबा किनाराम के प्रति बड़ी श्रद्धा है और इनके चमत्कार की अनेक अद्भुत कथायें प्रचलित हैं। रोगी होने पर ग्रामीण जनता इनकी मनौती मानती है और स्वास्थ्य-लाभ कर रामगढ़ के रामसागर के जल से स्नान करती है। बाबा किनाराम का यह दोहा आजतक गुरु-शिष्य के माहात्म्य तथा आध्यात्मिक विकास के परिचायक के रूप में बड़ी श्रद्धापूर्वक कहा-सुना जाता है—

"कीना-कीना सब कहै, कालू कहै न कोय।
कीना कालू एक भये, राम करै सो होय[1] ॥"

१ गीतावली पृष्ठ ५

सहायक ग्रन्थों की सूची
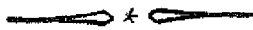
हिन्दी

१. अंगुत्तरनिकाय—भदन्त आनन्द कौसल्यायन द्वारा हिन्दी मे अनूदित, महाबोधि सभा, कलकत्ता, १९५७।

२. अनहद की नाद—सन्त सिंगाजी कृत।

३ अनुराग सागर—वेल वेडियर प्रेस, प्रयाग, १९२७।

४ अशोक—डी० आर० भंडारकर, लखनऊ, १९६०।

५. अशोक—भगवती प्रसाद पांथरी, किताब महल, इलाहाबाद, १९५५।

६. अशोक के शिलालेख—जनार्दन भट्ट, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी।

७. आदिग्रन्थ—शिरोमणि गुरुद्वारा समिति, अमृतसर।

८. आनन्द सागर—कृष्णमणि शर्मा, जामनगर, १९३६।

९ इतिवुत्तक—भिक्षु धर्मरक्षित, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९५६।

१०. इतिहास गुरु खालसा—गोविन्दसिंह, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, सम्वत् १९८२।

११. इतिहास प्रवेश—जयचन्द्र विद्यालंकार, इलाहाबाद, १९४९।

१२. उत्तर प्रदेश में बौद्धधर्म का विकास—डॉ० नलिनाक्षदत्त तथा श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी, हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, १९५६।

१३ उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा—परशुराम चतुर्वेदी, प्रयाग, सम्वत् २००८।

१४. उदान—भिक्षु जगदीश काश्यप, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९४१।

१५ ओम् मणि पद्मे हुँ—भिक्षु धर्मरक्षित तथा लामा लोबजंग, सारनाथ, १९५७।

१६. कथावत्थु—भिक्षु धर्मरक्षित द्वारा हिन्दी मे अनूदित, (अप्रकाशित)।

१७. कबीर—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, बम्बई, १९५०।

१८. कबीर कसौटी—वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, सम्वत् १९७१।

१९ कबीर का रहस्यवाद डॉ० रामकुमार वर्मा १९२१।

२० कबीर ग्रन्थावली दास काशी नागरी प्रचारिणी सभा सम्वत् २००८।

२१ कबीर परिचबोध।

२२. कबीर पदावली—डॉ० रामकुमार वर्मा, प्रयाग, १९३७।

२३ कबीर बानी।

२४. कबीर बीजक—राघवदास द्वारा सम्पादित, वाराणसी, १९६२।

२५ कबीर वचनावली—श्यामसुन्दर दास द्वारा सम्पादित।

२६. कबीर साखी।

२७. कबीर साहित्य का अध्ययन—पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव, वाराणसी, सम्वत् २००८।

२८. कबीर साहित्य की परख—परशुराम चतुर्वेदी, प्रयाग, सम्वत् २०११।

२९. कलश—प्राणनाथ कृत (अप्रकाशित)।

३०. कीरतन—प्राणनाथ कृत (अप्रकाशित)।

३१. कुशीनगर का इतिहास—भिक्षु धर्मरक्षित, कुशीनगर, १९४९।

३२. केशवदासजी की अमीघूँट—वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, १९५१।

३३. गणेश-विभूति टीका।

३४. गरीबदासजी की बानी—वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, १९५१।

३५. गीतावली—बाबा किनाराम कृत, वाराणसी, १९४१।

३६. गुरमति प्रकाश—साहिबसिंह कृत।

३७ गुरुग्रन्थ साहिब—भाई गुरदियालसिंह, अमृतसर।

३८ गुरु गोविन्दसिंह—वेणी प्रसाद, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।

३९ गुलाल साहब की बानी—वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, १९३२।

४० गोरखबानी—डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, प्रयाग, सम्वत् २०१७।

४१. ग्यानरतन।

४२. खुद्दकपाठ—भिक्षु धर्मरत्न, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९५५।

४३. चरनदासजी की बानी (तीन भाग)—वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, १९२७।

४४. चरियापिटक—भिक्षु धर्मरक्षित, वाराणसी, १९४४।

४५. चर्यापद—सिद्ध भुसुकपा कृत।

४६. चर्यापद—सिद्ध शबरपा कृत।

४७. चर्याचर्यविनिश्चय—सिद्ध सरहपा कृत।

४८. जनमपरची—जनगोपाल कृत।

४९ जपुजी दिल्ली १९५५

५० भदन्त आनन्द हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग

५१ जातककालीन भारतीय संस्कृति—मोहनलाल महतो "वियोगी", पटना, १९५८।

५२. जातक निदान—भिक्षु धर्मरक्षित, वाराणसी, १९५६।

५३. जातिभेद और बुद्ध—भिक्षु धर्मरक्षित, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९४९।

५४. तांत्रिक बौद्ध-साधना और साहित्य—नागेन्द्र उपाध्याय, काशी, सं० २०१५।

५५. तिब्बत में बौद्धधर्म राहुल सांकृत्यायन, इलाहाबाद, १९४८।

५६ तेलकटाहगाथा—भिक्षु धर्मरक्षित, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९४८।

५७ थेरगाथा—भिक्षु धर्मरत्न, महाबोधि सभा, सारनथा, १९५५।

५८ थेरीगाथायें—भरतसिंह उपाध्याय, दिल्ली, १९५०।

५९. दरिया ग्रन्थावली—डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, पटना, (दो भाग), १९५४-६२।

६०. दरिया सागर—सन्त दरियाकृत।

६१. दरिया साहब की बानी—वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।

६२ दर्शन-दिग्दर्शन—राहुल सांकृत्यायन, इलाहाबाद, १९४४।

६३. दादू—क्षितिमोहन सेन।

६४. दादू दयाल की बानी—वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग (दो भाग), १९२८-५८।

६५. दादू बानी—चन्द्रिकाप्रसाद त्रिपाठी, अजमेर, १९०७।

६६. दीघनिकाय—राहुल सांकृत्यायन तथा जगदीश काश्यप, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९३६।

६७. दोहाकोश—राहुल सांकृत्यायन, पटना, १९५७।

६८. दोहाकोश—सिद्ध कण्हपा कृत।

६९. दोहाकोशगीति—सिद्ध सरहपा कृत।

७० धम्मचक्कप्पवत्तन सुत्त—भिक्षु धर्मरक्षित, सारनाथ, १९४९।

७१. धम्मपद—भिक्षु धर्मरक्षित, सारनाथ, १९५८।

७२. धम्मपदट्ठकथा—भिक्षु धर्मरक्षित, (अप्रकाशित)।

७३. धरनीदासजी की बानी—वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, १९३१।

७४. धर्म-अभियान—मुरलीदास धामी, पन्ना, सं० २०११।

७५. नाथ सम्प्रदाय—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रयाग।

७६. नाथसिद्धों की बानियाँ—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सं० २०१४।

७७ नानक वाणी—डॉ० मिश्र सं० २०१८

७८ निश्चानन्द चरितामृत शास्त्री सं० १९९७

७९. नेपाल यात्रा भिक्षु धर्मरक्षित लखनऊ १९५१

८०. पलटू साहब की बानी—वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग (तीन भाग), १९५४-५६ ।

८१. पाखण्डखण्डिनी टीका—विश्वनाथसिंह कृत ।

८२. पालि साहित्य का इतिहास—भरतसिंह उपाध्याय, प्रयाग, सं० २००८ ।

८३. पुरातत्त्व निबन्धावली—राहुल सांकृत्यायन, प्रयाग, १९३७ ।

८४. प्रेम प्रकाश—धरनीदास कृत ।

८५. पोथी रामरसाल—बाबा किनाराम कृत, वाराणसी, १९४९ ।

८६. प्रणवगीता ।

८७. प्राण सांगली—इलाहाबाद, १९१३ ।

८८. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल—डॉ० भरतसिंह उपाध्याय, प्रयाग, सं० २०१८ ।

८९. बुद्धचर्या—राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९५२ ।

९०. बुल्ला साहब का शब्दसार—वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, १९४६ ।

९१. बुद्ध वचन—भदन्त आनन्द कौसल्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९५८ ।

९२. बोधसागर—वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई ।

९३ बोधिवृक्ष की छाया में—भरतसिंह उपाध्याय, दिल्ली, १९६२ ।

९४. बौद्ध गान ओ दोहा—हरप्रसाद शास्त्री, कलकत्ता, बंगाब्द, १३५८ ।

९५. बौद्धचर्याविधि—भिक्षु धर्मरक्षित, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९५६ ।

९६. बौद्ध दर्शन—राहुल सांकृत्यायन, इलाहाबाद ।

९७. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन—भरतसिंह उपाध्याय, कलकत्ता, सं० २०११ (दो भाग) ।

९८. बौद्धधर्म के मूल सिद्धान्त—भिक्षु धर्मरक्षित, ममता प्रेस, वाराणसी, १९५८ ।

९९. बौद्धधर्म-दर्शन—आचार्य नरेन्द्रदेव, पटना, १९५६ ।

१०० बौद्धधर्म-दर्शन तथा साहित्य—भिक्षु धर्मरक्षित, वाराणसी, १९६३ ।

१०१. बौद्ध भारत—टी० डब्ल्यू० रायस् डेविड्स, भुवनाथ चतुर्वेदी द्वारा अनूदित, इलाहाबाद, १९५८ ।

१०२. बौद्धयोगी के पत्र—भिक्षु धर्मरक्षित, वाराणसी, १९५६ ।

१०३. बौद्ध संस्कृति—राहुल सांकृत्यायन, कलकत्ता, १९५२ ।

१०४. बौद्ध साहित्य की सांस्कृतिक झलक—परशुराम चतुर्वेदी, इलाहाबाद, १९५८ ।

१०५. भक्तमाल—नाभादास कृत, लखनऊ, १९१३ ।

१०६. भक्तिमार्गी बौद्धधर्म—नगेन्द्रनाथ वसु, नर्मदेश्वर चतुर्वेदी द्वारा हिन्दी मे अनूदित, सं० २०१८

१०७. भगवान् बुद्ध—आचार्य धर्मानन्द कौशाम्बी, बम्बई, १९५६।

१०८. भजन संग्रह—गीता प्रेस, गोरखपुर (चार भाग)।

१०९. भारत का इतिहास—डॉ० ईश्वरीप्रसाद, प्रयाग, १९५१।

११०. भारत में मुस्लिम शासन—डॉ० ईश्वरी प्रसाद, इलाहाबाद।

१११. भारतीय इतिहास की रूपरेखा—जयचन्द्र विद्यालंकार, इलाहाबाद, १९४२।

११२ भारतीय संस्कृति और अहिंसा—आचार्य धर्मानन्द कौशाम्बी, बम्बई, १९५७।

११३. भीखा साहब की बानी—बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, १९१९।

११४ मज्झिमनिकाय—राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९३३।

११५. मध्ययुगीन भारत—डॉ० परमात्मा शरण।

११६ मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य पर बौद्धधर्म का प्रभाव—डॉ० सरला त्रिगुणायत, साहित्य निकेतन, कानपुर, १९६३।

११७ मराठी का भक्ति-साहित्य—भी० जो० देशपाडे, वाराणसी, १९५९।

११८ मलूक दासजी की बानी—बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, १९४६।

११९. महात्माओं की वाणी—महन्थ बाबा रामबरन दास साहेब, भुड़कुड़ा, १९३३।

१२०. महापरिनिब्बानसुत्त—भिक्षु धर्मरक्षित, वाराणसी, १९५८।

१२१. महाबली—ज्ञानी बख्शीश सिंह, "सुदर्शन", जौनपुर।

१२२. महायान—भदन्त शान्ति भिक्षु, कलकत्ता।

१२३. महाराज छत्रसाल बुन्देला—डॉ० भगवानदास गुप्त।

१२४. महावंश—भदन्त आनन्द कौसल्यायन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९४२।

१२५. मिलिन्द प्रश्न—भिक्षु जगदीश काश्यप, बर्मी बौद्ध विहार, सारनाथ, १९३७।

१२६. मीरां बाई—डॉ० श्रीकृष्णलाल, प्रयाग, सं० २००७।

१२७. मीरांबाई की पदावली—परशुराम चतुर्वेदी, प्रयाग, सं० २०१३।

१२८. मीरा : एक अध्ययन—पद्मावती "शबनम", वाराणसी, सं० २००७।

१२९ मीराबाई की शब्दावली—बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, १९५३।

१३०. मीरा माधुरी—ब्रजरत्न दास, वाराणसी, सं० २००५।

१३१ मीरा बृहद् पद-संग्रह—पद्मावती "शबनम", वाराणसी, सं० २००९।

१३२ यारी साहब की रत्नावली—बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।

१३३ योग प्रवाह—डॉ० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल, सं० २००३।

१३४ रामानन्द सम्प्रदाय तथा पर उसका प्रभाव डॉ० श्रीवास्तव प्रयाग १९५७

१३५ रैदासजी की बानी वलवडियर प्रेस प्रयाग १९४८।
१३६ विचार-विमर्श—चन्द्रबली पाण्डेय, प्रयाग, सं० २००२।
१३७. विनयपिटक—राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९३५।
१३८ विवेक सार—बाबा किनाराम कृत, वाराणसी, १९४९।
१३९ विशुद्धिमार्ग—भिक्षु धर्मरक्षित, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९५६ (दो भाग)।
१४०. वृत्तान्तमुक्तावली (बीतक)—व्रजभूषण, जामनगर, सं० १९८८।
१४१ शब्द—दरियादास कृत, सन्त दरिया : एक अनुशीलन में प्रकाशित, पटना, १९५४।
१४२ श्री गुरुग्रंथ-दर्शन—डॉ० जयराम मिश्र, इलाहाबाद, १९६०।
१४३ श्री गुरुग्रंथ साहब : एक परिचय—डॉ० धर्मपाल सैनी, इलाहाबाद, १९६२।
१४४. श्री गुरु नानक-दर्शन —बलवन्तसिंह गुजरखानी, वाराणसी।
१४५ श्री भक्ति सागर ग्रंथ-ज्ञान सरोदय—दरियादास कृत, पटना, १९५४।
१४६. श्री हरिपुरुषजी की बानी—सेवादास द्वारा सम्पादित, सं० १९८८।
१४७. संयुत्त निकाय—भिक्षु धर्मरक्षित तथा जगदीश काश्यप, महाबोधि सभा, सारनाथ, (दो भाग) १९५४।
१४८. सनंध—प्राणनाथ कृत (अप्रकाशित)।
१४९. सन्त कबीर—डॉ० रामकुमार वर्मा।
१५०. सन्त काव्य—परशुराम चतुर्वेदी, इलाहाबाद, १९५२।
१५१. सन्त चरणदास—डॉ० त्रिलोकी।
१५२. सन्त बानी संग्रह (दो भाग)—वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, १९५७-५९।
१५३. सन्तमाल—शिवव्रतलाल, मिशन प्रेस, इलाहाबाद।
१५४. सन्त रविदास और उनका काव्य—स्वामी रामानन्द शास्त्री तथा वीरेन्द्र पाण्डेय, हरिद्वार, १९५५।
१५५. सन्त साहित्य—भुवनेश्वरनाथ मिश्र "माधव", बाँकीपुर, १९४१।
१५६. सन्त सुधा सार—वियोगी हरि।
१५७. सन्त सुन्दर—(अप्रकाशित)।
१५८. सम्प्रदाय—बी० बी० राय, मिशन प्रेस, लुधियाना, १९०६।
१५९. सहसरानी—दरियादास कृत, पटना, १९५४।
१६०. सारनाथ का इतिहास—भिक्षु धर्मरक्षित, वाराणसी, १९६१।
१६१. सिक्खों का उत्थान और पतन—नन्दकुमार वर्मा, वाराणसी, सं० २००३।
१६२ सिक्खधर्म और भगत मत—रतनसिंह अमृतसर

१६३ सिद्ध साहित्य—डॉ० धर्मवीर भारती इलाहाबाद १९५५।

१६४ सुत्तनिपात—भिक्षु धर्मरत्न, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९५१।

१६५. सौन्दर्य और साधिकायें—विद्यावती "मालविका", ममता प्रेस, कबीरचौरा, वाराणसी, १९६०।

१६६ हिन्दी काव्यधारा—राहुल सांकृत्यायन, इलाहाबाद, १९४५।

१६७. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय—डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, प्रयाग, सं० २०१७।

१६८ हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि—डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, कानपुर, १९६१।

१६९ हिन्दी और मराठी का निर्गुण सन्त काव्य—डॉ० प्रभाकर माचवे, वाराणसी, १९६२।

१७० हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, वाराणसी, सं० २०१८।

१७१ हिन्दी साहित्य की भूमिका—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, बम्बई, १९४०।

१७२. हिन्दू राजतन्त्र—काशीप्रसाद जायसवाल, प्रयाग, स० १९८४ (दो भाग)।

पालि

१. अंगुत्तरनिकाय—नवनालन्दा महाविहार प्रकाशन, नालन्दा १९६१।

२. अभिधानप्पदीपिका—गुजरात विद्यामन्दिर द्वारा प्रकाशित।

३. चुल्लवग्ग—नवनालन्दा महाविहार प्रकाशन, नालन्दा, १९६१।

४. थेरीगाथा—भिक्षु उत्तमा द्वारा प्रकाशित, १९३७।

५. दीपवंसो—पी० ज्ञानानन्द स्थविर द्वारा सम्पादित, लंका।

६. नवनीत टीका—आचार्य धर्मानन्द कौशाम्बी, सारनाथ, १९४१।

७. पपंचसूदनी—भदन्त धर्मानन्द महास्थविर द्वारा सम्पादित, लंका, १९२६।

८. बाहिरनिदान वण्णना—आचार्य धर्मानन्द कौशाम्बी, पूना, १९१४।

९ मंगलत्थदीपनी—सिरि मंगल स्थविर, लंका, १९२७।

१० मनोरथपूरणी—भदन्त धर्मानन्द महास्थविर द्वारा सम्पादित लंका, १८९६।

११. महावंसो—एन० के० भागवत द्वारा सम्पादित, बम्बई, १९३६।

१२. मिलिन्दपञ्हो—आर० डी० वाडेकर, बम्बई, १९४०।

१३. विमानवत्थु—भिक्षु उत्तमा द्वारा प्रकाशित, १९३७।

१४. समन्तपासादिका—यू० पी० एकनायक द्वारा सम्पादित, लंका, १९१५।

१५ सुमंगलविलासिनी सभा सीलोन द्वारा प्रकाशित, लंका।

संस्कृत

अद्वयवज्रसंग्रह—हरप्रसाद शास्त्री द्वारा सम्पादित, बड़ौदा, १९२७।

इन्दु टीका—केदारनाथ शर्मा, वाराणसी, १९६१।

गीतगोविन्द—चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी द्वारा प्रकाशित, १९६१

गुह्यसमाजतन्त्रम्—डॉ० बी० भट्टाचार्य द्वारा सम्पादित, बड़ौदा, १९३१।

गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह—सरस्वती भवन टेक्स्ट सीरीज, वाराणसी।

जातकमाला—सूर्यनारायण चौधरी द्वारा सम्पादित तथा अनूदित, १९५२।

ज्ञानसमुच्चयसार—आर्यबल कृत।

ज्ञानसिद्धि—इन्द्रभूति कृत, गायकवाड ओरियण्टल सीरीज नं० ४४, १९२७

तत्वसंग्रह—डॉ० बी० भट्टाचार्य द्वारा सम्पादित, बड़ौदा, १९२७।

तत्वसंग्रह टीका—डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य द्वारा सम्पादित, बड़ौदा, १९३

दशभूमिश्वरसूत्र—नागरी अक्षरों में जापान से प्रकाशित, टोक्यो।

धर्मसंग्रह—नागार्जुनकृत, मैक्समूलर द्वारा सम्पादित।

प्रमाणवार्तिक—धर्मकीर्ति कृत, राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित, पटना।

बुद्धचरित—सूर्यनारायण चौधरी द्वारा सम्पादित तथा हिन्दी में अनूदित, १

बोधिचर्यावतार—शान्ति भिक्षु शास्त्री द्वारा सम्पादित तथा हिन्दी में अ
विहार, लखनऊ १९५५।

मंजुश्रीमूलकल्प—टी० गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित, त्रिवेन्द्रम्, १९२०।

महायानसूत्रालंकार—जापान से नागरी अक्षरों में प्रकाशित, टोक्यो।

माध्यमिक कारिका—पीटर्सबर्ग से प्रकाशित, १९०३।

यजुर्वेद—वैदिक अनुसन्धान केन्द्र, अजमेर से प्रकाशित, अजमेर।

लंकावतारसूत्र—शरतचन्द्रदास तथा सतीशचन्द्र आचार्य द्वारा सम्पादित, १९

ललितविस्तर—डॉ० स्लोथमैन द्वारा सम्पादित।

विग्रहव्यावर्तनी—नागार्जुन कृत।

सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र—यू० एम० वेगिहरा और सी० टौचिदा द्वारा सम्पादित
जापान १९३४

मराठी

१. धम्मपद्—अनन्त रामचन्द्र कुलकर्णी द्वारा मराठी में अनूदित, नागपुर, १९५६ ।

अंग्रेजी

१. आर्कियालॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया रिपोर्ट, भाग २ ।

२ एडिक्ट्स ऑफ अशोक—जी० श्रीनिवास मूर्ति तथा ए० एन० कृष्ण आयंगर द्वारा सम्पादित तथा अनूदित, मद्रास, १९५० ।

३. एस्पेक्ट्स ऑफ महायान बुद्धिज्म – डॉ० नलिनाक्षदत्त, कलकत्ता ।

४. कबीर : हिज बॉयोग्राफी—डॉ० मोहन सिंह ।

५. जपजी—छेलाराम द्वारा सम्पादित तथा अनूदित, नई दिल्ली, १९५५ ।

६. दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया—वी० ए० स्मिथ, ऑक्सफोर्ड प्रकाशन, १९२४ ।

७. दि सिख रीलीजन—डॉ० मेकॉलिफ ।

८. बनारस डिस्ट्रिक्ट गजेटियर—इलाहाबाद, १९०९ ।

९. बुद्धिष्ट इण्डिया—टी० डब्ल्यू० रायस् डेविड्स १९०२ ।

१०. सल्तनत ऑफ देहली—डॉ० आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव ।

पत्र-पत्रिकायें

१. कल्याण—योगांक मे सुरतियोग शीर्षक लेख, गीता प्रेस, गोरखपुर ।

२. कोली राजपूत—वर्ष ६, अंक ११, अजमेर से प्रकाशित, १९४७ ।

३. धर्मदूत—भिक्षु धर्मरक्षित द्वारा सम्पादित तथा महाबोधि सभा, सारनाथ से प्रकाशित :—

वर्ष १५, अंक १–२, पृष्ठ ४६–४७, सन् १९५० ।

वर्ष १६, अंक ५, पृष्ठ १३५, सन् १९५१ ।

वर्ष १८, अंक १–२, पृष्ठ ३, सन् १९५३ ।

वर्ष २१, अंक ५, पृष्ठ १५६, सन् १९५६ ।

वर्ष २४, अक ८–९, पृष्ठ २२५, सन् १९५९ ।

वर्ष २६, अंक २१, पृष्ठ २२३, सन् १९६१ ।

४. विद्यापीठ—काशी विद्यापीठ की त्रैमासिक पत्रिका, भाग २, पृष्ठ १३५ ।

५ विश्वाकर्भ रत्न ——— से प्रकाशित मासिक पत्रिका भाग २९ अंक ३ सन् १९४२ ।

६ से प्रकाशित, वैशाख-आषाढ़ स० २००४